भारतीय दर्शन का इतिहास

भाग-४

[भारतीय बहुत्ववाद]

लेखक
डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

अनुवादक :
डॉ० मोहनलाल शर्मा
रीडर, दर्शन विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-४

प्रस्तावना

भारतीय भाषाओं को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने की राष्ट्रीय नीति को शीघ्र क्रियान्वित करने के लिए सन् १९६८ में भारत सरकार ने एक वृहत् योजना का सूत्रपात किया था जिसके अंतर्गत विभिन्न प्रदेशों में ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना कर उनके माध्यम से विश्वविद्यालय-शिक्षा-स्तर पर विभिन्न विषयों में महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी पुस्तकों के मौलिक लेखन और अन्य भाषाओं से ग्रन्थानुवाद कराने का कार्यक्रम स्वीकृत हुआ था। भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक-सेवा मंत्रालय ने चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इसके लिए शत-प्रतिशत अनुदान स्वीकार किया। राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना भी इसी उद्देश्य की पूर्ति एवं योजना को क्रियान्वित करने के लिए की गई थी। प्रस्तुत ग्रन्थ "भारतीय दर्शन का इतिहास" का प्रकाशन भी इसी योजना के अन्तर्गत हुआ है।

दासगुप्त की इस ऐतिहासिक कृति का महत्त्व सर्वविदित ही है। यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन का एक व्यापक और विविध चित्र प्रस्तुत करता है। भारतीय दर्शन के इतिहास पर अनेक ग्रन्थ इसके पश्चात् प्रकाशित हुए हैं और उनमें कुछ बहुत महत्त्व-पूर्ण हैं, किन्तु वे इस ग्रन्थ के महत्त्व को कम नहीं कर सके, क्योंकि यह ग्रन्थ आलो-चनात्मक नहीं होकर मुख्यत: विवरणात्मक है और यह विवरण अत्यधिक विस्तार और तटस्थ भाव से प्रस्तुत करता है।

हमें आशा है कि इस ग्रन्थ का दार्शनिक जगत् में समुचित आदर होगा।

नारायण सिंह मसूदा

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ-माला का तृतीय ग्रन्थ सन् १६४० ई० में प्रकाशित हुआ और चतुर्थ ग्रन्थ की पाण्डुलिपि भी उस समय अधिकांश रूप में तैयार थी, तथा उसे सन् १६४२ ई० तक प्रकाशनार्थ भेजना भी सम्भव था। किन्तु सन् १६३६ ई० में द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ हो गया। यद्यपि केम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस युद्ध-काल में भी पाण्डुलिपि को ग्रहण करने के लिए तैयार था, तथापि मुझे कलकत्ता से केम्ब्रिज तक पाण्डुलिपि का भेजना तथा इंगलैंड और भारत के बीच प्रूफ इधर से उधर भेजना अत्यधिक आशंका युक्त प्रतीत हुआ। सन् १६४५ ई० में, कलकत्ता विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग के अध्यक्ष-पद से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् मैं इंगलैंड आया तथा यहाँ आगमन के तुरन्त पश्चात् ही रोग-ग्रस्त हो गया। इस रुग्णावस्था के काल में ही मैंने पाण्डुलिपि का संशोधन किया और उसे विश्वविद्यालय प्रेस को अर्पित किया। इसी कारण तृतीय ग्रन्थ और प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में अप्रत्याशित विलम्ब हो गया है। तृतीय ग्रन्थ की प्रस्तावना में प्रस्तुत ग्रन्थ की विषय सारिणी पर जो वचन दिए गए थे उनका मैंने निष्ठा से पालन किया है, परन्तु अब मुझे पांचवें ग्रन्थ के प्रकाशन के प्रति उतना विश्वास नहीं रहा। आयुवृद्धि और निरंतर अस्वस्थता के कारण मुझे संदेह है कि मैं भविष्य में इस प्रकार के लेखन और प्रकाशन के शारीरिक और मानसिक श्रम को सहन करने में समर्थ हो सकूंगा। परन्तु फिर भी मैं पांचवें ग्रन्थ के लिए सामग्री एकत्रित कर रहा हूँ और आशा करता हूँ कि अपने जीवन-काल में उसका भी प्रकाशन देख सकूंगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'भागवत-पुराण' का दर्शन, मध्व एवं उनके अनुयायियों का दर्शन तथा वल्लभ का दर्शन और वैष्णववाद के गौड़ीय सम्प्रदाय के दर्शन का निरूपण है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, 'भागवत-पुराण' तथा वल्लभ के दर्शन पर किसी भी महत्त्वपूर्ण कृति का अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ है। मध्व के दर्शन पर मद्रास के श्री नागराज शर्मा और प्रोफेसर हेल्मथ वान ग्लेसेनेप्प द्वारा दो महत्त्वपूर्ण रचनाओं का क्रमशः अंग्रेजी व जर्मन में प्रकाशन किया गया है। किन्तु अब तक जय-तीर्थ एवं व्यास-तीर्थ जैसे मध्व-सम्प्रदाय के महान् उपदेशकों के दर्शन के संबंध में कुछ भी प्रकाशित नहीं हुआ है। मध्व के विचार-सम्प्रदाय के श्रेष्ठ अनुयायियों और वेदान्त के शंकर-सम्प्रदाय के अनुयायियों के मध्य महान् विवाद के संबंध की बहुत कम जानकारी प्राप्त है। मेरे मतानुसार जय-तीर्थ और व्यास-तीर्थ भारतीय चिन्तन में उच्चतम कोटि के द्वन्द्वात्मक तर्क-कौशल का प्रदर्शन करते हैं। अनेक विद्वानों की यह सामान्य धारणा है कि शंकर का अद्वैतवाद भारतीय चिन्तन की चरम स्थिति का प्रदर्शन करता है। सांख्य

और योग की वस्तुवादी एवं द्वैतवादी विचारधारा ने पुराणों एवं परवर्ती लेखकों के हाथों में अद्वैतवाद के साथ समझौता स्थापित कर लिया था, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ के जिन पाठकों का जय-तीर्थ और विशेषत: व्यास-तीर्थ के दर्शन से परिचय करवाया जायगा उन्हें द्वैतवादी मत की शक्ति एवं समझौता न करने वाली प्रभविष्णुता की प्रत्यक्ष अनुभूति हो जायगी। व्यास-तीर्थ द्वारा प्रदर्शित की गई तीक्ष्ण द्वन्द्वात्मक विचारणा की तार्किक कुशलता व गहराई भारतीय चिन्तन के समूचे क्षेत्र में लगभग अद्वितीय है। व्यास-तीर्थ के 'तर्क-ताण्डव' में निरूपित मध्व-न्याय-तंत्र पर और भी अधिक लिखा जा सकता है। इस महान् कृति में व्यासतीर्थ ने गंगेश की 'तत्व-चिन्तामणि' में दी गई लगभग प्रत्येक तार्किक परिभाषा को चुनौती दी है, जो नवीन न्याय-सम्प्रदाय की आधार-शिला है, किन्तु उसका उचित स्थान मध्व-न्याय के संबंध में एक पृथक् ग्रन्थ ही हो सकता था। शंकर-सम्प्रदाय के अद्वैतवादियों और मध्व-सम्प्रदाय के द्वैतवादियों के मध्य विवाद में अधिकांश लोग मध्व के पक्ष के प्रति अज्ञ होते हैं और अद्वैतवादी दृष्टिकोण से परिचित रहते हैं। आशा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में मध्व एवं उनके अनुयायियों का जो निरूपण किया गया है उससे भारतीय चिन्तन के अध्येताओं को नवीन प्रकाश मिलेगा, तथा वह द्वन्द्वात्मक तर्क के ऐसे अनेक नवीन पक्षों को प्रस्तुत करेगा जिनकी अबतक भारतीय अथवा यूरोपीय चिन्तन में खोज नहीं हो पाई है।

'विशुद्धाद्वैत' नामक वल्लभ के दर्शन का निरूपण अद्वैतवाद के एक नवीन पक्ष को प्रस्तुत करता है, तथा हमें भक्ति के संवेग का एक दार्शनिक विश्लेषण भी प्रदान करता है। यद्यपि भारतीय दर्शन के पाठक वल्लभ के नाम से परिचित होंगे, तथापि ऐसे लोग विरले ही हैं जो उसके सम्प्रदाय के सदस्यों के महत्वपूर्ण योगदान से परिचित हैं।

मैंने 'भागवत-पुराण' के दर्शन को अधिक स्थान नहीं दिया है। सांख्य, योग और वेदान्त का निरूपण करते समय अधिकांश में उसके दार्शनिक मत का पूर्वाभास पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है। जहाँ तक ईश्वर के स्थान तथा जगत् से उसके संबंध का प्रश्न है, 'भागवत-पुराण' का दृष्टिकोण अस्पष्ट है। इसीलिए मध्वों, वल्लभों व गौड़ीय-सम्प्रदाय के विचारकों द्वारा अपने-अपने समर्थन में 'भागवत-पुराण' का उल्लेख किया गया है। गौड़ीय-सम्प्रदाय तो 'भागवत-पुराण' को अपनी प्रेरणा का मूल-स्रोत मानता हुआ प्रतीत होता है।

गौड़ीय विचार-सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिपादक चैतन्य हैं, परन्तु वे एक धर्म-प्राण भक्त थे, तथा उनके उपदेशों के प्रति बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। उन्होंने किसी साहित्यिक अथवा दार्शनिक कृति की रचना नहीं की, किन्तु उनके अनुयायियों तथा अनुवर्ती अनुयायियों में कुछ उत्तम साहित्यकार और दार्शनिक थे। इस प्रकार वैष्णवों के गौड़ीय-सम्प्रदाय में रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी और बलदेव विद्या-

भूषण के मत की एक संक्षिप्त व्याख्या का निरूपण है। डा० एस० के० डे० द्वारा जीव गोस्वामी की स्थिति पर अनेक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित किए गए हैं, परन्तु उनसे भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे दार्शनिक दृष्टिकोण पर बल देना चाहते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ को लिखते समय मैंने संस्कृत में प्रकाशित विशाल सामग्री तथा अपनी दक्षिण भारत की यात्रा के समय विभिन्न अवसरों पर एकत्रित अनेक विरल हस्तलेखों का उपयोग किया है।

मेरे पुराने मित्र डा० एफ० डब्ल्यू० थामस मेरे सर्वोत्तम धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अपनी वृद्धावस्था एवं अनेक महत्त्वपूर्ण पूर्वनियोजित कार्यों के होते हुए भी इतनी सावधानी और परिश्रम से पाण्डुलिपि के कुछ अंशों के संशोधन तथा प्रूफ संशोधन एवं अशुद्धि-निवारण का कष्ट उठाया है। उनकी सहायता के बिना प्रस्तुत ग्रन्थ की अपूर्णताएं और भी अधिक होती।

डा० ई० जे० थामस का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रारंभिक काल से ही अनेक बार सामयिक सहायता प्रदान की है। मेरी पत्नी श्रीमती सुरमा दासगुप्त एम० ए०, पी०-एच० डी० (कलकत्ता व कैन्टब०) शास्त्री को भी ग्रन्थ-लेखन और उसके प्रकाशन से संबंधित अन्य अनेक कार्यों में प्राप्त निरन्तर सहायता के लिए मेरा सर्वोत्तम धन्यवाद है। मैं अपने पूर्व शिष्य डा० सतीशकुमार मुखर्जी एम० ए०, पी-एच० डी० की सहायता के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जो कुछ वर्ष पूर्व पाण्डुलिपि को तैयार करते समय उनसे प्राप्त की थी।

ट्रिनीटी कॉलेज, केम्ब्रिज
अगस्त, १९४८

सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

विषय-सूची

पृष्ठ

अध्याय–२४

भागवत पुराण

अध्याय–२५

मध्व और उनका सम्प्रदाय

अध्याय–२६

मध्व द्वारा 'ब्रह्म-सूत्रों' की व्याख्या

अध्याय–२७

मध्व-दर्शन की एक व्यापक समीक्षा

अध्याय–२८

मध्व का तर्कशास्त्र

अध्याय–२९

द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों के मध्य विवाद

अध्याय–३०

द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों के मध्य विवाद (क्रमशः)

अध्याय–३१

वल्लभ का दर्शन

अध्याय–३२

चैतन्य और उनके अनुयायी

अध्याय–३३

चैतन्य के अनुयायी जीव गोस्वामी व बलदेव विद्याभूषण का दर्शन

——SS——

अध्याय २४

भागवत पुराण

भारतीय भक्ति-साहित्य में "भगवद्गीता" की भाँति "भागवत-पुराण" का भी अद्वितीय स्थान है। किन्तु वह "भगवद्गीता" के समकक्ष पुरातनत्व का दावा नहीं कर सकता। इस पुस्तक के लेखक को दसवीं शताब्दी से पूर्व उसके संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिले है। स्वयं रामानुज (जन्म तिथि सन् १०१७) ने भी "भागवत-पुराण" का न तो नाम से उल्लेख किया और न उसमें कोई उद्धरण दिये हैं। लेकिन मध्व के समय तक यह कृति प्रसिद्ध हो चुकी थी: मध्व (ज० ति० तेरहवीं सदी) की मुख्य कृतियों में से एक का नाम "भागवत तात्पर्य" है, जिसमें उन्होंने "भागवत-पुराण" के प्रमुख विचारों की व्याख्या की है और अपने मत की पुष्टि करने वाले विचारों पर बल दिया है। "भागवत-पुराण" के विचारों में उच्च कोटि की काव्यात्मकता है लेकिन उसकी शैली अपेक्षाकृत दुरूह है। इस लेखक का मत है कि उसे किसी दक्षिण भारतीय ने लिखा होगा क्योंकि उसमें आलवारों का उल्लेख मिलता है जिनके संबंध में कदाचित् किसी भी उत्तर भारत के लेखक ने कभी कोई उल्लेख नहीं किया। "भागवत-पुराण" की इतनी प्रशंसा हुई कि तत्काल ही उस पर टीकाएँ लिखी गई। उसकी निम्नलिखित टीकाएँ उल्लेखनीय हैं:–

अमृत-रंगणी, आत्मप्रिया, कृष्णपदी, चैतन्य-चंद्रिका, जय-मंगला, तत्वप्रदीपिका, तात्पर्य-चंद्रिका, तात्पर्य-दीपिका, भगवल्लीला-चिंतामणि, रस-मंजरी, शुकपक्षीय-प्रबोधिनी, जनार्दन भट्ट की टीका, नरहरि की टीका, श्री निवास का "प्रकाश," कल्याण राय की "तत्व-दीपिका," कृष्ण भट्ट की टीका, कौर साधु की टीका, गोपाल चक्रवर्ती की टीका, चूड़ामणि चक्रवर्ती की "अन्वय-बोधिनी," नरसिंहाचार्य की "भाव-प्रकाशिका," यदुपति की टीका, वल्लाभाचार्य की "सुबोधिनी," विजयध्वज तीर्थ की "पद-रत्नावली," विट्ठल दीक्षित की टीका, विश्वनाथ चक्रवर्ती की सारार्थदर्शिनी" विष्णुस्वामिन् की टीका, वीर राघव की "भागवत-चंद्रिका" शिवराम की "भावार्थ-दीपिका," श्रीधर स्वामी की "भावार्थ-दीपिका," केशवदास की "स्नेह-पुराणी," श्री रासाचार्य की टीका, सत्याभिनव तीर्थ की टीका, सुदर्शन सूरि की टीका, व्रज-भूषण की टीका, "भागवत-पुराणार्क-प्रभा," जयराम और मधुसूदन सरस्वती की "भागवत-पुराण-प्रथम-श्लोक-टीका, वल्लभाचार्य की "पंचम-स्कंध-टीका," बालकृष्ण यति की "सुबोधिनी" सनातन गोस्वामी की "वैष्णव-तोषिणी," वासुदेव की "बुधरंजिनी,"

"विट्ठल दीक्षित का "निवन्ध-प्रकाश," वल्लभाचार्य की "अनुक्रमणिका," ब्रह्मानंद की "एकादश स्कन्ध तात्पर्य चंद्रिका," वोपदेव की "अनुक्रमणिका।" "भागवत पुराण" के विभिन्न विषयों पर कई अन्य ग्रन्थ भी लिखे गए हैं तथा कुछ ग्रन्थों में उसका सारांश दिया गया है। इनमें से कुछ ग्रन्थ–रामानंद तीर्थ, प्रियदास, विश्वेश्वर, पुरुषोत्तम, श्रीनाथ वृंदावन गोस्वामी, विष्णु-पुरी और सनातन के द्वारा रचित है।

धर्म

"धर्म" शब्द, जिसे साधारणतया अंग्रेजी में "रैलिजन" या "वर्चू" शब्दों द्वारा अनूदित किया जाता है–का प्रयोग भारतीय चिंतन की विभिन्न शाखाओं एवं धर्म-परम्पराओं में बहुत भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। "भागवत पुराण" में व्याख्या किए गए "धर्म" के प्रत्यय का पाठक से परिचय कराने से पूर्व तत्सम्बन्धी कुछ अधिक महत्वपूर्ण धारणाओं का उल्लेख करना उपयोगी सिद्ध होगा। "मीमांसा-सूत्र का आरम्भ "धर्म" के स्वरूप की जिज्ञासा से होता है, तथा उसकी परिभाषा के अनुसार धर्म वह निश्रेयस है जो केवल वैदिक आदेशों से निर्धारित किया जा सकता है।[१] शवर और कुमारिल की व्याख्या के अनुसार "धर्म" कहे जाने वाले श्रेय का अर्थ है स्वर्गादि शुभ फलों के प्रदाता वैदिक-यज्ञ। वैदिक यज्ञों द्वारा वांछनीय फलों की उत्पत्ति होती है। यह तथ्य न तो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है और न उसका अन्य दत्त-सामग्री के वल पर अनुमान किया जा सकता है। उसे तो केवल वैदिक आदेशों एवं निर्देशों के साक्ष्य द्वारा जाना जा सकता है। इसलिए धर्म का अर्थ है वैदिक यज्ञों द्वारा प्राप्त श्रेयस्कर फल एवं स्वयं वैदिक विधि-निषेध द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। विवेकशील एवं दूरदर्शितापूर्ण कार्यों द्वारा प्राप्त वांछनीय फलों को "धर्म" कहा जा सकता है जो वैदिक विधि-निषेधों का यथावत् अनुसरण किये गये कार्यों से प्राप्त होते हैं। किन्तु वेदों में कई प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है जिनके अनुष्ठान द्वारा कोई व्यक्ति अपने शत्रुओं का नाश करके अथवा उसको नाना प्रकार की गहरी चोटें पहुँचा कर उनसे प्रतिशोध ले सकता है। पर किसी मानव को चोट पहुँचाने वाला कार्य अवांछनीय है अतः ऐसा कार्य "धर्म" नहीं कहा जा सकता। जैसा कि हम अव समझते हैं कि इस अर्थ में "धर्म" का ईश्वर अथवा साधारण रूढ़ नीति, अथवा किसी प्रकार के रहस्यवादी या धार्मिक भावावेश से कोई सम्वन्ध नहीं है। उसका अर्थ है केवल वैदिक कर्म-काण्ड तथा उनके अनुष्ठान द्वारा उत्पन्न माने जाने वाले श्रेयस्कर फल, उसका कोई धार्मिक या

---

[१] "अथातो धर्म-जिज्ञासा" –मीमांसा-सूत्र १, १, १।
चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः –वही १, १, २।

नैतिक विनियोग नहीं होता, और ऐसा "धर्म" केवल श्रुति के विधि-निषेध से ज्ञात किया जा सकता है।[1] उसमें अहिंसा की धारणा का थोड़ा-सा अंश सन्निहित है, क्योंकि दूसरों को क्षति पहुँचाने वाले कर्म-काण्डों के अनुष्ठान का उसके भावार्थ में समावेश नहीं किया गया है। "धर्म" में सब प्रकार के संवेगों, रहस्यात्मक भावों तथा किसी भी रूप में बुद्धि या विचार के पर्याय का कोई स्थान नहीं है, अपितु उसमें केवल बाह्य श्रुति-आदेशों के प्रति यथावत् निष्ठा का पूर्वग्रहण होता है, उसमें किसी आंतरिक आध्यात्मिक नियम या बुद्धिपरक संकल्प, अथवा ईश्वर की इच्छा के प्रति निष्ठा का लेशमात्र भी नहीं मिलता। परन्तु श्रुति का आदेश कुछ स्थितियों में तो निरुपाधिक आदेश होता है और अन्य स्थितियों में सोपाधिक आदेश, जिसका अर्थ है कि वह व्यक्ति की कुछ शुभ वस्तुओं के प्रति कामना से प्रतिबंधित होता है। कुमारिल इस प्रत्यय की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वैदिक आदेशों के अनुसार किसी द्रव्य, क्रिया या गुण का विशेष प्रकार के परिचालन द्वारा सुख की उत्पत्ति के लिये उपयोग करना ही "धर्म" कहलाता है।[2] यद्यपि यह द्रव्य, गुण आदि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष

---

[1] य एव श्रेयस्करः, स एव धर्म शब्देन उच्यते, कथमवगम्यताम्, यो हि यागम-नुतिष्ठति, तं धार्मिक इति समाचक्षते, यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते, यथा पाठकः, लावक इति। तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति, स धर्म शब्देन उच्यते ·········कोऽर्थः—यो निःश्रेयसाय ज्योतिष्टोमादिः। कोऽनर्थः—यः प्रत्यवायायः।

—"मीमांसा-सूत्र" पर "शबर-भाष्य," १, १, २।

लेकिन प्रभाकर इस नियम की भिन्न व्याख्या देते हैं, तथा सुझाव देते हैं कि इसका तात्पर्य यह है कि वेदों का प्रत्येक आदेश सदा बाध्यकारी होता है और "धर्म कहलाता है, भले ही उसके पालन करने से हम ऐसे कार्य कर बैठें जो अन्य लोगों को क्षति पहुँचायें।

ततः सर्वस्य वेदार्थस्य कार्यत्व अर्थत्वं च विधीयत इति श्येनादिनियोगानाम पि अर्थत्वं स्यात्।

किये जा सकते हैं, तथापि, यह तथ्य कि उनके एक विशेष कर्म-कांडीय पद्धति के अनुसार परिचालन द्वारा अनुष्ठानकर्त्ता के सुख की उत्पत्ति होगी, वैदिक विधि-निषेध द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है और केवल इस ज्ञान के लिये ही "धर्म" वेदों पर निर्भर करता है।[1] अपने शत्रु की हिंसा करने से एक व्यक्ति को तात्कालिक सुख प्राप्त हो सकता है, लेकिन वैदिक आदेशों द्वारा वर्जित होने के कारण उससे भविष्य में अनिवार्यतः दुःख उत्पन्न होगा। (किन्तु यज्ञानुष्ठान में पशु जीवन की हिंसा से अधर्म उत्पन्न नहीं होता, अतः उसे "धर्म" के अन्तर्गत समाविष्ट मानना पड़ेगा)।

दूसरी ओर ऐसे कार्य हैं जो अपने शत्रुओं की हिंसा करने के लिए किये जाते हैं तथा वेद जिनका आदेश नहीं देते हैं, किन्तु ऐसे अशुभहेतुओं से प्रेरित व्यक्तियों के लिये जिनके अनुष्ठान की विधियाँ वेदों में वर्णित की गई हैं, केवल ये कार्य ही "अधर्म" कहलाते हैं। इस प्रकार सभी तरह की जीव-हिंसा "अधर्म" नहीं मानी जाती अपितु वेदों द्वारा वर्जित हिंसा ही "अधर्म" कहलाती है : वेदों द्वारा जिस हिंसा का आदेश दिया गया है वह "अधर्म" नहीं बल्कि "धर्म" मानी जानी चाहिये। स्वरूपतः द्रव्यों, कर्मों अथवा गुणों में कुछ शक्तियाँ सन्निहित होती हैं जो उन्हें अधर्ममय या धर्ममय बनाती हैं, लेकिन कौन से द्रव्य आदि अधर्ममय हैं और कौन से धर्ममय यह श्रुतियों के आदेशों से ही ज्ञात किया जा सकता है।[2] इस प्रकार "धर्म" और "अधर्म" वस्तुओं, क्रियाओं आदि के वस्तुगत लक्षण हैं जिनका स्वरूप केवल श्रुति द्वारा ही प्रकट होता है। ऊपर हम देख ही चुके हैं कि प्रभाकर ने "धर्म" का एक सर्वथा भिन्न अर्थ दिया था। उनके अनुसार "धर्म" वैदिक कर्मकाण्डों के अनुष्ठान का वह अनुभवातीत फल

धर्मः प्रीतिनिमित्तं स्यात् तदा श्येनेऽपि धर्मता
यदा त्वप्रीति-हेतुर्यः साक्षाद्व्यवहितोऽपि वा
सोऽधर्मश्चोदनातः स्यात्तदा श्येनेऽप्यधर्मता।

—"श्लोकवार्तिक," सूत्र २ श्लोक २७०–२७३।

[1] द्रव्य-क्रिया-गुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते
तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता
श्रेयः साधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रिय-गोचरः।

—"श्लोक-वार्तिक," सूत्र २, १३, १४।

[2] धर्माधर्मार्थिभिर्नित्यं मृग्यौ विधि-निषेधकौ क्वचिदस्या निषिद्धत्वाच्छक्तिः शास्त्रेण बोधिता···विद्यमाना हि कथ्यन्ते शक्तयो द्रव्यकर्मणाम् तदेव चेदं कर्मेति शास्त्रमेवानुधावता।

—वही, २४६, २५१।

(अपूर्व) है जो कार्य की समाप्ति के पश्चात् दीर्घकाल तक विद्यमान रहता है तथा उचित समय पर उचित एवं अशुभ प्रभाव उत्पन्न करता है।[1]

स्मृति-साहित्य के स्रोत वैदिक माने जाते हैं, अतः उसे प्रामाणिक समझना चाहिए, उसकी सामग्री का मूल यदि वेदों तक नहीं खोजा जा सकता है तो भी यह अनुमान द्वारा सिद्ध होता है कि उक्त वैदिक मूल-पाठ अस्तित्व में रहा होगा।[2] स्मृति तभी अमान्य समझी जानी चाहिये जबकि किसी विशेष आदेश अथवा तथ्य के कथन में वेदों द्वारा उसका प्रत्यक्ष व्याघात किया जाय। अतएव स्मृति-ग्रन्थ सामान्यतया वेदों के क्रमानुवर्ती माने जाते हैं। यद्यपि वास्तव में स्मृति-ग्रन्थ परवर्ती युग में विभिन्न कालों में लिखे होने के कारण कई नवीन प्रत्ययों और कई नवीन आदर्शों का श्रीगणेश करते हैं, पर कुछ स्मृतियों में पुराणों और स्मृतियों के उपदेशों को वैदिक उपदेशों से निम्नतर स्तर का माना गया है।[3] स्मृति और वेदों के सम्बन्ध पर कम से कम दो भिन्न दृष्टिकोण हैं। प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार यदि स्मृतियाँ वेदों से विपरीत हों, तो स्मृति के मूल-पाठ की इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए कि वह वैदिक मूल-पाठ के संदर्भ में सहमत हो जाय, और यदि ऐसा सम्भव न हो तो स्मृति के मूल पाठ को अमान्य समझना चाहिये। अन्य विद्वानों के अनुसार विपरीत स्मृति मूल पाठ को अमान्य ही समझना चाहिये। मित्र मिश्र, शबर एवं भट्ट शाखाओं के उपर्युक्त दो मतों पर टीका करते हुए कहते हैं कि पहले मत के अनुसार यह संदेह हो जाता है कि वेदों से विपरीत स्मृति के मूल पाठ का लेखक त्रुटियों से मुक्त नहीं है, अतएव वेदों से अविपरीत स्मृति के मूल पाठों को भी दोषपूर्ण समझा जा सकता है जिनका स्रोत वेदों में नहीं खोजा जा सकता। द्वितीय मत के अनुसार स्मृति को मान्य समझा जाता है क्योंकि कोई यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि वे वेदों से अविपरीत मूल-पाठ, जिनका स्रोत वेदों में नहीं खोजा जा सकता, यथार्थ में वेदों में अविद्यमान हैं। जिनमें सामंजस्य की कोई गुंजायश न हो, ऐसे वेदों से विपरीत मूल-पाठों की दशा में भी, स्मृति के आदेश वैदिक आदेशों से विपरीत होने पर वैकल्पिक रूप से मान्य समझे जा

---

[1] न हि ज्योतिष्टोमादि–यागस्यापि धर्मत्वं अस्ति, अपूर्वस्य धर्मत्वाभ्युपगमात्।
–"शास्त्र-दीपिका," पृ० ३३, बम्बई, १९१५।

[2] विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादस्ति ह्यनुमानम्।
–"मीमांसा-सूत्र," १, ३, ३।

[3] अतः स परमो धर्मो यो वेदाद् अवगम्यते
अवरः स तु विज्ञेयः पुयेराणादिषु स्मृतः
तथा च वैदिको धर्मो मुख्य उत्कृष्टत्वात्, स्मार्तः अनुकल्पः अप्रकृष्टत्वात्।
–"वीर मित्रोदय-परिभाषा-प्रकाश" में "व्यास-स्मृति" से उद्धृत पृ० २९।

किये जा सकते हैं, तथापि, यह तथ्य कि उनके एक विशेष कर्म-कांडीय पद्धति के अनुसार परिचालन द्वारा अनुष्ठानकर्त्ता के सुख की उत्पत्ति होगी, वैदिक विधि-निषेध द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है और केवल इस ज्ञान के लिये ही "धर्म" वेदों पर निर्भर करता है।[1] अपने शत्रु की हिंसा करने से एक व्यक्ति को तात्कालिक सुख प्राप्त हो सकता है, लेकिन वैदिक आदेशों द्वारा वर्जित होने के कारण उससे भविष्य में अनिवार्यतः दुःख उत्पन्न होगा। (किन्तु यज्ञानुष्ठान में पशु जीवन की हिंसा से अधर्म उत्पन्न नहीं होता, अतः उसे "धर्म" के अन्तर्गत समाविष्ट मानना पड़ेगा)।

दूसरी ओर ऐसे कार्य हैं जो अपने शत्रुओं की हिंसा करने के लिए किये जाते हैं तथा वेद जिनका आदेश नहीं देते हैं, किन्तु ऐसे अशुभहेतुओं से प्रेरित व्यक्तियों के लिये जिनके अनुष्ठान की विधियाँ वेदों में वर्णित की गई हैं, केवल ये कार्य ही "अधर्म" कहलाते हैं। इस प्रकार सभी तरह की जीव-हिंसा "अधर्म" नहीं मानी जाती अपितु वेदों द्वारा वर्जित हिंसा ही "अधर्म" कहलाती है : वेदों द्वारा जिस हिंसा का आदेश दिया गया है वह "अधर्म" नहीं बल्कि "धर्म" मानी जानी चाहिये। स्वरूपतः द्रव्यों, कर्मों अथवा गुणों में कुछ शक्तियाँ सन्निहित होती हैं जो उन्हें अधर्ममय या धर्ममय बनाती हैं, लेकिन कौन से द्रव्य आदि अधर्ममय हैं और कौन से धर्ममय यह श्रुतियों के आदेशों से ही ज्ञात किया जा सकता है।[2] इस प्रकार "धर्म" और "अधर्म" वस्तुओं, क्रियाओं आदि के वस्तुगत लक्षण हैं जिनका स्वरूप केवल श्रुति द्वारा ही प्रकट होता है। ऊपर हम देख ही चुके हैं कि प्रभाकर ने "धर्म" का एक सर्वथा भिन्न अर्थ दिया था। उनके अनुसार "धर्म" वैदिक कर्मकाण्डों के अनुष्ठान का वह अनुभवातीत फल

धर्मः प्रीतिनिमित्तं स्यात् तदा श्येनेऽपि धर्मता
यदा त्वप्रीति-हेतुर्यः साक्षाद्व्यवहितोऽपि वा
सोऽधर्मश्चोदनातः स्यात्तदा श्येनेऽप्यधर्मता।

—"श्लोकवार्तिक," सूत्र २ श्लोक २७०–२७३।

[1] द्रव्य-क्रिया-गुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते
तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता
श्रेयः साधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रिय-गोचरः।

—"श्लोक-वार्तिक," सूत्र २, १३, १४।

[2] धर्माधर्मार्थिभिर्नित्यं मृग्यौ विधि-निषेधकौ क्वचिदस्या निषिद्धत्वाच्छक्तिः शास्त्रेण बोधिता···विद्यमाना हि कथ्यन्ते शक्तयो द्रव्यकर्मणाम् तदेव चेदं कर्मेति शास्त्रमेवानुधावता।

—वही, २४६, २५१।

(अपूर्व) है जो कार्य की समाप्ति के पश्चात् दीर्घकाल तक विद्यमान रहता है तथा उचित समय पर उचित एवं अशुभ प्रभाव उत्पन्न करता है।[1]

स्मृति-साहित्य के स्रोत वेद माने जाते हैं, अतः उसे प्रामाणिक समझना चाहिए, उसकी सामग्री का मूल यदि वेदों तक नहीं खोजा जा सकता है तो भी यह अनुमान द्वारा सिद्ध होता है कि उक्त वैदिक मूल-पाठ अस्तित्व में रहा होगा।[2] स्मृति तभी अमान्य समझी जानी चाहिये जबकि किसी विशेष आदेश अथवा तथ्य के कथन में वेदों द्वारा उसका प्रत्यक्ष व्याघात किया जाय। अतएव स्मृति-ग्रन्थ सामान्यतया वेदों के क्रमानुवर्त्ती माने जाते हैं। यद्यपि वास्तव में स्मृति-ग्रन्थ परवर्त्ती युग में विभिन्न कालों में लिखे होने के कारण कई नवीन प्रत्ययों और कई नवीन आदर्शों का श्रीगणेश करते हैं, पर कुछ स्मृतियों में पुराणों और स्मृतियों के उपदेशों को वैदिक उपदेशों से निम्नतर स्तर का माना गया है।[3] स्मृति और वेदों के सम्बन्ध पर कम से कम दो भिन्न दृष्टिकोण हैं। प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार यदि स्मृतियाँ वेदों से विपरीत हों, तो स्मृति के मूल-पाठ की इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए कि वह वैदिक मूल-पाठ के संदर्भ में सहमत हो जाय, और यदि ऐसा सम्भव न हो तो स्मृति के मूल पाठ को अमान्य समझना चाहिये। अन्य विद्वानों के अनुसार विपरीत स्मृति मूल पाठ को अमान्य ही समझना चाहिये। मित्र मिश्र, शबर एवं भट्ट शाखाओं के उपर्युक्त दो मतों पर टीका करते हुए कहते हैं कि पहले मत के अनुसार यह संदेह हो जाता है कि वेदों से विपरीत स्मृति के मूल पाठ का लेखक त्रुटियों से मुक्त नहीं है, अतएव वेदों से अविपरीत स्मृति के मूल पाठों को भी दोषपूर्ण समझा जा सकता है जिनका स्रोत वेदों में नहीं खोजा जा सकता। द्वितीय मत के अनुसार स्मृति को मान्य समझा जाता है क्योंकि कोई यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि वे वेदों से अविपरीत मूल-पाठ, जिनका स्रोत वेदों में नहीं खोजा जा सकता, यथार्थ में वेदों में अविद्यमान हैं। जिनमें सामंजस्य की कोई गुंजायश न हो, ऐसे वेदों से विपरीत मूल-पाठों की दशा में भी, स्मृति के आदेश वैदिक आदेशों से विपरीत होने पर वैकल्पिक रूप से मान्य समझे जा

---

[1] न हि ज्योतिष्टोमादि–यागस्यापि धर्मत्वं अस्ति, अपूर्वस्य धर्मत्वाभ्युपगमात्।
—"शास्त्र-दीपिका," पृ० ३३, बम्बई, १९१५।

[2] विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्।
—"मीमांसा-सूत्र," १, ३, ३।

[3] अतः स परमो धर्मो यो वेदाद् अवगम्यते
अवरः स तु विज्ञेयः पुयेराणादिपु स्मृतः
तथा च वैदिको धर्मो मुख्य उत्कृष्टत्वात्, स्मार्तः अनुकल्पः अप्रकृष्टत्वात्।
—"वीर मित्रोदय-परिभाषा-प्रकाश" में "व्यास-स्मृति" से उद्धृत पृ० २९।

सकते हैं ।[1] वेदों में "धर्म" के प्रत्यय से अनुष्ठानकर्ता अथवा अन्य व्यक्तियों को लाभप्रद उन सभी बातों का अपवर्जन हो जाता है जो अनुभव अथवा निरीक्षण द्वारा ज्ञात की जा सकती है, वह पूर्णतया उन कर्मकाण्डीय क्रियाओं तक ही सीमित है जिनके शुभ प्रभाव अनुभव द्वारा नहीं बल्कि केवल वैदिक आदेशों के द्वारा ही ज्ञात किये जा सकते हैं ।[2] जैसे कुएँ खुदवाना आदि कार्यों को अनुभव द्वारा सार्वजनिक हित (परोपकाराय) के कार्य के रूप में ज्ञात किया जाता है, अतः वह "धर्म" नहीं कहा जायगा । अतएव कोई भी "दृष्टार्थ" अर्थात् वे कार्य जिनके लाभप्रद प्रभाव अनुभव द्वारा ज्ञात किये जा सकें, "धर्म" नहीं कहला सकते । "अंगिरः स्मृति" इसी विचार को प्रतिध्वनित करते हुए कहती है कि आत्मज्ञान की प्राप्ति में किये गए प्रयत्नों के अतिरिक्त कोई व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत इच्छा अथवा अभिलाषा से प्रेरित होकर जो भी कार्य करता है, वह बालक्रीड़ावत् एवं निष्प्रयोजन होता है ।[3] पर कई महत्वपूर्ण स्मृतियाँ "धर्म" के प्रत्यय की सीमाओं का विशुद्ध वैदिक आदेशों से परे विस्तार करती हुई प्रतीत होती हैं । मनु का ग्रंथ पूर्णतया वेदों के संदर्भ पर आधारित होने के कारण, मनु को महानतम् स्मृतिकार माना जाता है, जो भी स्मृति मनु-स्मृति से विरोध में होती है वह अमान्य समझी जाती है ।[4] मनु की परिभाषानुसार "धर्म" वह है जिसका राग-द्वेष से रहित विद्वज्जन नित्य अनुसरण करते हैं, तथा जिसकी हृदय स्वीकृति देता है ।[5] एक अन्य स्थान में मनु कहते हैं कि "धर्म" चार प्रकार का होता है, वैदिक आदेशों का पालन, स्मृति के आदेशों का पालन, साधु जनों के आचार का पालन, और ऐसे कार्यो का संपादन जो अनुष्ठानकर्त्ता को मानसिक संतोष (आत्मन

---

[1] देखिए "वीर मित्रोदय" भाग १, पृ० २८, २९ ।

[2] तथा प्रत्युपस्थितनियमानाम् आचाराणां दृष्टार्थत्वाद् एव प्रामाण्यम् प्रपास् तड़ागानि च परोपकाराय न धर्माय इत्येवावगम्यते ।

—"मीमांसा-सूत्र" पर "शबर-भाष्य" १, ३, २ ।

[3] स्वाभिप्रायकृतं कर्म यत्किंचिज्ज्ञानज्वर्जितम् क्रीड़ा-कर्मेव बालानां तत्सर्वं निष्प्रयोजनम् ।

—"वीरमित्रोदय-परिभाषा-प्रकाश" पृ० ११ ।

[4] वेदार्थोपनिबन्धृत्वात् प्राधान्यं हि मनो स्मृतम्
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न प्रशस्यते ।

—"वीरमित्रोदय" में बृहस्पति का उद्धरण, वही, पृ० २७ ।

[5] विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यम् अप-द्वेरागिभिः
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ।

—"मनु-संहिता," २, १

स्तुष्टि:) प्रदान करे।[1] लेकिन टीकाकार "धर्म" के अर्थ एवं विषय का इस प्रकार का विस्तार स्वीकार करने के प्रति अनिच्छुक है। एक प्राचीनतम टीकाकार, मेधा-तिथि (९ वीं शताब्दी), में कहते हैं कि वैदिक आदेशों के पालन के रूप में "धर्म" अनादि है, केवल वेदों के विद्वान ही "धर्म" के ज्ञाता कहे जा सकते हैं, तथा यह असम्भव है कि यहां "धर्म" के स्वरूप को ज्ञात करने के अन्य साधन भी हैं। धार्मिक कृत्यों के नाम पर जो अन्य आचार, व्यवहार तथा जीवन के विधि-विधान प्रचलित हैं उन्हें दुश्चरित्र मूर्खों ने प्रवृत्त किया है (मुर्ख-दुःशील-पुरुष-प्रवृत्तिरा:) वे कुछ काल तक प्रचलित रहते हैं और तत्पश्चात् उनका नाश हो जाता है। ऐसे धार्मिक आचार प्रायः लोभ के कारण अपनाये जाते हैं (लोभात् मंत्र तंत्रादिशु प्रवर्त्तंते)।[2] ज्ञानी और शीलवान केवल वे ही हैं जो वेदों के आदेशों के ज्ञाता हैं, उनको नियम के प्रति आदरभाव से कार्यों में परिणत करते हैं और लोभ अथवा द्वेष से प्रेरित होकर अवैदिक कृत्यों को करने की भूल नहीं करते। और, यद्यपि मनुष्य अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिये कई कार्यों को करने के लिये मन में लालायित हो सकता है, तथापि हृदय का वास्तविक संतोष तो वैदिक कृत्यों के अनुष्ठान से ही प्राप्त हो सकता है।[3] अपनी इस प्रकार की व्याख्या

---

[1] वेदोऽखिलो धर्म-मूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्,
आचारश्चैव साधूनाम् आत्मनस्तुष्टिर्एव च। —वही, २, ६।

[2] मेधातिथि कहते हैं कि शरीर पर विभूति लगाना, मानवी खोपड़ियां लिये फिरना, नंगे घूमना या गेरुए वस्त्र पहनना आदि कार्य निकम्मे लोगों द्वारा जीविकोपार्जन के साधन के रूप में अपनाये जाते हैं। —वही, अध्याय २, १।

[3] "हृदयेन अभ्यनुज्ञात्" वाक्यांश में "हृदय" शब्द की व्याख्या करते हुए मेधातिथि कहते हैं कि "हृदय" का अर्थ "मन" हो सकता है (मनस्, अंतर्हृदयवर्त्तीति बुद्ध्यादि तत्वानि)। इस मान्यता के अनुसार वे यह कहेंगे कि मन का संतोष वैदिक कर्त्तव्य-पथ के पालन से ही प्राप्त हो सकता है। परन्तु इस अर्थ से प्रत्यक्षत: असन्तुष्ट होकर वे यह सोचते हैं कि "हृदय" का अर्थ वेदों की स्मरण की हुई सामग्री भी हो सकता है (हृदयं वेदः, स ह्यधीतो भावना-रूपेण हृदय-सहित्तो हृदयम्)। इसका अर्थ यह हो जाता है कि वेदों का पंडित मानो सहजवृति से सद्गुणी कार्यों में प्रवृत्त होता है क्योंकि अपने आचार-पथ को चुनते समय वह अचेतन रूप में अपने वैदिक अध्ययन से निर्देशित होता है। मनुष्य कार्यों में प्रेरित अपनी निजी प्रवृत्ति से, महापुरुषों के उदाहरण से, अथवा वैदिक आदेशों से हो सकता है, किन्तु वह चाहे किसी भी ढंग से इस प्रकार प्रेरित हो, उसके कार्य "धर्म" के अनुरूप तभी होंगे जबकि वे अंततोगत्वा वैदिक कर्त्तव्य-पथ के अनुरूप हों।

से संगति रखते हुए मेधातिथि न केवल बौद्धों एवं जैनों को गहने वैदिक धर्म से बाहर होने के कारण तिरस्कृत करते हैं बल्कि पंचरात्र के अनुयायियों (अर्थात् भागवतों) एवं पाशुपतों को भी तिलाजंलि देते हैं क्योंकि वे उक्त तंत्रों के लेखकों के आप्तत्व में तथा अपनी रुचि के देवताओं की महानता में विश्वास रखते थे। उनके मत में इनके उपदेश वेदों के आदेशों से स्पष्टतया विपरीत हैं : तथा उदाहरण के तौर पर वे संकेत करते हैं कि भागवतों के मतानुसार सब प्रकार की जीव-हिंसा अधार्मिक है, और यह मत यज्ञ-विशेष में पशुओं की बलि-सम्बन्धी वैदिक आदेश के स्पष्टतः विपरीत है। प्राणियों की हिंसा स्वतः ही अधार्मिक नहीं है : केवल वही हिंसा अधार्मिक है जिसका वैदिक आदेशो द्वारा निषेध किया गया है। अतः उन सभी धर्म-तंत्रों के आचार एवं कृत्य, जो वेदों के उपदेशों पर आधारित नहीं हैं, "धर्म" के अनुकूल न होने के कारण त्याज्य हैं। "स्मृति-शीले च तद्विदाम्" की व्याख्या करते हुए मेधातिथि कहते हैं कि "शील" शब्द (जिसको साधारणतया "चरित्र" में अनूदित किया जाता है) का अर्थ यहां उस एकाग्रता से है जो मन को वैदिक आदेशों के सही भावार्थ को स्मरण करने में समर्थ बनाती है।[1] आचार से मेधातिथि का तात्पर्य केवल उन्हीं कर्मों से है जिनका वैदिक कर्त्तव्यों का यथावत् अनुसरण करने वाले लोगों द्वारा वर्त्तमान समय में पालन किया जाता है किन्तु जिनके सम्बन्ध में कोई वैदिक या स्मृति का मूल पाठ उपलब्ध नही है। उनकी मान्यता है कि वे गौण विधान तथा अन्य कर्मकाण्ड जिनका वैदिक परिमण्डल के लोगों द्वारा अनुष्ठान किया जाता है अंततोगत्वा वैदिक आदेशों से ही आरम्भ हुए हैं। इसी प्रकार वेदों के अनुसार कार्य करने में अभ्यस्त लोगों के आत्म-संतोष की भावना ही "धर्म" पथ की निर्देशक मानी जा सकती है। इसका अर्थ केवल यही हुआ कि वेदो के सभी अनुयायियों की सहज-प्रवृति पर यह संकेत करने का भरोसा किया जा सकता है जिन कार्यों की ओर उनका मन प्रवृत्त हो वे वैदिक आदेशों के अनुकूल होने ही चाहिये और फलतः "धर्म" के अनुरूप होने ही चाहिये। किन्तु अन्य टीकाकार "शील", "आत्मनस्तुष्टि" व "हृदयेण अभ्यनुज्ञात" शब्दों के अर्थ पर अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाते है। इस प्रकार गोविन्दराज अंतिम वाक्यांश की व्याख्या "संशय से रहित" (अंतः करण-चिकित्सा-शून्य) के अर्थ में करते हैं, और नारायण तो इतना तक कहते है यदि हृदय किसी कार्य की अनुमति न दे तो वह सत् नही माना जा सकता : रामानन्द कहते है कि जब दो परस्पर विपरित मूलपाठों के सम्बन्ध में संशय हो तब एक व्यक्ति को वही कार्य करना चाहिये जिससे उसका मन संतुष्ट है। रामानन्द ने अपनी "मन्वर्थ चन्द्रिका" में "शील" "चरित्र" (वृत्त) के

---

[1] समाधिः शीलम् उच्यते···यच्चेतसोऽन्यविषयव्याक्षेप परिहारेण शास्त्रार्थ निरूपण-प्रवणता तच्छीलम् उच्यते।

—मेधातिथि की टीका, अध्याय २, ६।

द्वेषहीनता) को सभी के लिये सार्वदेशिक "धर्म" के अंग मानते हैं।[1] विष्णु क्षमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रिय-संयम, अहिंसा, गुरु शुश्रुषा, दया, आर्जव, अलोलुपता, देवताओं एवं ब्राह्मणों की आराधना को सार्वदेशिक "धर्म" के तत्व मानते हैं। देवल शौच, दान, तपस्, श्रद्धा, गुरु-सेवा, क्षमा, दया, विज्ञान, विनय, सत्य को सभी धर्मों के समुच्चय के तत्व मानते हैं (धर्म-समुच्चय)। याज्ञवल्क्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दम, दया और शान्ति को सभी के लिये सार्वदेशिक "धर्म" संघटक तत्व मानते हैं। "महाभारत" सत्य स्वधर्म-वर्तित्व के रूप में तप्, शौच, संतोष (अर्थात् स्वयं की पत्नि तक सेक्स तृप्ति सीमित रखना), विषय-त्याग, ही (अशुभ कार्यों के करने में लज्जा), क्षमा (कठिनाइयों को सहन करने की योग्यता) आर्जव (मन की समता), ज्ञान, चित्त-प्रसन्नता के रूप में शम, दया, निर्विषय के रूप में ध्यान (मन का सभी इन्द्रिय-विषयों से परावर्त्तन) को सार्वदेशिक "धर्म" मानता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि "योग" के द्वारा आत्म-ज्ञान की प्राप्ति ही सर्वोच्च "धर्म" है।

इन सार्वदेशिक "धर्मों" का विभिन्न वर्ण-धर्मों अथवा भिन्न परिस्थितियों के धर्मों से अंतर है। इस प्रकार "धर्म" के प्रत्यय के विकास में तीन चरण हैं—वैदिक आदेशों के पालन रूपी कर्त्तव्य के रूप में "धर्म", अहिंसा, सत्य, आत्म-संयम आदि नैतिक सद्-गुणों के रूप में "धर्म", "योग" के द्वारा आत्म-ज्ञान के रूप में "धर्म"।

किन्तु "भागवत" "धर्म" के प्रत्यय का एक नवीन पहलू उपस्थित करता है। "भागवत" के अनुसार "ईश्वर की अहैतुकी और अप्रतिहत भक्ति का नाम धर्म है, वह उपासना जो सबके प्रति दयालुता की प्रवृत्ति रखने वाले तथा निर्मत्सर मनुष्यों द्वारा हृदय की पूर्ण सद्भावना के साथ की जाती है। इस उपासना में आत्मा की पूजनीयता की अनुभूति के स्वाभाविक परिणाम के रूप में परमतत्व के ज्ञान का समावेश होता है तथा वह स्वभावतः सर्वोच्च आनन्द को उत्पन्न करती है।[2] जिस अवतरण का विवेचन किया जा रहा है उसमें "धर्म" की परिभाषा के एक लक्षण के रूप में

---

[1] वही, पृ० ३२-४।

"विष्णुधर्मोत्तर" में भी पंचरात्र और पाशुपत का ब्रह्मजिज्ञासा के साधन के रूप में उल्लेख आता है :

सांख्यं योगः पंचरात्रं वेदाः पाशुपतं
तथा कृतांत-पंचकं विद्धि ब्रह्मणः परिमार्गणे। वही पृ० २२।

लेकिन मित्रमिश्र उसी पृष्ठ पर पाशुपत के वैदिक आगम और अवैदिक आगम रूपों में भेद स्थापित करते हैं। इसी प्रकार पंचरात्र के भी वैदिक और अवैदिक रूप थे। वही पृ० २३।

[2] भागवत पुराण १, १, २ श्रीधर के प्रतिपादन के अनुसार व्याख्या।

ब्रह्मन्, परमात्मन्, भगवत् और परमेश्वर

"भागवत" के प्रारम्भिक श्लोक में परम सत्य की आराधना की गई है। लेकिन "पर" शब्द की व्याख्या श्रीधर "परमेश्वर" के अर्थ में करते हैं। परमेश्वर का स्वरूप-लक्षण "सत्य" कहा गया है। यहाँ सत्य का प्रयोग सत्ता के अर्थ में किया गया है और यह धारणा की गई है कि इस परम सत्ता के कारण मिथ्या सृष्टि भी सत्य प्रतीत होती है और इसी शाश्वत स्थायी सत्ता के कारण समस्त आभास-जगत् सत्य का स्वरूप ग्रहण करता है। जिस प्रकार भ्रामक आभास (जैसे रजत) यथार्थ वस्तु (जैसे शुक्ति) अथवा भ्रम के अधिष्ठान के यथार्थ लक्षण को ग्रहण करके यथार्थ प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इस जगदाभास में परमेश्वर की अधिष्ठान-सत्ता के कारण सभी कुछ सत्य प्रतीत होता है। जगत् परमेश्वर से उत्पन्न होता है, उसमें स्थित रहता है और अंततोगत्वा उसी में लय होता है, यह तथ्य एक आकस्मिक प्रतिभास का अनावश्यक विवरण है जो परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप को प्रकट नहीं करता।

परमेश्वर कई नामों से पुकारा जाता है—जैसे ब्रह्मन्, परमात्मन् व भगवत्, पर वह किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाय उसका विशुद्ध सार शुद्ध अरूप चिदात्मा (अरूपस्य चिदात्मनः) में निहित है।[1] वह जगत् की सृष्टि अपनी त्रिगुणात्मक माया-शक्ति से करता है। वह माया की विविध सृष्टियों में अधिष्ठान होकर एकमात्र शाश्वत सत्ता-सिद्धान्त के रूप में विद्यमान रहता है और उनको सत्यता का आभास प्रदान करता है। माया केवल उसकी बाह्य-शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है जिसके द्वारा वह स्वयं को अधिष्ठान बनाकर जगत् की सृष्टि करता है। लेकिन उसके निजी यथार्थ स्वरूप में माया गौण हो जाती है अतएव वह शुद्ध चैतन्य के रूप में अपनी विशुद्ध कैवल्यता में स्थित रहता है। श्रीधर अपने भाष्य में निर्देश करते हैं कि परमेश्वर की "विद्याशक्ति" और "अविद्या-शक्ति" नामक दो शक्तियाँ होती हैं। अपनी "विद्या-शक्ति" से परमेश्वर शाश्वत विशुद्ध आनन्द, व सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान रूप से अपने निजी यथार्थ स्वरूप में अपनी स्वयं की "माया-शक्ति" को नियंत्रित करता है। "जीव" भक्ति से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस स्थल पर श्रीधर अपने मत की परिपुष्टि का प्रयत्न विष्णु स्वामिन् से उद्धरण देकर करते हैं जिनकी धारणा में सच्चिदानन्द ईश्वर "ह्लादिनी सम्वित्" से व्याप्त है, तथा माया उसके वशीभूत है और उसका जीवों से अन्तर इस तथ्य में निहित है कि वे "माया" के वशीभूत रहते हैं। जीव स्वयं अपने ही अज्ञान में समावृत्त रहते हैं अतएव सदा क्लेशों

---

[1] भागवत-पुराण, प्रथम, ३, ३०।

विन्दु से "शक्ति" और "शक्तिमान" में कोई भिन्नता या भेद नहीं है। सत्ता केवल एक ही है जो "शक्ति" और "शक्तिमान" दोनों रूपों में स्वयं को अभिव्यक्त करती है।[1] जब यह एक परम सत्ता "शक्तिमान" के रूप में देखी जाती है तब उसे परमेश्वर कहते हैं, लेकिन जब "शक्ति" पर बल दिया जाता है तब उसे महाशक्ति कहते हैं जिसका पौराणिक दृष्टि से "महालक्ष्मी" प्रतिनिधित्व करती है।[2] इस प्रकार ब्रह्मन्, भगवत् और परमात्मन् पद प्रसंगानुसार एक ही समरूप सत्ता के लिये प्रयुक्त होते हैं—जब उसके एकत्व या अभेदता पर बल दिया जाता है तब उसे "ब्रह्मन्" कहते हैं, उसे शक्तिमान के रूप में "भागवत" कहते हैं, अथवा अनुभवातीत पुरुष के रूप में "परमात्मन्" कहते हैं। उसकी "अंतरंग" या स्वरूप-शक्ति में आनन्द (ह्लादिनी), सत् (संधिनी) और चित् (संवित) इन शक्तियों का समावेश होता है, जिनमें पिछली दो शक्तियाँ प्रथम शक्ति (ह्लादिनी शक्ति, या आनन्द) का विस्तरण, विकास या अभिव्यक्ति मानी जाती हैं। यह त्रिगुणात्मक शक्ति "चिच्छक्ति" या "आत्म-माया" (सारभूत-माया) भी कहलाती है, अतएव वह परमेश्वर की बाह्य माया-शक्ति (बहिरंग-माया) से भिन्न है जिससे वह जगत् की सृष्टि करता है। उसकी अन्य शक्ति, जिसके द्वारा वह जीवों (जो उसके अंश-मात्र हैं) को स्वयं में धारण करता है और फिर भी ऊपरी बाह्य माया-शक्ति के वश एवं प्रभाव में रखता है, पारिभाषिक दृष्टि से "तटस्थ शक्ति" कही जाती है। इस प्रकार जीव परमेश्वर के अंश होने के साथ ही उसकी विशेष शक्तियों में से एक (तटस्थ-शक्ति) की अभिव्यक्ति भी समझे जाने चाहिये। इस प्रकार जीव यद्यपि परमेश्वर की शक्ति के रूप में उसमें समाविष्ट रहते हैं तथापि वे किसी भाँति उसके समरूप नहीं हैं बल्कि उसकी शक्तियों में से एक की अभिव्यक्ति के रूप में उससे भिन्न बने रहते हैं। परम सत्ता का एकत्व (अद्वय-तत्व) इन तथ्यों में निहित है कि वह आत्म-निर्भर, पूर्णतया स्वतंत्र और स्वावलम्बी है, तथा उसके सदृश (यथा जीव) अथवा असदृश (जगत् की आधात्री प्रकृति) अन्य कोई ऐसी सत्ता नहीं है जो उसके सम-तुल्य हो, क्योंकि "प्रकृति" और "जीव" दोनों परमेश्वर की अभिव्यक्तियाँ होने के नाते उस पर निर्भर करते हैं। परमेश्वर अपनी शक्तियों सहित अकेला स्थित है, और उसके बिना जगत् और जीव

---

[1] अथ एकम् एव स्वरूपं शक्तित्वेन शक्तिमत्वेन च विराजति।
—"षट्-संदर्भ" पृ० १८८ (श्यामलाल गोस्वामी का संस्करण)

[2] यस्य शक्तेः स्वरूप-भूतत्वं निरूपितं तच्छक्तिमत्व प्राधान्येन विराजमानम् भगवत संज्ञाम् आप्नोति तच्च व्याख्यातम्; तद् एव च शक्तित्व-प्राधान्येन विराजमानं लक्ष्मी-संज्ञाम् आप्नोति। वही।

सम्भव नहीं हो सकते।[1] उसकी सत्ता का स्वरूप इस तथ्य में निहित है कि वह परमानन्द रूप (परम-सुख-रूपत्व) है, सभी इच्छाओं का चरम लक्ष्य (परम पुरुषार्थता) है, और नित्य है। यही परम नित्य सत्ता सर्व वेदान्तोपदेशों की अंतर्विषय है। इस प्रकार "भागवत-पुराण" निर्देश करता है कि यही वह सत्ता है जो सभी की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है, यही वह सत्ता है जो सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं में समरूप रहती है, यही वह सत्ता है जो शरीर, इन्द्रियों और मन को सजीवता प्रदान करती है और फिर भी स्वयं में किसी कारण से रहित है। वह न जन्म लेती है, न विकसित होती है, न क्षीण होती है, न मरती है, फिर भी वह एक स्थिर तत्व के रूप में शुद्ध चैतन्य के रूप में–सर्व परिवर्त्तनों की अध्यक्षता करती है, और सुषुप्ति में भी जबकि समस्त इन्द्रियों का परिचालन रुक जाता है, उसका अपना एक रस अनुभव समरूप बना रहता है।

इस सत्ता को कुछ लोग ब्रह्मन् कहते हैं, कुछ भगवत् कहते हैं और अन्य परमात्मन् कहते हैं। जब विशुद्ध आनन्द स्वरूप सत्ता का परमहंसों द्वारा अपनी आत्मा से तादात्म्य का अनुभव किया जाता है, और जब उनके मन उसके विविध शक्तियों से युक्त स्वरूप को ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं तथा जब उसमें और उसकी शक्तियों में भेद नहीं समझा जाता है, तब वह ब्रह्मन् कही जाती है। इस प्रकार के अनुभवों में यह सत्ता अपनी अमूर्त्तता में सामान्य रूप से ही ग्रहण की जाती है।[2] लेकिन जब यह सत्ता विविध शक्तियों से युक्त पर उनसे भिन्न अपने यथार्थ स्वरूप के उपासकों द्वारा सिद्ध की जाती है, तब उसे "भगवत्" नाम से पुकारा जाता है। इस प्रसंग में विशुद्ध आनन्द तो द्रव्य अथवा विशेष्य होता है और अन्य समस्त शक्तियाँ उसकी विशेषण मात्र होती हैं, अतः जब सत्ता अपने उचित सम्बन्धों सहित अपनी पूर्णता में कल्पित की जाती है तब वह भगवत् कहलाती है : किन्तु जब वह अपने विशेष सम्बन्धों के बिना व अपने अमूर्त रूप में कल्पित की जाती है तब वह

ब्रह्मन् कहलाती है।[1] जहाँ तक ब्रह्मन् और भगवत् के प्रत्ययों में इस अन्तर का सम्बन्ध है वह उपयुक्त है। लेकिन इस सम्प्रदाय में इस स्थान पर पुराण शास्त्र का अतिक्रमण कर जाता है। पुराणों में पौराणिक दृष्टि से कृष्ण या भगवान "वैकुण्ठ" में भड़कीले वस्त्रों को धारण किए अपने सहचरों से घिरे हुए अपने सिंहासन पर विराजमान प्रदर्शित किये गये हैं। यह "वैकुण्ठ" दिक् और काल से रहित है, वह परमेश्वर की "स्वरूप शक्ति" की अभिव्यक्ति है अतएव वह "गुणों से निर्मित नहीं है जो दिक्-काल-मय जगत् के निर्माणकारी द्रव्य हैं। चूँकि "वैकुण्ठ" दिक्-काल से रहित है अतः यह कहना कि परमेश्वर "वैकुण्ठ में स्थित है उतना ही सत्य है जितना यह कहना कि परमेश्वर स्वयं "वैकुण्ठ" है। जो लोग धर्म की इस शाखा में विश्वास रखते थे वे पौराणिक कथाओं और निरूपणों के महत्व से इतने ग्रस्त हो गये थे कि वे परमेश्वर को विशिष्ट आकृतियों, वस्त्रों, आभूषणों, सहचरों आदि से युक्त मानते थे। वे यह सोचने में असफल रहे कि इन निरूपणों की पौराणिक, साध्यवसाविक अथवा कोई अन्य व्याख्या सम्भव है। वे इन प्रगाढ़ पुरुषविध वर्णनों को अक्षरशः सत्य मानते थे। लेकिन ऐसी स्वीकृतियों की यह अकाट्य आलोचना हो सकती है कि हाथों, पैरों और वस्त्रों वाला परमेश्वर नाशवान होगा। इस आलोचना के परिहारार्थ उनका कथन था कि परमेश्वर की आकृतियां, वास-स्थान आदि उसकी अभौतिक स्वरूप-शक्ति के दिक्-काल-रहित तत्वों से निर्मित होते हैं। किन्तु आकृतियों में दिक् की धारणा सन्निहित है और दिक्-शून्य आकृतियों का अर्थ होगा दिक्रहित दिक्। इस आलोचना का उनके पास कोई उत्तर नहीं था, तथा उसके परिहार की एक-मात्र विधि उनकी यह दृढ़ोक्ति थी कि परमेश्वर की शक्तियों का स्वरूप हमारे लिये अचित्य है, अतएव इस स्वरूप-शक्ति की अभिव्यक्ति-रूप परमेश्वर की आकृतियों की तार्किक आधार पर आलोचना नहीं की जा सकती, अपितु "पुराणों" की प्रामाणिक साक्ष्य के बल पर वे सत्य मानी जानी चाहिये।

इस तर्कातीत, बुद्धि से अगम्य या विचारातीत (अचिन्त्य) सत्ता की धारणा का यह सम्प्रदाय अपने मतों, सिद्धान्तों और विश्वासों से सम्बन्धित समस्त कठिनाइयों की व्याख्या करने के लिये स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग करता है। "अचिन्त्य" वह है जिसे अपरिहार्यतः तथ्यों की व्याख्या के हेतु स्वीकार करना पड़ता है, परन्तु जो तर्क की संवीक्षा सहन नहीं कर सकती (तर्कासिहं यज्ज्ञानं कार्यान्यथानुपपत्ति-प्रमाणकम्), तथा जो बुद्धि से अगम्य अथवा असम्भव समझी जाने वाली घटनाओं की व्याख्या कर सके

---

[1] एवं च आनन्द-मात्रं विशेष्यं समस्तः शक्तयः विशेषणानि विशिष्टो भगवान् इत्यायातम्। तथा चैव विशिष्टये प्राप्ते पूर्णाविर्भावत्वेन अखंड तत्व-रूपोऽसौ भगवान् ब्रह्म तु स्फुटम् अप्रकटित-वैशिष्ट्या कारत्वेन तस्यैव असम्यग् आविर्भावः।

—वही, पृ० ५०।

सर्वा हो जायगी। यह शक्ति उसे धारण करने वाली सत्ता के स्वरूप में भिन्न नहीं हो सकती और, चूंकि "अविद्या" "ब्रह्मन्" के बिना अस्तित्व नहीं रख सकती, इसलिये यह एक अतिरिक्त प्रमाण है कि "अविद्या" भी उसकी शक्तियां में से एक है। किसी भी सत्ता की शक्ति अप्रकट रहने पर भी सदा स्वयं उसी में विद्यमान रहती, यदि यह युक्ति दी जाय कि ब्रह्मन् तो स्वयं-प्रकाश है अतएव उसे किसी शक्ति की आवश्यकता नहीं है तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि जिस कारण के बल पर वह स्वयं प्रकाश है उसी को उसकी शक्ति गिना जा सकता है। इस ढ़ंग से जीव गोस्वामी रामानुज युक्ति के कुछ आधारभूत अंशों का इस सिद्धान्त के पक्ष में अनुसरण करते हैं कि परम सत्ता, ब्रह्मन, निराकार एवं निर्गुण नहीं है बल्कि अपनी शक्तियों व गुणों को धारण किये हुए एक गुण-विशिष्ट सत्ता है। इस मत को सिद्ध करने के प्रयत्न में जीव रामानुज की प्रमुख युक्ति का संक्षेप में अनुसरण करते हैं। किन्तु जीव यह विचार प्रस्तावित करते हैं कि परम सत्ता के गुणों व शक्तियां का सम्बन्ध तर्कातीत है, तार्किक आधार पर उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, अतएव एक रहस्यमय ढ़ंग से शक्तियां परम सत्ता से भिन्न होते हुए भी उससे एक-रूप हैं? फलतः परम सत्ता की मानवी आकृतियों, वस्त्रों आदि सहित स्थूल परमेश्वर के रूप में अभिव्यक्ति होने पर भी वह उसी काल में, ब्रह्मन् के रूप में अपने अपरिवर्त्तनशील अस्तित्व में परिवर्तन-रहित रहती हैं।

बुद्धि से अगम्यता के इस रहस्यमय फार्मूले की प्रस्तावना से इस सम्प्रदाय के वैष्णवों को अपने सिद्धान्तों एवं मतों की तर्कसम्मत व्याख्या करने के उत्तरदायित्व से विमुक्ति प्राप्त हो जाती है और इस प्रकार स्वच्छंदतापूर्वक वे तर्क-बुद्धि के प्रभाव क्षेत्र से देव कथा-शास्त्रीय ढ़ंग की "पौराणिक" श्रद्धा के अधिकार क्षेत्र में अवरोहण करते हैं।

परमेश्वर की विशेष श्रेष्ठताओं का वर्णन करते समय जीव यह मानने में रामानुज का अनुसरण करते हैं कि परमेश्वर में जगत में पाए जाने वाले कोई दुर्गुण नहीं हैं, वल्कि जिन श्रेष्ठ गुणों की हम कल्पना कर सकते हैं उन सभी को वह धारण करता है। "अचिन्त्य" की धारणा के प्रकाश में ये सभी श्रेष्ठ लक्षण किसी प्रकार उसकी स्वरूप-शक्ति की अभिव्यक्ति माने जाते हैं अतएव उसके साथ उनका तादात्म्य है। "अचिन्त्य" की तर्कातीत धारणा का श्रीगणेश करने से जीव और उनके सम्प्रदाय के अन्य "भागवत" के टीकाकार अधिक स्वच्छन्दतापूर्वक भिन्नमतैक्यवाद (सामंजस्यवाद) का प्रतिपादन करने में समर्थ होते हैं, जो अन्यथा सम्भव नहीं होता और इसलिये जीव यद्यपि परम सत्ता को सविशेष मानने में रामानुज का अनुसरण करते हैं, तथापि एक ही सांस में दृढ़ता से यह कह सकते हैं कि परम सत्ता निराकार एवं निर्विशेष है। अतः वे कहते हैं कि यद्यपि रामानुज के अनुयायी ब्रह्मन् को निर्विशेष नहीं मानते हैं

भेद सर्व-विदित है, अतएव यहाँ "विशेष" के सिद्धान्त को लागू करना न्याय-संगत नहीं होगा। किन्तु "विशेष" का सिद्धान्त न केवल ब्रह्मन् के एकत्व का उसके गुणों व शक्तियों के अनेकत्व के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिये प्रयोजित किया जाता है, बल्कि उसके दिव्य शरीर, दिव्य वस्त्र, दिव्य निवास स्थान इत्यादि के साथ सामंजस्य के हेतु भी उसे प्रयुक्त किया जाता है, अतः वे ब्रह्मन् से भिन्न प्रतीत होते हुए भी साथ ही उससे एक-रूप हैं।[1]

इसी विषय पर कथन करते हुए जीव मानते हैं कि विष्णु भगवान् की चैतन्य शक्ति (चिच्छक्ति) का उसके स्वरूप के साथ तादात्म्य है। जब उसका स्वरूप कार्योपत्ति की ओर उन्मुख होता है, तब वह शक्ति कहलाता है (स्वरूपम् एव कार्योन्मुखं शक्ति शब्देन उक्तम्)। परम सत्ता की यह विशिष्ट अवस्था उससे भिन्न नहीं मानी जा सकती तथा उससे कोई पृथक अस्तित्व नहीं रख सकती क्योंकि वह कभी भी परमसत्ता के स्वरूप से भिन्न नहीं मानी जा सकती और चूंकि भेद स्वयं किसी प्रकार भिन्न नहीं माना जा सकता, शक्ति और उसके धारणकर्ता का भेद अविचारणीय, अचिन्त्य व तर्कातीत है। यह मत रामानुज और उनके अनुयायियों का नहीं है जो शक्ति को उसके धारण-कर्ता से भिन्न मानते हैं, तथापि, चूंकि वे भी यह विश्वास करते हैं कि परमेश्वर की शक्तियाँ स्वरूपतः उसी में अंतर्निहित हैं इसलिए रामानुज की शाखा और वैष्णववाद की बंगाली शाखा में यथेष्ठ समानता है।[2] शंकर के अनुयायियों के विरुद्ध युक्ति देते हुए जीव कहते हैं कि शुद्ध चैतन्य और आनन्द सम्बन्धी उपनिषद् के अवतरण में भी ब्रह्मन् (विज्ञानम् आनंदं ब्रह्म), चैतन्य और आनन्द में तादात्म्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि फिर दोनों शब्द पुनरुक्ति मात्र होंगे, वे भिन्न भी नहीं माने जा सकते क्योंकि फिर ब्रह्मन् में दो विरोधी गुण हो जायेंगे। यदि दो शब्दों–"विज्ञान" और "आनन्द"– का अर्थ अज्ञान और दुख का निषेध है तो ये दो निषेध दो भिन्न सत्ताएँ होकर ब्रह्मन् में सह अस्तित्व धारण करती हैं। यदि दोनों निषेधों का अर्थ एक ही सत्ता से है तो एक ही सत्ता भिन्न वस्तुओं का निषेध कैसे हो सकती हैं ? यदि यह कहा जाय कि केवल सुखमय चैतन्य को ही आनन्द कहते हैं तो फिर सौख्य का गुण एक पृथक् गुण के रूप में दिखाई देता है। यदि इन शब्दों को अज्ञान एवं दुख के निषेधों के रूप में समझा जाय तो ये भी विशिष्ट गुण हो जाएँगे, यदि यह अनुरोध किया जाय कि ये विशिष्ट गुण नहीं हैं, बल्कि केवल ऐसी विशेष योग्यताएँ हैं जिसके कारण अज्ञान व दुःख का निषेध होता है, तो फिर भी ये विशेष

---

[1] तथा च विग्रहादेः स्वरूपानतिरेकेऽपि विशेषाद् एव भेदव्यवहारः।
—वही, पृ० २६।

[2] सर्व-संवादिनी, पृ० २९, ३०।

योग्यताएँ विशिष्ट गुण ही मानी जाएँगी। इस प्रकार यह सिद्धान्त असत्य है कि परम सत्ता निर्विशेष हैं। ब्रह्मन् के गुण उसकी शक्तियों से एकरूप हैं और इन सभी का उसकी आत्मा के साथ तादात्म्य है।

जीव के स्वरूप के विषय में "जीव" गोस्वामी कहते हैं कि जीव शुद्ध चैतन्य नहीं हैं, किन्तु ऐसी सत्ताएँ हैं जो "अहम्" अथवा "मैं" के रूप में आत्म-चेतनता के लक्षण से सम्पन्न हैं। जीवों को किसी भी अवस्था में परमात्मन् से एकरूप नहीं मान सकते तथा प्रत्येक जीव अन्य प्रत्येक जीव से भिन्न है।[1] ये जीव आणवीय आकार के हैं अतएव निरवयव हैं। आणवीय जीव हृदय में स्थित रहता है जहाँ से वह अपने चेतनता के गुण द्वारा सम्पूर्ण शरीर में उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है जैसे चन्दन अपनी मधुर गंध द्वारा सम्पूर्ण पड़ोस में व्याप्त हो जाता है। इसी प्रकार जीव आणवीय हैं किन्तु जिन शरीरों में वे स्थित है उनमें अपनी चैतन्य शक्ति से परिव्याप्त हो जाते हैं। चैतन्य को जीव का गुण कहा जाता है क्योंकि वह सदा उसी पर आश्रित रहता है और उसके उद्देश्य को सम्पादित करता है (नित्य-तद्-आश्रयत्व तच्छेषत्व-निबन्धनः)।[2] फिर, चैतन्य जीव पर इस प्रकार आश्रित होने के कारण किसी समय में जिन-जिन भिन्न शरीरों में परिचालित होता है उनमें व्याप्त होने के लिए विस्तृत होता है और आकुंचित होता है। इस प्रकार परमेश्वर से भिन्न होने के कारण जीव मोक्ष में भी पृथक् व भिन्न रहते हैं। अतः वे परम आत्मा (परमात्मन्) से उत्पन्न होते हैं और सदा उसके पूर्ण नियंत्रण में रहते हैं तथा उससे परिव्याप्त रहते हैं। इसी कारण परमेश्वर को जीवों (आत्मन्) की भिन्नता में परमात्मन् कहा जाता है। जीव परमात्मन् से विकीर्ण रश्मियों के समान हैं अतएव सदा उस पर पूर्णतया आश्रित रहते हैं तथा उसके बिना अस्तित्व नहीं रख सकते।[3] उनको

के कारण कभी उससे एक-रूप कहते हैं और कभी उससे भिन्न मानते हैं। इन जीवों में से कुछ न तो स्वभाव से ही परमात्मन् के भक्त होते हैं तथा अन्य अविद्या के वशीभूत होते हैं और परमात्मन् से विमुख होते हैं, पश्चादुक्त जीव ही इस जगत के वासी होते हैं और पुर्नजन्म लेते हैं।

वाह्य-शक्ति (बहिरंग शक्ति) "माया" के दो व्यापार होते हैं, सृजनात्मक (निमित्त) और निष्क्रिय (उपादान); इनमें से काल, दैव एवं कर्म पूर्वोक्त का प्रतिनिधित्व करते हैं और तीन "प्रश्चादुक्त" का। जीव "माया" के इन दोनों "व्यापारों" के तत्वों का समाकल अंशों के रूप में स्वय में अतर्विष्ट रखते हैं। "माया" के सृजनात्मक व्यापार के फिर दो प्रकार होते हैं जो या तो मनुष्य के बन्धन के लिए परिचालित होते हैं या मोक्ष के लिये। यह सृजनात्मक "माया" परमात्मन् के ब्रह्माण्डीय ज्ञान, उसकी इच्छा व उसकी सृजनात्मक क्रिया की प्रारूप होती है।[1] परमात्मन् का ज्ञान भी दो प्रकार का माना गया है-एक तो वह जो उसका आत्म-ज्ञान है तथा उसकी स्वरूप-शक्ति का भाग होता है और दूसरा वह जो जीवों के हितार्थ ब्रह्माण्डीय क्रिया की ओर उन्मुख होता है। परमात्मन् का यह ब्रह्माण्डीय ज्ञान ही उसकी "माया" शक्ति के सृजनात्मक व्यापार के अंतर्गत आता है। ब्रह्माण्डीय ज्ञान फिर दो प्रकार का होता है-एक तो वह जो परमात्मन् में उसकी सर्वज्ञता, उसकी सृष्टि रचने की इच्छा, एवं उसके सृष्टि करने के प्रयत्न (जिसे "काल" भी कहते हैं) के रूप में स्थित रहता है, और दूसरा वह जिसे परमात्मन् जीवों को उनकी भोग अथवा "कर्म" से मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा आदि के रूप में प्रदान कर देता है, यही फिर जीवों की "अविद्या" और "विद्या" माने जाते है।[2] इस मत के अनुसार "माया" का अर्थ अविद्या नहीं है बल्कि विविध सृष्टि-रचना की शक्ति है (मीयते विचित्रं निर्मियत अनया इति विचित्रार्थ-कर-शक्ति-वचित्वमैव), अतएव जगत को परमात्मन् का परिणाम मानना चाहिये (परमात्म-परिणामैव)।[3] परमात्मन् की तर्कातीत शक्ति के कारण वह स्वय में अपरिर्वातित रह कर भी जगत की अनेक सृष्टियों में रूपान्तरित (परिणाम) होता है। "जीव" के अनुसार "परिणाम" का अर्थ परमतत्व का परिणाम नहीं है (न तत्वस्य परिणाम), अपितु यथार्थ परिणाम है (तत्वतो परिणामः)। फिर भी अपनी "स्वरूप-शक्ति" के रूप में परमात्मन् की अभिव्यक्ति तर्कातीत "माया" से

---

[1] निमित्तांश-रूपया मायाख्ययैव प्रसिद्धा शक्तिस्त्रिधा दृश्यते ज्ञानेच्छा-क्रिया-रूपत्वेन।

—वही, पृ० २४४।

[2] षट्-संदर्भ, पृ० २४४।

[3] सर्व-संवादिनी, पृ० १२१।

उत्पन्न उसके जागतिक परिणामों से सदा अछूति रहती है।[1] इसका यह अर्थ नहीं है कि परमात्मन् के दो भिन्न रूप हैं, अपितु केवल यही है कि जो हमारी साधारण तर्क-बुद्धि को विरोधग्रस्त प्रतीत होता है वही अनुभवातीत (परमार्थिक) तथ्य हो सकता है तथा पारमार्थिक स्तर पर यह मानने में कोई विरोध-ग्रस्तता नहीं है कि परमात्मन् अपरिवर्तित होने के साथ ही अपनी दो भिन्न शक्तियों के परिचालन से परिवर्तित भी हो जाय। इस मत में "माया" अतात्विक अथवा मिथ्या नहीं है वरन् परमात्मन् की सृजनात्मक शक्ति है जिसमें उसकी सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता, "गुणों" की संस्थिति व संयोजन के रूप में जगत् के सम्पूर्ण भौतिक द्रव्य, तथा समस्त विविध व्यक्तिगत अभिव्यक्ति केन्द्रों में प्रकट अपनी सफलता में शुभाशुभ मानवी अनुभव का समावेश होता है। किन्तु अपनी तर्कातीत "माया-शक्ति" द्वारा उत्पन्न अपने इन समस्त परिणामों व अभिव्यक्तियों के अनन्तर भी परमात्मन् अपनी तर्कातीत स्वरूप-शक्ति की अभिव्यक्तियों में सम्पूर्णतया पूर्ण व अपरिवर्तित रहता है। एक ओर जो परमात्मन् जगत के सृष्टा और धारणकर्त्ता के रूप में दिखाई देता है, एवं दूसरी ओर वह धार्मिक दृष्टि से अपने उपासकों के रहस्यमय आनन्द के विषय के रूप में प्रकट होता है। जगत परमात्मन् की "माया-शक्ति" से उत्पन्न हुआ है अतएव वह उससे एक-रूप नहीं स्थूल व अशुद्ध जीव तथा जगत, समस्त चेतन व जड़ पदार्थ, जीव का कारण एवं सूक्ष्म विशुद्ध तत्व–ये कोई भी परमात्मन् से भिन्न नहीं हैं क्योंकि सूक्ष्म तो उसकी शक्ति के स्वरूप हैं, और स्थूल उसकी शक्ति के रूपान्तरण या परिणाम हैं, और यद्यपि जगत परमात्मन् से एक-रूप है तथापि जगत के दोष एवं अशुद्धताएँ उसको प्रभावित नहीं करते हैं, क्योंकि इन परिणामों के अनन्तर भी वह उनसे अछूता है, यही उसकी शक्ति का तार्कातीत लक्षण है।[2]

"जीव" फिर यह प्रदर्शित करने को अग्रसर होते हैं कि स्थूल भौतिक जगत का, पंच महाभूतों व उनके विकारों का चरम द्रव्य परमात्मन् या परमेश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। स्थूल भौतिक पदार्थों में स्वयं ऐसा कोई तत्व नहीं है जिसके द्वारा ठोस इकाईयों के रूप में संगठन के उनके आभास की व्याख्या की जा सके। जिस अर्थ में वृक्षों से बने वन संगठित इकाईयाँ है उसी अर्थ में स्थूल भौतिक पदार्थ संगठित इकाईयाँ नहीं हो सकते, वास्तव में वनों को संगठित इकाईयां कहना उचित नहीं है, क्योंकि यदि एक वृक्ष को खींचा जाय तो सम्पूर्ण वन नहीं खिच जाता है, किन्तु स्थूल पदार्थ का जब एक छोर खींचा जाता है तो स्वयं वह पदार्थ खिच जाता है। यदि यह युक्ति दी जाय कि अंशों से भिन्न एक अंशी है तो उसका अंशों से

---

[1] तत्वतोऽन्यथा–भावः परिणाम इत्येव लक्षणं न तु तत्वस्य।

–सर्व-संवादिनी, पृ० १२१।

[2] वही, पृ० २५१।

सम्बन्ध बुद्धिगम्य नहीं रहेगा, क्योंकि उसका कभी अंशों से सर्वथा भिन्न अनुभव नहीं किया जाता, यदि अंशी को प्रत्येक अंश से संबंधित माना जाय तो एक उंगली की भी सम्पूर्ण शरीर के रूप में अनुभूति होनी चाहिये, यदि यह माना जाय कि अंशी केवल अंशत: अपने अंशों में स्थित है तो पुन: वही कठिनाई आ खड़ी होगी और हम दुष्ट अनन्त में उलझ जाएँगे। अतएव अंशों से भिन्न किसी भी ठोस अंशी का अस्तित्व स्वीकृत नहीं किया जा सकता और इसी कारण अंशों के पृथक् स्थूल अस्तित्व को अस्वीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार यदि अंशियों के अस्तित्व का निषेध किया जाय तो अंशों के अस्तित्व का भी निषेध होना चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव तो केवल अंशियों का ही होता है, तथा अंशों का अस्तित्व भी केवल अंशियों की अनुभूति व्याख्या करने के लिए स्वीकृत किया जाता है। अत: जो एक-मात्र मान्यता शेष रह जाती है वह यह है कि परमात्मन् ही परम द्रव्य है। "जीव" "भागवत पुराण" के ३, ६, १-३ का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार यह प्रतीत होता है कि परमात्मन् की शक्ति के विविक्त तत्वों से ही तेईस सांख्य पदार्थों का निर्माण होता है जो उस काल-तत्व के द्वारा अंशियों के रूप में संगठित होते हैं जो परमात्मन् के अलौकिक प्रयास का ही दूसरा नाम है। इस स्थान पर प्रतिपादित यह विचित्र सिद्धान्त भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास में नवीन है, यद्यपि दुर्भाग्यवश यहाँ उसका आगे विकास नहीं हो पाया है। इसकी यह संधारणा प्रतीत होती है "माया के उपादानांश" के विविक्त तत्व अपनी तात्विकता का आभास परमेश्वर से प्राप्त करते हैं तथा परमेश्वर के अतिरिक्त कोई अंशी न होने के कारण काल के रूप में परमेश्वर की "शक्ति" या "क्रिया" द्वारा वे तत्व अंशियों की संकल्पना को उत्पन्न करने के लिए एकत्र रक्खे जाते हैं। काल किस प्रकार परमाणुओं को अणुओं में और अणुओं को अंशियों के रूप में संगठित करने में उत्तरदायी है, इसकी कोई व्याख्या नहीं की गई है।

भागवत-पुराण में कपिल दर्शन

"भागवत-पुराण" सांख्य का जो विवरण देता है वह शास्त्रीय सांख्य ग्रन्थों में उपलब्ध विवरण से कुछ भिन्न है। यह सारा जगत् जिससे व्याप्त होकर प्रकाशित होता है, वह आत्मा ही पुरुष है। वह अनादि, निर्गुण, प्रकृति से परे अंत:करण में स्फुरित होने वाला और स्वयं प्रकाश है।[1] यही वह पुरुष है जो स्वेच्छा से अपनी ओर अभिगमन करती हुई "प्रकृति" को लीला के लिए (लीलया) स्वीकार करता है,

---

[1] अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः
प्रत्यग्धाम स्वयं-ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्।

—"भागवत-पुराण" तृतीय २६, ३।

सम्भवत: यही "पुरुष" ईश्वर माना जाता है।[1] किन्तु वह "प्रकृति" को स्वयं अपने सत्वादि गुणों से विविध प्रकार की सृष्टियों को उत्पन्न करते हुए देखकर इस "प्रकृति" की आवरण डालने वाली अज्ञान-शक्ति (ज्ञान-गूहया) से स्वयं "विमूढ़" हो गया।[2] इस प्रकार अपने से भिन्न प्रकृति के अपने स्वरूप पर मिथ्या आरोपण के कारण "पुरुष" "प्रकृति" के "गुणों" की स्वाभाविक गति से उत्पन्न परिवर्तनों में स्वयं को कर्ता के रूप में संकल्पित कर बैठता है, अतएव वह स्वयं को जन्म व पुनर्जन्म का भागी बनाता है तथा "कर्म" के नियमों में बँध जाता है। वस्तुत: प्रकृति स्वयं ही अपने समस्त आत्म-स्थित प्रभावों की कारण और कर्त्ता है, तथा "पुरुष" केवल सर्व सुख-दु:ख का निष्क्रय भोक्ता है। पदार्थों के विकास के विवरण में हमारे सम्मुख पाँच स्थूल तत्व या "महाभूत," पाँच "तन्मात्रा" दस इन्द्रियाँ एवं "मनस्" "बुद्धि" "अहंकार" एवं "चित्त" द्वारा निर्मित्त "अंतरात्मक" आते हैं। इनके अतिरिक्त "काल" नामक पच्चीसवां पदार्थ है, जिसे कुछ विद्वान् एक पृथक् पदार्थ मानते हैं—"पुरुष" (ईश्वर के अर्थ में) के अलौकिक प्रयास के रूप में न कि "प्रकृति" से विकसित पदार्थ के रूप में।[3] ऐसा कहा जाता है कि ईश्वर आंतरिक दृष्टि से तो मनुष्य में उसके समस्त अनुभवों के नियंत्रक अंतरात्मा के रूप में अभिव्यक्त होता है, तथा बाह्य दृष्टि से अनुभव के विषयों में काल के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार यदि काल, जीवों एवं ईश्वर को एक ही पदार्थ माना जाय तो पच्चीस पदार्थ होते हैं, यदि काल को पृथक् माना जाय और ईश्वर एवं "पुरुष" को एक माना जाय तो छब्बीस पदार्थ होते हैं, और यदि तीनों को पृथक् माना जाय तो सत्ताइस पदार्थ होते हैं।[4] "पुरुष" ही "प्रकृति" के प्रभाव में आता है और वही

ईश्वर के रूप में अपनी अलौकिक योग्यता द्वारा उनसे मुक्त रहता है। "काल" के प्रभाव से ही "प्रकृति" के "गुणों" की साम्यावस्था में विक्षोभ होता है तथा उनके स्वाभाविक परिणाम उत्पन्न होते हैं, और ईश्वर द्वारा अधीक्षित "कर्म" के नियमों के निर्देश में "महत्" का विकास होता है। यह विचित्र बात है कि यद्यपि 'महत्" को "प्रकृति" को विकास-क्रम की एक अवस्था बताया गया है तथापि उसे केवल एक सृजनात्मक अवस्था (वृत्ति) या "प्रकृति" माना गया है, न कि एक पृथक् पदार्थ। "भागवत" के अन्य एक अवतरण में यह कहा गया है कि प्रारम्भ में ईश्वर अपनी सुप्त शक्तियों सहित स्वयं में अकेला था, तथा स्वयं को प्रतिबिम्बित करने एवं अपना आत्म-लाभ प्राप्त करने में सहायक कोई भी वस्तु न पाकर उसने काल की क्रिया एवं अपने स्वभाव (पुरुष) के माध्यम से अपनी "माया-शक्ति" की साम्यावस्था में विक्षोभ उत्पन्न किया तथा उसे चैतन्य से संसिक्त किया, और इस प्रकार प्रकृति के परिणमन द्वारा सृष्टि-क्रम प्रारम्भ हुआ।[1] एक अन्य अवतरण में यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि ईश्वर स्वयं में मुक्त है तो फिर वह स्वयं को "माया" के बन्धन में कैसे डाल सकता है, और उत्तर दिया जाता है कि वस्तुत: ईश्वर का कोई बंधन नहीं होता, किन्तु जैसे स्वप्नों में एक मनुष्य अपने सिर को अपने धड़ से अलग देखे, अथवा लहरों के कारण पानी में अपने प्रतिबिम्ब को हिलता हुआ देखे, उसी प्रकार केवल ईश्वर का प्रतिबिम्ब ही सांसारिक अनुभवों के बंधन से पीड़ित जीवों के रूप में भासित होता है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि इस दृष्टिकोण के अनुसार जीवों की सृष्टि मिथ्या है, और फलत: वे तथा उनके सांसारिक अनुभव असत्य होने चाहिये। उपर्युक्त अवतरण के तुरन्त बाद में आने वाले एक अन्य अवतरण में यह निश्चित रूप से कहा गया है कि जगत् चैतन्य में केवल भासित होता है, किन्तु वस्तुत: उसका कोई अस्तित्व नहीं है।[2] यह स्पष्ट है कि 'भागवत" के ये अवतरण पिछले अनुभागों में "जीव" द्वारा दी गई उसके दर्शन की व्याख्या के स्पष्टत: विरोध में हैं, क्योंकि इनमें जीवों की तात्विकता तथा जगदाभास की तात्विकता का निषेध किया गया है।[3] किन्तु यदि हम यह स्मरण रक्खें कि "भागवत" एक व्यवस्थित सम्मुच्चय न होकर विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न लेखकों से प्राप्त संवर्धनों का एक संग्रह है तो हम ठीक ऐसी ही विरोधग्रस्तता की आशा कर सकते हैं। यदि २:५, ३:५, ३:७ और ३:२६ में वर्णित सांख्य-सिद्धान्त

---

[1] वही, अध्याय २, ५, २२, २३।

[2] भागवत पुराण ३:७, ९-१२।

[3] अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः। वही ३:७, १८। अनात्मनः प्रपंचस्य प्रतीतस्यापि अर्थाभावमर्थोऽत्र नास्ति किन्तु प्रतीति-मात्रम्।

—"भागवत" पर श्रीधर की टीका ३:७-१८।

की संगतिपूर्ण व्याख्या की जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर और उसकी "माया" या प्रकृति–ये दो मूलभूत पदार्थ हैं, ईश्वर आत्मा-लाभ करने की इच्छा से स्वयं को "प्रकृति" में (जो उसी की शक्ति है) प्रतिबिम्बित करता है और अपनी ही शक्ति में अपने को गर्भावृत कर "प्रकृति" के बन्धन से पीड़ित जीवों के रूप में भासित होता है : पुनः उसके स्वयं का इस प्रकार गर्भाधान करने के द्वारा ही "प्रकृति" चैतन्य से सजीवहोती है, और फिर काल नामक उसके सृजनात्मक प्रयास द्वारा "प्रकृति" के "गुणों" की साम्यावस्था का विक्षोभ होता है, प्रकृति में परिणामवादी गति उत्पन्न होती है तथा पदार्थों का विकास होता है।

पांचवें अध्याय (५:१२, ६–६) के एक अवतरण में निश्चय रूप से समुच्चयों (अंशियों) के अस्तित्व को मिथ्या बताया गया है। निरवयव परमाणुओं के अतिरिक्त कोई सत्ताएँ नहीं हैं तथा ये परमाणु भी काल्पनिक रचनाएँ हैं जिनके बिना समुच्चयों की संकल्पना सम्भव नहीं हो सकेगी। बाह्य जगत् सम्बन्धी हमारी समस्त संकल्पनाएँ परमाणुओं से प्रारम्भ होती हैं तथा जो कुछ भी हम देखते अथवा अनुभव करते हैं वह शनैः शनैः श्रेणीबद्ध संवर्धनों से विकसित होते हैं। संवर्धनों का विकास कोई वास्तविक विकास नहीं होता बल्कि काल-भावना का विनियोग मात्र है। अतः काल जगत का सह व्यापी है। परमाणु की संकल्पना लघुतम क्षण की संकल्पना मात्र है, और परमाणुओं के समुच्चयों के द्व्यणुकों, स्थूलतर कणों इत्यादि में विकसित होने की संकल्पना विकासोन्मुख कालिक रचना तथा काल-क्षणों के संवर्धनशील संग्रह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इन समस्त परिवर्तनों में अधिष्ठान रूप में स्थित परम सत्ता एक सर्व-व्यापी अपरिवर्तनशील समुच्चय है, जो काल की क्रिया के द्वारा क्षणों और उनके संवर्धनों के रूप में भासित होते हैं (परमाणुओं तथा उनके संग्रहों के अनुरूप)।[1] काल इस प्रकार "प्रकृति" की उपज नहीं है बल्कि ईश्वर की अलौकिक क्रिया है जिसके द्वारा अव्यक्त "प्रकृति" का स्थूल जगत् में परिणमन होता है, तथा समस्त विविक्त सत्ताएँ समुच्चयों के रूप में भासित होती हैं।[2] ईश्वर में यह काल उसकी अंतर्निहित क्रिया-शक्ति के रूप में अस्तित्व रखता है। पिछले परिच्छेद में यह

---

[1] वही, ३:११, १–५।

[2] काल के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण "योग" के दृष्टिकोण से भिन्न है जिसके अनुसार काल क्षणों के रूप का है (जैसी कि विज्ञान भिक्षु ने अपने "योगवार्त्तिक" ३:५१ में व्याख्या की है)। वहां एक क्षण का एक "गुण" कण की अपने ही परिमाप के अवकाश में गति के रूप में वर्णन किया गया है तथा काल की शाश्वता का निश्चय रूप से निषेध किया गया है। उस दृष्टिकोण के अनुसार काल विविक्त क्षणों के रूप का ही हो सकता है।

बता दिया गया है कि कैसे "जीव" काल को "माया" का सक्रिय तत्व मानते थे और "गुणों" को निष्क्रिय तत्व।

"प्रकृति" से विकसित होने वाला प्रथम पदार्थ "महत्" है, जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड के बीज अंतर्विष्ट होते हैं, वह विशुद्ध पारदर्शी "सत्व" होता है (भागवत सम्प्रदाय की शब्दावली के अनुसार उसे "चित्त" और "वासुदेव भी कहते हैं)। "महत्" से तीन प्रकार का "अहंकार," यथा "वैकारिक, "तैजस्" एवं "तामस," उत्पन्न हुआ। भागवत सम्प्रदाय की शब्दावली में इस "अहंकार" को "संकर्षण" कहा जाता है। समस्त क्रिया-कलाप, उपकरणत्व, व कार्य के रूप में परिणमन का श्रेय "अहकार" ही को दिया जाना चाहिये। "मनस्" की उत्पत्ति वैकारिक "अहंकार" से होती है तथा वह भागवत-सम्प्रदाय की शब्दावली में "अनिरुद्ध" कहा जाता है। यहाँ पर वर्णित भागवत सम्प्रदाय "वासदेव" "संकर्षण" एवं "अनिरुद्ध" नामक तीन व्यूहों में विश्वास करता था, अतएव यहाँ प्रद्युम्न-व्यूह' की उत्पत्ति का कोई उल्लेख नहीं है। इस दृष्टि से "प्रद्युम्न" इच्छा (काम) का प्रतिनिधित्व करता है, इच्छाएँ "मनस्" के व्यापार मात्र हैं, न कि कोई पृथक् पदार्थ।[1] "तैजस-अहंकार" से "बुद्धि" पदार्थ का विकास होता है। इसी पदार्थ के व्यापारों से ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं, विषयों के संज्ञान, संशयों, त्रुटियों, निश्चयात्मकता, स्मृति एवं निद्रा की व्याख्या की जानी चाहिये।[2] कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों "तैजस-अहंकार" से उत्पन्न होती हैं। "तामस-अहंकार" से "शब्द-तन्मात्र" उत्पन्न होती है और "शब्द-तन्मात्र" से "आकाश" महाभूत उत्पन्न होता है। "आकाश" महाभूत से "रूप-तन्मात्र" उत्पन्न होती है तथा "रूप-तन्मात्र" से "तेज" महाभूत उत्पन्न होता है इत्यादि।

"पुरुष" "प्रकृति" में निमज्जित रहता है, किन्तु फिर भी अपरिवर्त्तनशील, गुण-रहित व पूर्णतः निष्क्रिय होने के कारण वह "प्रकृति" के गुणों से किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं होता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि "प्रकृति" का प्रभाव "प्रकृति" में "पुरुष" के प्रतिबिम्ब तक ही सीमित रहता है तथा "प्रकृति" में प्रतिबिम्बित होने के कारण एक ही "पुरुष" असंख्य जीवों की प्रतिच्छाया प्रक्षेपित करता है। ये जीव "अहंकार" के द्वारा भ्रमित किये जाते हैं तथा स्वयं को सक्रिय कर्त्ता समझने लगते हैं और यद्यपि कोई वास्तविक जन्म एवं पुनर्जन्म नहीं होते हैं तथापि दुःस्वप्नों द्वारा पीड़ित मनुष्य की भाँति वे "संसार-चक्र" के बन्धन में पीड़ित होते रहते हैं।

---

[1] वही, ३:२६–२७ यस्य मनसः संकल्प-विकल्पाभ्यां कामसम्भवौ वर्त्तत इति कामरूपा वृत्तिलक्षणत्वैन उक्ता न तु प्रद्युम्नव्यूहोत्पत्तिः तस्य संकल्पादि कार्यत्वाभावात्। (उपरोक्त लिखित पर श्रीधर की टीका)।

[2] चार "व्यूहों" में विश्वास करने वाले इसे "प्रद्युम्न-व्यूह" कहते हैं।

अतः जो मुक्त होने की अभिलाषा रखते हैं उन्हें सांसारिक सुखों के प्रति विरक्ति एवं गहरी भक्ति का दृढ़तापूर्वक अभ्यास करना चाहिये। उन्हें आत्म-संयम का पथ अपनाना चाहिये, अपने मन को सर्व प्राणियों के प्रति वैर-भाव से मुक्त करना चाहिये, समानता, ब्रह्मचर्य एवं मौन का अभ्यास करना चाहिये, जो कुछ सहज में प्राप्त हो जाय उससे संतुष्ट रहना चाहिये, और ईश्वर के प्रति दृढ़ भक्ति रखनी चाहिये। जब वे अपने मिथ्या स्वार्थ प्रेम एवं अहंकार को छोड़ देते हैं तथा "प्रकृति" एवं "पुरुष" के विषय में इस सत्य का अनुभव कर लेते हैं कि जिस प्रकार एक ही सूर्य जल में अनेक प्रतिबिम्बों का भ्रम उत्पन्न करता है उसी प्रकार "पुरुष" ही सबकी निरुपाधिक एवं अधिष्ठान-सत्ता है, जब वे यह समझ लेते हैं कि यथार्थ आत्मा, एवं परम सत्ता, सदा उस अधिष्ठान सत्ता के रूप में अनुभूत होती है जो हमारे जैविक, ऐन्द्रिय एवं मानसिक व्यक्तित्व या अहंता को अभिव्यक्त करती है, तथा इस परम सत्ता की प्राप्ति सुषुप्ति अवस्था में की जाती है (जबकि अहंता अस्थायी रूप से विलीन हो जाती है), तब वे अपनी वास्तविक मुक्ति को उपलब्ध करते हैं।[1] पंतजलि द्वारा उल्लिखित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, निर्वाह-मात्र के लिये जीवन की आवश्यकताओं से संतोष, शौच, स्वाध्याय, धैर्य, इन्द्रिय निग्रह, आदि सुपरिचित "योग" के उपांगों को भी आत्म विकास के लिये आवश्यक तैयारी के रूप में स्वीकार किया गया है। "आसन", "प्राणायाम" तथा ध्यान के विशेष विषयों पर मन को स्थिरतापूर्वक धारण करने के अभ्यास को भी मन को शुद्ध करने की प्रणालियों के रूप में सलाह दी गई है। जब मन इस प्रकार शुद्ध हो जाता है तथा ध्यान का अभ्यास कर लिया जाता है, तब व्यक्ति को ईश्वर एवं उसके महान् गुणों का चिंतन करना चाहिये।[2] ईश्वर-भक्ति को परम सत्ता के एकत्व और "प्रकृति" एवं भ्रामक जीवों के सम्बन्ध के सम्यक् ज्ञान एवं प्रज्ञान की प्राप्ति का द्वितीय साधन माना गया है। अतः यह कहा गया है कि जब कोई व्यक्ति हरि की सुन्दर, अलौकिक एवं देदीप्यमान आकृति का चिंतन करता है तथा उसके प्रेम में मदमस्त हो जाता है, तब उसका हृदय भक्ति से द्रवित हो उठता है, भावातिरेक से उसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं और वह ईश्वर के प्रति उत्कंठा से आनन्दातिरेक के अश्रुओं में प्लावित हो जाता है, इस प्रकार मनस् रूपी कांटा जिन इन्द्रिय विषयों में संलग्न होता है, उनसे वियुक्त भी हो जाता है।[3] जब ऐसे भावातिरेक से किसी व्यक्ति

---

[1] भागवत पुराण, ३:२७।

[2] वही, ३:२८।

[3] एवं हरौ भगवति प्रति लब्धभावो
भक्त्या द्रवद्-हृदय उत्पुलकः प्रमोदात्
औत्कण्ठ्य-बाष्प-कलया मुहुरर्द्यमानस्
तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर् वियुंक्ते। —वही, ३:२८, ३४।

का मन अन्य सभी विषयों से विरक्त हो जाता है तथा इस प्रकार चिंतन का कोई विषय शेष नहीं रह जाता, तब बुझाई गई लौ के सदृश मन का विनाश हो जाता है, और गुणों के परिणामन के कारण स्वयं पर आरोपित उपाधियों से निवृत्त होकर आत्मन् अलौकिक एवं परमआत्मन् के साथ में अपने तादात्म्य की प्राप्ति करता है।[1] भक्ति चार प्रकार की कही गई है—"सात्विक" "राजस" "तामस" और "निर्गुण"। जो व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत ईर्ष्या, गर्व अथवा शत्रुता को संतुष्ट करने के लिये ईश्वर का अनुग्रह चाहते हैं तथा उसकी भक्ति करते हैं वे "तामस" कहलाते हैं, जो शक्ति, यश आदि की प्राप्ति के लिये उसकी खोज करते हैं वे "राजस" कहलाते हैं और जो धार्मिक कर्त्तव्य की भावना से अथवा अपने पापों को धोने के लिये उसकी भक्ति करते हैं अथवा अपने सर्व कर्मों एव उनके फलों को उसके अर्पित कर देते हैं वे "सात्विक" कहलाते हैं। किन्तु जो गहरी आसक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु के बिना नैसर्गिक रूप से उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं तथा जो उसकी और उसके सेवकों की सेवा करने के आनन्द के सिवा किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रखते वे ही "निर्गुण" भक्त कहे जा सकते हैं। किन्तु यह "निर्गुण" भक्ति ईश्वर के सर्व-व्यापकत्व की अनुभूति के रूप में अभिव्यक्त होनी चाहिये : इस प्रकार के भक्त सब प्राणियों को अपने मित्र समझते है और उनकी दृष्टि में एक मित्र एवं एक शत्रु में कोई भेद नहीं होता। केवल ईश्वर की बाह्य उपासनाओ के आधार पर कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की उच्च भक्ति का दावा नहीं कर सकता, उसे चाहिये कि वह समस्त मानवता की मित्र एवं बंधु की भाँति सेवा करे।[2] इस प्रकार आत्म-शुद्धि एवं ईश्वर एवं उसके श्रेष्ठतम गुणों पर मन को केन्द्रित करने की "योग" प्रणालियों के द्वारा अथवा ईश्वर के प्रति नैसर्गिक प्रेम के द्वारा कोई व्यक्ति इस चरम प्रज्ञान की प्राप्ति कर सकता है कि एक-मात्र परम सत्ता ईश्वर ही है और जीव एवं उनके अनुभव "प्रकृति" एवं उसके परिणमनों में प्रतिविम्ब मात्र हैं।

---

[1] मुक्ताश्रयं यम् निर्विषयं विरक्तम्
निर्वाणम् ऋच्छति मनः सहसा यथाऽर्चिः
आत्मानत्रपुरुषोऽव्यवधानमेकम्
अन्वीक्षते प्रति-निवृत्त गुणप्रवाहः। —वही, ३:२८, ३५।

[2] यो मां सर्वेषु भूतेषु शान्तमात्मानमीश्वरम्
हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः
अहमुच्चा वचैर् द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूत-ग्रामावमानिनः। —वही, ३:२९, २२–२४।

किन्तु यह निर्देश दिया जा सकता है कि "योग" की प्रथम प्रणाली भी एक प्रकार की "भक्ति" से सम्बद्ध है, क्योंकि उसमें ईश्वर-प्रणिधान एवं उससे सम्बद्ध आनन्द के भाव का समावेश होता है। "योग" शब्द का प्रयोग इस प्रसंग में पंतजलि द्वारा दिये गये पारिभाषिक अर्थ ("युज् समाधो" धातु से) में नहीं किया गया है, अपितु "योग" के अधिक सामान्य अर्थ ("युजिर् योगे" धातु से "योग" का अर्थ है "संयोजन") में किया गया है। यद्यपि इस प्रणाली में मन की शुद्धि एवं ध्यान की तैयारी के लिये "योग" के सभी उपांगों का समावेश हुआ है, तथापि उसका चरम उद्देश्य प्रापंचिक जीव की ईश्वर के साथ एकता की उपलब्धि करना है, जो पंतजलि के "योग" से सर्वथा भिन्न है। अतः चूंकि यह "योग" मुख्यतया ईश्वर का चिंतन करके उसके साथ एकीकरण का लक्ष्य रखता है, इसे एक प्रकार का "भक्ति-योग" भी कहा जा सकता है जिसमें ईश्वर के प्रति भावातिरेक के द्वारा "योग" प्रशिक्षण के सभी उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती है।[1]

कपिल का वर्णन ईश्वर के एक अवतार के रूप में किया गया है, तथा "भागवत" में उन्हें जिस दर्शन के लिये उत्तरदायी बताया है वही उसमें अंतर्विष्ट प्रधान दर्शक है। "भागवत" में आद्योपान्त कपिल द्वारा वर्णित सेश्वर सांख्य-दर्शन की विविध अवतरणों एवं विविध प्रसंगों में बारम्बार पुनरावृत्ति की गई है। उसके ईश्वर-कृष्ण द्वारा अथवा पंतजलि एवं व्यास द्वारा जिस चिर-परिचित सांख्य की व्याख्या की गई है उससे अंतर इतना स्पष्ट है कि विस्तार से उसके स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। "भागवत" ११:२२ में सांख्य की उन विभिन्न शाखाओं का उल्लेख किया गया है जो चरम पदार्थों की संख्या, तीन, चार, पाँच, छः, सात, नौ, ग्यारह, तेरह, पन्द्रह, सोलह, सत्रह, पच्चीस एवं छब्बीस मानती हैं, तथा यह पूछा गया है कि मत की इन भिन्नताओं का सामंजस्य कैसे किया जा सकता है। उत्तर में कहा गया है कि ये भिन्नताएँ सांख्य विचारधारा में कोई वास्तविक भेद को अभिव्यक्त नहीं करती, भेद तो कुछ पदार्थों का कुछ अन्य पदार्थों में समावेश कर लेने के कारण उत्पन्न हो गया है (परस्परानुप्रवेशात् तत्वानाम्), उदाहरण के लिये, कुछ कार्य-तत्व कुछ कारण तत्वों में समाविष्ट कर लिये गये हैं, अथवा कुछ तत्वों का अभिनिर्धारण कुछ विशेष अभिप्राय से किया गया है। इस प्रकार, जब हम यह सोच लेते हैं कि "पुरुष" अनादि अविद्या से प्रभावित होने के कारण (अनाद्यविद्यायुक्तस्य) स्वयं परम सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं, तब उससे भिन्न एक पुरुषोत्तम के अस्तित्व की संकल्पना करना आवश्यक हो जाता है जो उसे उक्त ज्ञान प्रदान कर सके, इस दृष्टिकोण से छब्बीस

---

[1] यत: संधार्यमानां योगिनो भक्ति लक्षणः
आशु सम्पद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः। भागवत पुराण, २:१, २१।

तत्व होंगे। किन्तु, जब हम सोच लेते हैं कि "पुरुष" (अथवा जीव) और ईश्वर में तनिक भी अन्तर नहीं है, तब ईश्वर की पुरुष से भिन्न संकल्पना नितान्त अनावश्यक हो जाती है। पुनः जो विद्वान् नौ तत्व मानते हैं वे "पुरुष", "प्रकृति," "महत्", "अहंकार" एवं पांच "तन्मात्र" को गिनकर ऐसा करते हैं। इस दृष्टि से "ज्ञान" "गुणों" का एक परिणमन माना जाता है, और (चूंकि "प्रकृति" गुणों की साम्यावस्था के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है अतः) ज्ञान को "प्रकृति" से एक-रूप माना जा सकता है, इसी प्रकार क्रियाएँ केवल "रजस्" के परिणमन मानी जानी चाहिये और अज्ञान "तमस्" का परिणमन। "काल" यहाँ एक पृथक् तत्व नहीं माना गया है बल्कि "गुणों" की सहकारी गति का कारण समझा गया है, और "स्वभाव" को "महतत्व" से एक-रूप माना गया है। ज्ञानेन्द्रियों को यहाँ "सत्व" के ज्ञानात्मक द्रव्य में समाविष्ट किया गया है, कर्मेन्द्रियों को "रजस्" में तथा स्पर्श, गंध आदि के संज्ञान पृथक् तत्व न माने जाकर ज्ञानेन्द्रियों की अभिव्यक्तियों के क्षेत्र माने गये हैं। बारह तत्व मानने वाले विद्वान ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को दो अतिरिक्त तत्व मानते हैं और स्पर्श, गंध आदि संवेदनाओं को ज्ञानेन्द्रियों की अभिव्यक्तियाँ मानकर स्वाभाविकतया उनके तत्व होने के दावे की अवहेलना करते हैं। एक अन्य दृष्टि से "प्रकृति" जो कि "पुरुष" के प्रभाव से क्रिया में प्रवृत्त की जाती है, उससे भिन्न समझी जाती है, और इस प्रकार दो तत्व तो "पुरुष" एवं "प्रकृति" हो जाते हैं, फिर पांच तन्मात्राएँ, अलौकिक द्रष्टा एवं प्रापंचिक जीव हो जाते हैं, अतएव कुल मिलाकर नौ तत्व हो जाते हैं। छः तत्व मानने वाले मत के अनुसार केवल पाँच महाभूत एवं अलौकिक "पुरुष" ही स्वीकृत किये जाते हैं। जो विद्वान् केवल चार ही तत्वों को मानते हैं वे तेजस्, आप, एवं पृथ्वी इन तीन तत्वों को स्वीकृत करते हैं, तथा अलौकिक पुरुष को चौथा तत्व मानते हैं। जो सत्रह तत्व मानते हैं वे पांच "तन्मात्र," पंच महाभूत एवं पांच ज्ञानेन्द्रियों, मनस् तथा "पुरुष" को स्वीकृत करते हैं। जो सोलह तत्व मानते हैं वे "मनस्" को पुरुष से एक रूप मान लेते हैं। जो तेरह तत्वों को मानते हैं वे पंच महाभूत (जिनको "तन्मात्र" से एक-रूप कर लिया गया है), पांच ज्ञानेन्द्रियों, मनस्, अलौकिक एवं प्रापंचिक पुरुषों को स्वीकृत करते हैं। जो केवल ग्यारह तत्व मानते हैं वे केवल पंच महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रियों और पुरुष को स्वीकार करते हैं। पुनः वे विद्वान् भी हैं जो आठ "प्रकृतियों" और "पुरुष" को स्वीकार करते है और इस प्रकार वे तत्वों की संख्या नौ कर देते हैं। "भागवत" की सामंजस्यवादी भावना ने सांख्य-तत्वों के विरोध-ग्रस्त विवरणों का भेदों की असंतोषजनक व्याख्या द्वारा सामंजस्य करने का प्रयास किया है, किन्तु एक निष्पक्ष प्रेक्षक को कभी-कभी ये भेद मूल-भूत प्रतीत होते हैं, तथा कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि ये सभी भिन्न-भिन्न विचार धाराएँ किसी अर्थ में "सांख्य" नाम से पुकारी जा सकती हैं,

तथापि वे एक यथेष्ट स्वतंत्र विचारणा के अस्तित्व की सूचक हैं, जिसके वास्तविक मूल्य का, इन शाखाओं की सविस्तार एवं यथार्थ जानकारी के अभाव में, निर्धारण नहीं किया जा सकता ।[1]

भागवत सम्प्रदाय के सांख्य का शास्त्रीय सांख्य से मूल भेद यह है कि वह एक ही "पुरुष" को वास्तविक सर्व-व्यापी आत्मा के रूप में स्वीकृत करता है, जो हमारे समस्त अनुभवों का यथार्थ द्रष्टा है तथा इस जगत की निखिल वस्तुओं में अधिष्ठान रूप में मूलभूत सामान्य सत्ता है। विशेष प्रापंचिक जीव सामान्य "पुरुष" के "प्रकृति" के परिणमनों के साथ भ्रामक अविवेक तथा उसके फल-स्वरूप "प्रकृति" की गतियों एवं उपकरणों के इस सामान्य "पुरुष" में आरोपण के कारण सत्य भासित होते हैं। इस मिथ्या आरोपण के कारण से ही मिथ्या विशेष जीवों का उदय होता है तथा इस प्रकार जन्म व पुनर्जन्म का आभास उत्पन्न होता है, यद्यपि "प्रकृति" का सामान्य "पुरुष" के साथ कोई साहचर्य नहीं होता है। हमारे समस्त जागतिक अनुभव स्वप्नों के सदृश मिथ्या हैं तथा मन की भ्रान्त-धारणाओं के कारण उत्पन्न होते हैं। उपर्युक्त वर्णित कपिल के सांख्य दर्शन से सम्बन्धित अवतरणों की अपेक्षा "भागवत" के ११:२२ में पाये जाने वाले अवतरणों में जगत् के मिथ्यात्व पर अधिक बल दिया गया है, और यद्यपि दोनों प्रतिपादनों को मूलतः भिन्न नहीं कहा जा सकता तथापि जागतिक अनुभवों को मिथ्या मानने वाली एकतत्ववादी प्रवृत्ति पर ऐसा विशिष्ट बल दिया गया है कि उसके द्वारा उस यथार्थवादी प्रवृत्ति का लगभग विनाश हो जाता है जो सांख्य-मतवादी विचारकों का एक विशिष्ट लक्षण है।[2]

से प्रत्यक्ष हो सकता है, शब्दों द्वारा कथित किया जा सकता है, अथवा विचार से संकल्पित किया जा सकता है वह एक परम सत्ता ब्रह्म ही है। "गुण" मनस् की उपज हैं तथा मनस् "गुणों" की उपज है, और ये दो मिथ्या सत्ताएँ ही व्यक्ति का निर्माण करती हैं, किन्तु हमें यह समझना चाहिये कि ये दोनों अयथार्थ हैं तथा एकमात्र तत्व ब्रह्मन् है जिस पर उन दोनों का आरोपण होता है। जाग्रत अनुभव, स्वप्न एवं सुषुप्ति सभी मनस् के व्यापार हैं, यथार्थ आत्म तो विशुद्ध "साक्षिन्" है, जो उनसे नितान्त भिन्न है। जब तक "नानात्व" की संकल्पना दार्शनिक तर्क से निर्मूल नहीं हो जाती, तब तक अज्ञानी व्यक्ति अपनी जाग्रतावस्था में स्वप्न-मात्र देखता है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक व्यक्ति अपने स्वप्नों में स्वयं को जाग्रत समझता है। चूंकि आत्मन् के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, तथा अन्य सभी कुछ स्वप्नों के सदृश भ्रम मात्र हैं, अतः सर्व जागतिक नियम, उद्देश्य, लक्ष्य एवं कार्य अनिवार्यतः उनके समान ही मिथ्या हैं। हमें यह प्रेक्षण करना चाहिये कि हममें अपने जाग्रत एवं स्वप्नानुभवों में तथा अपने सुषुप्ति के अनुभवों में आत्मन् के तादात्म्य की संकल्पना विद्यमान है, और हमें इस बात से सहमत होना चाहिये कि जीवन की इन तीनों अवस्थाओं के ये सभी अनुभव वास्तव में अस्तित्व नहीं रखते, वे सब परम सत्ता, ब्रह्मन् पर "माया" की अभिव्यक्तियां मात्र हैं, और इस प्रकार के तर्कों एवं विचारों से हमें अपनी समस्त आसक्तियों का निष्कासन कर देना चाहिये तथा ज्ञान की तलवार द्वारा अपने सर्व बन्धनों को काट फेंकना चाहिये। हमें समस्त जगत् एवं उसके अनुभवों को मन की कल्पना-मात्र समझना चाहिये–एक आभास मात्र जो प्रकट होता है और तिरोहित हो जाता है, सब अनुभव "माया" मात्र हैं तथा एक मात्र अधिष्ठान सत्ता शुद्ध चैतन्य है। अतः सम्यक् ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है, यद्यपि शरीर तब तक रह सकता है जब तक कि सुखमय एवं दुःखमय अनुभवों के भोग से "कर्म" के फल समाप्त नहीं हो जाते। इसी को सांख्य और योग का गुप्त सत्व कहा गया है। "भागवत" में इस प्रकार का अतिशय अध्यात्मवादी एकतत्ववाद देखकर हमें साधारणतया आश्चर्य-सा लगेगा, किन्तु ऐसे अनेक अवतरण हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि "भागवत" की एक प्रमुख विचार-धारा के रूप में एक तीव्र अध्यात्मवाद की बार-बार पुनरावृत्ति होती है।[1]

"भागवत" का सबसे महत्वपूर्ण अवतरण कदाचित् उसका प्रथम मंगलाचरण का श्लोक ही है। इस अवतरण तक में यह कहा गया है (उसकी एक प्रमुख व प्रत्यक्ष व्याख्या के अनुसार) कि "गुणों" द्वारा की गई सृष्टि मिथ्या है और फिर भी उसमें अधिष्ठान रूप में स्थित परम सत्ता के कारण वह यथार्थ प्रतीत होती है, जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय परम सत्ता ब्रह्मन् से निष्पन्न होते हैं तथा इस परम सत्ता

---

[1] वही, ११:१३।

की ज्योति से सर्व अंधकार तिरोहित हो जाता है।[1] ६, ४, २९–३२ में एक अन्य अवतरण में कहा गया है कि ब्रह्मन् "गुणों" से अतीत है तथा जगत् में अथवा जगत् के रूप में जो भी उत्पन्न होता है उसका अधिष्ठान एवं कारण ब्रह्मन् ही है और केवल वही सत्य है, और निरीश्वर सांख्य तथा सेश्वर योग उसी को परम सत्ता मानने में सहमत हैं।

एक पिछले परिच्छेद में यह निर्देश किया गया था कि "जीव" के अनुसार "माया" के निमित्तात्मक एवं उपादानात्मक 'दो भाग होते हैं, तथा पश्चादुक्त को "प्रकृति" या "गुणों" से एक-रूप माना गया है। किन्तु यह "माया" ईश्वर की वाह्य शक्ति मानी गई थी जो उसकी स्वरूप-शक्ति से भिन्न है। पर "विष्णु-पुराण" द्वारा ऐसा कोई भेद स्थापित किया गया प्रतीत नहीं होता, उसका कथन है कि ईश्वर अपनी क्रीड़ात्मक क्रिया के द्वारा "प्रकृति," "पुरुष" नानात्मक जगत् एवं काल के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करता है, किन्तु फिर भी वह "प्रकृति" एवं "पुरुष" को ईश्वर के स्वरूप से भिन्न मानता है, तथा काल को ऐसी सत्ता मानता है जो इन दोनों को सान्निध्य में रखकर इन्हें सृष्टि-रचना की ओर प्रवृत्त करता है।[2] इस प्रकार चूँकि काल "प्रकृति" एवं "पुरुष" में सम्बन्ध स्थापित करने वाला कारण है, इसलिये महाप्रलय के समय निखिल सृष्टि-रूपों के प्रकृति में फिर से लय होने के पश्चात् भी वह अपना अस्तित्व बनाये रखता है। जब "गुण" साम्यावस्था में होते हैं तब "प्रकृति" एवं "पुरुष" असम्बन्धित रहते हैं और तत्पश्चात् काल-तत्व ईश्वर से निकल कर दोनों में सम्बन्ध स्थापित करता है।[3] किन्तु "प्रकृति का अपने अव्यक्त एवं व्यक्त अथवा "संकोच" एवं "विकास" (संकोच-विकासाभ्याम् की दोनों दशाओं में ईश्वर के स्वरूप की अंश होती है, "प्रकृति" की साम्यावस्था को क्षुब्ध करने में ईश्वर स्वयं अपने स्वरूपको

---

[1] जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरतश्चार्थेष्व अभिज्ञः स्वराट्; तेने ब्रह्म हृदा य आदि-कवये मुह्यन्ति यत् सूरयः, तेजो-वारि-मृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा, धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं सत्यं परं धीमहि।

—भागवत, १:१, १।

[2] व्यक्तं विष्णुस्तथाव्यक्तं पुरुषः कालैव च।
क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय।
विष्णोः स्वरूपात् परतो हि तेऽन्ये रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्रास्तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्त रूपादि यत् तद् द्विज कालसंज्ञम्।

—"विष्णु-पुराण" १:२, १८, २४।

[3] गुण-साम्ये ततस्तस्मिन् पृथक् पुंसि व्यवस्थिते
काल-स्वरूप-रूपं तद् विष्णोर् मैत्रेय वर्तते। —वही, २५।

विक्षुब्ध करता है (स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः), तथा वह ऐसा काल के माध्यम से करता है। वह अपनी इच्छा-शक्ति के द्वारा "प्रकृति" एवं "पुरुष" में प्रवेश कर जाता है, तथा "प्रकृति" के सृजनात्मक कार्य को प्रारम्भ करता है, यद्यपि इस इच्छा-शक्ति की क्रिया में साधारण भौतिक क्रिया की संकल्पना का कोई समावेश नहीं होता।[1] इस प्रकार काल ईश्वर का ऐसा आध्यात्मिक प्रभाव माना जाता है जिसके द्वारा ईश्वर स्वयं में अचल रह कर भी "प्रकृति" को चलायमान करता है। "प्रकृति" से विशिष्टीकरण की क्रिया तथा विषमता के विकास द्वारा "महत्" का त्रिविध विकास होता है (सात्विक, राजस एवं तामस)।[2] इसी क्रिया के द्वारा महत् का "वैकारिक" तेजस एवं "भूतादि" से विशिष्टीकरण होता है जो "महत्" में संगठित रहते हैं और महत् "प्रकृति" में संगठित रहता है।[3] इसी प्रकार "महत्" के अन्तर्गत संगठित रहकर "भूतादि" का "तन्मात्रिक" अवस्था में विशिष्टीकरण होता है तथा वह शब्द तन्मात्र उत्पन्न करता है। "शब्द-तन्मात्र" से "आकाश" तत्व उत्पन्न हुआ, यह शब्द-तन्मात्र एवं "आकाश भूतादि" में आगे और संगठित हुए तथा इस संगठित अवस्था में "आकाश" तत्व ने स्वयं को "स्पर्श-तन्मात्र" में रूपान्तरित कर लिया, इस "स्पर्श-तन्मात्र" से उसके रूपान्तरण द्वारा वायु की उत्पत्ति हुई (भूतादि द्वारा अभिवृद्ध होकर)। फिर "आकाश" तत्व एवं "शब्द-तन्मात्र" के एकीकरण का "स्पर्श-तन्मात्र" से संयोजन करके वायु-तत्व ने "भूतादि" के माध्यम में "रूप-तन्मात्र" को उत्पन्न किया, तथा "भूतादि" से अभिवृद्धि पाकर "रूप-तन्मात्र" से "तेज" तत्व उत्पन्न हुआ। पुनः "स्पर्श-तन्मात्र," "वायु-तत्व" एवं "रूप-तन्मात्र" के एकीकरण से संयोजित होकर तेज-तत्व ने "भूतादि" के माध्यम में स्वयं को "रस-तन्मात्र" में रूपान्तरित कर लिया तथा उसी ढंग से "भूतादि" से अभिवृद्धि पाकर "आप" तत्व उत्पन्न हुआ। फिर "रस-तन्मात्र" "रूप-तन्मात्र" एवं "आप" तत्व के एकीकरण से "भूतादि" के माध्यम में "आप-तत्व" के रूपान्तरण द्वारा 'गन्ध-तन्मात्र" उत्पन्न हुआ और "भूतादि" से अभिवृद्धि पाकर 'गंध-तन्मात्र" के "रस-तन्मात्र" "रूप-तन्मात्र" एवं "आप-तत्व" के साथ एकीकरण द्वारा "पृथ्वी-तत्व" उत्पन्न हुआ। "तेजस-अहंकार" से दस कर्मेन्द्रियां एवं ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई तथा "मनस्" 'वैकारिक-अहंकार' से उत्पन्न हुआ। पांच

---

[1] प्रधानं पुरुषं चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्ग-कालेव्ययाव्ययौ। —वही, २९।

[2] तीन प्रकार के महत् के विकास का यह मत "विष्णु-पुराण" की विशेषता है जो शास्त्रीय सांख्य-मत से भिन्न है।

[3] यह द्वितीय अवस्था पंतजलि के "योग-सूत्र" २:१९ की "व्यास-भाष्य" में की गई व्याख्या के अनुसार सांख्य-सिद्धान्त से सहमत है।

द्वारा ईश्वर की संकल्प शक्ति (विष्णु-संकल्प-चोदितात्) "प्रकृति" और "पुरुष" को सम्बन्धित करती है जिसके फल-स्वरूप "प्रकृति" की सृजनात्मक क्रिया प्रारम्भ होती है। "पुरुष" "प्रकृति" एव "काल" विष्णु भगवान की विशिष्ट अभिव्यक्ति मात्र हैं।[1] "अहिर्बुध्न्य-संहिता" के अनुसार स्थूल तत्वों का विकास भी अपनी-अपनी "तन्मात्राओं" से सीधा होता है। उसका यह भी विश्वास है कि ईश्वर की शक्तियाँ तर्कातीत (अचिन्त्य) है, अतएव उनका प्रतिरोध तर्क-बुद्धि के विशुद्ध आकारगत सिद्धान्तों अथवा तर्क-शास्त्र के विरोध-नियम के आधार पर नहीं किया जा सकता। किन्तु वह इस विलक्षण मत को अपनाती है कि "काल" से "सत्व-गुण" उत्पन्न होता है, तथा "सत्व" से "रजस्" एवं "रजस्" से तमस" "उत्पन्न होता है, और वह "व्यूह" सिद्धान्त की भिन्न व्याख्या करता है—लेकिन पंचरात्र-दर्शन नामक अध्याय में इन बातों का हम विवेचन कर चुके हैं कि "अहिर्बुध्न्य" इस सांख्य-मत का श्रेय कपिल को देती है (जो "विष्णु" के अवतार कहे जाते हैं) जिन्होंने "षष्टि-तंत्र" लिखा, तथा वह इस कृति के अध्यायों "तंत्रों" का परिगणन भी करती है।[2] यह कृति दो पुस्तकों में विभक्त हैं, प्रथम पुस्तक में एक अध्याय (तंत्र) ब्रह्मन् पर है, एक "पुरुष" पर, तीन "शक्ति" पर, एक "अक्षर" पर, एक "प्राण" पर तथा एक "कर्तृ" पर, एक ईश्वर पर, पाँच "संज्ञान" पर, पाँच क्रियाओं पर, पाँच तन्मात्राओं पर, और पांच पंच महाभूतों पर हैं, इस प्रकार प्रथम पुस्तक में कुल मिलाकर बत्तीस अध्याय हैं। द्वितीय पुस्तक में अट्ठाईस अध्याय हैं—पाँच कर्त्तव्यों पर, एक अनुभव पर, एक चरित्र पर, पाँच क्लेशों पर, तीन "प्रमाणों" पर, एक भ्रमों पर, एक "धर्म" पर, एक वैराग्य पर, अतिप्राकृति शक्तियों पर, एक "गुण" पर, एक "लिंग" पर, एक प्रत्यक्षीकरण पर, एक वैदिक अनुष्ठानों पर, एक शोक पर, एक चरम लब्धि पर, एक वासनाओं के निवारण पर, एक रीति-रिवाजों पर, तथा एक मोक्ष पर।[3] इस प्रकार हमारे सम्मुख सांख्य का एक तो ईश्वरवादी विवरण है, और एक निरीश्वरवादी, जो दोनों "षष्टि-तंत्र" पर आधारित होने का दावा करते हैं, दोनों कपिल-दर्शन के रूप में वर्णित किये गये हैं,

---

[1] पुरुषश्चैव कालश्च गुणश्चेति त्रिधोच्यते
भूतिः शुद्धेतरा विष्णोः······

—"अहिर्बुध्न्य-संहिता" ६:८।

[2] सांख्यरूपेण संकल्पो वैष्णवः कपिलाद् ऋषेः
उदितो यादृशः पूर्वं तादृशं शृणु मेऽखिलम्
षष्टिभेदं स्मृतं तंत्रं सांख्यं नाम महामुने
प्राकृतं वैकृतं चेति मण्डले द्वे समासतः। —वही, ७:१९।

[3] वही, ७:२०—३०।

और दोनों प्रामाणिक प्राचीन मूल-पाठों से प्राप्त किये गये हैं। केवल "भागवत" ही कपिल का ईश्वर के अवतार के रूप में उल्लेख नहीं करती, बल्कि कई पंचरात्र के मूल-भी उनका भगवान विष्णु के अवतार के रूप में उल्लेख करते हैं, "महाभारत" उनका भगवान हरि और भगवान विष्णु के रूप में विवरण देता है (३:४७:१८), उनको वासुदेव (३:१०७:३१) व कृष्ण कहता है, तथा उनका एक महर्षि के रूप में वर्णन करता है जिन्होंने अपने कोष द्वारा सागर के पुत्रों को भस्मसात कर दिया था। "भगवद् गीता" में कृष्ण कहते हैं कि वे सिद्धों में कपिल मुनि हैं (१०:२६), किन्तु "महाभारत" (३:२२०,२१) में उनको "चतुर्थ अग्नि" से एक-रूप माना है। "श्वेताश्वेतर उपनिषद्" (५:७२) में भी एक कपिल मुनि का उल्लेख आता है और शंकर अपने "ब्रह्म-सूत्र" –भाष्य में कहते हैं कि यह कपिल उन कपिल से भिन्न होने चाहिये जिन्होंने सागर के पुत्रों को भस्म कर दिया था, तथा सांख्य-दर्शन लिखने वाले कपिल का निश्चित रूप से पता नहीं लगाया जा सकता। इस प्रकार कम से कम तीन कपिल हो चुके हैं, वे कपिल जिन्होंने सागर के पुत्रों को भस्म कर दिया तथा जो "महाभारत" के अनुसार विष्णु, हरि या कृष्ण के अवतार माने जाते हैं, वे कपिल जो "अग्नि" के अवतार माने जाते हैं, और उपनिषदीय मुनि कपिल जो वहाँ प्रज्ञान में परिपक्व माने जाते हैं। प्रथम दो कपिल निश्चित रूप से सांख्य-दर्शन के लेखकों के रूप में विख्यात हैं, तथा "महाभारत" के टीकाकार नीलकण्ठ का कथन है कि "अग्नि" के अवतार कपिल ही निरीश्वरवादी सांख्य के लेखक हैं।[1] "महाभारत" (१२:३५०,५) में कहा गया है कि कपिल मुनि ने अपना सांख्य-दर्शन इस सिद्धान्त पर आधारित किया कि एक ही "पुरुष" महानारायण है, जो स्वयं में पूर्णतः निर्गुण एवं सर्व सांसारिक अवस्थाओं में अछूता है और फिर भी वही सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों से सम्बन्धित जीवों का अधिक्षक है, तथा उनके द्वारा भोगे गये समस्त ज्ञानात्मक एवं इन्द्रियजन्य अनुभवों का परम आधार है, वही आत्मगत एवं विषयगत जगत् के रूप में भासित होने वाली पूर्ण एवं परम सत्ता है, और फिर भी वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध एवं प्रद्युम्न के रूप में अपने चतुर्मुखी व्यक्तित्व के द्वारा ब्रह्माण्ड के सृष्टा एवं नियन्ता की भाँति व्यवहार करता है।[2] "महाभारत में पाये गये सांख्य के अन्य विवरणों का परीक्षण करने से पूर्व यह बता देना उचित है कि पंचशिख शैशवावस्था में कपिला नामक स्त्री के स्तनों का पान करने के कारण न केवल कपिलेय कहे जाते थे, बल्कि वे "परम ऋषि" कपिल भी कहे जाते थे।[3] यह तो लगभग निश्चत-सा है कि सांख्य के सर्वेश्वरवादी, ईश्वर-

वादी और निरीश्वरवादी आदि अनेक प्रकार हो चुके हैं। चूँकि "अहिर्बुध्न्य-संहिता" "षष्टि-तंत्र" के अध्यायों के नाम बताती है, अतः यह लगभग निश्चित है कि उसके लेखक ने यह कृति देखी होगी, तथा उसके द्वारा वर्णित सांख्य उस कृति से सहमत है। परिगणित विषयों की तालिका बताती है कि उस कृति में ब्रह्मन्, "पुरुष" "शक्ति" "नियति" एवं "काल" पर अध्याय थे, तथा यही तत्व "अहिर्बुध्न्य" द्वारा दिये गये सांख्य के विवरण में भी आते हैं। अतएव यह बहुत सम्भव है कि "अहिर्बुध्न्य" द्वारा दिये गये सांख्य का विवरण अधिकांशतः "षष्टि-तंत्र" के प्रति निष्ठावान है। हमें विदित है कि कपिल के सांख्य-दर्शन ने कुछ महत्वपूर्ण लक्षणों में अपना स्वरूप बदलना आरम्भ कर दिया था, तथा यह बिल्कुल सम्भव है कि जब तक वह परम्परा से ईश्वर-कृष्ण तक पहुंचा तब तक वह काफी बदल चुका था। अतः "षष्टितंत्र" से बहुत भिन्न होने पर भी वह दर्शन उसके महत्वपूर्ण उपदेशों से पूर्ण समझा जाता रहा होगा, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि ईश्वर-कृष्ण को मौलिक "षष्टि-तंत्र" पढ़ने का अवसर मिला होगा, तथा यह मानना युक्ति-युक्त है कि उसका एक बाद का संस्करण ही उन्हें उपलब्ध हुआ था अथवा उस पर आधारित कोई संशोधित संग्रह ही उन्हें प्राप्त हुआ। यह भी हो सकता है "षष्टि-तंत्र" एक प्राचीन ग्रंथ होने के कारण ऐसी लचीली भाषा में लिखा गया होगा कि बादरायण के "ब्रह्म-सूत्र" की भाँति उसकी भी विभिन्न व्याख्याएँ सम्भव थीं, अथवा ऐसा भी हो कि "षष्टि-तंत्र" दो थे।[1]

---

[1] ईश्वर कृष्ण की "सांख्य-कारिका" पर लिखी गई माठराचार्य की "माठर-वृत्ति" में कहा गया है कि "षष्टि तंत्र" का अर्थ है एक ऐसा "तंत्र" या ग्रंथ जिसमें साठ विषयों का वर्णन हो, न कि साठ अध्यायों वाला ग्रंथ (तंत्र्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते पदार्था इति तंत्रम्)। ये साठ विषय हैं : पांच "विपर्यय" अट्ठाईस दोष (अशक्ति), नौ मिथ्या संतोष (तुष्टि), आठ "सिद्धियाँ" कुल मिलाकर पचास विषय (कारिका) ४७—अन्य दस विषय हैं पाँच तर्कों द्वारा सिद्ध "प्रकृति" का अस्तित्व ("अस्तित्व" का तत्व), उसका "एकत्व", "पुरुषों" से उसका प्रयोजनात्मक सम्बन्ध (अर्थवत्व व पारार्थ्य), पुरुषों का अनेकत्व (बहुत्व), जीवन-मुक्ति के पश्चात् भी शरीर की "स्थिति", "प्रकृति" और "पुरुष" का अन्यत्व, "प्रकृति" की "निवृत्ति"। माठर पश्चादुक्त दस विषयों का परिगणन करने वाली "कारिका" का उद्धरण देते हैं—अस्तित्वम्, एकत्वम्, अर्थवत्तम्, पारार्थ्यम्, अन्यत्वम्, अर्थनिवृत्तिः, योगो वियोगो, बहवः पुनांसः, स्थितिः, शरीरस्य विशेष-वृत्तिः।

—"माठर-वृत्ति" ७२।

यह परिगणना सर्वथा मनमानी प्रतीत होती है तथा यह बताने के लिये कुछ भी नहीं कहा गया है कि "षष्टि-तंत्र" इन साठ विषयों की व्याख्या करने के कारण इस नाम से पुकारा गया था।

'अहिर्बुध्न्य-संहिता' की व्याख्या के अनुसार ईश्वर सबसे परे है, और तत्पश्चात् कूटस्थ ब्रह्मन् ('पुरुषों' की समष्टि से निर्मित) तीन 'गुणों' की साम्यावस्था के रूप में 'प्रकृति' तथा 'काल' आते हैं—जैसा कि पहले बताया जा चुका है।[1] 'काल' एक ऐसा तत्व माना गया है जो 'प्रकृति' और 'पुरुषों' का संयोजन करता है। यह कहा गया है कि ईश्वर (सुदर्शन) की संकल्प-शक्ति के कारण तत्वों के विकास द्वारा 'प्रकृति' 'पुरुष' एवं 'काल' अनेकात्मक जगत् को उत्पन्न करने के लिये अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं।[2] इस प्रकार एक कूटस्थ 'पुरुष' अनेक जीवों अथवा भगवान विष्णु या ईश्वर के अंशों के रूप में भासित होता है।[3] ईश्वर की इच्छा-शक्ति जिसे 'सुदर्शन' या 'संकल्प' कहते हैं—जो एक 'परिस्पन्दित' विचार-क्रिया (ज्ञान-मूल-क्रियात्म) मानी जाती है—'प्रकृति' के तत्वों (महत् आदि) में विशिष्टीकरण की सक्रिय कारण है। 'काल' को इस शक्ति से एक-रूप न मानकर एक पृथक सत्ता माना गया है, एक ऐसा यंत्र जिसके द्वारा वह शक्ति कार्य करती है। फिर भी यह 'काल' अलौकिक स्वरूप का माना जाना चाहिये। इसका 'पुरुष' और 'प्रकृति' से सह-अस्तित्व है, तथा वह क्षणों अथवा उनके समुदाय से निर्मित 'काल' से भिन्न है क्योंकि यह 'काल' तो 'महत्' तत्व का 'तमस्' पक्ष माना गया है। 'महत्' का 'सत्व' पक्ष निश्चयात्मक बुद्धि (बुद्धिर्अध्यवसायिनी) के रूप में अभिव्यक्त होता है, और 'रजस्' पक्ष 'प्राण' के रूप में। 'बुद्धि' रूपी 'महत्' का 'सत्व' पक्ष धर्म, प्रज्ञान सिद्धियों एवं 'वैराग्य' के रूप में अभिव्यक्त होता है और 'तमस्' पक्ष अधर्म, अज्ञान, राग एवं दौर्बल्य के रूप अभिव्यक्त होता है। 'महत्' तत्व में सामान्य इन्द्रिय शक्ति सम्पन्न होती है

---

[1] अन्यूनानतिरिक्तं यद् गुण-साम्यं तमोमयं
तत् सांख्यैर्जगतो मूलं प्रकृतिश्चेति कथ्यते।
क्रमावतीर्णो यस्तत्र चतुर्मनुयुगः पुमान्
समष्टिः पुरुषो योनिः स कूटस्थ इतीर्यते
यत् तत् कालमयं तत्वं जगतः सम्प्रकालनं
स तयोः कार्ममास्थाम संयोजक–विभाजक।

—"अहिर्बुध्न्य-संहिता" ७:१–३।

[2] मृत्पिण्डीभूतम्मैतन्नु कालादि–त्रितयं मुने
विष्णोः सुदर्शनेनैन एवस्व-कार्य-प्रत्रोदितं
महदादि–पृथिव्यंत-तत्व-वर्गोपवादकम्। —वही, ४।

[3] कूटस्थो यः पुराप्रोक्तः पुमान् व्योम्नः पराद् दधः
मानवो देवताद्याश्च तद्-व्यष्टय इतीरिताः।
जीव-भेदा मुने सर्वे विष्णु–भूत्यांश-कल्पिताः। —वही, ५८

जिसके द्वारा विषयों को ज्ञानात्मक वृत्तियों के रूप में ज्ञात किया जाता है, महत् में 'अहंकार' भी उत्पन्न होता है, जिसमें एक ज्ञाता एवं भोक्ता के रूप में व्यक्ति के समस्त अनुभवों के संगठन की संकल्पना का समावेश होता है (अभिमान)। इसका आशय यह प्रतीत होता है कि 'महत्' तत्व स्वयं को इन्द्रिय-शक्तियां एवं ज्ञाता की भाँति व्यवहार करने वाले व्यक्ति के रूप में अभिव्यक्त करता है, क्योंकि यही वे प्रकार हैं जिनके माध्यम से बुद्धि अपने स्वरूप की अनुभूति करने में समर्थ होती है। 'अहंकार' का 'सात्विक' पक्ष 'वैकारिक' कहा जाता है, 'राजस' पक्ष 'तैजस' तथा 'तामस' पक्ष 'भूतादि' कहलाता है। यहां यह संकेत करना उचित होगा कि सांख्य का यह विवरण शास्त्रीय सांख्य से बहुत अन्तर रखता है, क्योंकि इसमें इन्द्रिय-शक्ति 'अहंकार' से पूर्व उत्पन्न होती है न कि 'अहंकार' से, तथा जबकि 'अहंकार' का विकास ईश्वर की विचार-प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न एक पृथक तत्व का विकास माना जाता है, तब इन्द्रिय-शक्ति 'बुद्धि' या 'महत्' का प्रकार ही मानी जाती है, न कि पृथक तत्व। ईश्वर की विचार-प्रक्रिया द्वारा 'अहंकार' से विकसित होने वाली एक-मात्र 'इन्द्रिय-शक्ति' 'मनस्' या चिंतनात्मक इन्द्रिय है (चिंतनात्मक अहंकारिकम् इन्द्रियम्)। 'भूतादि' रूप 'अहंकार' के तमस् पक्ष से 'शब्द-तन्मात्र' उत्पन्न होती है, और उससे 'आकाश' तत्व की उत्पत्ति होती है। 'आकाश' यहाँ दो प्रकार का माना गया है, एक तो शब्द को धारण करने वाला, और दूसरा अवकाश को अभिव्यक्त करने वाला (अवकाश प्रदायि)। 'वैकारिक अहंकार' से ईश्वर की विचार-प्रक्रिया द्वारा श्रवण और वाक् इन्द्रियाँ तत्वों के रूप में उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार 'भूतादि' से 'स्पर्श-तन्मात्र' उत्पन्न होती है और फिर इससे वायु उत्पन्न होती है जो सुखाती है, नोदन करती है, हिलाती है एवं संपिण्डन करती है, पुनः, ईश्वर की विचार-प्रक्रिया द्वारा स्पर्शेन्द्रिय एवं हस्तेन्द्रिय उत्पन्न होती है, तथा इसी ढंग से 'भूतादि' से 'रूप-तन्मात्र' उत्पन्न होती है, और उससे 'तेज' तत्व उत्पन्न होता है, 'वैकारिक' से भी दृष्येन्द्रिय एवं पदेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं, 'भूतादि' से 'रस-मात्र' उत्पन्न होती है और उससे आप तत्व उत्पन्न होता है, तथा 'वैकारिक' से भी दृष्येन्द्रिय एवं पदेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं, 'भूतादि' से 'रस-मात्र' उत्पन्न होती है और उससे आप तत्व उत्पन्न होता है, तथा 'वैकारिक अहंकार' से रसेन्द्रिय व जननेन्द्रिय उत्पन्न होती है, 'भूतादि' से 'गन्ध-मात्र' उत्पन्न होती हैं। संकल्प-शक्ति, ऊर्जा और पांच प्रकार के 'प्राण,' 'मनस्', 'अहंकार' एवं 'बुद्धि' से संयुक्त रूप में उत्पन्न होते हैं। हरि, विष्णु या ईश्वर की 'शक्ति' एक है, किन्तु वह भौतिक शक्ति नहीं है जिसमें यांत्रिक क्रिया समाविष्ट होती है, किन्तु वह एक अर्थ में ईश्वर के समांग है, तथा विशुद्ध आत्म-निर्धारित विचार के स्वरूप की है (स्वच्छन्द-चिन्मय), लेकिन वह साधारण विचार के स्वरूप की नहीं है–जिसमें विशेष सामग्री एवं विषय होते हैं–वल्कि वह अव्यक्त विचार है, ऐसा विचार जो ज्ञान-मूलक क्रिया में (ज्ञान-मूल-क्रियात्म) व्यक्त होकर ज्ञाता-ज्ञेय के रूपों में विकसित होने वाला है।

यही ज्ञान-मूलक क्रिया आत्मा-विच्छेद द्वारा दो रूपों में विभक्त होती है (द्विधा-भावम्-ऋच्छति)—'भावक,' ईश्वर के 'संकल्प' के रूप में तथा 'भाव्य,' 'प्रकृति' के रूप में। 'भावक' के द्वारा ही 'भाव्य' का विकास होता है, तथा उसका विविध तत्वों में विशिष्टीकरण होता है। ईश्वर के विचार की प्रकम्वित क्रिया का तात्पर्य केवल उसके निर्वाध स्वरूप से है, वह स्वरूप जो विना किसी बाधा के अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में रूपांतरित हो जाता है। ईश्वर की विचार-शक्ति का यह निर्वाध प्रवाह ही उसका संकल्प, प्रत्यय या विचार (सुदर्शनता) कहा जाता है।[1] इस प्रकार 'प्रकृति' भी ईश्वर के विचार की विषमता या सामग्री को सूचित करती है और उसे एक स्वतंत्र भौतिक तत्व के रूप में व्यवहार करने का तभी अवसर मिलता है जब ईश्वर की शक्ति के आत्म-विच्छेद के कारण विचार-शक्ति को ऐसे विषय की आवश्यकता होती है जिसके माध्यम से वह अपना आत्म-लाभ कर सके।

'अहिर्बुध्न्य-संहिता' के एक अन्य अध्याय में कहा गया है कि यह शक्ति अपनी मौलिक अवस्था में शुद्ध नीरवता (स्तैमित्यरूप) अथवा शुद्ध शून्यता (शून्यत्व-रूपिणी) के रूप में संकलिपत की जा सकती है तथा वह अपने अवर्णनीय उन्मेष से ही स्वयं को गतिशील बनाती है।[2] यही उन्मेष जो आप ही आप में से उत्पन्न होता है एवं आप अपना है, ईश्वर के विचार अथवा उसकी आत्म-विच्छेह की क्रिया, या एक से अनेक होने की इच्छा के रूप में वर्णित किया जाता है। समस्त सृष्टि इसी आत्म-स्फूर्ति से अग्रसर होती है, सृष्टि-रचना कोई ऐसी घटना नहीं है जो एक विशेष समय में घटित हुई हो वरन् वह ईश्वर की इस शक्ति का शाश्वत उन्मेष है जो स्वयं को शाश्वत सृष्टि-रचना के रूप में अभिव्यक्त करता है, एक शाश्वत् एवं सतत् आत्माभिव्यक्ति है।[3] क्रिया: 'वीर्य' 'तेजस्' अथवा 'बल' या 'ईश्वर' इसी शक्ति के विभिन्न पहलू हैं। ईश्वर का 'बल' इस तथ्य में निहित है कि वह अपने शाश्वत एवं सतत सृष्टि-रचना कार्य के अनन्तर भी कभी थकता नहीं है, उसका 'वीर्य' इस बात में निहित है कि यद्यपि उसकी शक्ति हीकार्य करती है, तथापि इस कारण उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।[4] उसका 'तेजस्' इसमें निहित है कि वह अपने सृजनात्मक कार्यों में किसी

---

[1] अव्याघातस्तु यतस्य सा सुदर्शनता मुने
ज्ञान-मूल-क्रियात्मासो स्वच्छः स्वच्छन्द-चिन्मयः।
—अहिर्बुध्न्य-संहिता, ७:६७।

[2] स्वातंत्र्याद् एव कस्माचित् कचित् सोन्मेषम् ऋच्छति। —वही, ५:४।

[3] सततं कुर्वतो जगत्। —वही, २:५६।

[4] तस्योपादान-भावेऽपि विकार-विरहो हि यः
वीर्यंनाम गुणः सोऽयमच्युतत्वापराह्वयम्। —वही, २:६०।

प्रकार से यंत्र की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता[1] और इस शक्ति की आत्म-स्फूर्ति ही जगत् की सृष्टा 'कर्तृत्व' शक्ति मानी जाती है। ईश्वर का वर्णन शुद्ध-चैतन्य स्वरूप एवं शक्ति-स्वरूप दोनों प्रकार से किया गया है। ईश्वर की सर्वज्ञता उसके चैतन्य की सर्व-व्यापकता में निहित है, और जब वह सर्वज्ञता की नीरवता तथा भेद-रहित शून्यता के रूप में आत्म-पूर्ण स्थिर चैतन्य अपना विच्छेद करता है और सृजनात्मक कार्य में प्रवृत्त होता है, तब वह उसकी 'शक्ति' कहा जाता है। इसी कारण ईश्वर की शक्ति विचार-प्रक्रिया रूपिणी (ज्ञान-मूल-क्रियात्मक) मानी जाती है। यह शक्ति या चैतन्य ईश्वर का अंश मानी जा सकती है, अतएव उससे एक-रूप मानी जा सकती है, तथा उसका विशिष्ट लक्षण या गुण मानी जा सकती है, यही शक्ति स्वयं को चेतनता व उसके विषय (चेत्य-चेतन), काल एवं उससे मापी जाने वाली सर्व वस्तुओं (काल्य-काल), व्यक्त एवं अव्यक्त (व्यक्ताव्यक्त) भोक्ता एवं भोग्य (भोक्ता-भोग्य), देह एवं देहिन् के रूप में विभक्त करती है।[2] मधु-मक्खियों का छत्ता जिस प्रकार कोषों की एक बस्ती होता है उसी प्रकार 'पुरुष' भी जीवों के संगठन से निर्मित एक बस्ती या संगठन के रूप में संकल्पित किया गया प्रतीत होता है।[3] 'पुरुष' स्वयं में अपरिवर्त्तनशील (कूटस्थ) माने जाते हैं, किन्तु फिर भी वे अनादि वासनाओं की अशुद्धताओं से कुण्ठित होने के कारण स्वयं में विशुद्ध होने पर भी अशुद्ध माने जाते हैं।[4] वे स्वयं में सर्व क्लेशों से पूर्णतः अप्रभावित हैं और ईश्वर के स्वरूप के अंश होने के कारण सर्वज्ञ एवं नित्य मुक्त होते हैं। किन्तु 'पुरुष' ईश्वर की संकल्प-शक्ति अथवा उसकी शक्ति की सृजनात्मक क्रिया से उत्पन्न 'नियति' के कारण 'अविद्या' से प्रभावित हो जाते हैं और अनेक क्लेशों से पीड़ित होते हैं, तथा उसके फलस्वरूप उनका स्वरूप उन्हीं से छिप जाता है और वे सर्व प्रकार के सुख-दुःखमय पुण्य एवं पाप के अनुभवों का भोग करते हुए प्रतीत होते हैं, और इस प्रकार प्रभावित होकर वे सर्व प्रथम तो ईश्वर की सृजनात्मक 'शक्ति' से सम्बन्धित होते हैं, तथा फिर जब यह शक्ति अपना विकास 'नियति' रूपी 'काल'–तत्व के रूप में करती है, तब वे उस 'नियति' से सम्बन्धित होते हैं, और फिर जब सर्वग्राही 'काल' तत्व के रूप में तीसरी प्रक्रिया होती है तब वे 'काल' तत्व से सम्बन्धित होते हैं, तथा फिर जब 'काल' से धीरे-धीरे 'सत्व', 'गुण' विकसित होते हैं, 'रजस्', 'गुण', 'सत्व' से तथा 'तमस्

गुण' 'रजस्' से विकसित होते हैं, तब 'पुरुषों' की बस्ती पहले 'सत्व' से, फिर 'रजस्' से व फिर 'तमस्' से सम्बन्धित होती है। जब वे 'गुण' विकसित होते हैं तब यद्यपि तीनों 'गुण' सृजनात्मक कार्य के लिये विक्षुब्ध होते हैं तथापि वे अपने सभी अंशों में विक्षुब्ध नहीं होते हैं, 'गुणों' के सम्मिश्रण के कुछ अंश साम्यावस्था में बने रहते हैं तथा गुणों की इस साम्यावस्था को 'प्रकृति' कहा जाता है।[1] ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति से लेकर 'प्रकृति' तक विभिन्न तत्वों के विकास का विवरण 'अहिर्बुध्न्य' के सातवें अध्याय में नहीं दिया गया है, जिसका निश्चित रूप से कपिल के सांख्य-दर्शन के रूप में वर्णन किया गया है, यह तो केवल सांख्य के उस विवरण के पूरक के रूप में दिया गया पंचरात्र का विवरण है, जो 'गुणों' की साम्यावस्था 'प्रकृति' से तत्वों के विकास के कथन से प्रारम्भ होता है। 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' के पंचरात्र के विवरण के अनुसार 'पुरुषों' की बस्ती या मण्डल एक प्रधान तत्व है जो ईश्वर की स्वविकसित शक्ति से प्रारम्भ से ही सम्बन्धित होता है, 'प्रकृति' के विकसित होने से पूर्व सभी तत्वों से उसका सम्बन्ध प्रत्येक चरण पर बना रहता है, और तत्पश्चात् 'प्रकृति' से विकसित होने वाले अन्य सभी तत्वों से भी वह सम्बन्धित रहता है। 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' में पाये गये कपिल-सांख्य के विवरण के अनुसार 'पुरुषों' का यह सगठन एक अपरिवर्तनशील तत्व माना गया है जो तत्वों के विकास-क्रम से प्रारम्भ से ही सम्बन्धित रहता है और उनके विकास की क्रमानुगत अवस्थाओं में से उत्तरोत्तर गुजरता हुआ पूर्ण मानव अवस्था तक पहुँचता है जहाँ विभिन्न इन्द्रियों एवं स्थूल तत्वों का विकास होता है। जहाँ शास्त्रीय सांख्य ग्रन्थों में 'पुरुषों' को वासनाओं एवं क्लेशों से सर्वथा अछूता माना जाता है, जहाँ 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' के अनुसार (जैन मत के समान ही) 'पुरुष' स्वयं में शुद्ध होने पर भी वासनाओं एवं क्लेशों की अशुद्धताओं से आच्छादित माने जाते हैं, पुनः जहाँ शास्त्रीय सांख्य यह मानता है कि जन्म एवं पुर्नजन्म की अनन्त शृंखला में 'कर्म' के माध्यम से 'वासनाएँ' अनादि रूप से उत्पन्न होती हैं, जहाँ 'पंचरात्र' के विभिन्न 'पुरुष' ईश्वर की इच्छा के अनुसार विभिन्न 'वासनाओं' से मूलतः सम्बद्ध रहते हैं। शास्त्रीय सांख्य के विवरण के विपरीत (जहाँ 'वासनाओं' को 'बुद्धि' या 'चित्त' के रूप में 'प्रकृति' का अंग माना जाता है) यहाँ वासनाओं को 'पुरुषों' की मूल बाह्य अशुद्धता माना गया है। किन्तु यह सम्भव है कि वासनाओं तथा ईश्वर की संकल्प-शक्ति के द्वारा 'पुरुषों' के साथ उनके मूल साहचर्य का यह विवरण कपिल के 'षष्टितंत्र' का भाग नहीं था, लेकिन 'अहिर्बुध्न्य' के लेखक द्वारा एक पूरक सिद्धान्त के रूप में जोड़ दिया गया है, क्योंकि इनका 'अहिर्बुध्न्य' के सातवें

अध्याय में जहाँ सांख्य-दर्शन का निरूपण किया गया है, कोई उल्लेख नहीं है। 'गीता' में पाये गये सांख्य-मत की व्याख्या वर्तमान कृति के द्वितीय ग्रन्थ में दी गई है, तथा इससे स्पष्ट हो जायगा कि यद्यपि 'गीता' का विवरण अव्यवस्थित एवं अस्पष्ट है और उसमें महत्वपूर्ण बातें छूट गई हैं, तथापि वह प्रधानतः ईश्वरवादी है तथा 'अहिर्बुध्न्य' में दिये गये कपिल-सांख्य से गहरा सम्बन्ध रखता है, अतएव 'सांख्य-कारिका' के शास्त्रीय सांख्य-मत से मूलतः भिन्न है।

'भागवत' के ग्यारवें खण्ड के बाईसवें अध्याय में सांख्य की विभिन्न शाखाओं का उल्लेख आया है जो तत्वों की संख्या भिन्न-भिन्न मानती है।[1] इस प्रकार कुछ सांख्यवादी नौ तत्व मानते हैं, कुछ ग्यारह, कुछ पांच, कुछ छब्बीस, कुछ पच्चीस, कुछ सात, कुछ छः, कुछ चार, कुछ सत्रह, कुछ सोलह और कुछ तेरह। उद्धव ने भगवान कृष्ण को इन विभिन्न विपरीत मतों का सामंजस्य करने की प्रार्थना की। उत्तर में भगवान कृष्ण ने कहा कि तत्वों की यह विभिन्न गणना निम्नतर तत्वों के उच्चतर तत्यों को लुप्त कर देने से उत्पन्न हुई है—जैसे कुछ कार्य-तत्वों की उपेक्षा कर दी जाती है (क्योंकि वे पहले ही से कारण में समाविष्ट हैं) अथवा कुछ क्रमिक कारण-तत्वों की उपेक्षा कर दी जाती है (क्योंकि वे कार्य में विद्यमान हैं)।[2] इस प्रकार ऐसी सांख्य शाखाएँ हो सकती हैं जिनमें तन्मात्राओं की गणना नहीं की जाती है अथवा जिनमें स्थूल महाभूतों की तत्वों में गणना नहीं की जाती है। इन सभी उदाहरणों के आधार में यह सिद्धान्त है कि कुछ विचारक 'तन्मात्राओं' की गणना इसलिये करना नहीं चाहते थे कि वे स्थूल महाभूतों में पहले ही समाविष्ट हैं (घटे मृद्वत), तथा अन्य विचारकों ने स्थूल महाभूतों की गणना नहीं की क्योंकि वे 'तन्मात्राओं' में समाविष्ट विकास तत्व हैं (मृदि घटवत्)। किन्तु मतभेद न केवल 'प्रकृति' से विकसित तत्वों के सम्बन्ध में है, बल्कि 'पुरुषों' और ईश्वर के सम्बन्ध में भी हैं। इस तरह 'प्रकृति' सहित चौबीस तत्व हैं, 'पुरुष' को पच्चीसवां तत्व गिना जाता है,

---

[1] कति तत्वानि विश्वेश सांख्यातान्य् ऋषिभिः प्रभो
नव-एकादश पंच त्रीण्यथा त्वम् इह शुश्रुम
केचित् षड्विंशति प्राहुरपरे पंचविंशति
सप्तैके नव-षट केचिच्चत्वार्येकादशावरे
केचित् सप्तदश प्राहुः षोढ़शैके त्रयोदश। —श्लोक १, २।

[2] अनुप्रवेशं दर्शयति एकस्मिन्नपीति पूर्वस्मिन् कारणभूते तत्वे सूक्ष्म-रूपेण प्रविष्टानि मृदि घटवत्। अपरस्मिन् कार्य-तत्वे कारण-तत्वानि अनुगतत्वेन प्रविष्टानि घटे मृद्वत्।

—'श्लोक' ८ पर श्रीधर की टीका।

तथा ईश्वरवादी सांख्य के अनुसार ईश्वर को छब्बीसवां तत्व गिना जाता है। यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि तत्वों की विभिन्न गणना के सामंजस्य का उपर्युक्त सिद्धान्त (कार्य-तत्वों का कारण में उपनय, अथवा कार्य-तत्वों की उपेक्षा) यहाँ लागू नहीं किया जा सकता। ईश्वरवादी सांख्य ईश्वर को इस आधार पर स्वीकार करता है कि 'पुरुषों' को आत्म-ज्ञान प्रदान करने वाली कोई सत्ता होनी चाहिये क्योंकि वे स्वतः उसे प्राप्त नहीं कर सकते। यदि इस मतानुसार छब्बीस तत्वों को सत्य समझा जाय, तब पच्चीस तत्वों को मानने वाले अन्य मत से इसका सामंजस्य नहीं किया जा सकता। इस आपत्ति का यह उत्तर है कि 'पुरुष' एवं ईश्वर के स्वरूप में कोई आंतरिक भेद नहीं है, क्योंकि वे दोनों शुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं। यह आपत्ति उठाना कि इस मान्यता के अनुसार ईश्वर द्वारा प्रदत्त आत्म-ज्ञान एक पृथक तत्व गिना जाना चाहिये त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि आत्म-ज्ञान ज्ञान होने के नाते 'प्रकृति' के 'सत्व गुण' की पराकाष्ठा मात्र है अतः वह प्रकृति में ही समाविष्ट हो जाता है। ज्ञान 'पुरुष' की विशेषता नहीं है वल्कि 'प्रकृति' की विशेषता है। साम्य की वह अवस्था जिसमें 'गुणों' की विशिष्टता अभी अभिव्यक्त नहीं हो पाई है 'प्रकृति' कहलाती है। साम्यावस्था के विक्षोभ से 'गुणों' की अभिव्यक्ति होती है, अतएव 'गुणों' को 'प्रकृति' के विशेषण मानना चाहिये। 'पुरुष' कर्त्ता न होने के कारण ज्ञान को अपनी विशेषता नहीं वना सकता। अतः समस्त क्रिया रजस् से उत्पन्न होने के कारण तथा समस्त अज्ञान तमस् से उत्पन्न होने के कारण, क्रिया एवं अज्ञान भी 'प्रकृति' के अंश माने जाने चाहिये क्योंकि ईश्वर के कर्तृत्व से ही 'गुणों' का सम्मिश्रण होता है, वह गुणों के मिश्रण का कारण माना जाता है। जो मत 'काल' को 'गुणों' के मिश्रण का कारण मानता है वह इसी तथ्य पर आधारित है तथा इसी कारण से श्रुतियों में 'काल' को ईश्वर का नाम माना गया है। 'महत्' तत्व से सभी का विकास होने के कारण, वह स्वयं 'स्वभाव' कहा जाता है। इस प्रकार 'काल' और 'स्वभाव' को जगत के मूल कारण मानने वाले परस्पर विरोधी मतों का उपरोक्त व्याख्या के अनुसार सांख्य से सामंजस्य किया जा सकता है।

और ईश्वर को स्वीकार करते हैं, तथा इस प्रकार तेरह तत्व मानते हैं। अन्य पाँच इन्द्रिय-विषयों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा इन्द्रिय को मिलाकर ग्यारह तत्व मानते हैं। अन्य 'प्रकृति', 'महत्', 'अहंकार,' पाँच 'तन्मात्राएँ' तथा 'पुरुष'—ये नौ तत्व मानते हैं।

खेद है कि सांख्य की उपर्युक्त शाखाओं तथा उनके सामंजस्य के हेतु किए प्रयत्नों के सम्बन्ध में 'भागवत' में पाये गये उल्लेख के अतिरिक्त इन सिद्धान्तों के मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सके है जो भागवत के लेखन-काल से बहुत पहले विद्यमान रहे होंगे। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, 'भागवत' की सेश्वर सांख्य-मत में ही अभिरुचि है, तथा वह सांख्य की विपरीत शाखाओं का एक ही विचार-शाखा के रूप में सामंजस्य करने का प्रयत्न करता है। उसकी आगे यह धारणा है कि 'प्रकृति' एवं उसकी अभिव्यक्तियाँ ईश्वर की विविध 'माया' शक्ति की क्रिया से उत्पन्न होती है। 'प्रलय' काल में ईश्वर स्वय से पूर्ण तादात्म्य बनाये रखता है, तथा 'गुण' जो उसकी 'माया' शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं, साम्यावस्था में रहते हैं—ऐसी अवस्था जिसमें उसकी समस्त शक्तियाँ मानो सुप्त रहती हैं। अपनी अंतर्निहित शक्ति के द्वारा वह अपनी सुप्त शक्ति की साम्यावस्था को विक्षुब्ध करता है तथा स्वयं को सृष्टि-रचना—'प्रकृति' व उसके विकास तत्वो की रचना में लगाता है और इस प्रकार उनका अपने वंश-रूप 'जीवो' से साहचर्य स्थापित करता है, जो जगत् के द्वैतानुभव से भ्रमित होते हैं, उसका उपभोग करते हैं व उसके लिये पीड़ित होते हैं और वह उनको वेदों के द्वारा उपदेश देकर उन्हें सम्यक् मार्ग प्रदर्शित करता है।[1] आत्मा अपने अनुभवातीत स्वरूप में विशुद्ध अनुभव है अतएव किसी प्रकार की वस्तुगत आकृति से रहित हैं एवं उससे पूर्णतः अछूता है। उसकी वस्तुगतता तथा विषय-सामग्री से साहचर्य स्वप्न-सृष्टि की भाँति मिथ्या है, और उन्हें 'माया' से उत्पन्न समझना चाहिये।[2]

---

[1] स वै किलायं पुरुषः पुरातनो
य एक आसीद् अविशष आत्मनि
अग्रे गुणेभ्यो जगद्—आत्मनीश्वरे
निमीलितात्मन् निशि सुप्त-शक्तिपु
स एव भूयो निज-वीर्य-चौदितं
स्व-जीव-मायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम्
अनाम-रूपात्मनि रूप-नामनी
विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत्। —'भागवत' १:१०, २१, २२।

[2] आत्मा-मायाम् ऋते राजन् परस्यानुभवात्मनः
न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नदृष्टुर् इवाञ्जसा। —वही, २:६:१।

'अनुभव-स्वरूप' सत्ता के रूप में 'पुरुष' का विभेदीकरण किया जाना चाहिए तथा 'अन्वय-व्यतिरेक' विधि के द्वारा उसे जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं की सामग्री के रूप में पाई जाने वाली चंचल मानसिक अवस्थाओं से भिन्न चीन्हा जाना चाहिये। कारण यह है कि मानसिक अवस्थाओं में समाविष्ट, विविध अंगों की अनुभव-सामग्री में जो मुक्ता-माला में विद्यमान सूत्र के सदृश स्थिर बना रहता है, वह विशुद्ध अनुभव-कर्त्ता है, 'पुरुष' है। अतएव 'पुरुष' को मानसिक अवस्थाओं की उस सामग्री से भिन्न समझना चाहिये जिसे वह प्रकाशित करता है।[1]

मरणोत्तर अवस्था-सम्बन्धी सिद्धान्त

'भागवत पुराण' के ३:३२ में यह मत प्रदर्शित किया गया है कि जो व्यक्ति यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं तथा देवताओं एवं पितरों को भेंट चढ़ाते हैं वे मृत्यु के उपरान्त चन्द्र-लोक में जाते हैं, जहाँ से वे पृथ्वी पर पुनः लौट आते हैं, किन्तु जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं तथा अपने सर्व कर्मों को देवताओं को समर्पित करते हैं, मन एवं हृदय से शुद्ध और सांसारिक वस्तुओं से अनासक्त रहते हैं, वे मृत्यु के उपरान्त सूर्य-लोक में जाते हैं और वहाँ से वे जगत् के कारण रूप 'सार्वभौम तत्व' में जाकर मिल जाते हैं। परन्तु जो व्यक्ति द्वैत की धारणा से ग्रसित रहते हैं वे सगुण ब्रह्मन् को प्राप्त होते हैं और तत्पश्चात् अपने कर्मानुसार जगत् में पुर्नजन्म लेते हैं। जो व्यक्ति इच्छाओं से पूर्ण साधारण जीवन व्यतीत करते हैं तथा अपने पितरों को भेंट चढ़ाते हैं उन्हें प्रथम तो धूम्रमय दक्षिण-मार्ग द्वारा पितरों के लोक में जाना पड़ता है, और फिर वे अपनी संतान की वंश-परम्परा में पुनः जन्म लेते हैं।

किन्तु ११:२२, ३७ में हमें अधिक युक्तिसंगत मत मिलता है। वहाँ यह कहा गया है कि मनुष्यों का 'मनस्' उनके कर्मों एवं उनके कारणों से अभिव्याप्त हो जाता है तथा यह मनस् ही एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। 'आत्मन्' इस मनस् का अनुसरण करता है। 'भागवत पुराण' के सुपरिचित टीकाकार श्रीधर यहाँ

भ्रम या 'माया' की परिभाषा यह दी जाती है कि माया वह है जो असत् विषयों को अभिव्यक्त करती है, किन्तु स्वयं अभिव्यक्त नहीं होती।

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि
तद् विद्यदात्मनो मायां यथाभासो तथा तमः वही, २:६:३३।

[1] अन्वय-व्यतिरेकेण विवेकेन सतात्मना
सर्ग-स्थान-समाम्नायैर् विमृशद्भिर्सत्वरैः
बुधेर जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः। —वही, ७:७, २४, २५।

'मनस्' का अर्थ 'लिंग-शरीर' से लेते हैं और यह मत अपनाते हैं कि 'आत्मन्' अहंकार से पीड़ित 'मनस्' का अनुसरण करता है। 'भागवत पुराण' का आगे यह मत है कि 'कर्म' की भवितव्यता के द्वारा मनस् देखी व सुनी गई वस्तुओं का चिंतन करता है तथा क्रमशः उनके सम्बन्ध में अपनी स्मृति को खो बैठता है। अन्य शरीर में प्रविष्ट होता हुआ यह 'मनस्' इस प्रकार पूर्व शरीरों के अनुभवों को विस्मृत कर देता है, अतएव मृत्यु की परिभाषा पूर्ण विस्मृति के रूप में दी जा सकती है (मृत्युरत्यंत–विस्मृतिः ११:२२, ३६)। जन्म का अर्थ है नवीन अनुभवों की स्वीकृति। श्रीधर बताते हैं कि पुराने शरीरों के सम्बन्ध में अहंकार की क्रिया के समाप्त होने तथा नवीन शरीर के सम्बन्ध में अहंकार की क्रिया के विस्तरण से जन्म घटित होता है। जैसे व्यक्ति अपने स्वप्नों को स्मरण नहीं कर सकता वैसे ही यह अपने पुराने अनुभवों को विस्मृत कर देता है, तथा यह स्थिति मृत्यु के अनुकूलित हो जाती है। जन्म के समय, सदा अस्तित्व रखने वाला आत्मन् नवीन जन्म ग्रहण करता-सा प्रतीत होता है। आत्मन् का शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित करके व्यक्ति अपने अनुभवों को आंतरिक एवं वाह्य भागों में विभक्त करता है। वस्तुतः शरीर सतत नष्ट होता रहता है एवं उत्पन्न होता रहता है, किन्तु ऐसे परिवर्त्तन सूक्ष्म होने के कारण ध्यान में नहीं आते। जिस प्रकार दो क्षणों में एक ही लौ अस्तित्व नहीं रख सकती अथवा दो भिन्न क्षणों में एक ही वहती सरिता विद्यमान नहीं हो सकती, उसी प्रकार शरीर भी दो विभिन्न क्षणों में भिन्न होता है, यद्यपि अपने अज्ञान के कारण हम मान लेते हैं कि एक ही शरीर विविध स्थितियों व अवस्थाओं से गुजरता है। किन्तु यथार्थ में कोई भी 'कर्म' के द्वारा न तो जन्म लेता है और न मरता है। यह सब भ्रमों की चित्रावली मात्र है, जैसे अग्नि ताप के रूप में वाहर अस्तित्व रखकर भी लकड़ी के लट्ठों के साथ जलती हुई प्रतीत होती है। शरीर की विभिन्न अवस्थाओं के रूप में जन्म, शैशव, यौवन, जरायु व मृत्यु के प्रतिभास मनोराज्य मात्र हैं। वे केवल मूल पुद्गल, 'प्रकृति' की अवस्थाएँ हैं जो भ्रम के कारण हमारे जीवन की अवस्थाएँ मान ली जाती हैं। एक व्यक्ति अपने पिता की मृत्यु तथा अपने पुत्र के जन्म को देखकर शरीरों के विनाश एवं उत्पत्ति की चर्चा कर सकता है, किन्तु कोई यह अनुभव नहीं करता कि अनुभवकर्त्ता स्वयं जन्म एवं मृत्यु का भागी होता है। आत्मन् इस प्रकार शरीर से सर्वथा भिन्न है। दोनों में सम्यक् विभेद स्थापित करने की अयोग्यता के कारण ही एक व्यक्ति इन्द्रिय विषयों में आसक्त होता है और जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करता हुआ प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को नृत्य करते अथवा गाते हुए देखकर उसके कार्यों का अनुकरण करने लगता है, उसी प्रकार 'पुरुष' स्वयं की गति न रखते हुए भी गतियों के व्यापार में 'बुद्धि' के गुणों का अनुकरण करता हुआ प्रतीत होता है। पुनः जिस प्रकार कोई बहते हुए जल में वृक्षों के प्रतिविम्बों को देखता है तब वृक्ष स्वयं अनेक प्रतीत होने लगते हैं, उसी प्रकार आत्मन् स्वयं को 'प्रकृति' की गतियों में फंसा हुआ मानता

है। इसी के फलस्वरूप हमें जगत् के अनुभव तथा जन्म-मरण के चक्रों का अनुभव उपलब्ध होता है, यद्यपि इनमें से वस्तुतः किसी का अस्तित्व नहीं है। अतः हम देखते हैं कि जन्म और मृत्यु के सम्बन्ध में 'भागवत पुराण' सामान्य सांख्य एवं वेदान्त मत से सहमत है। वह निःसन्देह उपनिषदों के साधारण मत को स्वीकार करता है कि मानव भृंग के सदृश एक साथ ही अन्य शरीर को ग्रहण किये बिना एक शरीर का त्याग नहीं करता (भागवत पुराण, १०:१, ३८-४४), किन्तु वह साथ ही यह मत भी मानता है कि ऐसा जन्म एवं पुनर्जन्म अपने स्वयं के भ्रम अथवा 'माया' के कारण होता है।

अध्याय २५

मध्व और उनका सम्प्रदाय

मध्व का जीवन

भण्डारकर अपने ग्रन्थ 'Vaisnavism Saivism and Minor Religious Systems' में कहते हैं कि 'महाभारत तात्पर्य-निर्णय' में मध्व ने अपनी जन्म-तिथि 'कलि' ४३०० दी है। इस प्रकार मध्व की जन्म-तिथि सन् ११९९ अथवा शक ११२१ होगी। भण्डारकर कहते हैं कि चूंकि कोई तो तिथि देते समय चालू वर्ष का उल्लेख करते हैं और कोई उसके पूर्व के वर्ष का, इसलिये शक ११२१ को शक ११११९ माना जा सकता है। किन्तु वर्त्तमान लेखक 'महाभारत तात्पर्य-निर्णय' के एकमात्र मुद्रित संस्करण में इस तिथि को नहीं ढूंढ सका है (शक १८३३ में टी० आर० कृष्णाचार्य द्वारा प्रकाशित संस्करण)। लेकिन भण्डारकर इस समस्या की ओर एक अन्य मार्ग से भी अग्रसर होते हैं। उनका कथन है कि कई मठों में परिरक्षित सूची मध्व की तिथि शक १११९ देती है और चूंकि मध्व ७९ वर्ष तक जीवित रहे थे, अतः उनकी जन्म-तिथि शक १०४० थी। किन्तु भण्डारकर मठ की सूची में दी गई तिथि शक १११९ को मध्व की जन्म तिथि मानते हैं, न कि देहावसान तिथि। वे कहते हैं कि श्रीकूर्म-स्थित कूर्मेश्वर मंदिर में प्राप्त आलेख गंजम जिले के एक तालुक में है जहाँ नरहरि-तीर्थ ने एक मंदिर बनवाकर उसमें शक १२०३ में नरसिंह की मूर्ति स्थापित की बताते हैं (Epigraphica India भाग ४, पृ० २६०)। उस शिलालेख में उल्लिखित प्रथम व्यक्ति पुरुषोत्तमतीर्थ है जो अच्युतप्रेक्ष ही है, फिर उनका शिष्य आनन्द तीर्थ है, फिर आनन्द तीर्थ का शिष्य नरहरि तीर्थ है। सम्भवतः नरहरि तीर्थ नरसिंह ही थे जिन्होंने शक १११९ से १२२५ तक उपरोक्त तालुक का शासन किया। उनका उल्लेख शक १२१५ के श्रीकूर्मन् स्थित शिलालेखों में आया है, जो सम्राट् के शासन का अठारहवां वर्ष बताया जाता है। यह सम्राट् नरसिंह द्वितीय थे जिनकी 'एकावली' में प्रशस्ति की गई थी। अन्य शिलालेखों से प्राप्त नरहरि की तिथि शक ११८६ और १२१२ के बीच में आती है। ये अभिलेख इस परम्परा की पुष्टि करते हैं कि नरहरि-तीर्थ का सक्रिय काल शक ११८६ से १२१५ तक प्रसारित था। उनके गुरु मध्व का देहावसान शक १११९ में अर्थात् सड़सठ वर्ष पूर्व, नहीं हो सकता था। अतः भण्डारकर मठ की सूची में उल्लिखित शक १११९ को मध्व की जन्म-तिथि

मानते हैं न कि देहावसान की तिथि। मध्व की यह जन्म तिथि शक-१११९ अथवा सन् ११९७–ग्रियर्सन और कृष्णस्वामी एय्यर द्वारा स्वीकृत की गई है तथा अबतक उस पर कोई आपत्ति नहीं उठाई गई है।

मध्व के जीवन के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं है। उनके सम्बन्ध में हम जो कुछ जानते हैं उसे मध्व के वास्तविक शिष्य त्रिविक्रम के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा रचित 'मध्व-विजय' और 'मणि-मंजरी' नामक मध्व के आख्यानात्मक व अर्ध-पौराणिक जीवन-चरित्रों से प्राप्त करना पड़ता है। कुछ जानकारी त्रिविक्रम पंडित के यशोगान से भी प्राप्त की जा सकती है। मध्व शंकर के जन्मजात शत्रु प्रतीत होते हैं। 'मणि-मंजरी' में नारायण भट्ट मणिमत नामक एक राक्षस की कपोल-कल्पित की कहानी प्रस्तुत करते हैं। मणिमत किसी विधवा की वर्ण-संकर संतान था, अतएव वह शंकर कहा जाता था, शिव में अनुग्रह से वह सौराष्ट्र में 'शास्त्रों' में सिद्धहस्त हो गया, उसने 'सूर्य-मार्ग' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया तथा उसका नीति-भ्रष्ट स्वभाव के व्यक्तियों द्वारा अभिनन्दन किया जाता था। उसने वेदान्त की आड़ में वस्तुतः बौद्ध-दर्शन का प्रतिपादन किया। वह ब्रह्म को सूर्य से एक-रूप मानता था। उसने अपने ब्राह्मण पोषक की पत्नी को छल लिया, तथा वह अपने जादुई चमत्कारों से लोगों का मत-परिवर्त्तन करता था। जब उसकी मृत्यु हुई तब उसने अपने शिष्यों को वेदान्त के सच्चे पंडित सत्यप्रज्ञ की हत्या करने का आदेश दिया, शंकर के अनुयायी अत्याचारी लोग थे जो मठों को जलाते थे, मवेशियों को मार देते थे, और स्त्रियों व बच्चों की हत्या करते थे। उन्होंने अपने प्रमुख विरोधी प्रज्ञातीर्थ का बलपूर्वक मत-परिवर्त्तन किया। किन्तु प्रज्ञातीर्थ के शिष्य गुप्त रूप से सच्चे वेदान्त-मत के समर्थक बने रहे, और उन्होंने अपने एक शिष्य को वैदिक शास्त्रों में पूर्ण पंडित बना दिया। मध्व के गुरु अच्युतप्रेक्ष शंकर के समकालीन सच्चे वैदिक गुरु सत्यप्रज्ञ की शिष्य-परम्परा में उत्पन्न ऐसे ही यथार्थ गुरु के शिष्य थे।

मध्व वायु के अवतार थे। उनके अवतार का उद्देश्य था शंकर के झूठे सिद्धान्तों को नष्ट करना, क्योंकि वे सिद्धान्त लोकायतों, जैनों एवं पाशुपतों के सिद्धान्तों से अधिक समानता रखते थे, तथा उनसे भी अधिक बेहूदे व हानिकारक थे।

मध्व लय्यगेह भट्ट के पुत्र थे जो शृंगेरि से लगभग ४० मील पश्चिम में स्थित उडपि के निकट रजतपीठ नगर में रहते थे। शृंगेरि में शंकर का सुप्रसिद्ध मठ था। उदिपि अब भी दक्षिणी कनारा में मध्व-मत का प्रमुख केन्द्र है। जिस प्रदेश में अब धारवाड़, उत्तरी व दक्षिणी कनारा, और मैसूर राज्य के पश्चिमी भाग का समावेश होता है, उसका प्राचीन नाम तुलुव (आधुनिक तुल) था, जहाँ अधिकतर मध्वों का निवास है। सन् १९१५ में लिखते हुए ग्रियर्सन कहते हैं कि इस प्रदेश में लगभग ७०,००० मध्व रहते हैं। अन्य स्थानों पर वे अधिक हैं। परन्तु यह ध्यान में रखना

चाहिये कि हैदराबाद के दक्षिण से लगाकर मंगलोर तक, अर्थात्, सम्पूर्ण उत्तरी व दक्षिणी कनारा, वीर-शैव-मत का भी सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र माना जा सकता है—वीर-शैव-मत का निरूपण वर्त्तमान कृति के पांचवें खण्ड में किया जायगा। रजतपीठ ग्राम जहां मध्व ने जन्म लिया था सम्भवतः आधुनिक कल्याणपुर ही था। वे अच्युतप्रेक्ष के शिष्य थे, और दीक्षा के समय उन्हें पूर्णप्रज्ञ नाम प्राप्त हुआ तथा तत्पश्चात् आनन्द-तीर्थ नाम मिला, वे इन दोनों नामों से प्रसिद्ध हैं। पहले तो उन्होंने शंकर के मत का अध्ययनकिया किन्तु शीघ्र ही अपना स्वयं का विचार-तंत्र विकसित किया जो शंकर के मत का स्पष्ट विरोधी था। उन्होंने अपने पूर्व केआचार्यों द्वारा लिखित इक्कीस 'भाष्यों' का खंडन किया, और नारायण भट्ट की 'मध्व विजय' के टीकाकार छलारि-नृसिंहाचार्य के शिष्य शेष 'ब्रह्मसूत्र' के इन टीकाकारों के नाम निम्नलिखित बताते हैं, भारती–विजय, संविदानन्द, ब्रह्मघोष, शतानन्द, वाग्भट्ट, विजय, रूद्रभट्ट, वामन, यादवप्रकाश, रामानुज, भर्तृप्रपंच, द्रविड़, ब्रह्मदत्त, भास्कर, पिशाच, वृत्तिकार, विजयभट्ट, विष्णु-कान्त, वादीन्द्र, माघवदेशक, शंकर। रजतपीठपुर तक में उन्होंने एक बार अपने गुरु अच्युतप्रेक्ष से मिलने के हेतु आये हुए शंकर-मत के एक महान् पंडित को हराया। फिर वे अच्युतप्रेक्ष के साथ दक्षिण में गये और विष्णु-मंगल नगर में पहुँचे।[1] यहाँ से वे दक्षिण दिशा को गये और अनन्तपुर (आधुनिक त्रिवेन्द्रम) पहुँचे। यहाँ उनका शृंगेरि मठ के शंकरानुयायियों से लम्बा शास्त्रार्थ हुआ। वहाँ से वे धनुष्कोटि एवं रामेश्वरम् गये, तथा विष्णु की उपासना की। उन्होंने राह में कई विरोधियों को परास्त किया तथा रामेश्वरम् में चार माह तक रहे, तत्पश्चात् उदिपि लौट आये। इस प्रकार दक्षिण में स्वयं को नवीन मत के नेता के रूप में स्थापित करके मध्व ने उत्तरी भारत का पर्यटन प्रारम्भ किया, और गंगा को पार करके हरिद्वार गये, तथा वहाँ से बदरिका गए, जहाँ उनकी व्यास से भेंट हुई। व्यास ने उन्हें शंकर के मिथ्या 'भाष्य' के खण्डनार्थ 'ब्रह्मसूत्र' पर एक भाष्य लिखने का आदेश दिया। फिर वे राह में कई शकरानुयायियों जैसे; गोदावरी के तीर पर निवास करने वाले शोभन भट्ट व अन्य लोगों का मत परिवर्तन करते हुए उदिपि लौट आए।[2] अन्त में उन्होंने अच्युतप्रेक्ष को अपने सिद्धान्तों के पक्ष में परिवर्तित कर लिया। 'मध्व-विजय' के ग्यारहवें और तेरहवें अध्याय में हम शृंगेरि मठ के अध्यक्ष मद्मतीर्थ द्वारा मध्व के उत्पीड़न की कहानी पढ़ते हैं, जिसने मध्व द्वारा प्रेरित नवीन मत की प्रगति में रोड़े अटकाने का भरकस प्रयत्न किया तथा मध्व के ग्रन्थों तक को चुरा लिया। किन्तु जो विष्णुमंगल के स्थानीय राजकुमार की मध्यस्थता के द्वारा उनको लौटा दिए गए, इस मत का प्रचार होता गया, और 'मणि-मंजरी' व 'मध्व-विजय' के लेखक नारायण भट्ट

[1] मध्व विजय अध्याय ५:३०।

[2] वही, अ० ११, १७।

के पिता त्रिविरम पंडित तथा अन्य कई महत्वपूर्ण व्यक्ति मध्व मत के पक्ष में परिवर्तित हो गए। जीवन के अंतिम वर्षों में मध्व ने पुन: उत्तर की तीर्थयात्रा की और वहां वे व्यास से फिर मिले बताते हैं, और अभी तक उन्हीं के साथ ठहरे हुए बताते हैं। वे उन्यासी वर्ष तक जीवित रहे बताते हैं और सम्भवत: शक ११९८ अथवा सन् १२७६ में परलोकवासी हुए। वे पूर्णप्रज्ञ, आनन्द-तीर्थ, नन्दीतीर्थ व वासुदेव आदि कई नामों से विख्यात थे।[1]

मध्व-दर्शन का निम्नलिखित निरूपण सन् १९३० में लिखा गया था, अतएव वर्त्तमान लेखक को कुछ समय पूर्व प्रकाशित श्री शर्मा की उत्तम कृति में डुबकी लगाने का अवसर नहीं मिल सका, क्योंकि उस समय वर्त्तमान कृति मुद्रण के लिए तैयार थी। पद्मानाभसुर के 'मध्व-सिद्धान्त-सार' में मध्व के सिद्धान्तों का संक्षिप्त निरूपण किया गया है। मध्व ने सैंतीस ग्रन्थ लिखे। उनकी गणना नीचे की गई है।[2]

---

[1] मध्व पर अंग्रेजी में कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। सबसे पूर्व का विवरण 'Account of the Madhva Gooroos' में मिलता है जिसे मेजर मैकेंजी ने २४ अगस्त १८०० में लिखा और जो 'Asiatic Annual Register' के सन् १८०४ (लंदन, १८०६) के अंक में पृ० ३३ पर 'Character' शीर्षक के अन्तर्गत छपा; एच० एच० विल्सन का लेख 'Sketch of the religious seats of the Hindus' जो 'Asiatic Researches लन्दन, १८६१ के खण्ड २५ व २७ के पृ० १३९ से फिर छापा गया; कृष्णस्वामी एय्यर का 'Sri Madhva and Madhvaism मद्रास; आर० जी० भण्डारकर का 'Vaisnavism, Saivicism and Minor Religious Systems' खण्ड २२, 'Dharwar' बम्बई, १८८४; जी० वेन्कोबा राव का 'A sketch of the History of the Madhva Acharyas जो 'Indian Antiquary' के खण्ड (१९१४) से छपना प्रारम्भ होता है, तथा सी० एम० पद्मनाभचार्य का 'Life of Madhvacharya' एस० सुब्बाराव के पास श्री मध्वाचार्य के 'ब्रह्मसूत्र' भाष्य का सम्पूर्ण अनुवाद है, यथा श्री मध्वाचार्य के 'भाष्य' के अनुसार टीका के सहित 'भगवद्गीता' का अंग्रेजी अनुवाद है। इस 'भगवद्गीता' के प्राक्कथन में परम्परानिष्ठ दृष्टि से मध्व का जीवन-वृत्तांत दिया गया है। पी० रामचन्द्र रूप का 'The Brahma Sutras' भी है जिसमें श्री मध्वाचार्य के भाष्य का अक्षरश: अनुवाद किया गया है (संस्कृत, कुम्बकोनम् १९०२); जी० ए० ग्रियर्सन का मध्व पर 'Encyclopaedia of Religion and Ethics' खण्ड ८ में बहुत रुचिपूर्ण लेख है; श्री नागराज शर्मा ने मध्व-दर्शन पर हाल ही में एक गम्भीर लेख प्रकाशित किया है।

[2] दे०—हेल्मश वॉन ग्लासनैप का 'Philosophie des Vishnu Glanbens', पृ० १३।

(१) 'ऋग्भाष्य' जो ऋग्वेद के अ० १:१–४० पर टीका है, (२) 'कर्म-निर्णय' जो 'ऐतरेय ब्राह्मण' अ० ४, १–४ 'ऐतरेय-आरण्यक' अ० ४:१ तथा उनमें उद्धृत वैदिक ऋचाओं के सम्यक् उच्चारण एवं क्रम के सम्बन्ध में विवेचन करता है, (३) 'ऐतरेय उपनिषद् भाष्य,' (६) 'तैत्तिरीय उपनिषद्,–भाष्य', (७) 'ईशावास्य-उपनिषद्-भाष्य', (८) 'काठक-उपनिषद्-भाष्य,' (९) 'मुण्डक-उपनिषद्-भाष्य,' (१०) 'मांडूक्य-उपनिषद्-भाष्य,' (११) 'प्रश्नोपनिषद् भाष्य,' (१२) 'कनोपनिषद् भाष्य,' (१३) 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय,' (१४) 'भगवद् गीता भाष्य,' (१५) 'भगवद्गीता-तात्पर्य-निर्णय,' (१६) 'भागवत्-तात्पर्य-निर्णय,' (१७) 'ब्रह्म सूत्र-भाष्य,' (१८) 'ब्रह्म सूत्रनुभाष्य,' (१९) ब्रह्म-सूत्रानुव्याख्यान,' (२०) 'ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान-निर्णय,' (२१) 'प्रमाण-लक्षण,' (२२) 'कथा-लक्षण,' (२३) 'उपाधि-खण्डन,' (२४) 'मायावाद खण्ड,' (२५) 'प्रपंच मिथ्यातानुमान-खण्डन,' (२६) 'तत्वोद्द्योत,' (२७) 'तत्व-विवेक,' (२८) 'तत्व-संस्थान,' (२९) 'विष्णु-तत्व-निर्णय,' (३०) 'तन्त्र-सार-संग्रह,' (३१) 'कृष्णामृत-महार्णव,' (३२) 'यति-प्रणव कल्प,' (३३) 'सदाचार-स्मृति,' (३४) 'जयन्ती-निर्णय', अथवा 'जयन्ती कल्प,' (३५) 'यमक-भारत,' (३६) 'नृसिंह-नख-स्तोत्र,' (३७) 'द्वादश-स्तोत्र'।

जयतीर्थ के 'ग्रन्थ-मलिका-स्तोत्र' में 'ब्रह्म-सूत्रानु-व्याख्यान-निर्णन' के स्थान पर 'सन्यास पद्धति' दिया गया है। आफ्रेट के 'The Catalogus Catalogurum' में आर० जी० भण्डारकर द्वारा की गई सन् १८८२–८३ में बम्बई प्रदेश में संस्कृत पाण्डुलिपियों की खोज के विवरण का उल्लेख आया है, तथा उसमें कई अन्य ग्रन्थों की गणना की गई है जो 'ग्रन्थ-मालिका-स्तोत्र' में नहीं गिनाये गये हैं। वे निम्नलिखित हैं–

'आत्मज्ञान-प्रदेश-टीका,' 'आत्मोपदेश टीका,' 'आर्य-स्तोत्र,' 'उपदेश-सहस्र-टीका,' 'उपनिषद्-प्रस्थान,' 'ऐतरोयोपनिषद्-भाष्य-टिप्पणी,' 'काठकोपनिषद्-भाष्य-टिप्पणी,' 'कैनोपनिषद्-भाष्य-टिप्पणी,' 'कौषीयक्युपनिषद् भाष्य-टिप्पनी,' 'खपुष्प-टीका,' 'गुरु-स्तुति,' 'गोविन्द-भाष्य-पीठक,' 'गोविन्दाष्टक-टीका,' 'गौड़पादीय-भाष्य-टीका,' 'छांदोग्योपनिषद्-भाष्य-टिप्पणी,' 'तैत्तिरीयोपनिषद्-भाष्य-भाष्य-टिप्पणी,' 'तैत्तिरीय-श्रुति-वार्त्तिक-टीका,' 'त्रिपुटी-प्रकरण-टीका,' 'नारायणोपनिषद्-भाष्य-टिप्पणी,' 'न्याय-विवरण,' 'पंचीकरण-प्रक्रिया-विवरण,' 'प्रश्नोपनिषद्-भाष्य-टिप्पणी,' 'बृहदारण्यक-वार्त्तिक-टीका,' 'बृहज्जाबालोपनिषद्-भाष्य,' बृहदारण्यक-भाष्य-टिप्पणी,' 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य-टीका,' 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य-निर्णय,' 'ब्रह्मा-नन्द,' 'भक्ति-रसायन,' 'भगवद्-गीता-प्रस्थान,' 'भगवद्गीता-भाष्य-विवेचन,' 'माण्डूक्योपनिषद्-भाष्य-टिप्पणी,' मित-भाषिणी,' 'रामोत्तर-तापनीय-भाष्य,' 'वाक्य-सुधा-टीका,' 'विष्णु-सहस्रनाम-भाष्य,' 'वेदान्त-वार्त्तिक,' 'शंकर-विजय,' 'शंकराचार्य-अवतार-कथा,' 'शतश्लोक-टीका,' 'संहितोपनिषद्-भाष्य,' 'संहितोपनिषद्-भाष्य-टिप्पणी, 'षट्-तत्व,' सदाचारस्तुति-स्तोत्र,' 'स्मृति-विवरण,' 'स्मृति-सार-समुच्चय,' 'स्वरूप-निर्णय-टीका,' 'हरिमीडेस्तोत्र-टीका।

मध्व गुरुओं की उत्तराधिकार-सूची

भण्डारकर सन् १८८२–३ में संस्कृत पाण्डुलिपियों की खोज में गुरुओं की मरण-तिथियों सहित उनके नाम देते हैं। इस प्रकार आनन्द तीर्थ या मध्व के उत्तराधिकारी शक ११२६ में पद्मनाम तीर्थ बने, तथा पद्मनाम तीर्थ के पश्चात् शक ११३५ में नरहरि तीर्थ बने, माध्व तीर्थ ११५२, अक्षोम्य तीर्थ ११६६, जय तीर्थ ११६०, विद्याधिराज तीर्थ १२५४, कवीन्द्र तीर्थ १२६१, कागीश तीर्थ १२६५, रामचन्द्र तीर्थ १२६८, विद्यानिधि तीर्थ १३०६, रघुनाथ तीर्थ १३६४, रघुवर्य तीर्थ १४१६, रघूत्तम तीर्थ १४५७, वेदव्यास तीर्थ १४८१, विद्याधीश तीर्थ १४६३, वेदनिधि तीर्थ १४६७, सत्यव्रत तीर्थ १५६०, सत्यनिधि तीर्थ १५८२, सत्यनाथ तीर्थ १५६५, सत्याभिवन तीर्थ १६२८, सत्यपूर्ण तीर्थ १६४८, सत्यविजय तीर्थ १६६१, सत्यबोध तीर्थ १७०५, सत्यसन्निधान तीर्थ १७१६, सत्यवर तीर्थ १७१६, सत्यधाम तीर्थ १७५२, सत्यसार तीर्थ १७६३, सत्यपरायण तीर्थ १७८५, सत्यकाम तीर्थ १७६३, सत्येष्टि तीर्थ १७६४, सत्यप्रियपरायण तीर्थ १८०१; सत्यचित् तीर्थ १८८२ में जब 'Search for Sanskrit Mss.' (संस्कृत पाण्डुलिपियों की खोज) ग्रन्थ लिखा जा रहा था, जीवित थे। इस प्रकार मध्व (शक ११६८) से लेकर सत्यवित तीर्थ (जो शक १८०४ अथवा सन् १८८२ में जीवित थे) तक पैंतीस गुरुओं की सूची हमारे सम्मुख उपस्थित है। यह सूची वेलगाँव और पूना में प्राप्त दो सूचियों के अनुसार बनाई गई थी। यह सूची बलदेव द्वारा रचित 'ब्रह्म सूत्र' भाष्य के प्राक्कथन में दी गई सूची से भिन्न है। बलदेव निम्नलिखित सूची में देते हैं :

मध्व, पद्मनाम, नृहरि, माधव, अक्षोम्य, जयतीर्थ, ज्ञानसिंह, दयानिधि, विद्यानिधि, राजेन्द्र, जयधर्म, पुरुषोत्तमतीर्थ, ब्रह्माण्डतीर्थ, व्यासतीर्थ, लक्ष्मीपति, माधवेन्द्र, ईश्वर। ईश्वर चैतन्य के गुरु थे। हम देखते हैं कि बलदेव द्वारा दी गई सूची जयतीर्थ तक सही है, लेकिन जयतीर्थ के पश्चात् बलदेव द्वारा दी गई सूची वेलगाँव एवं पूना के मध्व-मठों से प्राप्त दो सूचियों से पूर्णतः असंगत है। इन परिस्थितियों में हम बलदेव द्वारा दी गई गुरुओं की सूची को स्वीकार करने में असमर्थ हैं—उसमें कई अन्य असंगतियाँ भी हैं जिनके विस्तार में जाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है।

मध्व की महत्वपूर्ण कृतियाँ

'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' : मध्व की यह रचना बत्तीस अध्यायों की है तथा छन्दबद्ध है। प्रथम अध्याय में मध्व अपने मत के अति संक्षिप्त सारांश से प्रारम्भ होते हैं। उसमें उनका कथन है कि चार वेद, 'पंचरात्र,' 'महाभारत,' 'मौलिक रामायण' व 'ब्रह्मसूत्र' ही केवल प्रामाणिक श्रुति मूल-पाठ हैं, तथा जो कुछ भी उनके विरोध में

है वह असत्य माना जाना चाहिये। 'वैष्णव पुराण' मुख्यतः 'पंचरात्र' के स्पष्टीकरण मात्र होने के कारण सत्य शास्त्र माने जाने चाहिये। मनु तथा अन्य लोगों द्वारा रचित 'स्मृति'-साहित्य उसी सीमा तक सत्य है जहां तक वह वेदों, 'महाभारत' 'पंचरात्र' तथा 'विष्णु पुराण' के उपदेशों के विरोध में न हो।[1] बौद्ध दर्शन जैसे अन्य शास्त्र विष्णु ने असुरों को भ्रान्ति में डालने के हेतु से रचे, तथा शिव ने भी विष्णु के आदेश से 'शैव शास्त्र' की रचना इसी हेतु से की। ये सब शास्त्र जो इस जीवन में अथवा मुक्ति के समय आत्मन् और ब्रह्मन् के तादात्म्य का कथन करते हैं असत्य हैं। विष्णु ही सच्चे भगवान हैं। जगत् का प्रवाह यथार्थ है, और वह जीव एवं ईश्वर, जीव एवं जीव, जड़ एवं ईश्वर, जड़ एवं जड़, तथा जड़ एवं जीव के पंचभेदों से समन्वित है।[2] केवल देवता गण और श्रेष्ठ मानव ज्ञान एवं ईश्वरानुग्रह के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं, साधारण मानव जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र में भटकते रहते हैं, और निकृष्ट लोग नर्क से अभिशापित होते हैं। दानवों को तथा नित्य मुक्त जीवों को जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र में आवागमन नहीं करना पड़ता। दानव किसी भी परिस्थिति में मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकते। अतः शाश्वत अभिशाप का सिद्धान्त केवल मध्व ने ही प्रतिपादित किया है, अन्य किसी भारतीय दर्शन-तंत्र से नहीं। मानव जब ईश्वर को सर्व शुभ गुणों से सम्पन्न तथा आनन्दमय एवं सर्वज्ञ मानकर उसकी उपासना करता है तब वह मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। मोक्ष की अवस्था में भी जीवों में परस्पर व्यक्तिगत भेद विद्यमान रहते हैं तथा ईश्वर की पूर्ण एवं निष्काम भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है। 'भक्ति' के द्वारा ही मोक्ष सम्भव है, मुक्त जीव भी भक्ति के द्वारा सुख के चिरन्तन प्रवाह का उपभोग करते हैं, भक्ति को यहां

---

[1] ऋग-आदयश्चत्वारः पंचरात्रं च भारतं
मूल-रामायणं ब्रह्म-सूत्रम् मानं स्वतः स्मृतम्।

—महाभारत-तात्पर्य-निर्णय, १:३०।

अविरुद्धं तु यत् तु अस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा
एतद्-विरुद्धं यत् तु स्यात् न तत् मानं कथंचन
वैष्णवानि पुराणानि पांचरात्रात्मकत्वतः

प्रमाणान्येवम् मान्वाद्याः स्मृतयोप्यनुकूलतः। —वही, १:३१–३२।

[2] जगतः प्रवाहः सत्योऽयं पंच-भेद-समन्वितः
जीवेशयोर् भिदा चैव जीव-भेदः परस्परम्
जड़ेशयोर् जड़ानां च जड़–जीव–भिदा तथा
पंच भेदा इमे नित्याः सर्वावस्थासु नित्यशः
मुक्तानां च न हीयन्ते तारतम्यं च सर्वदा। —वही, अ० १:६९–७१।

यह परिभाषा दी गई है कि वह उपासना के विषय की महानता की पूर्ण चेतना से युक्त भावना है,[1] तथा उसे सार्वभौम समाधान माना जाता है। समस्त धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन भी एक व्यक्ति को नर्क से नहीं बचा सकता, किन्तु 'भक्ति' एक मनुष्य को निकृष्ट पाप करने पर भी बचा सकती है। 'भक्ति' के बिना श्रेष्ठ धार्मिक कृत्य भी पाप में परिणत हो जाते हैं, किन्तु भक्ति से निकृष्ट पाप भी एक मनुष्य को प्रभावित नहीं करते। ईश्वर केवल 'भक्ति' से प्रसन्न होता है किसी अन्य बात से नहीं, तथा केवल वही मोक्ष प्रदान कर सकता है।

द्वितीय अध्याय में मध्व कहते हैं कि 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' में उन्होंने 'महाभारत' के मुख्य उपदेशों का सारांश देने का प्रयत्न किया है, और 'महाभारत' का मूल-पाठ उनके समय में सर्वथा दूषित हो गया है, तथा 'महाभारत' स्वयं में तो कठिन है ही, लेकिन इन दूषित मूल-पाठों के कारण उसके मूल तक पहुँचना और भी अधिक कठिन हो गया है। उनका आगे कथन है कि सही मूलपाठ को प्राप्त करने के लिए उन्होंने 'महाभारत' के मूल-पाठ कई देशों से उपलब्ध किये, तथा इन विभिन्न मूलपाठों की तुलना करके ही उन्होंने अन्य शास्त्रों एवं वेदों के उपदेशों के अनुरूप 'महाभारत' के प्रमुख उपदेशों का निरूपण करने का प्रयत्न किया है।[2] मध्व के अनुसार 'महाभारत' एक अन्योक्ति है जिसमें शुभ और अशुभ का संघर्ष बताया गया है, शुभ का प्रतिनिधित्व पाण्डव करते हैं, तथा अशुभ का प्रतिनिधित्व धृतराष्ट्र के पुत्र करते हैं। मध्व 'महाभारत' में दी गई कथा के क्रम का अनुसरण नहीं करते, वे कई संयोगात्मक कथानकों को छोड़ देते हैं, तथा 'पुराणों' एवं 'रामायण' से चुने हुए कथानकों को कथा में जोड़ देते हैं। इस प्रकार वे 'रामायण' के सारांश तथा 'भागवत पुराण' में दी गई कृष्ण की कथा को 'महाभारत' का अंग मानकर प्रस्तुत करते हैं। सामान्य कथा के निरूपण में भी वे भीम एवं अर्जुन की अति-श्रेष्ठता पर बल देते हैं।

मध्य की इस कृति पर कई टीकाएँ की गई हैं, अर्थात् जनार्दन भट्ट द्वारा लिखी गई 'पदार्थ-दीपिका,' वरदराज द्वारा लिखित 'महा-सुबोधिनी' अथवा 'प्रकाश,' वादिराज स्वामी की टीका, विठ्लाचार्य सूनु की टीका, व्यास तीर्थ की टीका, सत्याभिनव यति द्वारा लिखित 'दुर्घटार्थ-प्रकाशिका, 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय व्याख्या' (जिसे 'पदार्थ-

---

[1] भवत्यर्थान्यखिलान्येव भक्तिर् मोक्षाया केवला
मुक्तानाम् अपि भक्तिर् हि नित्यानंद-स्व-रूपिणी
ज्ञान-पूर्व-पर-स्नेहो नित्यें भक्तिर् इतीर्यते।'
—महाभारत-तात्पर्य-निर्णय, १, १०६-७।

[2] शास्त्रान्तराणि संजानन् वेदांश्चास्य प्रसादतः
देशेदेशे तथा ग्रन्थान् दृष्ट्वा चैव पृथग्विधान्। —वही, अध्याय २:७।

दीपिका' भी कहते हैं), श्रीनिवास की 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या' (जिसे 'भाव-चंद्रिका' भी कहते हैं), और 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णयानुक्रमणिका' जो पद्य में सामान्य सारांश देने वाली एक छोटी सी रचना है। अन्य टीकाएँ कृष्णाचार्य, लक्ष्मणसिंह तथा जयखण्डितसिंह द्वारा लिखी गई हैं।

'भागवत-तात्पर्य-निर्णय' में मध्व 'भागवत पुराण' के बारह 'स्कन्धों' से कुछ महत्वपूर्ण श्लोकों का चयन करते हैं, और प्रत्येक 'स्कन्ध' के चुने हुए अध्यायों में से चुने हुए श्लोकों की टिप्पणियों को जोड़ देते हैं। इनमें नैरंतर्य नहीं है, और कई अध्याय पूर्णतः छोड़ दिए गए हैं, वे संक्षिप्त भी हैं, तथा इस ढंग से रखे गए हैं कि मध्व का द्वैतवादी मत 'भागवत' की सत्य व्याख्या प्रतीत हो। वे कभी-कभी अपने मत की पुष्टि अन्य पुराणों के निर्देशन द्वारा करते हैं, और अन्न में 'भागवत' की सत्य व्याख्या प्रतीत हो। वे कभी-कभी अपने मत की पुष्टि अन्य पुराणों के निर्देशन द्वारा करते हैं, और अन्त में 'भागवत' के सच्चे मत के रूप में अपने मत का संक्षिप्त सारांश देते हैं। 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय' पर विभिन्न लेखकों ने टीकाएँ लिखी हैं, इनमें से कुछ टीकाएँ हैं–'भागवत-तात्पर्य-व्याख्या' (जिसे 'तात्पर्य-बोधिनी' भी कहते हैं), 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या-विवरण,' 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या-प्रबोधिनी,' 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या-पद्य-रत्नावली,' 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या-प्रकाश' (श्रीनिवास लिखित गद्य में एक छोटी रचना), तथा जदुपति, चलारि और वेद-गर्भनारायणाचार्य की 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय-टीका'।

मध्व की 'गीता-तात्पर्य' गद्य एवं पद्य में लिखी गई रचना है, जिसमें मध्व के मत के अनुसार 'गीता' का सार-तत्व दिया गया है। यह 'गीता' के अठारह अध्यायों का क्रमिक सारांश है। इस सारांश में प्रायः 'गीता' से श्लोक उद्धृत किये गये हैं जिनके बीच बीच में क्रम-बद्धता लाने के लिए लघु गद्य मूल-पाठ दिये गये हैं, जो कहीं तो व्याख्यात्मक है, कहीं मध्व की व्याख्या की पुष्टि में दिये गये 'पौराणिक' तथा अन्य मूलपाठों का निर्देश करते हैं, और कहीं 'गीता' के श्लोकों के प्रसंग एवं प्रयोजन से परिचय कराते हैं–वे कहीं-कहीं शंकर द्वारा दी गई 'गीता' की अद्वैतवादी व्याख्या के विरोध में गद्य में विवेचन का उपक्रम भी करते हैं। 'तात्पर्य' लगभग १४५० 'ग्रन्थों' की रचना है, जिस पर प्रसिद्ध मध्व लेखक जयतीर्थ ने टीका लिखी है, इस टीका का नाम 'भगवद्-गीता-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या' अथवा 'न्याय-दीपिका' है। इस 'न्याय-दीपिका' पर 'तात्पर्य-दीपिका-व्याख्या न्याय-दीप-किरणावली' नामक टीका विठल-सुत-श्रीनिवासाचार्य अथवा ताम्रपर्णी-श्रीनिवासाचार्य ने लिखी। 'भगवद्गीता-तात्पर्य' पर कम से कम दो अन्य टीकाएँ भी लिखी गई–पद्मनाभतीर्थ द्वारा 'तात्पर्य टिप्पनी' तथा सत्यप्रज्ञ-भिक्षु द्वारा 'न्याय-दीप-भाव-प्रकाश'। इसके अतिरिक्त मध्व ने 'गीता-भाष्य' नामक रचना भी लिखी जिसमें वे महत्वपूर्ण 'श्लोक' अध्याय-क्रम से लेते हैं और उन पर टीका करते समय कई

विवादास्पद महत्वपूर्ण समस्याओं की विवेचना करते हैं। इस प्रकार कुमारिल का अनुसरण करते हुए वे कहते हैं कि 'शास्त्र' 'अपरिज्ञेय' (अनुभवातीत उद्गम के) होने के कारण पूर्णतः सत्य हैं। 'कर्मों' के अनुष्ठान के सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'कर्म' फल की इच्छा किये बिना इसलिए करते हैं कि 'शास्त्र' ऐसा करने का आदेश देते हैं। केवल अधिकाधिक ज्ञान और बढ़ती हुई 'भक्ति' की इच्छाएँ ही ऐसी इच्छाएँ हैं जिनका परित्याग नहीं करना चाहिये, यदि 'कर्मों' से किसी फल की उत्पत्ति न हो तो भी कम से कम उनसे ईश्वर को संतोष होगा क्योंकि 'शास्त्रों' के आदेशों का पालन करके व्यक्ति ने ईश्वर के आदेशों का पालन किया है। वे शंकर के अद्वैतमत का भी खण्डन करते हैं तथा कहते हैं कि यदि ईश्वर मानव में प्रतिबिम्बित हो तो इस आधार पर प्रतिबिम्ब को मूल ईश्वर से एक रूप नहीं माना जा सकता। तथाकथित 'उपाधि' के कारण ब्रह्मन् और जीव में भेद बना रहता है। यह कहना भी सही नहीं है कि जिस प्रकार जल का जल में मिश्रण हो जाता है उसी प्रकार मोक्ष के समय जीव का ईश्वर में लय हो जाता है, क्योंकि जब जल का जल में मिश्रण होता है तब भेद उत्पन्न हो जाता है–इसी भेद के द्वारा हम जल के अधिक संचयन की व्याख्या कर सकते हैं। अतः मोक्ष की अवस्था में जीव केवल ईश्वर के निकट आ जाता है, किन्तु कभी अपने व्यक्तित्व को नहीं खोता। 'मोक्ष' की अवस्था सबसे वांछनीय अवस्था है क्योंकि उसमें व्यक्ति समस्त शोक-पूर्ण अनुभवों से मुक्त हो जाता है, तथा उसमें कोई इच्छा शेष नहीं रहती। मोक्ष की अवस्था विभिन्न जीवों के व्यक्तित्व के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। मोक्ष की अवस्था में सामान्य तत्व यह है कि किसी भी मुक्त व्यक्ति को कोई दुःखमय अनुभव नहीं भोगना पड़ता। मध्व यह सिद्ध करने के लिये भी बहुत परिश्रम करते हैं कि 'नारायण' अथवा 'विष्णु' महानतम या उच्चतम ईश्वर है। तीसरे अध्याय का निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि इस अनादि जगत में एक कर्म भी अनेक जन्मों को उत्पन्न कर सकता है, तथा 'कर्मों' का संचित भण्डार किसी व्यक्ति को कभी भी अपने पूर्ण फल प्रदान नहीं कर पाता, अतः यदि कोई व्यक्ति 'धर्म' करे तो भी अपने पूर्व 'कर्मों' के कारण भाग्य में लिखे फलों से नहीं बच सकता, फलस्वरूप 'कर्म' के परित्याग से कोई लाभ नहीं हो सकता। हेतु अथवा इच्छा से रहित 'कर्म' ही ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करता है, तथा मोक्ष की ओर ले जाता है, अतः 'कर्म' के न करने मात्र से भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। मध्व इस धारणा का खण्डन करते हैं कि तीर्थ-स्थानों में मरने से मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है, क्योंकि यह तो ब्रह्म-ज्ञान द्वारा ही सम्भव हो सकता है। एक व्यक्ति को अपने 'संस्कारों' के बल से 'कर्म' करने पड़ते हैं। अतः अधिक विस्तार से यह बताना आवश्यक नहीं है कि इस ढंग से मध्व 'गीता' की व्याख्या अपने मत की पुष्टि के लिये करते हैं और वे प्रायः यह प्रदर्शित करने का भी प्रयत्न करते हैं कि उनके द्वारा प्रतिपादित मत अन्य 'पुराणों' एवं उपनिषदों के उपदेशों के अनुरूप हैं। मध्व की 'गीता' की व्याख्या पर अनेक

रचनाएँ हैं, राघवेन्द्र की 'गीतार्थ-संग्रह' राघवेन्द्र यति की 'गीता-विवृत्ति' विद्याधिराज भट्टोपाध्याय की 'गीता-विवृत्ति,' तथा जयतीर्थ की 'प्रमेय-दीपिका' जिस पर 'भाव-प्रकाश' नामक एक अन्य टीका है। मध्व ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' नामक एक अन्य टीका लिखी। यह लगभग २५०० ग्रन्थों की एक छोटी रचना है, तथा टीका संक्षिप्त एवं संकेतात्मक है।[1] उन्होंने 'अनुभाष्य' नामक एक अन्य रचना भी लिखी जो 'ब्रह्मसूत्र' के प्रमुख विषयों एवं अभिप्राय का संक्षिप्त सारांश है। इस पर भी जयतीर्थ, अनन्त भट्ट, चलारि-नृसिंह, राघवेन्द्रतीर्थ और शेषाचार्य ने टीकाएँ लिखी है। आनन्दतीर्थ के 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' पर 'तत्व प्रकाशिका' नामक जयतीर्थ द्वारा लिखी गई एक टीका है। इस पर भी अनेक टीकाएँ हैं : रघूत्तम यति की 'तात्पर्य-प्रकाशिका-भाव-बोध' व 'तात्पर्य-प्रकाशिका गत-न्याय-विवरण,' राघवेन्द्र यति की 'भाव-दीपिका,' व्यासतीर्थ की 'तात्पर्य-चन्द्रिका' जिस पर टीकाएँ हुई, अर्थात् केशव यति की 'तात्पर्य-चन्द्रिका-प्रकाश,' तिम्मनाचार्य (अथवा तिम्मपुर-रघुनाथाचार्य) की 'तात्पर्य-चंद्रिका-न्याय-विवरण,' और 'तात्पर्य-चंद्रिकोदाहरण-न्याय-विवरण। इसके अतिरिक्त 'तत्व-प्रकाशिका' पर अन्य टीकाएँ लिखी गई, सत्यनाथ यति की 'अभिनव चंद्रिका,' श्रीनिवास की 'तत्व-प्रकाशिका-व्याख्यार्थ-मंजरी' तथा 'वाक्यार्थ-मुक्तावली'। 'तात्पर्य-चंद्रिका' पर गुरुराज ने अन्य टीका लिखी तथा 'तत्व-प्रकाशिका' पर 'तंत्र-दीपिका' लिखी गई। मध्व के 'भाष्य' पर जगन्नाथ यति (भाष्य-दीपिका), विठ्लसुत-श्रीनिवास ('भाष्य-टिप्पणी-प्रमेय-मुक्तावली') वादिराज (गुर्वर्थ-दीपिका), ताम्रपर्णी श्रीनिवास और सुमतीन्द्र-तीर्थ द्वारा टीकाएँ लिखी गई। 'ब्रह्मसूत्र-भाष्यार्थ-संग्रह' तथा ब्रह्मसूत्रार्थ' नामक दो अन्य टीकाएँ भी हैं। मध्व के 'अनुभाष्य' पर नृसिंह, जयतीर्थ, अनन्त भट्ट, चलारि नृसिंह, राघवेन्द्रतीर्थ और शेषाचार्य ने टीकाएँ लिखी। मध्व ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'अनुव्याख्यान' नामक एक और रचना लिखी। इस पर जयतीर्थ ने अपनी 'पंजिका' व 'न्याय-सुधा' में टीका की, तथा जदुपति और श्रीनिवास ने भी टीकाएँ लिखी। इस पर 'ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान-न्याय-सम्बन्ध-दीपिका' नामक एक अन्य टीका भी है। इनमें से जयतीर्थ की 'न्याय-सुधा' बहुत उत्तम, अति विद्वत्तापूर्ण रचना है। 'अनुव्याख्यान' पर रघूत्तम ने अपने 'न्याय-सूत्र-प्रदीप' और 'अनुव्याख्यान-टीका' में टीका की है। 'न्याय-सुधा' पर भी कई लेखकों ने टीकाएँ लिखी। ये टीकाएँ श्रीनिवासतीर्थ, जदुपति, विठ्लसुतानन्दतीर्थ, केशव भट्ट ('शेष व्याख्यार्थ-चंद्रिका') रामचन्द्रतीर्थ, कुण्डलगिरिसूरि, विद्याधीश, तिम्मन्नार्य, वादिराज और राघवेन्द्र यति द्वारा लिखी गई। श्रीपदराज ने 'न्यायसुधोपन्यास' नामक टीका लिखी 'अनुव्याख्यान' छोटी सी पद्य-बद्ध रचना है जिसमें 'ब्रह्मसूत्र' की मुख्य तार्किक स्थिति का अध्याय-क्रम से अनुसरण किया गया है। मध्व का कथन है कि अपनी व्याख्या में उन्होंने वेदों के

[1] बत्तीस अक्षरों का छंद एक 'ग्रन्थ' कहलाता है।

विश्वसनीय श्रुति-पाठों एवं तार्किक युक्तियों का अनुसरण किया है।[1] वे प्राक्कथन में आगे कहते हैं कि यद्यपि वे 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखे जा चुके हैं तथापि अपने मत को उचित रूप से स्पष्ट करने के हेतु से वे 'अनुव्याख्यान' लिख रहे हैं। प्रथम अध्याय में वे कहते हैं कि ब्रह्मन् को निर्दिष्ट करने वाला 'ओम्कार' जो गायत्री का अभिप्राय है वही सब वेदों का अभिप्राय है, तथा हमें उसे ज्ञात करना चाहिये। जो ब्रह्मन् को जानने का प्रयत्न करते हैं वे अपने इस प्रयास से ईश्वर को प्रसन्न कर लेते हैं, और उसके अनुग्रह से मुक्त हो जाते हैं। समस्त वस्तुओं, क्रियाओं, काल, चरित्र और जीवों का अस्तित्व ईश्वर पर अवलम्बित है, तथा उसकी इच्छा से उनका अस्तित्व मिट सकता है। ईश्वर अज्ञानी को ज्ञान प्रदान करता है तथा ज्ञानी को मोक्ष प्रदान करता है। मुक्त व्यक्ति के सर्व आनन्द का उद्गम स्वयं ईश्वर ही है। सर्व बन्धन यथार्थ है क्योंकि उसका यथार्थ प्रत्यक्ष किया जाता है, कोई ऐसा साधन नहीं है जिसके द्वारा बंधन को मिथ्या सिद्ध किया जा सके, क्योंकि यदि उसके मिथ्यात्व के पक्ष में कोई प्रमाण सम्भव है तो उनका अस्तित्व होना चाहिये, और उनके अस्तित्व से अद्वैत-मत नष्ट हो जायगा। केवल एक सत्ता स्वयं को प्रमाण एवं प्रमाण के विषय में विभक्त नहीं कर सकती। अतः समस्त अनुभवों को यथार्थ मानना चाहिये। जो वस्तु व्यवहार के अनुरूप हो, उसे यथार्थ मानना चाहिये। अद्वैतवादी कहते हैं कि सत्ता तीन प्रकार की होती है, किन्तु वे उसके लिये कोई प्रमाण नहीं दे सकते। यदि जगत् वास्तव में असत् होता तो वह किसी के हितों को हानि कैसे पहुँचाता? हम ब्रह्मन् को ही एक-मात्र शुद्ध 'सत्ता' नहीं मान सकते, तथा जगताभास को मिथ्या नहीं मान सकते, क्योंकि उसका अनुभव में कभी निषेध नहीं किया जा सकता। यदि इस जगत् को विशुद्ध असत् अथवा अनस्तित्व से भिन्न जानना चाहिये, तो 'असत्' को भी ज्ञात करना पड़ेगा, किन्तु 'असत्' का एक उदाहरण है, अर्थात भ्रम एक वस्तु का ऐसा आभास है जो वह स्वयं में नहीं है। किन्तु इसका तात्पर्य यह होगा कि आभास एक ऐसी सत्ता का होता है जिसका अस्तित्व नहीं है तथा जिसकी परिभाषा देना भी सम्भव नहीं है। किन्तु ऐसी स्थिति 'दुष्ट अनन्त' को उत्पन्न करती है, क्योंकि अनेक सत्ताओं के अस्तित्व को एक अन्य सत्ता पर निर्भर करना पड़ता है, तथा इस सत्ता को किसी अन्य पर निर्भर करना पड़ेगा, इत्यादि। किसी वस्तु का अस्तित्व उस पर निर्भर करता है जिसका निषेध न हो, और उसके निषेध का न होना किसी अन्य अनुभव पर निर्भर करता है, इत्यादि। साथ ही, यदि शुद्ध भेद-रहित सत्ता स्वयं प्रकाश है, तो वह 'अज्ञान' से कैसे आवृत्त हो सकती है? फिर, जब तक 'अज्ञान' के अस्तित्व को सिद्ध करना सम्भव नहीं है, तब तक मिथ्यात्व के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

---

[1] आप्त-वाक्यतया तेन श्रुति-मूलतया तथा
युक्ति-मूलतया चैव प्रामाण्यं त्रिविधं महत्। अनुव्याख्यान, १:१।

किन्तु 'अनुव्याख्यान' के सम्पूर्ण तर्क को देना यहाँ आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसका अन्य रूपों में तब विवेचन किया जायगा जब 'अद्वैत-सिद्धि' के विरोध में व्यासतीर्थ द्वारा 'न्याय-मंजरी' में दी गई युक्तियों का उल्लेख आयगा।

मध्व ने 'प्रमाण-लक्षण,' 'कथा-लक्षण,' मिथ्यात्वानुमान-खंडन,' 'उपाधि-खंडन,' 'मायावाद खंडन,' 'तत्व संख्यान,' 'तत्वोद्योत,' 'तत्व विवेक,' विष्णु-तत्व-निर्णय,' 'कर्म-निर्णय' की भी रचना की।[1] 'प्रमाण-लक्षण' पर कई टीकाएँ लिखी गई हैं: जयतीर्थ द्वारा 'न्याय-कल्प-लता,' केशवतीर्थ, पाण्डुरंग, पद्मरामतीर्थ और चण्डकेशव द्वारा 'सन्नास-दीपिका' व अन्य टीकाएँ। जयतीर्थ की 'न्याय कल्प-लता' १४५० 'ग्रन्थों' की रचना है, उस पर दो अन्य लेखकों द्वारा 'न्याय-कल्प-लता-व्याख्या' नामक एक टीका लिखी गई है। उनमें से एक तो विद्याधीश यति के शिष्य हैं, किन्तु दूसरी टीका का लेखक अज्ञात है। चण्डकेशवाचार्य द्वारा 'प्रबोधिनी' और 'न्याय-मंजरी' दो अन्य टीकाएँ भी हैं। मध्व तर्क से सम्बन्धित अन्य रचनाएँ हैं—राघवेन्द्र यति की 'न्याय-मुक्तावली,' विजयीन्द्र की 'न्याय-मौक्तिका-माला' और वादिराज की 'न्याय-रत्नावली'। स्वय जयतीर्थ ने 'प्रमाण-पद्धति' नामक रचना लिखी जिस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई (आनन्द भट्ट, वेदेश भिक्षु, विजयीन्द्र, विठ्ठल भट्ट, सत्यनाथ यति, नृसिंहतीर्थ, राघवेन्द्रतीर्थ, नारायण भट्ट, जनार्दन भट्ट द्वारा तथा 'भाव-दीपिका' व 'पदार्थ-चंद्रिका' को अन्य अज्ञात लेखकों द्वारा)। मध्व के 'कथा लक्षण' पर पद्मनाभतीर्थ, केशव भट्टारक और जयतीर्थ द्वारा टीकाएँ लिखी गई। मध्व के 'मिथ्यात्वानुमान-खंडन' पर जयतीर्थ द्वारा कम से कम चार टीकाएँ रची गई, जिनमें से चौथी 'मन्दार-मंजरी' है। 'उपाधि-खंडन' पर कम से कम तीन टीकाएँ जयतीर्थ, अनन्त भट्ट और श्रीनिवासतीर्थ द्वारा लिखी गई। श्रीनिवासतीर्थ एवं पद्मनाभतीर्थ दोनों ने जयतीर्थ की 'उपाधि खंडन-व्याख्या-विवरण' नामक टीका पर टीकाएँ लिखीं। मध्व के 'मायावाद-खंडन' पर जयतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, केशवमिश्र, अनन्त भट्ट और पद्मनाभतीर्थ द्वारा टीकाएँ लिखी गई। मध्व के 'तत्व संख्यान' पर जयतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, अनन्त भट्ट, वेंकटाद्रिसूरि, सत्यप्रज्ञयति, सत्यप्रज्ञतीर्थ, मौद्गल-नृसिंहाचार्य, तिम्मन्नाचार्य, गुरुराज और यदुपति द्वारा टीकाएँ लिखी गई। जयतीर्थ की टीका 'तत्व-संख्यान-विवरण' पर सत्यधर्म-यति द्वारा टीका लिखी गई (सत्य-धर्म-टिप्पन)। मध्व के 'तत्वोद्योत' पर जयतीर्थ, यदुपति, वेदेशभिक्षु, पद्मनाभतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, नरपण्डित, राघवेन्द्रतीर्थ, विजयीन्द्र, गुरुराज (अथवा केशव भट्टारक) द्वारा टीकाएँ लिखी गई। मध्व के 'तत्व-विवेक' पर जयतीर्थ, अनन्त भट्ट और श्रीनिवासतीर्थ द्वारा टीकाएँ लिखी गई।

---

[1] मध्व की ये दस रचनाएँ 'दश-प्रकरण' कहलाती हैं। किन्तु कभी-कभी मिथ्यात्वानुमान के स्थान पर 'ऋग्वेद-ब्रह्म-पंचिका' की गणना की जाती है।

'कथा-लक्षण' में मध्व विभिन्न प्रकार के सुसंवाद ('वाद') के स्वरूप का मूल्यांकन देते हैं तथा कुसंवाद (वितंडा) से उनका अन्तर स्पष्ट करते हैं। 'वाद' एक ऐसा संवाद है जो विभिन्न समस्याओं के स्पष्टीकरण के लिये गुरु और शिष्य के मध्य किया जाता है, अथवा तर्क द्वारा सत्य की खोज में अभिरुचि रखने वाले दो या अधिक शिष्यों के मध्य किया जाता है, किन्तु जब यह संवाद अहंकार अथवा प्रतिस्पर्धा की भावना से विवाद में विजय प्राप्त करने के लिये अथवा प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिये किया जाता है, तब वह 'जल्प' कहलाता है। कुसंवाद अथवा 'वितंडा' में सत्य मतों की अविश्वसनीयता सिद्ध करने के उद्देश्य से छलपूर्ण युक्तियों का प्रयोग किया जाता है। एक संवाद में एक या अधिक सभापति ('प्रश्निक') हो सकते हैं, किन्तु ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को पूर्णतः पक्षपात-रहित होना चाहिये। सभी संवाद श्रुति-पाठों पर सम्यक् रूप से आधारित होने चाहिये तथा उन पाठों की छलपूर्ण युक्ति द्वारा व्याख्या नहीं की जानी चाहिये।[1] मध्व की 'कथा लक्षण' 'ब्रह्मतर्क' नामक रचना पर आधारित प्रतीत होती है। न्याय दर्शन के अनुसार 'वाद,' 'जल्प' और 'वितण्डा' के स्वरूप का निरूपण इस कृति के प्रथम भाग में किया जा चुका है।[2]

'तत्व संख्यान' ग्यारह श्लोकों की एक लघु पुस्तिका है जिसमें मध्व मत के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का विवरण दिया गया है। इस प्रकार उसका कथन है कि दो तत्व हैं–स्वतंत्र और परतंत्र, केवल विष्णु ही स्वतंत्र है। परतंत्र तत्व दो प्रकार के हैं–भाव और अभाव। अभाव अथवा निषेध तीन प्रकार का होता है–उत्पन्न होने के पूर्व अभाव (प्रागभाव), विध्वंस के द्वारा अभाव (विध्वंसाभाव), तथा सार्वभौम अभाव (अत्यंताभाव)। फिर भाव-तत्व चेतन और जड़ होते हैं। चेतन सत्ताएँ पुनः दो प्रकार की होती हैं–वे जो दुःख के सम्पर्क में हैं, तथा वे जो दुःखों के सम्पर्क में नहीं हैं। जो दुःखों के सम्पर्क में हैं वे पुनः दो प्रकार की होती हैं, अर्थात् जो मुक्त हैं, तथा जो दुःख में हैं। जो दुःख में हैं वे पुनः दो प्रकार की होती हैं, अर्थात् वे जो मोक्ष के योग्य हैं, तथा जो मोक्ष के योग्य नहीं हैं। अन्य चेतन सत्ताएँ ऐसी हैं जो किसी भी काल में मोक्ष के योग्य नहीं होती। निकृष्ट मनुष्य, दानव, 'राक्षस' और 'पिशाच' किसी भी काल में मोक्ष के योग्य नहीं होते। इनके दो प्रकार होते हैं अर्थात् वे जो 'संसार' पथ पर चल रहे हैं किन्तु नर्क के भागी हैं। जड़ सत्ताएँ पुनः तीन प्रकार की होती हैं,

---

[1] श्री नागराज शर्मा ने अपने 'Reign of reactism' में टीकाकार जयतीर्थ, राघवेन्द्र स्वामी और वेदेशतीर्थ द्वारा दी गई सामग्री की सहायता लेकर 'कथालक्षण' की विषय-वस्तु का सारांश दिया है।

[2] 'कथा' के स्वरूप एवं शास्त्रार्थ की अवस्थाओं सम्बन्धी विषय पर देखिये 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' पृ० २०, बनारस १९१४।

नित्य, अनित्य तथा अंशतः नित्य एवं अंशतः अनित्य। केवल दो ही नित्य हैं। 'पुराणों' का पवित्र साहित्य काल और 'प्रकृति' नित्य एवं अनित्य दोनों हैं, क्योंकि स्वरूप में 'पुराण' काल व 'प्रकृति' नित्य हैं किन्तु विकास की अवस्था में वे अनित्य हैं। अनित्य सत्ताएँ पुनः दो प्रकार की होती हैं–जिनकी सृष्टि हुई है (संश्लिष्ट) एवं जिसकी सृष्टि नहीं हुई है (असंस्लिष्ट। 'असंस्लिष्ट' सत्ताएँ हैं 'महत्' 'अहम्' 'बुद्धि' 'मनस्' इन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ और पंचभूतियां। जगत तथा जगत की समस्त वस्तुएँ संस्लिष्ट सत्ताएँ हैं। सृष्टि-रचना का अर्थ है क्रियाओं में प्रेरित होना, अतएव 'संस्लिष्ट' सत्ताएँ कई अवस्थाओं में से निकलती हैं: ईश्वर ही समस्त वस्तुओं और सर्व परिवर्त्तनों का आंतरिक संचालक है। मध्व की 'तत्व-विवेक' 'तत्व-संख्यान' के समान लघु रचना है जो केवल एक दर्जन 'ग्रन्थों' की है तथा न्यूनाधिक उसी विषय का निरूपण करती है: अतः उसकी विषय-सूची का सारांश देना आवश्यक है।

परन्तु 'तत्वोद्योत' पद्य एवं गद्य में लिखी हुई कुछ बड़ी रचना है। वह इस प्रश्न को लेकर आरम्भ होती है कि मुक्त आत्माओं में भेद हैं अथवा नहीं, तथा मध्व कहते हैं कि मुक्त आत्माएँ ईश्वर से भिन्न हैं क्योंकि वे एक काल विशेष में मुक्त हुई थी। उनका ईश्वर से भेद और अभेद नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानना अर्थहीन होगा। वेदान्तियों द्वारा दी गई 'अनिवर्चनीय' की संकल्पना किसी उदाहरण पर आधारित नहीं है। मध्व 'अनिवर्चनीय' के सिद्धान्त को श्रुति-पाठों की सहायता से खंडित करने में श्रम लगाते हैं, और कहते हैं कि शंकर मतवादियों का तथाकथित मिथ्यात्व का सिद्धान्त प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा अर्थापत्ति से सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि जगत के आभासों का निषेध (बाधक) नहीं किया जा सकता। वे आगे कहते हैं कि यदि जगत में सब कुछ मिथ्या होता तो यह आरोप भी मिथ्या होगा कि जगत अनुभव में बाध्य हो जायगा। यदि जगत की बाध्यता मिथ्या है तो इसका तात्पर्य यह है कि जगतानुभव कभी बाध्य नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि जगताभास सत् से भिन्न है, तथा सत् विषेय का तात्पर्य 'सत्' के जाती-प्रत्यय से है तो फिर सत्ताओं के अनेकत्व को स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि उनके बिना सत् का जाति-प्रत्यय सम्भव नहीं है। किन्तु यदि 'सत्' विधेय का अर्थ शुद्ध सत् है तो चूंकि शुद्ध 'सत्' केवल ब्रह्मन् ही है अतः उसका जगत से अन्तर बुद्धि-गम्य होगा और जगत की तथाकथित 'अनिर्वचनीयता' सिद्ध नहीं होगी। यह कहा जाता है कि मिथ्यात्व वह है जो सत् एवं असत् दोनों से विलक्षण है, किन्तु इसका तात्पर्य यह होगा कि जो अविलक्षण है वही सत्य है।[1] किन्तु इस मान्यता के आधार

---

[1] सद्विलक्षणत्वं असद्विलक्षणत्वं च मिथ्या
इत्यविलक्षणमेव सत्यं स्यात्। —वही, पृ० २४२ (अ)।

पर कारणों अथवा कार्यों के अनेकत्व अथवा अनुमान में आश्रय-वाक्यों की विविधता को मिथ्या कहकर त्याग देना पड़ेगा, तथा ज्ञान भी मिथ्या हो जायगा। ज्ञान में विविधता का समावेश होता है, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एक ही नहीं हो सकते। पुनः यह मानना गलत है कि अज्ञान ज्ञान के विषय अथवा ब्रह्मन् पर आश्रित रहता है क्योंकि अज्ञान सदा ज्ञान पर आश्रित रहता है। यदि ज्ञान के अवसर पर यह माना जाय कि विषयों पर आश्रित अज्ञान दूर हो गया है, तो एक व्यक्ति के ज्ञान द्वारा विषय में निहित अज्ञान दूर हो जाने के कारण सभी व्यक्ति उस विषय को ज्ञात करने में समर्थ हो जाने चाहिये। यदि घट को ज्ञात करने का अर्थ है घट में निहित अज्ञान का निराकरण होना, तो इस अज्ञान के निराकरण से घड़े का ज्ञान उन व्यक्तियों को भी हो जाना चाहिये जो यहाँ उपस्थित नहीं है।[1] पुनः यदि किसी विषय के ज्ञान द्वारा किसी अन्य विषय में निहित अज्ञान का निराकरण होता है, तो घट के ज्ञान द्वारा अन्य विषयों का अज्ञान दूर हो जाता।

पुनः, एक जड़ पदार्थ वह है जो कभी ज्ञाता नहीं बन सकता। इस कारण से आत्मन् ज्ञाता होने के कारण कभी जड़ नहीं माना जा सकता। किन्तु अद्वैतवादियों के अनुसार आत्मन् ब्रह्मन् के समरूप होने के कारण गुण-रहित है, अतएव वह कभी ज्ञाता नहीं हो सकता और यदि वह ज्ञाता नहीं हो सकता तो वह जड़ पदार्थ के स्वरूप का होना चाहिये—लेकिन यह सम्भव है। आत्मन् एक मिथ्या ज्ञाता भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'अनिर्वचनीय' के रूप में मिथ्यात्व की संकल्पना का खण्डन हो चुका है। यदि 'जड़त्व' का अर्थ है 'अप्रकाशत्व' तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि आत्मन् भेदरहित होने के कारण स्वयं को अथवा अन्य किसी वस्तु को प्रकाशित करने में असमर्थ है, अतएव आत्मन् अप्रकाशक सिद्ध हो जायगा। आत्मन् स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकता, वर्ना वह अपने प्रकाश की क्रिया का स्वयं कर्त्ता एवं विषय बन जायगा, जो असम्भव है। अन्य विषय भी अद्वैतवादियों के अनुसार मिथ्या होने के कारण अप्रकाशित नहीं हो सकते। जबकि वे विषय ही नहीं है और केवल मिथ्या हैं, तो वे प्रकाशित कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार अद्वैतवादी ब्रह्मन् के स्वयं-प्रकाशकत्व स्वरूप की व्याख्या करने में असफल रहते हैं। फिर यह युक्ति भी ठीक नहीं है कि जो वस्तुएँ

---

[1] नहि ज्ञान-ज्ञेययोर्एकाकारता नहि
अज्ञस्य घटाश्रयत्वं ब्रह्माश्रयत्वं वा
अस्ति, पुंगतमेव हि तमोज्ञानेन
निवर्तते, विषयाश्रयंचेद अज्ञानं
निवर्तते तर्हि एकेन ज्ञातस्य घटस्य
अन्यैर्अज्ञातत्वं न स्यात्। —वही, पृ० २४२।

काल एवं दिक् से सीमित हैं वे मिथ्या है, क्योंकि काल और 'प्रकृति' दिक्-काल से सीमित नहीं है, अतएव उनको मिथ्या नहीं माना जा सकता, जैसाकि अद्वैतवादी चाहते हैं। (फिर यह युक्ति यदि ठीक नहीं है कि जो वस्तुएँ काल एवं दिक् से सीमित हैं वे मिथ्या हैं, क्योंकि काल और 'प्रकृति' दिक्-काल से सीमित नहीं हैं, अतएव उनको मिथ्या नहीं माना जा सकता, जैसा कि अद्वैतवादी चाहते हैं।) फिर यह युक्ति यदि ठीक भी मान ली जाय तो वे वस्तुएँ जो अपने स्वरूप एवं लक्षण से सीमित हैं, फलतः मिथ्या हो जाएँगी। इस प्रकार आत्माएँ मिथ्या सिद्ध हो जाएगी, क्योंकि वे अपने लक्षणों में एक दूसरे से भिन्न हैं।

इसके अतिरिक्त, जगत सत्य एवं तात्विक प्रत्यक्ष किया जाता है, और किसी ने उसको मिथ्या अनुभव नहीं किया है (सूर्य अथवा चंद्रमा की लघुता का प्रत्यक्ष एक ऐसा भ्रम है जो दूरी के कारण उत्पन्न होता है, ऐसी अवस्थाएँ हमारे द्वारा प्रत्यक्ष किये गये जगत के सम्बन्ध में लागू नहीं होती)। कोई ऐसा तर्क नहीं है जो इस मत को आधार दे कि जगत अज्ञान की उपज है। पुनः, एक जादूगर और उसके जादू का साम्यानुमान जगत पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि जादूगर अपने जादू की सृष्टि को प्रत्यक्ष नहीं करता और न वह उससे भ्रमित होता है। किन्तु ईश्वर तो अपनी सृष्टि का प्रत्यक्ष करता है। अतः जगत जादू या 'माया' नहीं माना जा सकता, क्योंकि ईश्वर सब वस्तुओं का अपरोक्ष प्रत्यक्ष करता है। इस प्रकार 'माया' के सिद्धान्त की किसी भी दृष्टिकोण से क्यों न विवेचना की जाय, यह युक्तिपूर्ण नहीं लगता तथा उसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं दिये जा सकते।

मध्व का आगे यह मत है कि 'ब्रह्म-सूत्र' भाग २ में न केवल विभिन्न अन्य दार्शनिक मतों का खंडन किया गया है, बल्कि अद्वैतवादी सिद्धान्त का भी खंडन किया गया है। बौद्ध-मत का खंडन वस्तुतः अद्वैतवादियों का भी खंडन है, जो वास्तव में प्रच्छन्न बौद्धों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।[१] 'शून्यवादी' बौद्ध यह मानते हैं कि सत्य दो प्रकार का होता है, वह जो 'सम्वृत्त' अथवा सीमित अथवा व्यावहारिक महत्व का हैं, तथा वह जो 'परामर्थ' अथवा परम सत्य है। यदि कोई वस्तुओं के स्वरूप का सम्यक् विवेचन करे तो उनमें कोई सत्यता नहीं मिलेगी तथा जो सत्य के रूप में प्रत्यक्ष किया जाता है वह केवल आभास है। 'पारमार्थिक' सत्ता का अर्थ है सर्व आभास की

---

[१] न च निर्विशेष ब्रह्मवादिनः शून्यात् कश्चिद् विशेषः,
तस्य निर्विशेषं स्वयं-भूतंनिर्लेमरामरं
शून्यं तत्वं विज्ञेयं मनोवामोचरम्।

—तत्वोद्योत, पृ० २४३ (अ)।

निवृत्ति।[1] निर्गुण ब्रह्म और बौद्धों के 'शून्य' में कोई अन्तर नहीं है। निर्गुण ब्रह्मन् स्वयं-प्रकाश व नित्य है, बौद्धों का 'शून्य' मन और वाणी से अविज्ञेय है, तथा निर्विशेष, स्वयं-प्रकाश व नित्य है। वह जड़त्व, व्यावहारिकता, पीड़ा व दुःख समाप्ति व बंधन के दोषों का विरोधी है।[2] वह वास्तव में कोई सत्-भावात्मक सत्ता नहीं है, यद्यपि वह सर्व भावात्मक आभासों का आधार है, और यद्यपि वह स्वयं में नित्य है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से वह अनेक लक्षणों में भासित होता है। वह न सत् है न असत्, न शुभ है न अशुभ। वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे कोई त्याग सके अथवा ग्रहण कर सके, क्योंकि वह अक्षय शून्य है।[3] इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अद्वैतवादी भी सत् एवं असत् नामक लक्षणों की सत्ता में विश्वास नहीं रखते, क्योंकि उनके अनुसार ब्रह्मन् सर्व लक्षणों व गुणों से रहित है। बौद्धों के शून्य की भाँति वह अनिर्वचनीय है, यद्यपि समस्त ज्ञान उसकी ओर संकेत करता है। न तो शंकर-मतावलंबी और न शून्यवादी सत् अथवा भावात्मकता रूपी लक्षणों की संकल्पना में विश्वास रखते हैं। शून्यवादी 'शून्य' को एक लक्षण नहीं मानता। अतः शंकर के अनुयायियों का मत लक्षणों एवं गुणों से सम्पन्न सगुण ईश्वर की धारणा से सर्वथा भिन्न है (समस्त प्रामाणिक श्रुति-पाठों का सामान्य आशय सगुण ईश्वर ही है)। अद्वैतवादियों के मत में ब्रह्मन् निरपेक्ष, भेद-रहित है, अतः वे अपने मत के पक्ष में कोई युक्ति नहीं दे सकते, क्योंकि समस्त युक्तियों में सापेक्षता एवं भेद का पूर्व-ग्रहण होता है। किसी सम्यक् युक्ति के अभाव में, तथा जगत की सत्यता के व्यावहारिक अनुभव के समक्ष, वस्तुतः अद्वैतवादी मत को स्थापित करने का कोई साधन नहीं है। जगत के मिथ्यात्व को सिद्ध करने वाली सर्व युक्तियाँ जगताभास के अन्तर्गत ही आएंगी, तथा स्वयं मिथ्या हो जाएगी। यदि समस्त आत्माएँ एकरूप होतीं तो मुक्त और अमुक्त आत्माओं में कोई

---

[1] सत्यं च द्विविधं प्रोक्तं सम्वृतम् पारमार्थिकं
संवृतं व्यवहार्यं स्यात् निर्वृतं पारमार्थिकं
विचारमानेन सत्यंचापि प्रतीयये यस्य संवृतं ज्ञानं व्यवहारपादांच यत्।
—वही, पृ० २४३ (अ)।

[2] निर्विशेष स्वयं भूतं निर्लेपमजरामरं
शून्यं तत्वमविज्ञेयं मनोवाचाम् अगोचरं
जाड्य-संवृत-दुःखान्त-पूर्व-दोष-विरोधि यत्
नित्य-भावनया भूतं तद् भावं योगिनां नयेत्
भावार्थ-प्रतियोगित्वं वा न तत्वत
विश्वाकाराचं सम्वृत्य यस्य तत् पदं अक्षयम्। —वही, पृ० २४३ (अ)।

[3] नास्य सत्वमसत्वं वा न दोषो गुण एव वा
हेयोपादेय-रहितं तच्छून्यं पदम् अक्षयम्। —वही, पृ० २४३।

भेद नही होता। यदि यह कहा जाय कि सर्व भेद अज्ञान के कारण हैं तो ईश्वर अज्ञान-रहित होने के कारण समस्त जीवों से अपने तादात्म्य का प्रत्यक्ष करेगा और इस प्रकार अनेक दुःखों का भागी बन जायगा, किन्तु 'गीता' का श्रुतिपाठ निश्चय-पूर्वक यह बताता है कि ईश्वर स्वयं को साधारण जीवों से भिन्न प्रत्यक्ष करता है। दुःख की अनुभूति 'उपाधि' जन्य सीमाओं से उत्पन्न नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उपाधियां की विविधता के होने पर भी अनुभवकर्त्ता एक-रूप बना रहता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर सर्व उपाधियों से रहित होने के कारण सर्व प्राणियों के दुःख को बंटाने की दृष्टि से उनके साथ अपनी समानता का प्रत्यक्षीकरण करने में उपाधि-भेद द्वारा बाधित नहीं हो सकता। जो यह मानते हैं, कि जीव एक ही है तथा सर्व भ्रामक धारणाएँ उसके कारण हैं वे गलत हैं, क्योकि उसकी मृत्यु होने पर समस्त भेदों की निवृत्ति हो जानी चाहिये। इस मत के पक्ष में भी कोई प्रमाण नहीं है कि भेद एवं जगत के आभास की संकल्पना एक ही जीव की भ्रामक धारणा के कारण उत्पन्न हुई है। अतः शंकर-मतावलम्बियो द्वारा माने गये अद्वैतवादी मत के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं दिये जा सकते। इसलिये अब समय आ गया है कि 'माया'–सिद्धान्त के समर्थक भाग खड़े हों, क्योंकि सर्वज्ञ ईश्वर छलपूर्ण युक्तियों व श्रुति पाठों की असत्य व्याख्या रूपी अंधकार को विदीर्ण करने के लिये आ रहा है।[1]

मध्व के 'कर्म-निर्णय' में कर्म अथवा शास्त्रीय कर्त्तव्यों के स्वरूप का निरूपण किया है, जो 'पूर्व-मीमांसा का विषय है। 'पूर्व-मीमांसा' ईश्वर के अस्तित्व की न केवल लगभग उपेक्षा करता है, किन्तु उसका निषेध भी करता है। मध्व स्वयं सगुण ईश्वर के महान् समर्थक थे, अतः वे मीमांसा की प्रामाणिक ढंग से व्याख्या करना चाहते थे। उनके मत में इन्द्र, अग्नि आदि विभिन्न देवता विष्णु अथवा नारायण का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'पूर्व-मीमांसा' तो समस्त यज्ञानुष्ठानों के उद्देश्य के रूप में स्वर्ग की व्याख्या करके संतुष्ट हो गया था, पर मध्व के मत में चरम उद्देश्य था सम्यक् ज्ञान तथा ईश्वर के अनुग्रह द्वारा मोक्ष की प्राप्ति। वे इस विचार को नापसन्द करते थे कि शास्त्रीय यज्ञों का अनुष्ठान स्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाना चाहिये, तथा वे इस धारणा पर बल देते थे कि यज्ञों का अनुष्ठान बिना किसी हेतु के करना चाहिये, उनके अनुसार उनका अनुष्ठान धार्मिक न्यादेश अथवा ईश्वरीय आदेश होने के नाते किया जाना चाहिये। उनका आगे मत था कि कार्यो के ऐसे निष्काम पालन ही से ईश्वरानुग्रह की प्राप्ति के लिए मन शुद्ध किया जा सकता है। अतएव यज्ञों का निष्काम सम्पादन एक प्रकार से प्रज्ञान एवं ईश्वरानुग्रह की प्राप्ति का प्रारम्भिक चरण है तथा उसका उपसाधन है।

---

[1] पलायध्वं पलायध्वं त्वरया मायि-दानवः
सर्वज्ञो हरिरायाति तर्कागम-दरारिभिद्। —तत्वोद्योत, पृ० २४५ (अ)।

अतः सदा की भाँति मध्व अद्वैतवादियों की अनन्त गुणसम्पन्न ईश्वर की विरोधी एवं भेद-रहित ब्रह्मन् की समर्थक युक्ति का खंडन करने का प्रयत्न करते हैं। उनका आगे कथन है कि 'सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म' जैसे श्रुति-पाठ जो हमें निर्गुण ब्रह्म की ओर प्रेरित करते हैं उन श्रुति-पाठों से गौण माने जाने चाहिये जो द्वैतवादी स्वरूप के हैं। अनुमान के आधार पर अग्रसर होते हुए वे कहते हैं कि जगत कार्य रूप है अतः उसका कोई बुद्धिमान कारण अथवा निर्माता होना चाहिये, और यह निर्माता ईश्वर है। जगत का यह निर्माता अनिवार्यतः सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता सम्पन्न होना चाहिए। मध्व 'सगुण' ब्रह्म के पक्ष में 'भागवत पुराण' की साक्ष देते हैं। जहाँ श्रुति-पाठ ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं वहाँ आशय यह है कि ब्रह्म दुर्गुणों से रहित है। ब्रह्मन् सर्व विशेषों से रहित नहीं हो सकता, 'विशेष' का निषेध करना स्वयं एक 'विशेष' है अतएव अद्वैतवादी उसका निषेध करेंगे, किन्तु वह उनको अनिवार्यतः विशेष की स्वीकृति पर ही ले जायगा। फिर मध्व 'माया', 'मिथ्या' व 'अनिर्वचनीय' के विरोध में अपनी पुरानी युक्तियाँ देते हैं, तथा यह संकेत करते हैं कि मध्व-निषेध नियम के अनुसार ऐसा कोई तत्व सम्भव नहीं है जो न 'सत्' हो और न 'असत्' हो। वस्तुतः तथा-कथित 'अनिर्वचनीय' का कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता। कभी-कभी ऐसे भ्रम को, जो बाधित हो चुका है, 'अनिर्वचनीय' के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु यह सर्वथा त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि भ्रम की स्थिति में इन्द्रियों द्वारा कोई वस्तु वास्तव में दृष्येन्द्रिय के सम्पर्क में थी तथा जब भ्रम का व्याघात होता है तब व्याघात का अर्थ है यह पता लगाना कि वह वस्तु जो वहाँ उपस्थित समझी गई थी वहाँ नहीं है। जिस वस्तु को—उदाहरण के लिये सर्प को गलती से प्रत्यक्ष किया गया, वह एक यथार्थ वस्तु थी, लेकिन उसका अस्तित्व वहाँ नहीं था जहाँ उसे सोचा गया था। यह कहना कि भ्रम 'मिथ्या' है केवल इतना ही अर्थ रखता है कि भ्रम-पूर्वक प्रत्यक्ष की गई वस्तु का वहाँ अस्तित्व नहीं है। केवल इस तथ्य का कि एक वस्तु भ्रम-पूर्वक प्रत्यक्ष की गई थी—यह अर्थ नहीं हो सकता कि वह वस्तु वास्तव में सत् थी, और फिर उसकी असत्ता का व्याघात हो गया था, अतएव वह न सत् थी और न असत् थी। एकमात्र युक्ति-संगत दृष्टिकोण तो यह है कि भ्रम-पूर्वक प्रत्यक्ष की गई वस्तु का प्रत्यक्षीकरण की दिशा में अस्तित्व नहीं रखती थी, अर्थात् वह 'असत्' थी। जो रज्जु 'सर्प' के रूप में प्रत्यक्ष की गई थी, बाद में जब सर्प का प्रत्यक्षीकरण लुप्त हो जाता है, तब उसका व्याघात हो जाता है, किन्तु स्वयं जगत कभी भी लुप्त होता हुआ नहीं पाया गया है। इस प्रकार जगत के प्रत्यक्षीकरण में तथा भ्रमक सर्प के प्रत्यक्षीकरण में कोई समानता नहीं है। इसके अतिरिक्त 'अनिर्वचनीय' उसे कहते हैं जिसका विलक्षणता के कारण वर्णन करना कठिन होता है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह एक ऐसा तत्व है जो न सत् है और न असत्। यद्यपि उसका यथेष्ट विवरण दिया जा सकता है, तथापि हम उसके विवरण को समाप्त नहीं कर सकते। एक घट

एक कपड़े से भिन्न होता है तथा केवल काल्पनिक शशशृंग से भी भिन्न होता है, अर्थात्, एक घट एक सत् कपड़े से तथा एक असत् शशशृंग से भिन्न होता है, पर इससे घट 'अनिर्वचनीय' अथवा मिथ्या नहीं बन जाता। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है घट 'सदसद्-विलक्षण' है, किन्तु इस कारण से वह असत् नहीं हो जाता।

फिर, 'सदसद्-विलक्षण' वाक्यांश का अर्थ बहुत अस्पष्ट है। प्रथमतः यदि उसका अर्थ है 'भेद' का प्रत्यक्ष, तो यह अर्थ असंगत है। अद्वैतवादी मानते हैं कि केवल ब्रह्मन् ही का अस्तित्व है, अतएव यदि सत् और असत् के भेद का भी अस्तित्व है तो द्वैतवाद प्रतिफलित हो जायगा। किन्तु उत्तर में यह कहा जा सकता है कि द्वैतवाद का अभिवचन केवल निम्न-कोटि की सत्ता अर्थात् 'व्यावहारिक' सत्ता के रूप में सम्भव है। परन्तु इस शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है। उसका तात्पर्य एक ऐसे पदार्थ से नहीं हो सकता जो सत् और असत् दोनों से भिन्न हो, क्योंकि ऐसा पदार्थ तार्किक दृष्टि से असत्य है। यदि उसका अर्थ सोपाधिक सत्ता से है, तो फिर उच्चतम सत्ता की संकल्पना भी मानवी ज्ञान से प्रतिबन्धित होने के कारण सोपाधिक (व्यावहारिक) होनी चाहिये, तथा इस पद को केवल भ्रामक प्रत्यक्षीकरण अथवा सामान्य प्रत्यक्षी-करण पर लागू करना संदेहपूर्ण होगा। द्वितीयतः 'सदसद्विलक्षण' पद का अर्थ ब्रह्मन् और जगत् का तादात्म्य भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे तादात्म्य का व्याघात हो सकता है। अद्वैतवादी न तो भेद की सत्ता का अभिवचन दे सकते हैं और न जगत और ब्रह्मन् के पूर्ण तादात्म्य की सत्ता का।

अद्वैतवादियों का यह मत कि सत्ता के विभिन्न स्तर होते हैं तथा उनमें स्वरूपतः तादात्म्य व आभास की दृष्टि से भेद है, तबतक स्थापित नहीं किया जा सकता जब-तक कि सत्ता के स्तरों की सत्यता को स्थापित नहीं कर दिया जाता। वे मानते हैं कि जगत (जो निम्न स्तर की सत्ता है) ब्रह्मन् पर अध्यारोपित है, अथवा ब्रह्मन् ने स्वयं को जगत के रूप में अभिव्यक्त किया है, किन्तु ऐसा कथन त्रुटिपूर्ण है यदि जगत एवं ब्रह्मन् का पूर्ण तादात्म्य है। फिर तो 'पूर्ण तादात्म्य' वाक्यांश केवल एक समानार्थक पद हो जायगा, तथा इस रूप में जिन श्रुति-पाठों की व्याख्या की गई है वे भी समानार्थक हो जायेंगे। अद्वैतवादी यह युक्ति देते हैं कि 'सत्यं', 'ज्ञानं', 'अनन्तम्' पद समानार्थक नहीं है, क्योंकि उनके द्वारा उनके निषेधवाचक पदों का अपवर्जन हो जाता है। ब्रह्मन् को 'सत्यं' एवं 'ज्ञान' कहने का अर्थ यह है कि ब्रह्मन् 'असत्य' एवं 'अज्ञान' नहीं है। लेकिन इस प्रकार की व्याख्या से उनका यह तर्क नष्ट हो जायगा कि समस्त श्रुति-पदों की केवल एक ही सार्थकता (अर्थात्, विशुद्ध भेद-रहित सत्ता का कथन) नहीं होती अपितु उनके द्वारा अन्य गुणों का निषेध भी किया जा सकता है, तथा ऐसी स्थिति में इस मत का व्याघात हो जाता है कि सर्व श्रुति-पदों की अंतिम सार्थकता भेद-रहित ब्रह्मन् के कथन में निहित है। पुनः, जगत की 'अनिर्वचनीयता' भ्रम के त्रुटि-पूर्ण

विश्लेषण पर आधारित है, अतएव यह कथन कि ब्रह्मन् की भेदरहितता जगत की भ्रामकता पर निर्भर करती है, अद्वैतवादियों द्वारा किसी सम्यक् युक्ति द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। अद्वैतवादियों द्वारा जगताभास एवं ब्रह्मन् का भेद चरम सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस दशा में 'भेद' का प्रत्यय ब्रह्मन् के साथ सह-अस्तित्व रखने वाली सत्ता बन जायगा। सिर, सत् और असत् के मध्य भेद के प्रत्यय का वर्गीकरण करना आवश्यक है, तथा जब तक यह नहीं किया जाय तब तक इस कथन मात्र में कोई अर्थ नहीं होगा कि जगताभास का ब्रह्मन् से अभेद भी है और भेद भी है। जो असत् से भेद रखता है उसे सत् कहा जाता है, और जो सत् से भेद रखता है वह असत् अथवा काल्पनिक कहलाता है। असत् का कोई गुण नहीं होता, क्योंकि उसे किसी भी साधन से ज्ञात नहीं किया जा सकता, अतएव उसका सत् से भेद ज्ञात नहीं किया जा सकता, क्योंकि किन्हीं दो सत्ताओं के भेद को ज्ञात करने के लिये हमें उन दोनों सत्ताओं का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। कोई इस सम्बन्ध में तर्क नहीं कर सकता कि शशशृंग का एक वृक्ष से भेद है अथवा अभेद। पुनः यदि 'सत्' का तात्पर्य भेद-रहित परमसत्ता से है तो चूँकि ऐसे सत् एवं किसी अन्य वस्तु के मध्य के भेद में कोई गुण नहीं होता, अतः उस भेद का प्रत्यय बनाना सम्भव नहीं है। इस प्रकार हम किसी ऐसी वस्तु का प्रत्यय नही बना सकते जो सत् एवं असत् दोनों से भेद रखती है, यदि जगत असंत् से भेद रखता है तो वह सत् होना चाहिये और यदि जगत् सत् से भेद रखता है तो वह सत् होना चाहिये और यदि जगत सत् से भेद रखता है वह तो शशशृंग होना चाहिये। मध्य-निषेध के नियम के अनुसार भी ऐसी कोई सत्ता नहीं हो सकती जो न सत् हो और न असत्, विरोधी निर्णयों के एक युग्म में से एक निर्णय सत्य होना चाहिये। इस प्रकार ब्रह्मन् एक ऐसी सत्ता है जो सर्वगुण-सम्पन्न है, तथा जगत के स्रष्टा और नियन्ता के रूप में उसका निषेध नहीं किया जा सकता।

मध्व फिर प्रभाकरों से विवाद करते हैं, जिनके मत में वैदिक-वाक्यों का चरम आशय किसी कर्म का अनुष्ठान होना चाहिये। ऐसी दशा में वैदिक वाक्यों का आशय ब्रह्मन् की सत्ता की ओर संकेत करना कभी नहीं होगा, क्योंकि ब्रह्मन् मानवी कर्म का विषय नहीं बन सकता। मध्व के मत में सर्व वैदिक पाठों का उद्देश्य ईश्वर का यशोगान करना है तथा यह बताना है कि जो कुछ ससीम मानवों की क्रिया द्वारा उत्पन्न किया जाता है वह असीम ईश्वर में पूर्व-स्थापित है। सर्व कर्मों में 'इष्टसाधनता' (सुखमय हेतु) सन्निहित होती है, न कि केवल क्रिया। मनुष्य द्वारा कोई ऐसा कार्य सम्पन्न नहीं किया जायगा जो उसके लिये स्पष्टतः हानिकारक हो। इस प्रकार यदि सर्व कर्मों का बल 'इष्टसाधनता' पर होता है, तो फिर मीमांसा-मत का यह कथन असत्य है कि सर्व सम्भाव्य कर्मों का आशय 'कार्यता' है, 'इष्ट-साधनता' के अन्तर्गत 'कार्यता' का समावेश हो जाता है। सर्व कर्मों की चरम 'इष्ट-साधनता' ईश्वरानुग्रह

द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करना है। अतः यह आवश्यक है कि सर्व यज्ञ-कर्म भक्ति-भाव से सम्पन्न किये जायं, क्योंकि भक्तिमय उपासना से ही ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त किया जा सकता है। 'कर्म-निर्णय' ८०० 'ग्रन्थों' की एक छोटी सी रचना है।

'विष्णु-तत्व-निर्णय' में जो लगभग ६०० 'ग्रन्थों' की रचना की है—मध्व अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं का विवेचन करते हैं। वे यह घोषणा करते हैं कि वेद, 'महाभारत,' 'पंचरात्र,' 'रामायण,' 'विष्णु-पुराण' तथा उनका अनुकरण करने वाले सर्व धर्म-साहित्य प्रामाणिक शास्त्र (सद्-आगम) माने जाने चाहिये। अन्य सभी मूलपाठ जो उनके विरोध में जाते हैं वे अशुभ शास्त्र (दुर-आगम) माने जाने चाहिये, तथा उनका अनुसरण करके ईश्वर के सत्य स्वरूप को ज्ञात नहीं किया जा सकता। ईश्वर न तो प्रत्यक्ष और न अनुमान द्वारा ज्ञात किया जा सकता है, केवल वेदों की सहायता से ही ईश्वर के स्वरूप को ज्ञात किया जा सकता है। वेदों की रचना किसी मानव के द्वारा नहीं की गई थी (अपौरुषेय) जब तक वेदों के अलौकिक उद्गम को स्वीकार नहीं कर लिया जाता तब तक धार्मिक कर्त्तव्यों की निरपेक्ष प्रामाणिकता स्थपित नहीं की जा सकती, सर्व नैतिक एवं धार्मिक कर्त्तव्य सापेक्ष बने रहेंगे। कोई भी मानवी आदेश अज्ञान की अनुपस्थिति अथवा असत्य ज्ञान की अनुपस्थित के सम्बन्ध में आश्वासन नहीं दे सकते, न यह माना जा सकता है कि यह आदेश किसी सर्वज्ञ सत्ता के अग्रसर होते हैं क्योंकि एक सर्वज्ञ सत्ता के अस्तित्व को श्रुतियों के बिना ज्ञात नहीं किया जा सकता। यह मान लेना भी युक्ति-संगत नहीं है कि ऐसी सर्वज्ञ सत्ता हमें धोखा देने में अभिरुचि न रखती हो। पर यदि दूसरी ओर वेदों को किसी पुरुष से उत्पन्न नहीं माना जाता है तो हमें किसी अन्य मान्यता स्वीकार करने को बाध्य नहीं होना पड़ता, वेदों का 'अपौरुषेय' उद्गम स्वयं-सिद्ध है क्योंकि हम किसी ऐसे व्यक्ति को नही जानते जिसने उन्हें लिखा हो। उनकी उक्तियाँ साधारण उक्तियों से भिन्न हैं, क्योंकि हम पश्चादुक्त के रचियताओं को जानते हैं। वेद अपने स्वरूप में स्थित हैं तथा केवल महर्षियों के सम्मुख प्रकट किये गये हैं, तथा उनकी सत्यता किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं करती, क्योकि यदि हम ऐसा न मानें तो हमारे पास सत्यता की कोई निरपेक्ष कसौटी शेष नहीं रह जाती, तथा अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा। उनकी सत्यता किसी तर्क पर निर्भर नहीं करती, क्योंकि अच्छा तर्क केवल यही बता सकता है कि विचार प्रक्रिया में कोई तार्किक दोष नही है, तथा स्वयं किसी वस्तु की सत्यता स्थापित नहीं कर सकता। चूंकि वेद अपौरूषेय हैं अतः उनमें तार्किक दोषों की अनुपस्थिति का प्रश्न उठता ही नहीं। समस्त सत्यता स्वयं-सिद्ध होती है, केवल असत्यता ही बाद के अनुभव से सिद्ध की जा सकती है। न हम यह कह सकते हैं कि वैदिक उक्तियों के एक-स्वरात्मक शब्द उच्चारण-काल में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उस दशा में उनकी पहले ज्ञात किये हुए शब्दों के रूप में पहिचान सम्भव होगी। ऐसी पहिचान समानता के

कारण उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि उस दशा में समस्त अभिज्ञानों को समानता के उदाहरण मानना पड़ेगा, और हम बौद्ध-मत के समर्थक हो जाएँगे, अभिज्ञानों को फिर भ्रामक मानना पड़ेगा। वेदों की स्वतः-प्रामाण्यता को ही समस्त महत्वपूर्ण समस्याओं का निरपेक्ष निर्णायक स्वीकार करना पड़ेगा।[1] वेद मूलतः ईश्वर द्वारा प्रत्यक्ष किये गये थे, उसने उन्हें ऋषियों को प्रदान किया, जो प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में अपने पूर्व-जन्म के उपदेशों को स्मरण रखते थे। अक्षर और शब्द भी नित्य हैं क्योंकि वे नित्य ईश्वर के मनस् में सदा उपस्थित रहते हैं, अतः यद्यपि शब्द-स्वर 'आकाश' में प्रकट होते हैं और वेद उनके संगुटन से निर्मित है, तथापि वे नित्य हैं। मीमांसा का यह मत कि शब्दों की उपलब्धि क्रिया पर निर्भर करती है गलत है : क्योंकि शब्द और उनके अर्थ पहले से ही निश्चित रूप से निर्धारित हैं, तथा केवल भौतिक संकेतों के माध्यम से व्यक्तियों द्वारा अर्थों की उपलब्धि की जाती है। जब एक वाक्य अर्थ की ओर संकेत कर देता है तब उसका प्रयोजन समाप्त हो जाता है, तथा उस वाक्य की सत्यता उसके अर्थ की उपलब्धि ही में निहित है। जब एक व्यक्ति उस अर्थ से परिचित हो जाता है तथा यह समझ लेता है कि उसमें सन्निहित निर्देश फलदायी होगा, तब वह उसके अनुसार क्रियाशील होता है, किन्तु जब वह उस निर्देश को हानिकारक समझता है तब वह क्रिया से विमुख हो जाता है। समस्त व्याकरण एवं शब्दकोष शब्दों और उनके अर्थों के पूर्व-स्थापित सम्बन्ध पर आधारित होते हैं, तथा उसमें किसी प्रकार की क्रिया का समावेश नहीं होता है।

समस्त श्रुतियाँ नारायण को सर्वज्ञ एवं सब वस्तुओं का सृष्टा मानती हैं। यह मानना त्रुटिपूर्ण है कि श्रुतियाँ जीवों के ईश्वर के साथ तादात्म्य को घोषित करती हैं, क्योंकि इस प्रकार के कथन का कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता।

ईश्वर के अस्तित्व को अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि ईश्वर के अनस्तित्व के पक्ष में भी वैसा ही सबल अनुमान उपस्थित किया जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि जगत एक कार्य है तथा उसका उसी प्रकार एक सृष्टा अथवा निर्माता होना चाहिये जिस प्रकार घट का निर्माता कुम्भकार होता है, तब उत्तर में यह कहा जा सकता है कि समस्त निर्माताओं के शरीर होते हैं, और चूंकि ईश्वर शरीर रहित है अतः ईश्वर सृष्टा नहीं हो सकता। इस प्रकार ईश्वर श्रुतियों के आप्तवचन ही से सिद्ध किया जा सकता है, तथा श्रुतियों के अनुसार ईश्वर जीवों से भिन्न है। यदि किसी श्रुतिपाठ के द्वारा ईश्वर और जीव अथवा ईश्वर और जगत के तादात्म्य का

---

[1] विज्ञेयं परमं ब्रह्म ज्ञापिका परमा श्रुतिः
अनादि-नित्या सा तत्व विना तां न च गम्यते।

—विष्णु-तत्व विनिर्णय, पृ० २०६।

संकेत मिलता प्रतीत होता है तो उस बात का प्रत्यक्ष अनुभव तथा अनुमान द्वारा व्याघात हो जाता है, अतएव इन पाठों की अद्वैतवादी व्याख्या असत्य हो जायगी। श्रुतियाँ किसी ऐसी बात का निर्देश नहीं कर सकतीं जिसका अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष व्याघात हो जाय, क्योंकि यदि अनुभव को असत्य माना जाय तो श्रुतियों की सत्यता का अनुभव असत्य हो जायगा। श्रुतियों का उपदेश अन्य 'प्रमाणों' से अनुकूल होने पर अतिरिक्त बल प्राप्त कर लेता है, और चूंकि सभी 'प्रमाण' भेद की सत्यता की ओर संकेत करते हैं अतः श्रुति-पाठों की अद्वैतवादी व्याख्या को सत्य नहीं माना जा सकता। जब किसी अनुभव-विशेष का अनेक अन्य 'प्रमाणों' के द्वारा व्याघात हो, तब वह अनुभव असत्य सिद्ध हो जाता है। इसी विधि से शुक्ति-रजत का मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है। जो वस्तु दूर से रजत के रूप में प्रत्यक्ष की गई थी उसका निकट निरीक्षण तथा हाथ के स्पर्श द्वारा बोध हो जाता है और इसी कारण से दूर से प्रत्यक्ष की गई शुक्ति-रजत को असत्य माना जाता है। जो अनुभव अनेक अन्य प्रमाणों द्वारा बाधित होता है, उसे उसी कारण से दोष-युक्त मानना चाहिये।[1] किसी प्रमाण का तुलनात्मक मूल्य उसके परिणाम अथवा गुण से आंका जा सकता है।[2] गुणात्मक प्रमाण दो प्रकार के होते हैं, अर्थात् सापेक्ष (उपजीवक) तथा स्वतंत्र (उपजीव्य), इनमें से पश्चादुक्त को अधिक सबल मानना चाहिये। प्रत्यक्ष तथा अनुमान स्वतंत्र प्रमाण हैं, अतएव इनको 'उपजीव्य' माना जा सकता है, पर श्रुति-पाठ प्रत्यक्ष एवं अनुमान पर आश्रित हैं अतएव 'उपजीवक' माने जाने चाहिये। सत्य प्रत्यक्ष अनुमान से पहले आता है और उससे श्रेष्ठ है क्योंकि अनुमान को प्रत्यक्ष पर आश्रित रहना पड़ता है, अतः यदि श्रुति-पाठों एवं प्रत्यक्ष में स्पष्ट विरोध हो तो श्रुति-पाठों की व्याख्या इस ढंग से की जानी चाहिये कि इस प्रकार का कोई विरोध उत्पन्न न हो। अपने स्वरूप से सर्व प्रमाणों का आधार होने के नाते प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष अनुभव 'उपजीव्य' है, तथा इस कारण से सत्यता का दृढ़तर अधिकारी है।[3] अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी श्रुति-पाठों में से पश्चादुक्त को प्रत्यक्ष

---

[1] बहु-प्रमाण-विरुद्धानां दोषजन्यत्व-नियमात्, दोष-जन्यत्वं च बलव-प्रमाण-विरोधाद् एव ज्ञायते।

अदुष्टमिन्द्रियं त्वक्षं तर्कोऽदुष्टम् तथानुमा
आगमोऽदुष्टवाक्यं च तादृक् चानुभवः स्मृतः
बलवत्–प्रमाणतश्चैव ज्ञेया दोषा न चान्यथा।

–वही, पृ० ५६२ (४)।

[2] द्वि-विधम् बलवत्वञ्च बहुत्वाच्च स्वभावतः। –वही।

[3] मध्व यहाँ 'ब्रह्मतर्क' के अनुसार विभिन्न 'प्रमाणों' का उल्लेख करते हैं। 'प्रमाणों' का विवरण एक अन्य भाग में दिया गया है।

प्रमाण का समर्थन प्राप्त है। यदि यह कहा जाय कि श्रुति-पाठों का उद्देश्य प्रत्यक्ष से परे जाना है तथा विशुद्ध सत्ता की प्रत्यक्ष द्वारा ही अनुभूति की जा सकती है, तो यह बात फलित होती है कि द्वैतवादी पाठ साधारण प्रत्यक्ष के विरोध में होने के नाते इसी आधार पर अधिक प्रामाणिक माने जाने चाहिये कि वे प्रत्यक्ष से परे जाते हैं। अतः किसी भी दृष्टिकोण से देखने पर द्वैतवादी पाठों की श्रेष्ठता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त जब एक तथ्य विशेष को कई प्रमाणों द्वारा समर्थन प्राप्त होता है तो इससे उस तथ्य की सत्यता बलवती हो जाती है। यह तथ्य की ईश्वर जीवन और जगत से भिन्न है कई प्रमाणों द्वारा प्रमाणित होता है अतएव उसको चुनौती नहीं दी जा सकती, तथा समस्त वैदिक पाठों का अंतिम व भरम आशय इस तथ्य की घोषणा करना है कि भगवान विष्णु उच्चतम सत्ता है। केवल ईश्वर की महानता व शुभत्व के ज्ञान द्वारा ही एक व्यक्ति उसकी भक्ति कर सकता है, तथा उसकी भक्ति और उसके अनुग्रह द्वारा ही वह जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इस प्रकार ईश्वर एवं उसके शुभत्व की घोषणा द्वारा 'श्रुति' हमारे लिये मोक्ष प्राप्त करवाने में सहायक होती है।

कोई व्यक्ति किसी ऐसी वस्तु के प्रति आसक्त नहीं हो सकता जिससे वह अपने तादात्म्य का अनुभव करता है। एक सम्राट् अपने प्रतिपक्षी को प्रेम नहीं करता, अपितु वह उस पर आक्रमण करके उसे पराजित करने का प्रयत्न करेगा, किन्तु वही सम्राट् उस व्यक्ति को अपना सब कुछ दे देगा जो उसकी प्रशंसा करे। अधिकांश श्रुति-पाठ ईश्वर को विविध विशेषणों एवं शक्तियों से सम्पन्न बताते हैं जिनकी अद्वैतवाद के आधार पर व्याख्या नहीं की जा सकती। अतः मध्व कहते हैं कि सर्व 'श्रुति' एवं 'स्मृति' पाठों का चरम उद्देश्य परमेश्वर विष्णु की अनुत्तमता का कथन करता है।

किन्तु 'मध्व के प्रतिपक्षी यह युक्ति देते हैं कि परमसत्ता में विशेषणों का प्रतिज्ञापन भेद के प्रत्यय पर निर्भर करता है, तथा भेद का प्रत्यय विशेषण और विशेष्य की पृथक-पृथक सत्ता पर निर्भर करता है। दो सत्ताओं के अभाव में भेद का प्रत्यय नहीं बन सकता, तथा भेद के प्रत्यय के अभाव में पृथक-पृथक सत्ताओं का प्रत्यय नहीं बन सकता, इस प्रकार ये दोनों प्रत्यय परस्पर अन्योन्याश्रित प्रत्यय हैं अतएव तार्किक दृष्टि से अमान्य है।[1] उत्तर में मध्व कहते हैं कि उपर्युक्त युक्ति अमान्य है क्योंकि वस्तुएँ स्वयं भेद-स्वरूपी हैं। यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि भेद निरर्थक हैं क्योंकि उनका अनुभव वस्तुओं के सम्बन्ध में ही हो सकता है, कारण यह है कि जिस प्रकार अभेद का

---

[1] न च विशेषण–विशेष्यतया भेद-सिद्धिः, विशेषण-विशेष्य-भावश्च भेदापेक्षः धर्मि-प्रतियोग्यपेक्षया भेद-सिद्धिर्भेदापेक्षं च धर्मिप्रतियोगित्वमित्यन्योन्याश्रयतया भेदस्यायुक्तिः। —विष्णु-तत्व-विनिर्णय, पृ० २६४।

स्वतंत्र अर्थ है उसी प्रकार भेद की अनुभूति भी स्वतः हो जाती है। यह सोचना गलत है कि पहले तो हमें विभिन्न वस्तुओं का उनकी अभेदता में ज्ञान होता है और उसके पश्चात् भेदों की अनुभूति होती है, अपितु वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करना ही भेद का प्रत्यक्षीकरण करना है। अभेद भी उतना ही सरल एवं विश्लेषण-गम्य है जितना अभेद। अभेद का प्रत्यय भी सरल है फिर भी तादात्म्य के सम्बन्ध के रूप में उसकी अभिव्यक्ति की जा सकती है—यथा ब्रह्मन् एवं जीव के तादात्म्य के रूप में, जैसा कि अद्वैतवादी कहते हैं। उसके समान ही भेद का प्रत्यय सरल है, यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति दो सत्ताओं के सम्बन्ध के रूप में की जाती है। यह सत्य है कि संशय एवं भ्रम की स्थिति मे हमें भेद के प्रत्यय को स्थगित करना पड़ता है, किन्तु वैसी स्थिति में हमें अभेद के प्रत्यय को भी स्थगित करना पड़ता है। किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करने का अर्थ उसके अभेद अथवा तादात्म्य का प्रत्यक्षीकरण करना नहीं है, वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करना, तथा इस विलक्षणता ही मे भेद का स्वरूप निहित है।[1] 'उसका भेद' यह कथन वस्तु के स्वरूप को लक्षित करता है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो उस वस्तु के प्रत्यक्षीकरण से हमें अन्य वस्तुओं से उसकी पृथकता एवं भेद की अनुभूति नहीं हो पाती। यदि वस्तु के प्रत्यक्षीकरण के साथ ही ऐसे भेद की अनुभूति नहीं होती तो एक व्यक्ति स्वय को घट अथवा वस्त्र से सम्भ्रांत कर देता, किन्तु ऐसी सम्भ्रांति कभी नहीं होती क्योंकि ज्योंहि घट का प्रत्यक्षीकरण होता है त्योंही उसको अन्य सभी वस्तुओं से भिन्न भी प्रत्यक्ष किया जाता है। अतः भेद प्रत्यक्ष की गई वस्तुओं के स्वरूप के रूप में अनुभूत किया जाता है, संशय केवल उन्हीं स्थितियों में उत्पन्न होता है जिनमें कुछ समानता हो, किन्तु अन्य अधिकांश स्थितियों में एक सत्ता के अन्य सत्ताओं से भेद की अनुभूति उस सत्ता के प्रत्यक्षीकरण के साथ ही हो जाती है। जिस प्रकार अनेक वत्तियों को एक दृष्टि से देखने पर उनका एक सामान्य ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार भेद का ज्ञान भी सामान्यतः हो जाता है यद्यपि उस वस्तु का अन्य वस्तु-विशेष से विशेष भेद प्रत्यक्षीकरण के तुरन्त साथ ही ज्ञात नहीं हो पाता। जब अनेक वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है तब हम यह प्रत्यक्षीकरण भी करते हैं कि प्रत्येक वस्तु भिन्न है, यद्यपि प्रत्येक वस्तु का अन्य वस्तु से भेद तत्काल अनुभूत नहीं हो पाता। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भेद का प्रत्यक्षीकरण इकाइयों की श्रेणी के रूप में अनेकता के पूर्व प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर करता है जिस पर भेद का प्रत्यय अध्यारोपित रहता है। वेदान्ती अथवा अद्वैतवादी भी जो प्रत्येक सत्ता को ब्रह्मन् से

---

[1] पदार्थ-स्व-रूपत्वाद् भेदस्य न च धर्मि-प्रतियोग्यपेक्षया भेदस्य स्वरूपत्वमैयवत्-स्वरूपस्यैव तथावत्, स्व-रूप-सिद्धा वै तदसिद्धिश्च जीवेश्वरैक्यं वदतः सिद्धैव, भेदस्तु स्व-रूप-दर्शन एव सिद्धिः, प्रायः सर्वतो विलक्षणं हि पदार्थ-स्व-रूपं दृश्यते।

—वही।

भिन्न मानते हैं इस बात का निषेध नहीं कर सकते कि प्रत्येक सत्ता के प्रत्यक्षीकरण में उसके विशेष स्वरूप एवं विलक्षणता का प्रत्यक्ष किया जाता है। इस प्रकार अद्वैतवादी भेद के प्रत्यक्षीकरण को जिस अन्योन्याश्रित तर्क से सम्बन्धित करते हैं वह दोषमय है तथा अमान्य है यदि एक वस्तु अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के साथ-साथ अपना भेद-विशेष एवं विलक्षणता की अभिव्यक्ति नहीं करेगी तो समस्त वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण एकरूप हो जायगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक भेद का अपना विलक्षणस्वरूप होता है, एक घट से भेद एक वस्त्र से भेद के समान नहीं होता। इस प्रकार भेद का प्रत्यक्षीकरण अवैध नहीं माना जा सकता, यह कहना कि जिस वस्तु का प्रत्यक्ष वैध रीति से हुआ है वह मिथ्या है अनुभव को चुनौती देना है, तथा अमान्य है। शुक्ति-रजत के भ्रामक प्रत्यक्षीकरण को मिथ्या इसलिये माना जाता है कि उसका एक अधिक सबल प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा व्याघात होता है। कोई हेत्वनुमानिक तर्क वैध प्रत्यक्षानुभव की सत्यता को चुनौती देने की क्षमता नहीं रखता। कोई भी द्वन्द्वात्मक तर्क प्रत्यक्ष, अपरोक्ष अनुभव की अवैधता सिद्ध नहीं कर सकता। इस तर्क के अनुसार वस्तुओं के भेदों का निषेध करने वाली समस्त युक्तियों का श्रुति-पाठों, प्रत्यक्ष तथा अन्य युक्तियों द्वारा व्याघात हो जाता है, जो भेद की सत्यता को चुनौती देते हैं उनकी युक्तियाँ स्वरूपतः सर्वथा छलपूर्ण हैं। यह कहना निरर्थक है कि यद्यपि हमारे व्यावहारिक अनुभव में भेद की अनुभूति होती है तथापि पारमार्थिक सत्ता में कोई भेद नहीं है। यह पहले ही प्रदर्शित कर दिया गया है कि मिथ्यात्व की सत् एवं असत् दोनों से भिन्न बताकर परिभाषा देना अर्थहीन है। असत् को अनुभव के लिये मूल्यहीन बताना और उसका निषेध करने का प्रयत्न करना अर्थहीन है, क्योंकि चाहे उसका अनुभव हो अथवा न हो, उसका निषेध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। किसी वस्तु का असत् से भेद असत् के ज्ञान के बिना ज्ञात नहीं किया जा सकता। शुक्ति में रजत के आभास को सत् और असत् से भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रजत के आभास का शुक्ति में अनस्तित्व माना जाता है, यहाँ यह युक्ति नहीं दी जा सकती कि रजत के आभास की अनुभूति हुई थी अतः उसका अनस्तित्व नहीं हो सकता। असत् का सत् के रूप में प्रत्यक्षीकरण करने का अर्थ है एक वस्तु का दूसरी वस्तु में प्रत्यक्षीकरण। यही भ्रम का स्वरूप है। यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अद्वैतवादियों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि वास्तविक अस्तित्व न रखते हुए भी 'अनिर्वचनीय' का प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है। यह भी नहीं माना जा सकता कि ऐसा प्रत्यक्षीकरण स्वयं 'अनिर्वचनीय' होता है, क्योंकि उस अवस्था में 'दुष्ट अनन्त' का दोष उत्पन्न हो जायगा—पहला 'अनिर्वचनीय' दूसरे पर निर्भर करेगा तथा दूसरा तीसरे पर, इत्यादि। यदि रजत का आभास अपने स्वरूप से ही 'अनिर्वचनीय' होता तो उसका उस रूप में प्रत्यक्षीकरण हो जाता तथा भ्रम का निराकरण हो जाता, क्योंकि यदि प्रत्यक्षीकरण के समय रजताभास को 'अनिर्वचनीय' के रूप में ज्ञात किया जाता तो [illegible]

यह अनुभूति हो जाती कि वह भ्रम का अनुभव कर रहा है। 'मिथ्या' शब्द का अर्थ 'अनिर्वचनीय' नहीं होता, उसका अर्थ होना चाहिये अनस्तित्व। ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती जो न सत् है और न असत् है, प्रत्येक व्यक्ति यह प्रत्यक्षीकरण करता है कि वस्तुएँ या तो सत् हैं अथवा नहीं हैं, किसी ने भी ऐसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण नहीं किया है जो न तो सत् है और न असत् है। इस प्रकार तथाकथित 'अनिर्वचनीय' की मान्यता तथा असत् का प्रत्यक्षीकरण दोनों समान रूप से अमान्य हैं, भेद का प्रत्यक्षीकरण मान्य है, तथा अद्वैतवादी मत खण्डित हो जाता है।

श्रुति भी जीवों और ब्रह्मन् के भेद को स्वीकार करती है, यदि श्रुति-पाठ भी असत्य है तो फिर श्रुति के आधार पर अद्वैतवाद का उपदेश देना निरर्थक है। श्रुतियों के आधार पर हमें मानना पड़ता है कि ब्रह्मन् महानतम और उच्चतम है, क्योंकि समस्त मान्य श्रुतियों का आशय इसी इष्टोक्ति की स्थापना करना है—कोई भी एक क्षण के लिये यह नही सोच सकता कि वह ब्रह्मन् से एकरूप हैं, कोई यह अनुभव नहीं करता कि 'मैं सर्वज्ञ हूँ, मै सर्वशक्तिमान हूँ, मैं समस्त दुःखों व दोषों से रहित हूँ' इसके विपरीत हमारा सामान्य अनुभव इसके ठीक विरोध में है, तथा वह अनुभव असत्य नहीं हो सकता क्योंकि उसकी असत्यता का कोई प्रमाण नही है। श्रुतियाँ स्वयं कभी आत्मा और ब्रह्मन् के तादात्म्य की घोषणा नही करती, तथाकथित तादात्म्य-सूचक पाठ (तत् त्वम् असि—'वह तू है') ऐसे उदाहरणों सहित उद्घोषित किया गया है जिन सबका संकेत द्वैतवादी मत की ओर ही है। प्रत्येक तादात्म्य-सूचक पाठ के प्रसंग में दिया गया उदाहरण उसका यथार्थ आशय प्रदर्शित करता है, अर्थात् वह ब्रह्मन् और जीवों के भेद को स्वीकार करता है। जब यह कहा जाता है कि एक के जान लेने पर सभी का ज्ञान हो जाता है, तब तात्पर्य यह है कि ज्ञान का प्रमुख विषय एक ही है, अथवा एक ही सबका कारण है, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं। क्योंकि, यदि एक ही सत्य होता और अन्य सभी वस्तुएँ मिथ्या होती तो हम यह आशा करते कि सत्य के ज्ञान से सर्व मिथ्यात्व का ज्ञान फलित होगा—ऐसी बात असम्भव है (नहि सत्यज्ञानेन मिथ्याज्ञानम् भवति)। यह नहीं कहा जा सकता कि शुक्ति के ज्ञान द्वारा रजत के ज्ञान की प्राप्ति होती है, क्योंकि यह दोनों ज्ञान भिन्न हैं। एक व्यक्ति यह ज्ञान कर लेने पर ही कि 'यह रजत नहीं है,' शुक्ति को ज्ञात कर पाता है, जब तक वह रजत (जो मिथ्या है) को ज्ञात करता है, तब तक वह शुक्ति (जो सत्य है) को ज्ञात नहीं कर पाता। किसी वस्तु को ज्ञात करने से उस वस्तु के निषेध का ज्ञान नहीं होता। एक वस्तु के अनस्तित्व के ज्ञान से पूर्व किसी अन्य स्थान पर उसके अस्तित्व का ज्ञान होना आवश्यक है। लोगों में यह कहने की प्रथा है कि जब सबसे महत्वपूर्ण एवं सबसे आवश्यक वस्तु ज्ञात करली जाती है तब अन्य सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उदाहरण के लिये जब कोई गाँव को जान लिया है। जब कोई पिता

को जान लेता है तब वह कह सकता है कि वह पुत्र को भी जान गया है, 'ओह ! मैं उसे जानता हूँ, वह अमुक व्यक्ति का पुत्र है, मेरा उससे परिचय है,' किसी व्यक्ति को ज्ञात कर लेने पर हम उसके सदृश अन्य व्यक्तियों को ज्ञात करने का दावा कर सकते हैं, एक स्त्री को जान लेने पर कोई कह सकता है 'ओह ! मैं स्त्रियों को जानता हूँ।' 'श्रुति-पाठ ऐसे ही उदाहरणों के आधार पर यह घोषणा करते हैं कि एक को ज्ञात कर लेने पर सभी का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह कहने का कोई कारण नहीं है कि इस प्रकार की उक्तियाँ ब्रह्मन् के अतिरिक्त सभी वस्तुओं के मिथ्यात्व की घोषणा करती हैं। जब श्रुतिपाठ यह घोषणा करते हैं कि मिट्टी के एक पिण्ड को ज्ञात कर लेने पर हम समस्त मिट्टी के बर्तनों को ज्ञात कर लेते हैं, तब उनका आशय केवल समानता से है, क्योंकि ऐसा तो नहीं हो सकता कि सभी मिट्टी के बर्तन एक ही मृत्तिका पिण्ड से 'निर्मित' होते हैं, श्रुति-पाठ यह नहीं कहता है कि मृत्तिका को ज्ञात कर लेने पर हम समस्त मिट्टी के बर्तनों को ज्ञात कर लेते हैं, उसका यह कथन है कि मृत्तिका-पिण्ड को ज्ञात कर लेने पर हम समस्त मिट्टी के बर्तनों को ज्ञात कर लेते हैं। एक मृत्तिका-पिण्ड तथा अन्य समस्त मिट्टी के बर्तनों की समानता ही उक्त श्रुति-पाठ को न्यायोचित सिद्ध करती है। 'वाचारम्भणम्' शब्दों से उत्पन्न मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो 'नामधेय' शब्द अप्रयोज्य होता। अतः हमारा यह निष्कर्ष है कि श्रुतियाँ कहीं भी जगत के मिथ्यात्व की घोषणा नहीं करती, इसके विपरीत, वे जगत को मिथ्या मानने वाले मत की निन्दा से ओत-प्रोत हैं।[1]

परम-आत्मन् या ब्रह्मन् सर्वतंत्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं आनन्दमय है, जबकि जीवात्मन् स्वरूप में यद्यपि उसके समान है तथापि सदा उसके नियंत्रण में रहता है, अल्पज्ञ एवं अल्प शक्तिमान है। यह मानना गलत है कि आत्मन् एक है किन्तु मिथ्या 'उपाधि' के कारण अनेक भासित होता है, यथा यह संकल्प करना असम्भव है कि आत्मन् को त्रुटि से अनात्मन् के रूप में संकल्पित किया जा सकता है। चमत्कार के द्वारा यथार्थ वस्तुओं के अनुकरण में मिथ्या आभास की तथाकथित सृष्टि यथार्थ वस्तुओं के अस्तित्व के कारण ही सम्भव हो सकती है, यथार्थ वस्तुओं के आधार पर ही मिथ्या भ्रम भासित होते हैं। स्वप्न भी यथार्थ अनुभवों के आधार पर घटित होते हैं तथा उनका अनुकरण करते हैं। स्वप्न-सृष्टियाँ अर्द्धचेतन 'वासना' की क्रिया के द्वारा ही सम्पन्न हो सकती हैं, किन्तु यह मानने का कोई कारण नहीं है कि कभी

---

[1] असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्
अपरस्परं-सम्भूतं किमयत् काम-हैतुकम्
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्प—बुद्धयः।

—'गीता' १६:८-६, मध्व द्वारा उद्धृत।

बाधित न होने वाला एवं वस्तुतः अनुभूत होने वाला जगत् स्वप्न सृष्टियों के समान मिथ्या है। इसके अतिरिक्त परमेश्वर सर्वज्ञ एवं स्वयं-प्रकाश है, तथा यह सम्भव नहीं है कि वह अज्ञान से आच्छादित हो जाय। यदि यह युक्ति दी जाय कि एक ब्रह्मन् 'उपाधि' द्वारा अनेक रूपों में भासित होता है तथा वह जन्म पुनर्जन्म के चक्र में भ्रमण करता है, तो चूंकि जन्म-पुनर्जन्म के चक्र अनन्त हैं अतः ब्रह्मन् कभी भी उनसे मुक्त नहीं हो पाएगा और उसका 'उपाधि' से सम्पर्क स्थायी होने के कारण वह कभी मोक्ष की प्राप्ति न कर सकेगा। यह कहने से बचाव नहीं होगा कि विशुद्ध-ब्रह्मन् उपाधियों के द्वारा बन्धन में नहीं पड़ सकता, जो पहले से ही 'उपाधि' से सम्बन्धित है उसे उससे सम्बन्धित करने के लिए एक अन्य उपाधि की आवश्यकता नहीं हो सकती, क्योंकि इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा। फिर, मिथ्या 'उपाधि' की मान्यता को तभी सिद्ध किया जा सकता है जबकि अज्ञान की सत्ता को सिद्ध करने के लिए युक्ति दी जाय, यदि अज्ञान की सत्ता नहीं रख सकता अतः यहाँ अन्योन्याश्रय का दोष उत्पन्न हो जायगा। परिकल्पना के अनुसार सर्वज्ञता उसी में हो सकती है जो मिथ्या 'उपाधि' से असम्बन्धित हो, अतः यदि विशुद्ध ब्रह्मन् स्वयं अज्ञान से सम्बन्धित है तो मोक्ष कदापि सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि उस दशा में अज्ञान ब्रह्मन् का स्वरूप बन जायगा जिससे वह पृथक् नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अज्ञान का ऐसा स्थायी अस्तित्व स्वभावतः ब्रह्मन् और अज्ञान के द्वैतवाद को उत्पन्न कर देगा। यदि यह माना जाय कि 'जीव' के 'अज्ञान' के फलस्वरूप जगत् का आभास सम्भव होता है, तो यह संकेत किया जा सकता है कि यहाँ भी अन्योन्याश्रय का दोष उत्पन्न होता है, क्योंकि 'अज्ञान' के पूर्व अस्तित्व के बिना 'जीव' नहीं हो सकता, और 'जीव' के बिना 'अज्ञान' नहीं हो सकता, 'अज्ञान' के बिना 'उपाधि' नहीं हो सकती, और 'उपाधि' के बिना 'अज्ञान' नहीं हो सकता। न यह माना जा सकता है कि विशुद्ध ब्रह्मन् ही भ्रम के कारण अज्ञानी प्रतीत होता है, क्योंकि जब तक 'अज्ञान' की स्थापना नहीं हो जाती तब तक भ्रम नहीं हो सकता, और जब तक भ्रम नहीं होता तब तक 'अज्ञान' नहीं हो सकता, और जब तक भ्रम नहीं होता तब तक 'अज्ञान' नहीं हो सकता। एक अन्य दृष्टिकोण से भी यह कहा जा सकता है कि जब अद्वैतवादी यह कहते हैं कि समस्त जीवों की मुक्ति होने पर ब्रह्मन् का भी मोक्ष हो जायगा तब वे एक असम्भव तर्क-वाक्य का समर्थन करते हैं, क्योंकि जीव परमाणुओं से भी बहुत अधिक संख्या में होते हैं, एक परमाणु की नोक पर लाखों जीव स्थित हो सकते हैं, तथा यह संकल्पना करना असम्भव है कि ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा वे सब मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व की तार्किक सत्यता पर आश्चर्य नहीं होना चाहिये, क्योंकि हमारे प्रतिपक्षी के विरोध में एक प्रबल युक्ति यही है कि वह अपरोक्ष एवं प्रत्यक्ष ज्ञात की जाने वाली समस्त वस्तुओं का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं कर सकता, और जब तक ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं हो जाते तब तक प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ज्ञात की

गई वस्तुओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हम सभी यह जानते है कि हम अपने अनुभव में सदा जगत के विषयों का उपभोग करते रहते है, तथा इस तथ्य के होते हुए हम कैसे कह सकते है कि अनुभव और अनुभूत पदार्थ में कोई भेद नहीं है? जब हम भोजन का प्रत्यक्षीकरण करते है तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि भोजन की सत्ता नहीं है? किसी प्रत्यक्षीकरण के अनुभव को हम तभी बहिष्कृत कर सकते हैं जब हमें यह ज्ञात हो कि उसकी अवस्थाएँ ऐसी थी जिनके कारण उसकी सत्यता दूषित हो गई। हम दूरी से एक वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करते हैं, हम कुछ बातों में उस पर अविश्वास कर सकते है क्योंकि हम जानते है कि जब हम दूरी पर किसी वस्तु को देखते हैं तब वह छोटी एवं धुंधली प्रतीत होती हैं, किन्तु जब तक इस प्रकार की विक्षेप उत्पन्न करने वाली अवस्थाओं को सिद्ध नही कर दिया जाय तब तक कोई भी प्रत्यक्ष असत्य नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त एक प्रत्यक्षीकरण के दोषों को किसी अन्य परिपक्व प्रत्यक्षीकरण की सहायता से भी ढूंढा जा सकता है। किसी भी युक्ति द्वारा कभी भी जगत के मिथ्यात्व को सिद्ध नही किया जा सका है। साथ ही ज्ञान, अज्ञान, सुख एवं दुःख के अनुभव बाधित नहीं किये जा सकते, अतः यह मानना पड़ता है कि जगत् का अनुभव सत्य है, और सत्य होने के कारण उसका निषेध नही किया जा सकता, अतएव 'अद्वैतवादियों द्वारा इच्छित मोक्ष असम्भव है। यदि प्रत्यक्ष अनुभव की गई वस्तु अधिक सबल अनुभव से रहित छलपूर्ण युक्तियों द्वारा निषेध हो सकता है तो आत्मन् का प्रत्यक्ष अनुभव भी मिथ्या माना जा सकता है। आत्मन् के अस्तित्व के सम्बन्ध में छलपूर्ण युक्तियों की कोई कमी नहीं है, क्योंकि कोई भी यह युक्ति दे सकता है कि सब कुछ मिथ्या है अतः आत्मन् की अनुभूति भी मिथ्या है, तथा कोई कारण नहीं है कि हम अन्य वस्तुओं के अस्तित्व एवं आत्मन् के अस्तित्व में भेद स्थापित करें, क्योंकि अनुभव के रूप में दोनों एक ही स्तर के हैं। यह मान्यता निराधार है कि आत्मन् एक भिन्न स्तर की सत्ता है अतः उसके मिथ्यात्व की घोषणा नहीं की जा सकती। न यह कहना सम्भव है कि समस्त भ्रम आत्मानुभव के आधार पर घटित होते हैं, क्योंकि ऐसा कहने के लिये पहले यह सिद्ध किया जाना चाहिये कि आत्मन् का अनुभव मिथ्या नहीं है जबकि अन्य सभी अनुभव मिथ्या हैं—मध्वानुयायी इसी बात पर आपत्ति उठाते हैं। यदि यह कहा जाय कि अतार्किकता किसी अनुभव का मिथ्यात्व ही प्रदर्शित करती है, तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि वस्तुगत अनुभव के साहचर्य के आत्मानुभव की अतार्किकता अथवा अव्याख्यात्मकता आत्मानुभव के मिथ्यात्व को ही सिद्ध करती है तथा और कुछ भी स्थापित नहीं करती, क्योंकि अद्वैतवादी कहते हैं कि सर्व अनुभव 'अविद्या' से उत्पन्न होने के कारण आत्मानुभव के आभास मात्र हो सकते हैं। 'अविद्या' को भी अव्याख्यात्मक माना जाता है, तथा सर्वसत्ता अनुभव पर नहीं बल्कि तार्किक युक्तियों पर आधारित मानी जाती है, उस दशा में यह भी कहा जा सकता है कि वस्तुएँ यथार्थ द्रष्टा हैं और आत्मन् दृश्य है।

कोई यह भी कह सकता है कि द्रष्टा के बिना भी मिथ्या आभास हो सकते हैं, इस बात की अतार्किकता अथवा अव्याख्यात्मकता से हमें हिचकना नहीं चाहिये क्योंकि 'माया' भी अतार्किक एवं अव्याख्यात्मक है, अतः यह बताना सम्भव नहीं है कि 'माया' किस ढंग से सम्भ्रान्ति उत्पन्न करेगी। भ्रान्ति को उत्पन्न करना 'माया' का एक-मात्र व्यापार है, अतएव हम यह कह सकते हैं कि या तो द्रष्टा के बिना ही दृश्य हैं, अधिष्ठान के बिना ही भ्रम हैं, अथवा वस्तुएँ भी तथाकथित द्रष्टा हैं और आत्मन् या तथाकथित द्रष्टा यथार्थ में एक वस्तु ही हैं।

पुनः यदि सर्व भेदों को 'उपाधि' से उत्पन्न मिथ्या आभास मात्र मान लिया जाय, तो फिर परम सत्ता का अनुभव भी उसी सादृश्य के आधार पर मिथ्या क्यों न मान लिया जाता ? यद्यपि सुख और दुःख की भावनाएँ एक व्यक्ति के विभिन्न अंगों में प्रकट होती हैं, तथापि अनुभव-कर्त्ता एक ही प्रतीत होता है। इसी सादृश्यता के आधार पर विभिन्न शरीरों अथवा व्यक्तियों में पाए जाने वाले अनुभवों को एक ही व्यक्ति का अनुभव क्यों नहीं मान लिया जाता ? पहली दशा में 'उपाधियों' की भिन्नता (जैसे एक व्यक्ति के अंगों की भिन्नता) होने पर एक ही अनुभवकर्त्ता प्रतीत होता है, अतः दूसरी दशा में भी एक से अधिक व्यक्ति के शरीरों की विभिन्न 'उपाधियों' के होने पर भी एक ही अनुभवकर्त्ता हो सकता है और फिर, एक 'उपाधि' के नाश से ब्रह्म अथवा आत्मन् मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मन् अन्य 'उपाधियों' से सम्बन्धित है और सर्वदा बन्धन से पीड़ित रहता।

पुनः, यह प्रश्न उठता है कि 'उपाधि' सम्पूर्ण ब्रह्मन् को आच्छादित करती है अथवा उसके एक अंश को। ब्रह्मन् अवयवों से निर्मित कल्पित नहीं किया जा सकता, यदि 'उपाधि' का साहचर्य अन्य उपाधि के कारण माना जाय तो अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा। फिर, चूँकि ब्रह्मन् सर्व-व्यापी है, उसमें 'उपाधि' के द्वारा कोई भेद नहीं हो सकता, तथा ब्रह्मन् के एक अवयव की संकल्पना सम्भव नहीं है, 'उपाधि' केवल उन्हीं वस्तुओं के लिए सम्भव है जो दिक् व काल से सीमित हों। पुनः इसी कारण से विभिन्न 'उपाधियों' द्वारा उत्पन्न अनुभव एक ही ब्रह्मन् के अनुभव होने चाहिये, तथा उस दशा में जैसे एक व्यक्ति के विभिन्न अंगों के सुख व दुःख का अनुभव उस एक ही व्यक्ति का अनुभव माना जाता है वैसे विभिन्न शरीरों के द्वारा एक ही अनुभव की प्रतीति होनी चाहिये।

पुनः, विशुद्ध ब्रह्मन् जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्रों में भ्रमित नहीं हो सकता क्योंकि वह शुद्ध होती है। तो फिर अद्वैतवादियों के अनुसार जन्म, पुनर्जन्म एवं बन्धन 'उपाधि' एवं बन्धन 'उपाधि' एवं 'माया' से सम्बन्धित ब्रह्मन् में पाए जाने चाहिये। अब प्रश्न यह है : क्या 'माया' से सम्बन्धित ब्रह्मन् विशुद्ध ब्रह्मन् से भिन्न है अथवा

उससे एक-रूप है ? यदि वह विशुद्ध ब्रह्मन् से एक-रूप है तो वह बन्धन से पीड़ित नहीं हो सकता। यदि वह उससे एक-रूप नहीं है तो प्रश्न यह है कि वह नित्य है अथवा अनित्य, यदि वह नित्य नहीं है तो वह नष्ट हो जायगा और उसका मोक्ष नहीं होगा, यदि वह नित्य है, तो यह मानना पड़ता है कि 'माया' और 'ब्रह्मन्' नित्य सम्पर्क में रहते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि परम सत्ताएं दो हैं। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म शुद्ध स्वरूप में एक ही है, यद्यपि वह 'उपाधि' के सम्पर्क से अनेक भासित होता है, तो सीधा उत्तर यह है कि यदि शुद्ध स्वरूप 'उपाधि' के सम्पर्क में आ सकता है तो वह स्वयं शुद्ध नहीं माना जा सकता। यह कहना कि 'उपाधि' मिथ्या है अर्थहीन है, क्योंकि मिथ्यात्व और 'उपाधि' के प्रत्यय अन्योन्याश्रित हैं। न यह कहा जा सकता है कि 'उपाधि' अनादि 'कर्म' के कारण है, क्योंकि जब तक 'उपाधि' की अनेकता सिद्ध नहीं की जा सकती तब तक 'कर्म' की अनेकता सिद्ध नहीं की जा सकती, चूंकि दोनों प्रत्यय अन्योन्याश्रित हैं। अतः अद्वैतवादी मत हमारे सर्व प्रमाणों से बाधित हो जाता है, और समस्त मूल श्रुतियाँ द्वैतवादी मत का समर्थन करते हैं। अद्वैतवादी मत के आधार पर 'माया' और ब्रह्मन् दोनों का वर्णन नहीं किया जा सकता, यह अनुभूति करना भी कठिन है कि ब्रह्मन् अथवा अद्वैती स्वयं की अभिव्यक्ति कैसे कर सकता है, क्योंकि यदि वह एक है तथा क्रिया-रहित है तो वह स्वयं की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ होना चाहिये। यदि वह अन्य व्यक्तियों के प्रति, जिनका अस्तित्व नहीं है, अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर सकता, तो वह स्वयं को स्वयं के प्रति भी अभिव्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि स्वक्रिया असम्भव है (न च स्वेनापि ज्ञेयत्वं तदुच्यते कर्तृ-कर्म-विरोधात्)। ज्ञाता के बिना कोई ज्ञान सम्भव नहीं है। ज्ञाता और ज्ञेय से रहित ज्ञान रीता और शून्य है, क्योंकि किसी ने भी ऐसे ज्ञान की अनुभूति नहीं की है जहाँ ज्ञान और ज्ञाता न हो।

मध्व के 'विष्णु-तत्व-निर्णय' पर जयतीर्थ द्वारा 'विष्णु-तत्व-निर्णय-टीका,' केशवस्वामिन् द्वारा 'विष्णु-तत्व-निर्णय-टीका-टिप्पणी,' श्रीनिवास एवं पद्मनाभतीर्थ द्वारा 'विष्णु-तत्व-निर्णय-टिप्पणी,' रघूत्तम द्वारा 'भक्त-बोध' नामक टीकाएं लिखी गईं, उस पर 'विष्णु-तत्व-निर्णय-टीकोपन्यास' नामक एक अन्य टीका भी लिखी गई। इनके अतिरिक्त 'विष्णु-तत्व-निर्णय-व्याख्यार्थ' और वनमाली मिश्र की 'विष्णु-तत्व-प्रहास' नामक स्वतंत्र रचनाएं भी लिखी गईं जो 'विष्णु-तत्व-निर्णय' की अनुगामी कही जा सकती हैं।[1]

---

[1] अतो ज्ञातृ-ज्ञेयाभावात् ज्ञानमपि शून्यत्वैव, अतः शून्य-वादान् न कश्चिद् विशेषः, न च ज्ञातृ-ज्ञेय-रहितं ज्ञानं क्वचिद् दृष्टम्।

—वही, पृ० २७५ (१७)।

मध्व की 'न्याय-विवरण' छः सौ से अधिक ग्रन्थों की रचना है जिसमें 'ब्रह्म-सूत्र' के विभिन्न अध्यायों के तार्किक सम्बन्ध का विवरण दिया गया है। उस पर विट्ठल-सुतानन्दतीर्थ, मुद्गलतीर्थ और रघूत्तम द्वारा अनेक टीकाएं लिखी गईं, जयतीर्थ ने भी उस पर 'न्याय-विवरण-पंजिका' लिखी। मध्व के 'न्याय-विवरण' की दिशा में राघवेन्द्र, विजयीन्द्र व वादिराज ने क्रमशः 'न्याय-मुक्तावली,' 'न्याय-मौक्तिकमाला' और 'न्याय-मुक्तावली' लिखी। मध्व ने अपने 'भाष्य,' 'अनुभाष्य' व 'अनुव्याख्यान' को समाप्त करने के पश्चात् 'न्याय-विवरण' की रचना की थी। इस रचना का विस्तार से अनुसरण करना आवश्यक नहीं है, किन्तु हम संक्षेप में मध्व की विवेचन-पद्धति की ओर संकेत करेंगे। वे कहते हैं कि 'ब्रह्म-सूत्र' की रचना उपनिषदों की अद्वैतवादी व्याख्या का खण्डन करने के लिए की गई थी। एक अद्वैतवादी के अनुसार ब्रह्म स्वयं-प्रकाश होने के कारण जिज्ञासा का विषय नहीं बन सकता, इस मत के विरोध में 'ब्रह्म-सूत्र' इस मान्यता से प्रारम्भ होता है कि ब्रह्म के सर्व-गुण-सम्पन्न परम पुरुष होने के कारण सीमित मनस् उसका अवधारण कठिनाई से कर सकता है। फिर परम पुरुष की महानता के विस्तार के सम्बन्ध में स्वाभाविक जिज्ञासा व्यक्त की गई है तथा द्वितीय 'सूत्र' में यह प्रदर्शित किया गया है कि ब्रह्म जीवों से एक-रूप नहीं हो सकता क्योंकि वह जगत् की उत्पत्ति का उद्गम स्थान है, तथा वही जगत् का पालन-कर्त्ता भी है। तृतीत 'सूत्र' में हमको ज्ञात होता है कि जगत् का ब्रह्म-कारणत्व श्रुतियों के माध्यम के अतिरिक्त नहीं माना जा सकता, चतुर्थ सूत्र में हम पढ़ते हैं कि जिन श्रुतियों द्वारा हम ब्रह्म को जान सकते हैं वे उपनिषद् के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकतीं। इस प्रकार, अपने समस्त प्रथम अध्याय में मध्व यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं कि यदि हम संदिग्ध श्रुति-पाठों की स्पष्ट एवं निश्चित अर्थ वाले श्रुति-पाठों के आधार पर व्याख्या करें तो हम पाएंगे कि वे भी परमेश्वर की श्रेष्ठता एवं अनुभवातीतता की घोषणा करते हैं। प्रथम भाग में शेष अध्यायों में भी जीवों की तुलना में परमेश्वर की अनुभवातीतता की धारणा के साथ श्रुति-पाठों के सामंजस्य विधान का क्रम बना रहता है। चतुर्थ भाग का विवरण देते समय मध्व अपने उस मनोनीत मत का विवेचन करते हैं जिसके अनुसार सभी व्यक्तियों को मोक्ष नहीं मिल सकता, क्योंकि केवल कुछ व्यक्ति ही मुक्ति के योग्य होते हैं।[1] वे आगे कहते हैं कि प्रतिदिन ईश्वर के श्रेष्ठ गुणों का निरन्तर कीर्त्तन करके उसकी उपासना करनी चाहिये। शास्त्रीय कर्त्तव्यों के साथ-साथ ध्यान और उसके उपांगों के बिना परमेश्वर का अपरोक्ष अनुभव नहीं हो सकता।[2] यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान का उदय होने पर सर्व 'कर्मों' का नाश हो जाता है और मोक्ष स्वतः

---

[1] महा-फलत्वात् सर्वेषामशक्त्यैव उपपन्नत्वात्, अन्यथा
सर्व-पुरुषाशक्यस्यैव साधनतया सर्वेषाम् मोक्षापत्तेः। —वही।

[2] ध्यानं विना अपरोक्ष-ज्ञानाख्य-विशेष-कार्यानुपपत्तेः। —वही।

प्राप्त हो जाता है, क्योंकि ज्ञान तो केवल 'अप्रारब्ध' कर्मों को मिटा सकता है। 'प्रारब्ध' 'कर्मों' का फल तो उनकी समाप्ति होने तक भोगना ही पड़ता है। इस प्रकार मध्व 'जीवन्मुक्ति' के सिद्धान्त के पक्ष में हैं। यद्यपि यह कहा गया है कि सम्यक्-ज्ञान का उदय 'अप्रारब्ध कर्मों' को मिटा देता है, तथापि कर्ता परमेश्वर ही है। जब मनुष्य में सम्यक्-ज्ञान उदित होता है तब परमेश्वर प्रसन्न हो जाता है और 'अप्रारब्ध कर्मों' का नाश कर देता है।[1] मृत्यु-काल' में सर्व ज्ञानी व्यक्ति अग्नि की ओर अग्रसर होते हैं और वहाँ से 'वायु' की ओर जो उन्हें ब्रह्म तक पहुँचा देती है, क्योंकि 'वायु' के द्वारा ही ब्रह्म तक पहुँचा जा सकता है। जो जगत् में फिर से आते हैं वे धम्र में से गमन करते हैं, तथा अन्य व्यक्ति अपने पापी चरित्र के कारण निम्नतम लोक में पतित होते हैं। मोक्ष की अवस्था में भी मुक्त प्राणी विशुद्ध आनन्द के रूप में भक्ति का उपभोग करते हैं।

मध्व की 'तंत्र-सार-संग्रह' कर्म-काण्ड पर चार अध्यायों की एक रचना है जिसमें 'मंत्रों' के प्रयोग से विष्णु की उपासना-विधि बताई गई है तथा कर्मकाण्डीय उपासना के विभिन्न उपक्रम दिये गये हैं। उस पर चलारि नृसिंहाचार्य, चलारि शेषाचार्य, रघुनाथयति और श्रीनिवासाचार्य द्वारा टीकाएँ लिखी गई हैं। जयतीर्थ ने 'तंत्र-सारोक्त-पूजाविधि' नामक लघु रचना पद्य में लिखी, उस पद्धति से श्रीनिवासाचार्य ने 'तंत्र-सार-मंत्रोद्धार' नामक एक छोटी कृति लिखी।

मध्व ने 'सदाचार-स्मृति' नामक एक अन्य लघु रचना भी लिखी जो चालीस श्लोकों में है। यह रचना भी कर्म-काण्ड पर है जिसमें एक अच्छे 'वैष्णव' के कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। इस पर द्रोणाचार्य ने 'सदाचार-स्मृति-व्याख्या' नामक टीका लिखी।

मध्व ने 'कृष्णामृत-महार्णव' नामक एक और छोटी कृति लिखी। मुझे उस पर कोई टीका नहीं मिली। उसमें दो सौ बयालीस श्लोक हैं जो विष्णु की उपासना की विधियों का वर्णन करते हैं तथा परमेश्वर के अति-श्रेष्ठ स्वरूप के सतत ध्यान व उपासना पर बल देते हैं। उनमें पापों के निवारण के लिए पश्चात्ताप एवं ईश्वर-नाम के ध्यान के साधनों का उल्लेख किया गया है। मध्व आगे कहते हैं कि वर्तमान कलि-काल में ईश्वर की 'भक्ति' ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। ईश्वर का ध्यान ही सर्व पापों का नाश कर-सकता है।[2] ईश्वर का ध्यान करने वालों के लिये कोई शौच

---

[1] कर्माणि क्षपयेद् विष्णुरप्रारब्धानि विद्यया
प्रारब्धानि तु भोगेन क्षपयन् स्वयं पदं नयेत। —वही, १६।

[2] स्मरणादेव कृष्णस्य पापसंघट्ट पंजरः
शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्राहतो यथा। —'कृष्णामृत-महार्णव,' श्लोक, ४६।

एवं किसी सन्यास की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर-नाम ही पापों को दूर करने का एकमात्र साधन है। इस प्रकार सम्पूर्ण 'कृष्णामृत-महार्णव' ईश्वर की महिमा का वर्णन करती है, उसकी उपासना की विधियों का विवरण देती है तथा महत्वपूर्ण तिथियों पर अच्छे 'वैष्णवों' के कर्त्तव्यों का उल्लेख करती है।

मध्व ने लगभग एक सौ तीस श्लोकों की 'द्वादशस्तोत्र' नामक एक अन्य लघु रचना भी लिखी। इस पुस्तक के लेखक को उस पर कोई टीका उपलब्ध नहीं हुई है।

उन्होंने दो श्लकों में 'नरसिंह-नख-स्तोत्र' नामक एक अन्य अति लघु रचना तथा इक्यासी श्लोकों की 'यमक-भारत' कृति लिखी। 'यमक-भारत' पर यदुपति एवं तिम्मण्ण भट्ट ने टीकाएँ लिखीं, और इनमें मध्व कृष्ण की कथा का विवरण देते हैं जिसमें वृन्दावन की घटनाओं तथा पाण्डवों के साथ हस्तिनापुर की घटनाओं का समावेश किया गया है।

उन्होंने 'ऋग्वेद' की कुछ चुनी हुई ऋचाओं की टीका के रूप में 'ऋग्वेद-भाष्य' भी लिखी जिस पर जयतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, वेंकट, चलारिनृसिंहाचार्य, राघवेन्द्र, केशवाचार्य, लक्ष्मीनारायण व सत्यनाथ यति ने टीकाएँ लिखी। इस लेखक को दो अन्य अज्ञात लेखकों की ऐसी कृतियों की जानकारी है जो 'ऋग्वेद-भाष्य' की पद्धति के अनुसार लिखी गई हैं, वे हैं 'ऋगर्थ-चूड़ामणि' और 'ऋगर्थोद्धार'। राघवेन्द्रयति ने भी 'ऋगर्थ मंजरी' नामक रचना उसी पद्धति पर लिखी। 'ईशोपनिषद' पर मध्व द्वारा लिखे गये भाष्य पर जयतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, रघुनाथयति, नृसिंहाचार्य और सत्यप्रज्ञयति ने टीकाएँ लिखीं तथा राघवेन्द्रतीर्थ ने 'ईश,' 'केन,' 'कठ,' 'प्रश्न,' मुण्डक, और 'माण्डूक्य' उपनिषदों पर एक पृथक् रचना लिखी जो मध्व द्वारा की गई इन उपनिषदों की व्याख्या-पद्धति का अनुसरण करती है। मध्व द्वारा 'ऐतरेयोपनिषद' पर लिखे गये भाष्य पर ताम्रपर्णी श्रीनिवास, जयतीर्थ, विश्वेश्वरतीर्थ व नारायण-तीर्थ ने टीकाएँ लिखीं और नरसिंह यति ने 'ऐतरेयोपनिषद्-खण्डार्थ' नामक पृथक् ग्रंथ लिखा जिस पर श्रीनिवास तीर्थ ने 'खंडार्थ-प्रकाश' टीका लिखी। मध्व के 'कठोपनिषद्भाष्य' पर वेदेश ने टीका लिखी। व्यास तीर्थ ने मध्व के 'केनोपनिषद्-भाष्य' पर अपनी 'केनोपनिषद्-भाष्य-टीका' लिखी, जबकि राघवेन्द्र तीर्थ ने एक पृथक रचना 'केनोपनिषद्-खण्डार्थ' लिखी। मध्व के 'छांदोग्योपनिषद्-भाष्य' पर व्यास तीर्थ द्वारा टीका लिखी गई, वेदेश और राघवेन्द्र तीर्थ ने 'छांदोग्योपनिषद्-खण्डार्थ' नामक एक पृथक ग्रन्थ लिखा। मध्व के 'तलवकार-भाष्य' पर निम्नलिखित टीकाएँ लिखी गई— व्यास तीर्थ द्वारा 'तलवकार-भाष्य-टीका' और वेदेश भिक्षु द्वारा 'तलववार-टिप्पणी' और नृसिंह भिक्षु ने 'तलवकार-खण्डार्थ-प्रकाशिका' लिखी। मध्व के 'प्रश्नोपनिषद्-भाष्य' पर जयतीर्थ द्वारा 'प्रश्नोपनिषद्-भाष्य-टीका' लिखी गई जिस पर श्री निवास

कर लिया गया। यही शोभन भट्ट फिर पद्मनाभ तीर्थ के रूप में प्रख्यात हुआ। मध्व का शास्त्रार्थ एक अन्य विद्वान से भी हुआ जो कलिंग प्रदेश का प्रधान मंत्री था; उसका भी मध्व द्वारा मत-परिवर्तन कर लिया गया और उसे नरहरि तीर्थ नाम दिया गया। इस बीच कलिंग-सम्राट् का देहावसान हो गया और नरहरि तीर्थ को सम्राट् के शिशु पुत्र की देख-रेख करने तथा उसके नाम पर राज्य का शासन करने का आदेश मिला। मध्व की आज्ञा से नरहरि ने बारह वर्ष तक राजसत्ता चलाई और कलिंग साम्राज्य के कोष में संगृहित राम और सीता की मूर्तियाँ निकाल कर उन्हें भेंट कीं। एक बार मध्व का उस स्थान में रहने वाले पद्म तीर्थ नामक प्रमुख अद्वैती से प्रखर विवाद के फलस्वरूप झगड़ा हो गया और वह पराजित होने पर मध्व का पुस्तकालय लेकर भाग खड़ा हुआ, किन्तु जयसिंह नामक एक स्थानीय मुखिया की मध्यस्थता से मध्व को पुनः पुस्तकें प्राप्त हो गईं। उसके पश्चात् मध्व ने त्रिविक्रम पंडित नामक एक अन्य अद्वैती को पराजित किया जो मध्व-मत में परिवर्तित हो गया और 'मध्व-विजय' का लेखक बना। मध्व के देहावसान के पश्चात् पद्मनाभ तीर्थ गद्दी पर बैठे और उनके उत्तराधिकारी नरहरि तीर्थ बने। हमने आचार्यों की उत्तराधिकार सूची पहले ही दे दी है तथा दक्षिण के मध्व मठों से उपलब्ध मध्व-गुरुओं की सूची से प्राप्त उनकी तिथियाँ भी दे दी हैं। जी० वेन्कोबा राव ने मध्वाचार्यों के इतिहास विषयक एक लेख में मध्व के जीवन के प्रमुख तथ्यों का निम्नलिखित काल-क्रम प्रस्तुत किया है: मध्व का जन्म शक १११८, प्रव्रज्या-ग्रहण शक ११२८, दक्षिण की यात्रा, बदरी का तीर्थाटन, शोभन भट्ट, श्याम शास्त्री व गोविन्द भट्ट का मत-परिवर्तन, बदरी की दूसरी बार तीर्थ-यात्रा, नरहरि की राजसत्ता का प्रारम्भ शक ११८६, नरहरि राजसत्ता का अन्त शक ११९७, मध्वाचार्य का देहावसान एवं पद्मनाभ आरोहण शक ११९७, पद्मनाभ तीर्थ का देहावसान शक १२०४ एवं नरहरि का आचार्यत्व काल १२०४-५।

एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीज्यन एंड एथीक्स (भाग ७) में 'मध्व-चरित' पर अपने लेख में ग्रियर्सन का विचार है कि मध्व-मत पर ईसाई-मत का प्रभाव बहुत स्पष्ट है; उनका कथन है कि मध्व का जन्म-स्थान कल्याणपुरा नामक प्राचीन नगर में अथवा उसके निकट था। कल्याणपुरा भारत में एक सबसे प्रारम्भिक ईसाई उपनिवेश के रूप में प्रख्यात रहा है ये ईसाई 'नेस्टोरियन' थे। फिर नारायण की 'मध्व-विजय' में वर्णित आख्यानों में से एक आख्यान के अनुसार एक ब्राह्मण के सम्मुख अनन्तेश्वर की आत्मा अवतरित हुई तथा उसे इस शुभ संदेश की घोषणा करने वाला दूत बताया कि स्वर्ग का साम्राज्य समीप ही है। बालक मध्व अपने माता-पिता द्वारा एक जंगल में से ले जाया जा रहा था तब दुष्ट प्रेतों द्वारा उनकी राह में विघ्न उत्पन्न किये गये, पर मध्व द्वारा फटकारे जाने पर वे भाग खड़े हुए। एक बार बालक मध्व पाँच वर्ष की आयु में अपने माता-पिता से बिछुड़ गया था और मिलने पर वह शास्त्रों के अनुसार विष्णु की उपासना का उपदेश देते हुए पाया गया। दक्षिणी जिलों का पर्यटन करते समय

मध्व ने अपने अनुगामियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भोजन के भण्डार की अभिवृद्धि की बताते है। अपनी उत्तर की यात्रा में वे अपने पाँव गीले किये बिना पानी पर चले तथा एक अन्य अवसर पर उन्होंने अपनी कठोर दृष्टि से क्रोधित समुद्र को शांत कर दिया। मध्व के सम्बन्ध में इन चमत्कारों से और इन तथ्यों से कि मध्व के भक्ति-सिद्धान्त एवं ईसाइयों के भक्तिवाद में बहुत साम्य है तथा मध्व एक ऐसे स्थान में समृद्धि-सम्पन्न हुए जहाँ ईसाइयों का निवास था। ग्रियर्सन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मध्ववाद में ईसाई प्रभाव का तत्व था। इस तथ्य की व्याख्या भी उपर्युक्त मान्यता के पक्ष में की गई है कि मध्व के अनुसार मोक्ष केवल 'वायु' देव की मध्यस्थता से प्राप्ति किया जा सकता है। किन्तु मेरे विचार में इन युक्तियों में मध्व पर ईसाई प्रभाव को खोजने का यथेष्ट आधार नहीं मिल सकता। भक्ति-सिद्धान्त बहुत प्राचीन है तथा उनका यथेष्ट विकसित रूप कुछ वैदिक एवं उपनिषदिक श्लोकों में, 'गीता', 'महाभारत' व प्रारम्भिक 'पुराणों' में उपलब्ध हो जाता है। कल्याणपुरा में कुछ ईसाई रहे होंगे किन्तु ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि वे इतने महत्वपूर्ण थे कि मध्व के परम्परागत मत को प्रभावित कर पाते। वे अन्य आचार्यों की भाँति बारम्बार यह कहते हैं कि उनके सिद्धान्त वेदों, 'गीता', 'पंचरात्र', और 'महाभारत' पर आधारित हैं। हमें मध्व और ईसाइयों के बीच किसी विवाद का विवरण भी उपलब्ध नहीं होता है तथा उनके बहुभाषी होने का ईसाई-साहित्य से परिचित होने का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि प्रायः 'वायु' को मध्यस्थ के रूप में स्वीकार किया गया है तथापि प्रमुख बल ईश्वर-ज्ञान पर आधारित ईश्वरानुग्रह पर दिया गया है, मध्व-मत में कहीं भी 'ट्रिनिटी-सिद्धान्त' की छाप नहीं मिलती। अतः सम्भाव्य ईसाई मत के प्रभाव का सुझाव बहुत अस्वाभाविक प्रतीत होता। किन्तु बर्नेल अपने लेख "दी इण्डियन आन्टीक्वेरी" (१८७३-७४) में ग्रियर्सन का समर्थन करते हैं; पर गार्बे यह सम्भव मानते हैं कि कल्याणपुरा एक अन्य कल्याण हो सकता है; जो बम्बई के उत्तर में है, जबकि ग्रियर्सन के विचार में वह उदिपि स्थित कल्याण ही होना चाहिये जो मलाबार के निकट है।

बर्नेल फिर यह निर्देश करते हैं कि नवीं शताब्दी के आरम्भ से पूर्व कुछ पारसी मनिग्राम में बस गये थे तथा वे आगे यह सुझाव देते हैं कि ये पारसी 'मैनीचियन' थे। किन्तु बर्नेल के मत का कालिन्स ने सफलतापूर्वक खण्डन किया है। यद्यपि वे इस सम्भावना को अस्वीकार नहीं कर सके कि 'मनिग्राम' (मनि) अर्थात् प्रेतात्मा शब्द से निकला है। ग्रियर्सन बर्नेल के विचार का समर्थन करते हैं जिसने शंकर के रूप में जन्म लिया बताते हैं और जिसका कपोलकल्पित विवरण नारायण की 'मणिमंजरी' में दिया गया है। यह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि मणिमत का आख्यान विचित्र है, क्योंकि मणिमत 'महाभारत' में भीम के विरोधी के रूप में एक बहुत महत्वहीन भाग

लेता है, किन्तु शंकर के दर्शन अथवा धर्म-दर्शन में द्वैतवाद जैसी कोई विचारधारा नहीं है जिसमें प्रकाश (ईश्वर) और अन्धकार नामक दो सिद्धान्तों को माना गया हो।

सन् ११९७ में पद्मनाभ तीर्थ आचार्यत्व में मध्व के उत्तराधिकारी बने और सन् १२०४ में उनका देहावसान हो गया। उन्होंने 'अनुव्याख्यान' पर 'सन्न्याय-रत्नावली' नामक टीका लिखी। नरहरि तीर्थ, जो मध्व के व्यक्तिगत शिष्य रहे बताते हैं, सन् १२०४ से १२१३ तक आचार्यत्व की गद्दी पर विराजमान रहे,[1] उन्होंने मध्व के 'ब्रह्म-सूत्र-भाष्य' पर एक 'टिप्पणी' लिखी। हमें आगामी आचार्य मध्व तीर्थ (सन् १२१३-३०) द्वारा रचित किसी ग्रन्थ की जानकारी नहीं है। सन् १२३० से १२४७ तक अक्षेभ्य तीर्थ आचार्य रहे और फिर जय तीर्थ सन् १२४७ से १२६८ तक रहे। ऐसा माना जाता है कि जयतीर्थ न केवल अक्षोभ्य तीर्थ के शिष्य थे बल्कि पद्मनाभ तीर्थ के भी शिष्य थे।[2] वे मध्व शाखा के सबसे पारंगत लेखक थे तथा उन्होंने कई गम्भीर विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं; उदाहरणार्थ, मध्व के 'ऋग्भाष्य' पर 'ऋग्भाष्य-टीका', 'ईशोपनिषद्-भाष्य' पर 'व्याख्यान विवरण' 'प्रश्नोपनिषद्-भाष्य-टीका', 'गीता-भाष्य' पर 'प्रमेय-दीपिका', 'गीता-तात्पर्य-निर्णय' पर 'न्याय-दीपिका' और 'ब्रह्म-सूत्र-भाष्य' पर 'तत्व-प्रकाशिका' पर उनकी सबसे पांडित्यपूर्ण एवं तीक्ष्ण रचना 'न्याय-सुधा' है, जो मध्व के 'अनुव्याख्यान' पर एक टीका है। यह एक महान् कृति है। वे उसके प्रारम्भ में बताते हैं कि अक्षेभ्य तीर्थ उनके गुरु थे। मध्व-शाखा के अधिकांश लेखकों का वह प्रमुख आधार ग्रंथ है, उस पर 'न्याय-सुधा-परिमल' नामक ग्रंथ में राघवेन्द्र यति द्वारा टीका लिखी गई। सी० एम० पद्मनाभाचार्य 'न्याय-सुधा' के सम्बन्ध में कहते हैं कि सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में इससे अधिक अधिकारपूर्ण टीका उपलब्ध नहीं है।

रामानुज और मध्व

हमें ज्ञात है कि मध्व का दर्शन-तंत्र द्वैतवाद एवं अनेकतत्ववाद का प्रतिरक्षक होने के नाते शंकर व उनके अनुयायियों को अपना प्रमुख शत्रु मानता था, एतएव उन्हीं को अपनी प्रबलतम आलोचना का लक्ष्य बनाया। मध्व का आविर्भाव तेरहवीं सदी में हुआ था तथा उस समय तक वाचस्पति, प्रकाशात्मन्, सुरेश्वर व अन्य अद्वैतवाद के प्रमुख व्याख्याता शंकर के अद्वैतवादी दर्शन के समर्थन में पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिख चुके

---

[1] नरहरि के जीवन की प्रगति एवं तिथि के सम्बन्ध में विवेचन के लिये देखिये Epigraphica Indica भाग ६, पृ० २०६, इत्यादि।

[2] हैल्मथ वॉन ग्लेसेनेपक का "Madhva's philosophica des Vishum Glanbens", १९२३, पृ० ५२।

थे। मध्व और जयतीर्थ और व्यासतीर्थ व उनके अन्य अनुयायियों ने जगत के मिथ्यात्व के पक्ष में दी गई अद्वैतवादी युक्तियों का खंडन करने का भरसक प्रयत्न किया तथा जगत की सत्यता एवं अनेकता, आत्मन् व ब्रह्मन् के भेद एवं ब्रह्मन् के सगुणत्व को स्थापित करने का पूरा प्रयास किया। उन पर शंकर-मत के लेखकों द्वारा फिर से आक्रमण किया गया और फलतः इन दो महत्वपूर्ण विचार-शाखाओं के सदस्यों के परस्पर आक्रमण एवं प्रत्याक्रमणों का एक लम्बा इतिहास बन गया। किन्तु पाठकगण स्वभावतः यह जानने के इच्छुक होंगे कि मध्व और रामानुज के सम्प्रदायों का सम्बन्ध कैसा था ? मध्व स्वयं ऐसा कोई वक्तव्य नहीं देते हैं जिसे उनके पूर्ववर्ती रामानुज के विरोध में प्रत्यक्ष आक्रमण समझा जा सके, किन्तु उनके परवर्ती युग में रामानुज और मध्व की शाखाओं के अनुयायियों में गम्भीर शास्त्रार्थ होने का प्रमाण मिलता है; उदाहरणार्थ, सौलहवीं सदी में परकाल-यति ने 'विजयीन्द्र-पराजय' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें स्पष्टतः मध्व-दर्शन के प्रमुखतम सिद्धांतों का खंडन किया गया है। इस ग्रन्थ का यहाँ संक्षिप्त विवरण देना वांछनीय होगा क्योंकि वह विरल है एवं पाण्डुलिपि में ही उपलब्ध है।

परकाल यति अपने विचारों को वेंकट के 'तत्व-मुक्ताकलाप' से ग्रहण करते हैं तथा अपने मत के समर्थन में उसमें से श्लोकों को बहुधा उद्धृत करते हैं। उनका आक्रमण मध्व के उस सिद्धांत पर किया गया है जो रामानुज के पदार्थ-विभाग ('द्रव्य' और 'अद्रव्य') का परित्याग करता है तथा उस मत पर जो गुणों को द्रव्य के अंग मानता है, यही 'विजयीन्द्र-पराजय' के प्रथम दो भागों की विषय-सामग्री है।

द्रव्य एवं गुणों के भेद के सम्बन्ध में मध्व की स्थिति का वर्णन करते हुए लेखक कहता है कि मध्वों के विचार में 'घट नीला है' वाक्य इस तथ्य से न्यायसंगत बनता है कि 'नीलत्व' घट के 'यथेष्ट विवरण' में समाविष्ट होता है तथा उससे भिन्न अस्तित्व नहीं रखता। उनके अनुसार यह कहना गलत है कि घट के गुण घट से पृथक् रहते हैं तथा किसी विशेष क्षण में उसमें प्रविष्ट होते हैं। स्वयं घट के प्रत्यय में उसके समस्त गुणों का समावेश हो जाता है तथा वे कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रखते, अर्थात् वे घट से 'अपृथक्-सिद्ध' हैं। परकाल यति निर्देश करते हैं कि चूंकि हमें ज्ञात है कि गुणरहित घट ऊष्मा के कारण नीला रंग ग्रहण करता है, अतः नीला रंग घट से भिन्न माना जा सकता है।[1] रंग आदि गुणों का द्रव्य अधिष्ठान है तथा वे अवस्थानुसार उसमें प्रवाहित होते हैं अथवा नहीं होते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि गुणों के प्रवाह

---

[1] घटे पाकेन नैल्यनोत्पन्नम् इत्यनन्यथा-सिद्ध-प्रत्यक्षं च तत्र प्रमाणं किंच रूपादि स्वाधिकरणाद्ऽभिन्नं स्वाश्रेय स्फारे अस्य आगमोपाधि-धर्मत्वात्।

विजयीन्द्र-पराजय, पृ० ३ (पाण्डुलिपि)।

को निश्चित करने वाली अवस्था द्रव्य का स्वरूप ही है जिससे गुण अपृथक् हैं क्योंकि द्रव्य और गुणों के अपृथक्त्व की सम्भावना स्वयं विवाद-ग्रस्त है और उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त एक 'उपाधि' का अस्तित्व तभी प्रासंगिक हो सकता है जब वस्तुएँ भिन्न हों और 'हेतु' एवं 'साध्य' का साहचर्य कुछ परिस्थितियों में ही सत्य हो, उस दशा में ये परिस्थितियाँ साहचर्य को निश्चित करने वाली अवस्था (उपाधि) कही जाती हैं।[1]

किन्तु यदि मध्व-गण यह युक्ति दें कि रामानुज-गण भी द्रव्य और गुणों के अपृथक् स्वरूप को स्वीकार करते हैं तो इसका उत्तर होगा कि रामानुज के अनुसार 'अपृथकसिद्धत्व' का अर्थ केवल यही है कि द्रव्य और गुण के संयुक्त होने पर उनके तत्व पृथक् नहीं किये जा सकते।[2] केवल इस तथ्य से कि 'नीला घट' पद की किसी स्वामित्व सूचक प्रत्यय के बिना भी 'नीलत्व' एवं 'घट' के तादात्म्य का आभास देता है। यह निष्कर्ष नहीं निकल जाता कि 'नीला' तथा 'घट' में वस्तुतः तद्रूपता विद्यमान है। स्वयं मध्व-गण भी नीलत्व और घटत्व को एक ही नहीं मानते, अतः उनको यह स्वीकार करना पड़ता है कि नीलत्व किसी प्रकार घट का विशेषण बनता है। इस प्रकार की स्वीकृति से स्वयं उनका सिद्धांत खंडित हो जायगा।[3] यदि 'नीला' से भिन्न 'नीलत्व' को 'कमलत्व' से संबंधित किया जाय तो इस तथ्य की स्वीकृति कि 'नीला' एवं 'कमल' शब्दों का एक ही प्रत्यय लगाकर विशेषणात्मक और द्रव्यात्मक प्रयोग किया जाय तब वे एक ही वस्तु को सूचित करते हैं, यह कोई युक्ति-संगत तर्क नहीं है। यदि उनके भिन्न अर्थ समझे जायं तो एक द्रव्य होगा और दूसरा द्रव्य नहीं होगा।

वस्तुतः हमारा प्रत्यक्षीकरण का अनुभव समस्त द्रव्यों एवं गुणों के सविशेष स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। उपनिषदों का कोई भी सच्चा अनुगामी यह धारणा नहीं रख सकता कि प्रत्यक्षीकरण सत्ता के विशुद्ध निर्विशेष स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। यदि गुणों और द्रव्यों में कोई भेद स्थापित नहीं किया जा सके तो एक

---

[1] न चेह अपृथक्-सिद्धत्वम् उपाधिस्तस्य साध्यरूपत्वे
साधन-व्यापकत्वाद् भेद-घटितो हि व्याप्य-व्यापक-भावः।

—विजयीन्द्र-पराजय।

[2] रूपादेर्मदीयमपृथक्-सिद्धत्वं संसक्तं पटे अन्यत्र नेतुमशक्यत्वमेव। तच्च तद्रूपभवेऽपि रूपान्तरेण धर्मसत्तया अविरोधितया न पृथक्सिद्धत्वेन विरुध्यते।

—वही।

[3] तस्य त्वयाऽपि अखण्डार्थत्वानभ्युपगमात् विशिष्टार्थत्वे त्वदभिमत–सिद्धेः।

—वही, पृ० ४।

आधार पर द्रव्यों के भेद भी त्रुटिपूर्ण हो जाएंगे।[1] यदि एक वस्तु एक साथ कई गुणों से तादात्म्य हो तो हमें जैनों के 'सप्तभंगी' मत को स्वीकार करना पड़ेगा इस प्रकार किसी भी दृष्टिकोण से 'द्रव्य' एवं 'अद्रव्य' के वर्गीकरण द्वारा खण्डित करने के प्रयास का परीक्षण करने पर वह दोषपूर्ण एवं असत्य सिद्ध हो जाता है।

जिन महत्वपूर्ण सिद्धांतों में मध्व का अन्य लोगों से मतभेद है उनमें से एक यह है कि मोक्ष की अनुभूति समस्त संतों अथवा मुक्त व्यक्तियों में एक समान नहीं होती इस मत का समर्थन कुछ 'पुराणों' द्वारा किया गया है तथा गौडीय शाखा के वैष्णवों ने भी उसे माना है, किन्तु रामानुजानुयायी और शंकरानुयायी दोनों इस मत के प्रवल विरोध में थे, अतएव रामानुजानुयायियों ने इस बात पर मध्व की कड़ी आलोचना की। अत: श्रीनिवास आचार्य ने 'आनन्द-तारतम्य-खंडन' नामक एक पृथक् 'प्रकरण' ग्रंथ लिखा। पर इस दिशा में एक अधिक विस्तारपूर्ण एवं अधिक आलोचनात्मक प्रयास परकाल यति ने अपनी 'विजयीन्द्र-पराजय' के चतुर्थ अध्याय में किया। यह दोनों रचनाएँ पाण्डुलिपि में विद्यमान हैं।

'ब्रह्म-सूत्र' के चतुर्थ भाग के चौथे अध्याय में इस प्रश्न का विवेचन किया गया है कि युक्त व्यक्ति मोक्ष के पश्चात् अपने अनुभवों का उपभोग कैसे करते हैं। वहाँ यह कहा गया है कि परमेश्वर के स्वरूप में प्रवेश करके मुक्त प्राणी अपने 'संकल्प' मात्र से आनन्दमय अनुभवों के भागी वनते हैं; किन्तु अन्य लोगों का मत है कि मुक्त प्राणी आनन्दमय अनुभवों का उपभोग अपने प्रयत्नों के अनुसार स्वयं अपने शरीरों के माध्यम से करते हैं। चूंकि मुक्त अवस्था में एक व्यक्ति सर्व प्रकार के आनन्दमय अनुभवों का अधिकारी होता है अत: उसे चरम श्रेय की अवस्था मानी जा सकती है। किन्तु मुक्त व्यक्ति उन सभी आनन्ददायी अनुभवों को प्राप्त नहीं कर सकता जो परमेश्वर में विद्यमान होते हैं प्रत्येक जीव अपने अधिकारों एवं योग्यताओं से सीमित होता है और उन सीमाओं के अन्तर्गत ही उसकी इच्छाएँ फलीभूत हो सकती हैं। इस प्रकार प्रत्येक मुक्त व्यक्ति अपनी योग्यता एवं अधिकारों की सीमाओं में कुछ विशेष प्रकार के आनंद का अधिकारी होता है।

पुन:, 'ब्रह्म-सूत्र के तृतीय भाग के तीसरे अध्याय में विभिन्न लोगों के लिये विभिन्न प्रकार की उपासनाओं को निश्चित किया गया है तथा उपासना के इस भेद का तात्पर्य अनिवार्यत: यही होना चाहिये कि उनकी फल-प्राप्ति भी भिन्न-भिन्न होती है। अत: यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मोक्ष की अवस्था में विभिन्न स्तर के मुक्त व्यक्तियों द्वारा विभिन्न श्रेणी के आनन्द का अनुभव किया जाता है।

---

[1] गुणगत भेद व्यवहारो निर्निबन्धनश्च स्यात् यदि गुणवत् गुणीधर्म-विशेष: स्वतेव स्यात्। —वही।

चाहे कितनी ही भिन्न क्यों न हों, उनके द्वारा उपलब्ध फल एक ही होता है, अर्थात् ब्रह्मन् के स्वरूप की प्राप्ति। कुछ प्राणी अधिक 'भक्ति' के योग्य हो सकते हैं और कुछ कम भक्ति के योग्य, किन्तु उससे अंतिम 'मुक्ति' की प्राप्ति में कोई अन्तर नहीं होता तथा मुक्ति सबके लिए एक समान होने के कारण उसका आनन्द भी एक समान ही होना चाहिये। इस स्थिति में विभिन्न यज्ञों से विभिन्न फल प्राप्त होने का सादृश्य लागू नहीं होता, क्योंकि ये यज्ञ बाह्य साधनों से सम्पन्न किये जाते हैं अतएव उनके फल भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। किन्तु मोक्ष की प्राप्ति आध्यात्मिक साधनों, अर्थात् 'भक्ति' से की जाती है। न यह युक्ति मान्य है कि मुक्त प्राणी का आनंद एक वैयक्तिक जीव का आनंद होने के कारण एक ही स्वरूप का नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्ष की अवस्था में जीव ब्रह्म-प्राप्ति के आनन्द का उपभोग करते हैं जो एक-रस एवं सर्व व्यापी होती है। यह युक्ति देना भी गलत है कि मुक्त प्राणी का आनन्द सांसारिक जीवन में अनुभूत आनन्द के सदृश होने के कारण आनन्द की श्रेणियों से युक्त होना चाहिये। यह युक्ति भी अमान्य है कि चूंकि ब्रह्मन् को अतिश्रेष्ठ आनन्दमय मानना उसका उचित वर्णन या परिभाषा है, अतः जीवों को हम उसी अर्थ में अतिश्रेष्ठ आनन्द से युक्त नहीं मान सकते, क्योंकि ब्रह्मन् 'अनन्त' है अतः उसको उपर्युक्त परिभाषा द्वारा सीमित करना गलत होगा तथा यह परिभाषा उस पर लागू नहीं हो सकती। मुक्त अवस्था में अतिश्रेष्ठ आनन्दमय जीवों से उसके विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। यह भी कहना गलत है कि ब्रह्मन् का आनन्द ब्रह्मन् के अधिकार में होने के कारण किसी अन्य प्राणी के द्वारा नहीं भोगा जा सकता, क्योंकि 'भोग' का वास्तविक अर्थ है अनुकूल अनुभव। इस प्रकार पत्नी अपने पति के, गुरु अपने शिष्य के एवं माता-पिता अपने पुत्र के सद्गुणों का 'भोग' कर सकते हैं। मुक्त व्यक्ति स्वयं ब्रह्मन् से तादात्म्य के अनुभव की प्राप्ति करता है तथा ब्रह्मन् के स्वरूप की स्वयं में यह उपलब्धि ही श्रेष्ठतम आनन्द है। उसका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्मन् के गुणों में कमी हो जाती है, किन्तु उसका अर्थ यह है कि स्वयं में उन गुणों की अनुभूति में ही चरम आनन्द मिल सकता है।[1]

---

[1] यद्यत्र तदीयत्वेन तच्छेषत्वं तर्हि राजपुरुष भोग्ये राज्ञि व्यभिचारः, भोगो हि स्वानुकूलत्व-प्रकारक-साक्षात्कारः तद्विषयत्वमेव भोग्यत्वम्, तच्च दासं प्रति स्वामिनि शिष्यं प्रत्याचार्ये पुत्रं प्रति मातरै पितरि च सर्वानुभव सिद्धम्।

—'विजयीन्द्र-पराजय,' पृ० १२४।

अध्याय २६

मध्व द्वारा 'ब्रह्म-सूत्रों' की व्याख्या

मध्व ने 'ब्रह्म-सूत्रों' पर न केवल एक 'भाष्य' लिखा, बल्कि 'अनुव्याख्यान' नामक रचना में 'ब्रह्म-सूत्रों' के संदर्भ के संबंध में अपने मत की प्रमुख बातों का विवरण भी दिया। जयतीर्थ ने 'तत्व-प्रकाशिका' नामक एक टीका मध्व के 'भाष्य' पर लिखी। व्यास यति ने 'तात्पर्य-चन्द्रिका' नामक एक अन्य टीका 'तत्व-प्रकाशिका' पर लिखी जिसमें वे व्याख्या की अन्य शाखाओं के वेदान्त-लेखकों और विशेषत: शंकर मत के विचारों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं तथा उनका खंडन करते हैं।[1] राघवेन्द्र-यति ने 'तात्पर्य-चंद्रिका' पर एक टीका 'चंद्रिका-प्रकाश' लिखी। विद्याधीश के एक शिष्य केशव भट्टारक ने 'चंद्रिका-व्याख्यार्थ-वृत्ति' नामक उस पर एक अन्य टीका लिखी किन्तु उसमें केवल प्रथम खण्ड का समावेश किया गया है। राघवेन्द्र यति ने 'भाव-दीपिका' नामक एक अन्य टीका 'तत्व-प्रकाशिका' पर लिखी जिसमें उन्होंने अपने प्रतिपक्षियों के आक्षेपों का उत्तर दिया तथा विभिन्न विषयों की सरल व्याख्या की। इस भाग में इन टीकाओं के प्रकाश में मध्व द्वारा दी गई 'ब्रह्म-सूत्रों' का व्याख्या का विवरण देने का प्रयत्न करूंगा और साथ ही शंकर एवं उनके टीकाकारों की व्याख्या से उसका अन्तर बताऊँगा 'ब्रह्म-सूत्र-भाष्य' एवं उसकी प्राथमिक टीकाओं पर तथा 'अनुव्याख्यान' पर कई अन्य टीकाएँ भी हैं। इस प्रकार मध्व के 'भाष्य' पर त्रिविक्रम पण्डिताचार्य ने 'तत्व-प्रदीपिका' टीका लिखी। नृसिंह ने उस पर 'भाव-प्रकाश' लिखी तथा विजयेन्द्रयति ने 'न्यायाव्व-दीपिका'। पुन:, जयतीर्थ की 'तत्व-प्रकाशिका' पर कम से कम पांच अन्य टीकाएँ हैं, यथा 'भाव-चन्द्रिका,' 'तत्व-प्रकाशिका भाव-बोध,' 'तत्व-प्रकाशिकागत न्याय-विवरण,' 'न्याय-मौक्तिक-माला' और 'प्रमेय-मुक्तावली' जिन्हें क्रमश: नरसिंह, रघुनाथ यति, विजयीन्द्रयति और श्रीनिवास ने लिखी 'तात्पर्य-चंद्रिका' पर तिम्मनाचार्य व विजयीन्द्रयति ने 'चंद्रिका-न्याय-विवरण' एवं 'चंद्रिका-दर्पण-न्याय-विवरण' नामक दो अन्य टीकाएँ लिखी। 'अनुव्याख्यान' पर जयतीर्थ की 'न्याय-सुधा' तथा विजयेन्द्रयति की 'सुधा' रची गई। 'न्याय-सुधा' पर भी अनेक टीकाएँ हैं—यथा

---

[1] देखिये हेल्मथ वॉन ग्लेसेनैप की "Madhva's Philosophie des Vishnu-Glaubens" बान एवं लिपजिग, १९२३, पृ० ५१-६४।

नारायण द्वारा लिखी गई टीका, यदुपति द्वारा 'न्याय-सुधा-टिप्पणी,' विद्याविराज द्वारा 'व्याख्यार्थ-चंद्रिका' तथा श्रीनिवासतीर्थ द्वारा रचित टीका।[1]

ब्रह्म-सूत्र १-१-१ की व्याख्या

बादरायण के 'ब्रह्म-सूत्र के प्रथम' सूत्र (अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा) पर टीका करते हुए शंकर मानते हैं कि 'अथ' शब्द वैदिक आदेशों के अनुसार वैदिक आचार के पूर्व कर्मकाण्डीय अनुष्ठान की किसी अपरिहार्य आवश्यकता की ओर संकेत नहीं करता है, अपितु वह शम-दमादि नैतिक योग्यताओं के पूर्व अर्जन का ही उल्लेख करता है, जिसके पश्चात् एक व्यक्ति वेदांत के अध्ययन का अधिकारी बनता है। 'अतः' शब्द ब्रह्म-जिज्ञासा के हेतु को बताता है, जो इस तथ्य में निहित है कि ब्रह्म-ज्ञान ही सर्व आनन्दमय दुःख रहित उत्कृष्ट अवस्था की प्राप्ति कराता है, और ब्रह्म-जिज्ञासा को न्यायोचित सिद्ध करता है। चूंकि ब्रह्मन् आत्मन् ही है और आत्मन् हमारे समस्त प्रत्यक्षीकरण में अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त होता है अतः ब्रह्मन् भी हमें सदा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। पर आत्मन् के स्वरूप के सम्बन्ध के साधारण ज्ञान के द्वारा ब्रह्मन् का ज्ञान होता ही है, तथापि ब्रह्मन् अथवा आत्मन् के स्वरूप के विशेष ज्ञान के लिये जाँच-पड़ताल आवश्यक है।

मध्व भगवान विष्णु के अनुग्रह को ब्रह्म-जिज्ञासा का हेतु (अतः) मानते हैं—चूंकि भगवान विष्णु की अधिक कृपा केवल उसके सम्यक् ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, अतः ब्रह्म-ज्ञान के उद्गम के रूप में ब्रह्म-जिज्ञासा उसके अनुग्रह को प्राप्त करने के लिये अपरिहार्य है। ब्रह्म-जिज्ञासा परमेश्वर के अनुग्रह से उत्पन्न होती है, क्योंकि वही हमारी सर्व मानसिक वृत्तियों का प्रेरक है।[2] मध्व के अनुसार वेदान्त के अध्ययन के अधिकार की तीन श्रेणियाँ हैं। भगवान विष्णु के प्रति निष्ठावान अध्ययनशील व्यक्ति तृतीय श्रेणी में आता है, शमदमादि छः नैतिक योग्यताओं से सम्पन्न व्यक्ति द्वितीय श्रेणी में आता है और जो परमेश्वर पर पूर्ण आसक्त है तथा सर्व जगत को अस्थाई समझकर उसके प्रति अनासक्त है, वह व्यक्ति अधिकार की प्रथम श्रेणी में आता है।[3] पुनः, वैदिक आचार का अनुष्ठान हमें परमेश्वर की निम्न कृपा का ही अधिकारी बनाता है, श्रुति-पाठों का श्रवण कुछ उच्च स्तर की कृपा का अधि-

---

[1] देखिये, वही।

[2] अथ शब्दस्यातः—शब्दो हेत्वार्थे समुदीरितः।
परस्य ब्रह्मणो विष्णोः प्रसादादिति वा भवेत्।
स हि सर्वमनोवृत्ति-प्रेरकः समुदाहृतः। —ब्रह्म-सूत्र-भाष्य, १-१-१।

[3] वही।

हैं, किन्तु 'अज्ञान' द्वारा आवृत्त होने के लिये उनका 'अज्ञान' से स्वतंत्र पृथक् अस्तित्व सिद्ध किया जाना चाहिये। अतः यहां अनवस्था दोष की स्पष्ट स्थिति उपस्थित हो जाती है, 'अज्ञान' नाम से ही स्पष्ट होता है कि वह स्वयं ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता अतएव वह मिथ्या है, किंतु तब भी ऐसी मिथ्या वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान-शून्यता और 'अज्ञान' का ऐसा संबंध है कि या तो 'अनवस्था' दोष उत्पन्न होता है या 'अन्योन्याश्रय' दोष, क्योंकि किसी स्थिति विशेष में एक वस्तु की ज्ञान-शून्यता उसके प्रति 'अज्ञान' के कारण होती है और वह 'अज्ञान' उसकी ज्ञान-शून्यता के कारण होता है आदि। अतः शंकर की व्याख्या गलत होने के कारण यह स्पष्ट है कि हमारे शोक और बंधन सत्य हैं तथा वेद यह नहीं मानते हैं कि ब्रह्म और जीव में तादात्म्य है—क्योंकि ऐसी व्याख्या हमारे अनुभव के प्रत्यक्ष विरोध में होगी।[1]

जयतीर्थ की 'तत्व-प्रकाशिका' पर व्यासयति द्वारा रचित एक पाण्डित्यपूर्ण टीका 'तात्पर्य-चन्द्रिका' न केवल मध्व के 'भाष्य' के अभिप्राय का स्पष्टीकरण करती है, बल्कि अधिकांश विवादग्रस्त विषयों पर प्रतिपक्षियों के मतों का उल्लेख भी करती है और उनका खण्डन करने का भी प्रयास करती है।[2] वह कतिपय महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओं को उठाती है तथा वाचस्पति, प्रकाशात्मन एवं शंकर के अन्य अनुयायियों के मतों की आलोचना करती है, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस प्रकार वह शंकर के 'भाष्य' पर 'भामती' नामक टीका में वाचस्पति द्वारा उठाई गई इस बात का उल्लेख करती है कि इस आपत्ति में कोई सत्यता नहीं है कि ब्रह्म-जिज्ञासा की कुछ भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य है और उसका हम प्रत्यक्ष एवं अपरोक्ष अनुभव करते हैं, 'अविद्या' के विनाश को भी वांछित उद्देश्य नहीं माना जा सकता क्योंकि आत्मन् की सदा एक स्वयं प्रकाश सत्ता के रूप में अनुभूति होने पर भी 'अविद्या' का निराकरण नहीं हो पाता और चूंकि वेदान्त के पाठों के अध्ययन करने तथा समझने में भी अहंकार की संकल्पना का समावेश होता है, अतः वेदान्त के उन अवतरणों की हमारे साधारण अनुभव के अनुकूल फिर से व्याख्या की जानी चाहिये जो ब्रह्मन् का विशुद्ध ज्ञाता-ज्ञेय-रहित सत्, चित् एवं आनन्द के रूप में वर्णन करते हुए प्रतीत होते हैं। यह निश्चित है कि स्वयं-प्रकाश वेदान्त के अवतरण उपर्युक्त विवरण के ब्रह्मन् का निर्देश करते हैं, और चूंकि इनका अन्य कोई अर्थ नहीं हो सकता, हमें अपने तथाकथित अनुभव पर कोई विश्वास नहीं करना चाहिये जो

---

[1] सत्यत्वात् तेन दुःखादेः प्रत्यक्षेण विरोधतः
न ब्रह्मत्वं वदेद् वेदो जीवस्य हि कथंचन। —अनुव्याख्यान, १-१-१।

[2] प्रति-सूत्रं प्रकाश्येत घटनाघटने मया
स्वीयान्य-पक्षयोः सम्यग्विदांकुर्वन्तु सूर्यः। —वही, श्लोक १०।

सरलता से त्रुटि के वश हो सकता है। इस प्रकार 'भामती' के अनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि वेदांत-पाठों का वास्तविक अभिप्राय भेद-रहित परम सत्ता ब्रह्मन् है तथा चूंकि यह शुद्ध ब्रह्मन् अनुभव में प्रत्यक्ष अभिव्यक्त नहीं होता (शुद्धो न भाति) अतः ब्रह्मन् के स्वरूप के संबंध में जिज्ञासा न्यायोचित है।[1]

वाचस्पति के उपर्युक्त मत के विरोध में व्यास तीर्थ जो आपत्ति उठाते हैं वह यह है कि यदि हमारे साधारण अनुभव में 'शुद्ध' (ब्रह्मन्) अपनी अभिव्यक्ति नहीं करता है, तो इसका क्या तात्पर्य है ? क्या इसका तात्पर्य यह है कि जो अपनी अभिव्यक्ति नहीं करता वह शरीर से आत्मन् का भेद है, कर्ता व भोक्ता के रूप में हमारे स्वरूप का निषेध है, ब्रह्मन् और 'आत्म्' का अभेद है, अथवा केवल द्वैत का निषेध है ? किन्तु क्या यह अनभिव्यक्त सत्ता आत्मन् से भिन्न है ? यदि ऐसा है तो वह सामान्य अद्वैतवादी निष्कर्ष के विपरीत है और यदि यह कहा जाय कि एक अभावात्मक सत्ता के अस्तित्व से अद्वैतवादी सिद्धान्त का हनन नहीं होगा, तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि अभाव के ऐसे दृष्टिकोण का खंडन 'न्यायामृत' नामक रचना में किया जा चुका है। यदि ऐसी अनभिव्यक्त सत्ता मिथ्या है तो वह श्रुतियों के उपदेश का विषय नहीं हो सकती। यदि यह माना जाय कि 'आत्मन्' अनुभव में अपनी अभिव्यक्ति नहीं करता तो ऐसा तभी माना जा सकता है कि 'आत्मन्' के दो भाग हैं जिनमें से एक तो अभिव्यक्त होता है और दूसरा नहीं होता, तथा दोनों में कोई ऐसा कल्पित अंतर (कल्पित-भेद) है कि यद्यपि आत्मन् अभिव्यक्त (गृहीत) होता है, उसका अनभिव्यक्त (आभासमान) भाग (अंश) अभिव्यक्त एवं अनुभूत होता हुआ प्रतीत नहीं होता है (अगृहीत इव भाति)। पर यदि ऐसी भी स्थिति है तो यह स्वीकार किया जाता है कि आत्मन् के दो कल्पित अंशों में कोई यथार्थ भेद नहीं है, अनभिव्यक्त अंश एक मिथ्या एवं भ्रामक भेद (कल्पित-भेद) से युक्त होना चाहिये तथा ऐसे भ्रामक व अनभिव्यक्त आत्मन् के स्वरूप का उपदेश देना किसी वेदांत का उद्देश्य नहीं बन सकता। अनभिव्यक्त अंश या तो सत्य हो सकता है या असत्य, यदि वह असत्य है, जैसाकि हमें मानना पड़ेगा तो उसके स्वरूप का उपदेश देना वेदांत का उद्देश्य नहीं हो सकता। कारण, यदि भ्रामक अनभिव्यक्त अंश आत्म-ज्ञान के पश्चात् भी शेष रहता है तो ऐसा भ्रम कभी नष्ट नहीं हो सकता। समस्त भ्रामक आभास ऐसे भ्रमों के 'अधिष्ठान' के सत्य ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं (उदाहरण के लिये, शुक्ति के ज्ञान से रजत का भ्रामक आभास नष्ट हो जाता है)।[2]

---

[1] वही, पृ० १५–१७।

[2] अधिष्ठान ज्ञानस्यैव भ्रमविरोधितया तस्मिन् सत्यपि भेद-भ्रमस्य तन्निमित्तकागृहीता-रोपस्य वा अभ्युपगमे निवर्तकान्तरस्याभावात्तदनिवृत्ति-प्रसंगात्। यदुक्तम-भासमानोऽश आत्मातिरिक्तश्चेत् सत्यो मिथ्या वा इति तत्र मिथ्या-भूत इति ब्रूमः।
—'चंद्रिका-वाक्यार्थ-विवृति' पृ० १८।

इसके अतिरिक्त आत्मन् स्वयं प्रकाश है, अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि वह अनुभव में स्वयं प्रकाश सत्ता के रूप में अभिव्यक्त नहीं होता (स्वप्रकाशत्वेन भावयोगात्)। यदि यह युक्ति दी जाय कि स्वयं प्रकाश होते हुए भी वह 'अविद्या' से आवृत्त हो सकता है, तो ऐसी आपत्ति का उत्तर यह है कि यदि 'अविद्या' आत्मन् की अभिव्यक्ति को आवृत्त कर सकती है तो 'अविद्या' और उससे उत्पन्न दुःख, शोक आदि भी आत्मन् की अभिव्यक्ति द्वारा प्रकाशित नहीं किये जा सकते, पर यह माना गया है कि स्वयं प्रकाश आत्मन् के द्वारा ये प्रकाशित होते हैं।[1] यह भी स्पष्ट है कि चित् अथवा स्व-प्रकाशनत्व (स्फुरती) कभी अप्रकाशकत्व (अस्फुरती) नहीं हो सकता। न यह माना जा सकता है कि यद्यपि विशुद्ध चित् अपनी विशुद्धता में तो स्व-प्रकाश है तथापि चूँकि वह 'अज्ञान' के विरोध में स्वयं न होकर केवल मानसिक 'वृत्ति' के कारण उसके विरोध में होता है और चूँकि साधारणतया उसके लिये 'वृत्ति' नहीं हुआ करती, अतः वह 'अज्ञान' से आवृत्त हो सकता है तथा अपने स्वप्रकाश स्वरूप के बावजूद भी इस प्रकार आवृत्त होने के कारण जिज्ञासा का उपयुक्त विषय बन सकता है। पर यह मान्यता सत्य नहीं है, क्योंकि यदि विशुद्ध चित् 'अज्ञान' के विरोध में नहीं है तो उसके द्वारा अपरोक्ष रूप से ज्ञात किये गए शोक आदि 'अज्ञान' से आवृत्त ही रह जाने चाहिये। यदि सुख दुःख आदि का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है तो उनकी सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। किसी वस्तु के आकार की मानसिक अवस्था या 'वृत्ति' तभी सम्भव है जबकि वह वस्तु पहले से अस्तित्व में हो, क्योंकि वेदांत की ज्ञान-मीमांसा के अनुसार 'अन्तःकरण' या मनस् इन्द्रियों के द्वारा बाहर दौड़कर वस्तु के आकार में परिवर्तित होता है तथा ऐसा होने के लिये वस्तु का पूर्व अस्तित्व होना आवश्यक है, किन्तु सुख दुःख की भावनाएँ उनकी अनुभूति के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं रखती और यदि यह कहा जाय कि उनको ज्ञात करने के लिये 'वृत्ति' की आवश्यकता होती है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका पूर्व वस्तुगत अस्तित्व है, पर ऐसा असम्भव है।[2] अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भावनाएँ विशुद्ध चित् के द्वारा, किसी 'वृत्ति' अथवा मानसिक अवस्था के माध्यम के बिना, अपरोक्ष रूप से ज्ञात की जाती है तथा ऐसा असम्भव होगा यदि चित् का 'अज्ञान' से कोई विरोध न हो, क्योंकि फिर चित् सदा आवृत्त रहता और दुःख आदि का कोई ज्ञान सम्भव नहीं होता।[3] इस संबंध में शंकर-वेदांत के अनुसार साधारण वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण के

---

[1] स्व-प्रकाशस्यापि अविद्या-वशाद् अभाने अविद्यादेर्दुःखादेश्च प्रकाशो न स्यात्, तस्य चैतन्यप्रकाशाधीन प्रकाशच्चोपगमात्। —'तात्पर्य चन्द्रिका,' पृ० १९।

[2] सुखादेर्ज्ञातैकसत्वाभावापातात्। —वही, पृ० २०।

[3] स्वरूप-चितोऽज्ञान-विरोधित्वे तद्वेद्ये दुःखादाज्ञवान-प्रसंगात्।
—'चंद्रिका,' पृ० २०।

सिद्धांत के विवेचन में एक ग्रन्य कठिनाई उत्पन्न होती है । शंकर-वेदांत यह मानता है कि वस्तुग्रों के प्रत्यक्षीकरण (जैसे 'यह घट') के अवसर पर मानसिक-वृत्ति में भी घट ग्राधार की वृत्ति से विशिष्ट शुद्ध चित् की ग्रभिव्यक्ति होती है, पर यदि ऐसा है, यदि घट का हमारा प्रत्यक्षीकरण घट के ग्राकार की वृत्ति से संयुत्त चित् का प्रकाश मात्र है, तो यह ग्रस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस जटिल प्रत्यक्ष में शुद्ध चित् का स्वप्रकाश ग्रनिवार्यत: समाविष्ट होता है ।[1]

इसके ग्रतिरिक्त, यह भी सुझाव नहीं दिया जा सकता कि ग्रनात्मन् के ग्रंश का ग्राभास होता है तथा इस कारण से हमारी ब्रह्म-जिज्ञासा न्यायोचित है, क्योंकि यदि यह ग्रनात्मन् स्वयं प्रकाश चित् के साथ-साथ एक बाह्य एवं ग्रतिरिक्त सत्ता के रूप में में भासमान होता है, तो चूंकि उसके द्वारा शुद्ध चित् की ग्रभिव्यक्ति में कोई बाधा नहीं ग्राती, ग्रत: इस प्रकार की जिज्ञासा का कोई ग्रवसर नहीं ग्राता । यह स्पष्ट है कि इस ग्रनात्मन् का ग्रात्मन् से 'तादात्म्य' भासित नहीं हो सकता, क्योंकि जब शुद्ध चित् स्वत: प्रकाशित होता है, तो इस ढंग से ग्रनात्मन् के किसी ग्रंश के लिए ग्रभिव्यक्त होने की कोई गुंजायश नहीं होती (ग्रधिष्ठाने तत्वत: स्फुर ग्रनात्मारोपायोगाच्च)। वाचस्पति द्वारा ग्रपनी 'भामती' में एक सादृश्यता उपस्थित की गई है जिसमें वे यह सुझाव देना चाहते हैं कि जिस प्रकार संगीत के विभिन्न स्वर यद्यपि हमारे साधारण ग्रशिक्षित संगीत के प्रत्यक्षीकरण में ग्रन्त: प्रज्ञा द्वारा ज्ञात किये जाते हैं, तथापि उनका उचित ज्ञान संगीत-शास्त्र (गंधर्वशास्त्र) के गहन ग्रध्ययन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार सच्चा ब्रह्म-ज्ञान वेदांत-पाठों के ग्रभिप्राय की ग्रनुभूति एवं उनके विवेचन द्वारा उचित मनोभूमि तैयार करने के पश्चात् ही उदित हो सकता है, ग्रतएव यद्यपि ग्रारम्भ में हमारे साधारण ग्रनुभव में स्वयं प्रकाश चित् की ग्रभिव्यक्ति होती है, तथापि ब्रह्म के स्वरूप की ग्रधिक पूर्ण ग्रनुभूति के लिए ब्रह्म-जिज्ञासा की ग्रावश्यकता होती है । किन्तु यह सादृश्यता यहाँ लागू नहीं होती, क्योंकि हमारे संगीत के ज्ञान की ग्रवस्था में तो एक सामान्य ज्ञान सम्भव है जिसका संगीत-शास्त्र के गहन ग्रध्ययन द्वारा क्रमश: ग्रधिकाधिक विशिष्टीकरण होता है ग्रौर वह विशेष रूप से ग्रभिव्यक्त होता है, किन्तु ब्रह्मन्, स्वयं प्रकाश चित् ग्रथवा ग्रात्मन् के हमारे ज्ञान के संबंध में ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि वह पूर्णत: एक रस, सरल तथा भेद-रहित है— उसका एक सामान्य ग्रौर एक विशेष ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है । वह ग्रन्त-र्वस्तु से सर्वथा रहित सरल ग्रात्माभिव्यक्ति की कौंध है ग्रतएव उसमें कोई ग्रधिक या कम ज्ञान नहीं हो सकता । इसी कारण 'भामती' में समाविष्ट इस वक्तव्य में कोई सत्य नहीं है कि यद्यपि वेदांत के महावाक्य 'तत्वमसि' के सम्यक् बोध से एक व्यक्ति

---

[1] त्वन्मते ग्रयं घट इत्याद्यपरोक्ष-वृत्तेरपि घटाद्यवच्छिन्न चिद्-विषयत्वाच्च ।

—वही ।

ब्रह्मन् से अपने तादात्म्य को समझ सकता है, तथापि विवादियों की आपत्तियों के कारण ब्रह्मन् के विषय में संदेह हो सकता है, और इस प्रकार ब्रह्म-जिज्ञासा न्याय-संगत सिद्ध हो सकती है। क्योंकि जब सरल अन्तर्वस्तु-रहित, विशुद्ध-चित् एक बार ज्ञात कर लिया जाता है, तो संदेह की गुंजाइश कैसे रह सकती है ? चूंकि कतिपय उपनिषद्-पाठों की शुद्ध अद्वैतवादी व्याख्या साधारण अनुभव के द्वारा प्रत्यक्ष बाधित होती है अतः कोई अन्य प्रकार की उचित व्याख्या करनी पड़ेगी जो हमारे प्रत्यक्ष अनुभव के अनुकूल हो।

इस समस्त सूक्ष्म विचार-विमर्श का सामान्य निष्कर्ष यह निकलता है कि शंकर का मत (कि हमारा सबका ब्रह्मन्, स्वयं प्रकाश चित् से तादात्म्य है) सही नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता है तो यह स्वयं प्रकाशकत्व हमें सदा तत्काल एवं अपरोक्ष रूप से ज्ञात हो जाता, अतएव ब्रह्मजिज्ञासा का कोई अवसर उत्पन्न ही नहीं होता, क्योंकि यदि ब्रह्मन् अथवा आत्मन् हमें सदा प्रत्यक्ष ज्ञाता होता रहता है, तो उसके संबंध में जिज्ञासा की कोई आवश्यकता नहीं है। शंकर-मत के विपरीत मध्व-मत यह है कि जीवों का ब्रह्मन् से कभी तादात्म्य नहीं होता, जीवन के विभिन्न साधारण प्रत्यय भी सत्य हैं, जगत भी सत्य है, अतएव कोई भी सम्यक् ज्ञान इन प्रत्ययों का विनाश नहीं कर सकता। यदि हमारा ब्रह्मन् से तादात्म्य होता तो ब्रह्मजिज्ञासा की कोई आवश्यकता नहीं रहती, चूंकि हम ब्रह्मन् से एकरूप नहीं हैं इसीलिये उसका स्वरूप जिज्ञासा के लिये उपयुक्त विषय है, क्योंकि इसी प्रकार के ज्ञान से हम उसके पक्ष एवं प्रसाद को प्राप्त करने के योग्य बन सकते हैं, और इनके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं। यदि आत्मन् ब्रह्मन् से एकरूप है तो ऐसा आत्मन् सर्वदा स्वयं अभिव्यक्त होने के कारण वेदों के 'ब्रह्म-खण्ड' के अर्थ को निश्चित करने के लिये जिज्ञासा की आवश्यकता नहीं रहती, बल्कि वेदों के 'कर्म-खण्ड' के अर्थ को निश्चित करने के लिये जिज्ञासा की आवश्यकता रहती, क्योंकि 'ब्रह्म-खंड' के अर्थ का सम्यक् बोध किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं करता (धर्मवद् ब्रह्म-खण्डार्थस्यात्मनः परप्रकाश्यत्वाभावात्)।[1] यद्यपि ऐसा ब्रह्मन् हमारे अनुभव में सदा आत्म-प्रकट है, तथापि चूंकि उसकी अनुभूति के द्वारा हम किसी प्रकार भी मोक्ष के समीप नहीं पहुँचते, इस प्रकार की ब्रह्म जिज्ञासा से कोई लाभ नहीं हो सकता। अतः इस 'सूत्र' की शंकर द्वारा दी गई व्याख्या के लिये कोई गुंजायश नहीं है। यहाँ ब्रह्मन् का अर्थ गुणों की पूर्णता (गुण-पूर्त्ति), अतः वह गुणों में 'अपूर्ण' एवं न्यून 'जीवन' से भिन्न है।[2]

---

[1] तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० ३६।

[2] जिज्ञास्य-ब्रह्म-शब्देन गुणपूर्त्यभिधायिना
अपूर्णत्वेनानुभूताज्जीवाद् भिन्नं प्रतीयते। —वही, पृ० ४६।

मध्व शंकर के इस मत से भी असहमत हैं कि ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व नित्यानित्य-वस्तु-विवेक, इहामुत्रार्थ भोग-विराग, शमदमादि, साधन-सम्पत्ति तथा मुमुक्षत्व की आवश्यकता होती है। कारण यदि हम 'भामती' का अनुसरण करें और 'नित्य' एवं 'अनित्य' का अर्थ सत्य एवं असत्य समझें, ब्रह्मन् के सम्यक् बोध को तो सत्य मानें और अन्य सभी वस्तुओं को असत्य मानें (ब्रह्मैव सत्यम् अन्यद अनृतम् इति विवेकः), तो यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि मानव द्वारा प्राप्त होने योग्य यही चरम वस्तु है—और यदि इसकी प्राप्ति पहले ही हो जाती है, तो फिर ब्रह्म-जिज्ञासा का क्या उपयोग शेष रह जाता है ? अथवा यदि आत्मन् को 'नित्य' समझा जाय तथा अनात्मन् को 'अनित्य,' तो इस भेद की एक बार अनुभूति हो जाने पर अनात्मन् सदा के लिए लुप्त हो जाता है, और हमारे लिये आत्मन् के स्वरूप पर विचार-विमर्श करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। 'पंचवादिका-विवरण' की व्याख्या के अनुसार 'नित्या-नित्य-विवेक' शब्द का तात्पर्य इस तथ्य के बोध से है कि ब्रह्म-ज्ञान ध्वंसरहित है एवं 'कर्म-फल' ध्वंसात्मक (ध्वंस-प्रतियोगी) है। किन्तु यह भी न्याय-संगत नहीं है, क्योंकि शुक्ति में रजत का सर्वदा अभाव (अत्यंताभाव) होने के कारण 'ध्वंसात्मक' शब्द यहाँ लागू नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि वस्तुतः शुक्ति-रजत का पारमार्थिक दृष्टि से अभाव (पारमार्थिकत्वाकारेण अत्यन्ताभावः) है, किन्तु अपने आभास रूप में वह विनष्ट होती हुई कही जा सकती है (स्वरूपेण तु ध्वंसः) तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि यद्यपि 'पारमार्थिक' शब्द की 'अबाध्यत्व' शब्द में व्याख्या की जाती है तथापि उसका कोई निश्चित अर्थ नहीं बताया जा सकता। 'अबाध्यत्व' का अर्थ है 'पारमार्थिक' इस प्रकार 'अन्योन्याश्रय' दोष उत्पन्न हो जाता है। निराकार होने के कारण ब्रह्म भी 'असत्' माना जा सकता है (अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य निराकारे ब्रह्मण्यपि सम्भवात्)।[1]

पुनः 'न्याय-विवरण' का कथन है कि यदि 'विषय' भी केवल सुख की अभिव्यक्ति करने में सहायक होते हैं और सुख 'आत्म-स्वरूप' है, तो कोई कारण नहीं है कि विषयों के सुख को मोक्ष के सुख से भिन्न माना जाय। फिर, मुमूक्षत्व को भी ब्रह्म-जिज्ञासा की आवश्यक अवस्था माना जाता है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यह 'मुमूक्षत्व' किसका है ? मुमुक्षत्व अहं के द्वारा निर्देशित सत्ता (अहं-अर्थ) में नहीं हो सकता, क्योंकि यह सत्ता मोक्ष के समय शेष नहीं रहती (अहमर्थस्य मुक्तावनन्वयात्)। वह विशुद्ध 'चित्' में भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें कोई इच्छा ही नहीं हो सकती। इस प्रकार 'सूत्र' के प्रथम शब्द 'अथ' की शंकर द्वारा दी गई व्याख्या के विरोध में मध्व-मत के विचारकों द्वारा आपत्तियाँ उठाई गई। स्वयं उनके द्वारा दी गई व्याख्या,

---

[1] तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० ६९।

जो मध्व के 'भाष्य' में प्रस्तुत की गई तथा जयतीर्थ, व्यासतीर्थ, राघवेन्द्र यति एवं अन्य विचारकों द्वारा स्पष्ट की गई—यह है कि 'अथ' शब्द से एक ओर तो मांगलिक प्रभाव की सूचना मिलती है और दूसरी ओर वह नारायण का एक नाम है।[1] 'अथ' शब्द का एक अन्य अर्थ यह है कि ब्रह्म-जिज्ञासा अधिकार-योग्यता की प्राप्ति के पश्चात् ही सम्भव होती है (अधिकारानन्तर्यार्थः)।[2] किन्तु यह अधिकार-योग्यता शंकर-मत के अनुसार बताई गई योग्यता से कुछ भिन्न है। मैंने शंकर-मत की मध्व के दृष्टिकोण से आलोचना पहले ही कर दी है। मध्व और उनके अनुयायी 'नित्यानित्य-वस्तु-विवेक' की योग्यता को छोड़ देते हैं तथा वे यह भी मानते हैं कि मुमुक्षत्वं भी तर्क-संगत नहीं है क्योंकि शंकर-मत के अनुसार 'जीव' और ब्रह्म का तादात्म्य स्वीकार किया गया है। केवल मुमुक्षत्व भी यथेष्ठ अधिकार-योग्यता नहीं है, क्योंकि 'सूत्रों' में शूद्रों को ब्रह्म-जिज्ञासा का अधिकार नहीं दिया गया है।[3] अतः यद्यपि मुमुक्षत्व से सम्पन्न व्यक्ति ब्रह्म-जिज्ञासा में संलग्न हो सकता है, तथापि उचित यही है कि वह जिज्ञासा उनके द्वारा की जाय जो उपनिषदों का भक्तिपूर्वक अध्ययन कर चुके हैं, और जो शमदमादि नैतिक गुणों से सम्पन्न हैं तथा साधारण सांसारिक सुखों के प्रति विरक्त हैं।[4]

'सूत्र' में अतः शब्द का अर्थ है 'भगवान विष्णु' के प्रसाद अथवा अनुग्रह के द्वारा, क्योंकि उनके अनुग्रह के बिना यथार्थ सांसारिक बन्धन नहीं तोड़ा जा सकता अथवा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मध्व के 'अनुव्याख्यान' पर लिखी गई अपनी टीका 'न्याय-सुधा' में जयतीर्थ इस सम्बन्ध में एक आपत्ति का पूर्वानुमान करते हैं अर्थात् चूँकि मोक्ष सम्यक् ज्ञान के द्वारा स्वाभाविक क्रम से प्राप्त किया जा सकता है, जैसाकि एक ओर तो शंकर एवं उनके अनुयायियों तथा दूसरी ओर 'न्याय-सूत्र' ने स्पष्ट किया है—इसलिये मोक्ष को उत्पन्न करने के लिए ईश्वर के हस्तक्षेप की उपयोगिता क्या रह जाती है? समस्त दुःख अज्ञानान्धकार के कारण है तथा ज्योंही ज्ञान का प्रकाश होता है वह अन्धकार निवृत्त हो जाता है अतएव उसे किसी कल्पित ईश्वर के प्रसाद

---

[1] एवं च अथशब्दो मंगलर्थिति भाष्यस्य अथशब्दो विघ्नोत्सारणसाधारणकरमात्मकन नुष्ठेय-विष्णु-स्मरणाथशब्दोच्चारणरूप-मंगल-प्रयोजनकः प्रशस्तंरूपाननुष्ठेयरूप-विष्णवभिधायकश्च इति अर्थ-द्वयं द्रष्टव्यम्। —वही, पृ० ७७

[2] यही मत विक्रम पण्डिताचार्य द्वारा मध्व के 'भाष्य' पर लिखी गई 'तत्व प्रदीप' नामक टीका में भी अभिव्यक्त हुआ है।

[3] अनुभाष्य। ३ ब्रह्म-सूत्र, १, ३, ३४—८।

[4] मुक्ति-योग्यत्व-भक्ति-पूर्वकाध्ययन-शमदमादिवैराग्यसम्पत्तिरूपाधिकारार्पणेन, इत्यादि। —तत्व-प्रकाशिका-भाव-दीपिका, पृ० १२।

की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं हो सकती ।[1] 'न्याय-सुधा' के अनुसार ऐसी आपत्ति का सरलतम उत्तर यह है कि बन्धन यथार्थ होने के कारण उसके निवारण के लिये केवल ज्ञान ही यथेष्ट नहीं होता। ज्ञान का मूल्य इस बात में निहित है कि उसकी प्राप्ति से प्रभु प्रसन्न होता है तथा वह प्रसन्न होकर हमें अनुग्रह प्रदान करता है जिसके फलस्वरूप बन्धन का निराकरण होता है ।[2]

'ब्रह्मन्' शब्द (जो शंकर के अनुसार 'बृहति' (अतिशयन) धातु से निकलने के कारण नित्यता, शुद्धता व चैतन्यता का अर्थ रखता है) का मध्व मत के अनुसार अर्थ वह पुरुष है जिसमें गुणों का पूर्णत्व हो (बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणाः)। यह युक्ति कि ब्रह्मन् और जीवों के भेद को स्वीकार करने से ब्रह्मन् सीमित हो जायगा समीचीन नहीं है, क्योंकि जगत् के पदार्थों का ब्रह्मन् से तादात्म्य नहीं माना गया है, फिर भी वे ब्रह्मन् की अनंतता को सीमित नहीं करते हैं तथा इसी प्रकार का उत्तर देकर ब्रह्मन् की अनंतता और जीवों से उसके भेद दोनों की स्वीकृति को न्यायोचित ठहराया जा सकता है ।[3] अतः ब्रह्मन् की अनन्तता को भेद से सीमित न होने के नाते केवल निषेधात्मक ढंग से ही नहीं समझा जाना चाहिये, वरन् काल, दिक् एवं गुणों के पूर्णत्व के रूप में समझना चाहिये, अन्यथा बौद्धों के क्षणिक विज्ञान को भी ब्रह्मन् के समकक्ष मानना पड़ेगा, क्योंकि वह भी न तो काल से और न दिक् से सीमित है ।[4]

---

[1] तथा च ज्ञान-स्वभाव-लभ्यायां मुक्तौ किं ईश्वर-प्रसादेन, न हि अन्धकार-निबन्धन-दुःख-निवृत्तये प्रदीपुपाददानाः कस्यचित् प्रभोः प्रसादमपेक्षन्ते ।

—न्याय-सुधा, पृ० १८ ।

[2] 'तत्व-प्रकाशिका' का कथन है कि 'अ' अक्षर का अर्थ है विष्णु, अतएव 'अतः' का अर्थ है विष्णु प्रसाद से 'अकार-वाच्याद् विष्णोस्तत्प्रसादात्,' पृ० ४ ।

किन्तु शंकर का अनुसरण करते हुए 'भामती,' 'अतः' शब्द की व्याख्या इस अर्थ में करती है कि 'चूंकि स्वयं वेद भी यह कहते हैं कि यज्ञों के फल अल्प-जीव होते हैं जबकि ब्रह्म-ज्ञान के फल अविनाशी एवं नित्य होते हैं ।' अतः वेदों के द्वारा हम लौकिक एवं स्वर्गीय सुखों के प्रति वैराग्य प्राप्त करते हैं (इहामुत्र-फल-भोग-विरागः) तथा इनके द्वारा ब्रह्म-जिज्ञासा में प्रवृत्त होते हैं। पर 'चन्द्रिका' संकेत करती है कि 'अतः' के द्वारा सूचित 'वैराग्य' से ऐसा सम्बन्ध दूरस्थ है और इसके अतिरिक्त 'वैराग्य' से सम्बन्ध 'अथ' शब्द के द्वारा पहले ही अभिव्यक्त हो चुका था ।

—तत्व प्रकाशिका

[3] तात्पर्य टीका, पृ० ८९—९३ ।

[4] बौद्धाभिमत-क्षणिक-विज्ञानादेरपि वस्तुतः कालाद्यभावेन अपरिच्छिन्नत्व प्रसंगाच्च, तस्माद्देशतः कालश्चैव गुणतश्चापि पूर्णता ब्रह्मता, न तु भेदस्य राहित्यं ब्रह्मतेष्यते ।

—तात्पर्य-टीका, पृ० ९४ ।

'ब्रह्म-जिज्ञासा' समास के निर्माण के सम्बन्ध में 'चंद्रिका' का संकेत है कि न तो शंकर और न उनके अनुयायियों की यह व्याख्या न्यायोचित है कि 'जिज्ञासा' शब्द में निहित क्रिया के सम्बन्ध में ब्रह्मन् कर्मकारक में है, क्योंकि ब्रह्म केवल अपरोक्ष सहज-ज्ञान से ज्ञात होने वाला विशुद्ध एवं निरपेक्ष चैतन्य होने के नाते किसी ऐसी जिज्ञासा का उपयुक्त विषय नहीं बन सकता जिसमें विचार-विमर्श और युक्तियों का समावेश हो।[1] किन्तु मध्व मत के अनुसार ब्रह्म को जिज्ञासा का विषय बनाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। 'न्याय-सुधा' और 'तात्पर्य-चन्द्रिका' दोनों के अनुसार 'ब्रह्म-जिज्ञासा' में 'जिज्ञासा' शब्द का रूढ़ अर्थ युक्तिपूर्ण तर्क (मनन) है, न कि ज्ञात करने की इच्छा, जैसाकि शंकर के अनुयायियों का सुझाव है।[2] तर्क-पूर्ण विचार-विमर्श से युक्त ब्रह्म-जिज्ञासा का उद्देश्य है ब्रह्मन् के स्वरूप का निर्धारण—ब्रह्मन् में समस्त गुणों का प्रत्यक्षीकरण है, अथवा उसमें केवल कुछ ही गुण विद्यमान है, अथवा वह सर्वथा गुण-रहित है।[3]

मध्व के अनुयायियों ने शंकर तथा उनके अनुयायियों द्वारा इस 'सूत्र' की व्याख्या में दिये गये लगभग सभी विचारों का खण्डन करने का ही प्रयत्न नहीं किया, बल्कि मध्व ने अपने 'अनुव्याख्यान' में जिस पर 'न्याय-सुधा' एवं 'न्याय-सुधा-परिमल' में टीका की गई है, कई अन्य महत्व की बातों को विचारार्थ उठाया है जो शंकर की स्थिति के मूल में कुठाराघात करती हुई प्रतीत होती हैं। इन विवेचनों की विस्तृत गणना इस अध्याय के क्षेत्र में नहीं की जा सकती, तथा मैं कुछ महत्वपूर्ण विचारों का ही उल्लेख कर सकता हूँ। 'अनुव्याख्यान' का अनुसरण करते हुए जयतीर्थ ने शंकर द्वारा वर्णित भ्रम की सम्भावना तक को चुनौती दी है। उनका कथन है कि जीव स्वभावतः अपने समस्त कर्मों एवं भागों में स्वतंत्र है, तथा केवल ईश्वर पर ही आश्रित है। यदि ऐसा व्यक्ति किसी भी समय यह अनुभव करे कि वह किसी अन्य कर्त्ता के

---

[1] पर-पक्षे विचार-जन्य-ज्ञान-कर्मणो ब्रह्मणो विचार-कर्मत्वायोगात्, अपरोक्ष-वृत्ति-व्याप्यस्य फल-व्याप्यत्व-नियमाच्च। —वही, पृ० ९५।

[2] पर 'भामती' के अनुसार 'जिज्ञासा' शब्द का प्रमुख अर्थ है 'ज्ञात करने की इच्छा,' किन्तु, चूँकि ज्ञात करने की इच्छा केवल ऐसे विषय के सम्बन्ध में हो सकती है जो संदिग्ध है (ज्ञातुं इच्छा हि संदिग्धविषये निर्णयाय भवति), इसलिये इसका लक्ष्यार्थ है, तर्कपूर्ण विचार-विमर्श (विच), जो किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये आवश्यक होता है।

[3] तस्माद् वेदान्तादिनाऽपात-प्रतीते ब्रह्मणि सगुण-निर्गुणाल्पगुणत्वादिना विप्रतिपत्तेर्जिज्ञास्यत्वम्।

—तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० १०९।

द्वारा निर्धारित किया जाता है तो ऐसा निश्चय ही 'अविद्या' के कारण होता है।[1] जहाँ तक 'अविद्या' स्वरूपतः आत्मा में उपस्थित कही जाती है, वह सत् है (अविद्यादिकं च स्वरूपेणाम–सम्बन्धित्वेन सद् एव)। अतः 'बुद्धि,' इन्द्रियाँ, शरीर और बाह्य विषय ईश्वर के नियंत्रण में स्वरूपतः यथार्थ अस्तित्व रखते हैं, किन्तु जब उनमें अविद्या-वश आत्मीयता समझी जाती है, तब अध्यास एवं भ्रम होता है (अविद्यादि-वशाद्-आत्मीयतया अध्यास्यन्ते)। अध्यास इस बात में निहित नहीं होता कि उनका कोई अस्तित्व नहीं है, इसके विपरीत वे वस्तुतः सत् हैं, तथा दुःख उनका एक लक्षण है। अध्यास इस तथ्य में निहित होता है कि जो स्पष्टतया शरीरादि ही का है उसे आत्मा का समझ लिया जाता है। जब अविद्या के कारण ऐसा मिथ्या तादात्म्य स्थापित हो जाता है, तब जीव स्वयं को उनसे प्रभावित समझ लेता है और जो वस्तुतः उनके परिवर्तन हैं उनसे वह स्वयं पीड़ित प्रतीत होता है, और, इस प्रकार राग व द्वेष के वशीभूत होकर पुनर्जन्म लेता है तथा ईश्वर की उपासना के अतिरिक्त स्वयं को पूर्णतः मुक्त नहीं कर पाता। पर जो शंकर एवं उनके अनुयायियों की भाँति 'माया' के सिद्धांत में विश्वास रखते हैं उनके अनुसार दुःख स्वयं में अस्तित्व नहीं रखता तथा स्वरूपतः मिथ्या है (दुःखादि स्वरूपेणापि मिथ्या)। शंकर का कथन है कि हम आत्मन् का अनात्मन् से कई ढंग से तादात्म्य स्थापित करते हैं, ऐसा सत्य हो सकता है, किन्तु इस तथ्य से यह कैसे सिद्ध होता है कि अनात्मन् मिथ्या है? उसका यथार्थ अस्तित्व हो सकता है और फिर भी अविद्यावश उसका आत्मन् के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। यदि केवल इस तथ्य से कि अनात्मन् का आत्मन् के साथ मिथ्या तादात्म्य स्थापित होता है अनात्मन् मिथ्या सिद्ध हो जाता है, तो दूसरी ओर आत्मन् के अनात्मन् के साथ मिथ्या तादात्म्य से यह सिद्ध हो जाना चाहिये कि आत्मन् भी मिथ्या है।[2] जिस प्रकार बद्ध आत्मन् यथार्थ है, उसी प्रकार आत्मन् को बांधने वाले विषयादिक भी यथार्थ हैं, अविद्या-वश उनके मिथ्या तादात्म्य का स्थापन बंधन की शृंखला है, तथा यह शृंखला भी यथार्थ है, और ईश्वर-प्रसाद से प्राप्त ज्ञान के द्वारा ही इसका निवारण हो सकता है।

---

[1] तस्य परायतत्वावभासो विद्या-निमित्तको भ्रमः। —न्याय-सुधा, पृ० २६।

[2] अत्र हि प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय-कर्त-कर्म-कार्य-भोक्तृ-भोग-लक्षण व्यवहार-त्रयस्य शरीरेन्द्रियादिषु अहं-ममाध्यास-पुरःसरत्वप्रदर्शनेन व्यवहार-कार्य-लिंगकमनुमानम् व्यवहारान्यथानुपपत्तिर्वाध्यासे प्रमाणं उक्तम्। न चानेनान्तःकरणशरीरेन्द्रिय-विषयानां तद्धर्माणां दुःखादीनां च मिथ्यात्वं सिध्यति स्वरूप-सतामपि तादात्म्य तत्सम्बन्धित्वाभ्यामारोपेणैव व्यवहारोपपत्तेर्। न च आरोपितत्वमात्रेण मिथ्यत्वं, आत्मनोऽपि अन्तःकरणादिषु आरोपितत्वेन मिथ्यात्व-प्रसंगात्। —वही।

शंकर-मत के द्वारा निर्देशित यह विचार भी गलत है कि जीव के स्वतंत्र कर्त्ता होने अथवा अपने अनुभवों को भोगने का प्रत्यय 'अहंकार' में अन्तर्निहित है, क्योंकि 'अहंकार' का प्रत्यय वस्तुतः आत्मा का विषय होता है तथा वह सुषुप्ति की अवस्था में भी विद्यमान रहता है, जबकि आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी अभिव्यक्त नहीं होता और हमें ज्ञात है कि उक्त अवस्था का अनुभव है–"मैं सुखपूर्वक सोता हूँ"। अतः यह अहं-प्रत्यय अथवा अहंकार वस्तुतः आत्मा का विषय है।[1]

यदि सब कुछ मिथ्या है तो फिर जिन श्रुतियों की सहायता से शंकर ऐसा सिद्ध करने का प्रयास करेंगे वे भी मिथ्या हो जायेंगी। शंकरवादियों द्वारा इस आपत्ति का यह उत्तर दिया गया है कि जो मिथ्या है वह भी अपना मिथ्यात्व एवं किसी अन्य वस्तु की सत्यता प्रदर्शित करने में सहायक हो सकती है, जैसे एक अर्जित प्रत्यक्षीकरण (उदारहणतया 'सुरभि चंदन' की अवस्था में) की अवस्था में दृग्येन्द्रिय गंध एवं रंग दोनों को प्रकट कर सकती है। किन्तु इस उत्तर का प्रत्युत्तर स्वभावतः यह प्रश्न उठाता है कि क्या मिथ्या श्रुतियाँ अथवा अन्य प्रमाण वस्तुतः अस्तित्व में हैं अथवा नहीं हैं यदि हैं तो निर्विशेष अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है, क्योंकि उनके अस्तित्व का अर्थ होगा द्वैतवाद की अनिवार्य स्वीकृति। दूसरी ओर यदि उनका सर्वथा अस्तित्व ही नहीं है तो वे कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकते। शंकर का यह उत्तर गलत है कि मिथ्या भी सत्य को सिद्ध कर सकता है, जैसे, शून्यों के निकट एक रेखा (इकाई) विविध संख्याओं को सूचित कर सकती है, क्योंकि वह रेखा एक शब्द में आए हुए वर्णमाला के चिह्नों की भाँति होती है तथा उनकी भाँति 'संकेतित' संख्याओं का प्रत्याह्वान करा सकती है, अतएव यह मिथ्या नहीं है (रेखापि वर्णे पदामीव अर्थे संकेतिते तं स्मारयतीति नो किंचिद् अत्र मिथ्याऽस्ति)।[2]

न यह माना जा सकता है कि दुःखादि बंधन यथार्थ नहीं है, क्योंकि वह 'साक्षिन्' के अनुभव के प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सत्य अनुभूत होता है।[3] उसकी असत्यता अथवा

---

[1] अहं-प्रत्ययस्य आत्म-विषयत्वात्। 'न्याय-सुधा', पृष्ठ २७।
वह एक ही रूप, 'अहं', के दो शब्दों में भेद भी स्थापित करती है, यद्यपि एक तो 'अव्यय' शब्द है और दूसरा 'अस्मद्' शब्द का कर्त्तावाचक एक वचन है। पूर्वोक्त का प्रयोग तो 'प्रकृति' के विकास-क्रम में उत्पन्न एक सत्ता का निर्देश करने के लिये किया जाता है, जबकि पश्चादुक्त आत्मा का निर्देश करता है।

[2] यहाँ शंकर एवं उनके अनुयायियों द्वारा दिये गए इस प्रकार के कई अन्य उदाहरणों का उल्लेख किया गया है तथा इसी ढंग से उनका खण्डन किया गया है।

[3] दुःखादि-बन्ध-सत्यतायां साक्षि-प्रत्यक्षमैव उपन्यस्तम्।
—वही, पृष्ठ ३०।

मिथ्यात्व प्रतिपक्षी द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि उसके अनुसार 'निर्विशेष' है, किन्तु कुछ भी सिद्ध करने के प्रत्येक प्रयास में जिसे सिद्ध करना है और जिसके द्वारा वह सिद्ध किया जाता है, उन दोनों के मध्य द्वैत होता है तथा एक निर्विशेष सत्ता प्रमाण बन सकती है यह उस निर्विशेष सत्ता द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें 'दुष्ट चक्र' का दोष हो जायगा। यदि जगत मिथ्या है तो जिन प्रमाणों के द्वारा ऐसा स्थापित किया जा सकता है वे भी उस कथनानुसार मिथ्या होंगे और तब वह कथन स्वयं कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ?

जैसाकि अभी कहा जा चुका है, विचार-विमर्श में प्रविष्ट होने के कारण प्रतिपक्षीगण को भी 'प्रमाणों' (व्यवहरति) की सत्यता स्वीकार करनी पड़ेगी, क्योंकि उनके बिना कोई विचार-विमर्श (कथा) नहीं किया जा सकता, और यदि 'प्रमाण' सत्य माने जाते हैं तो जो उनके द्वारा सत्य सिद्ध किया जाता है (प्रमेय अथवा व्यावहारिक) वह भी सत्य ही होगा।[1] इस सम्बन्ध में जयतीर्थ श्रीहर्ष के 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' के प्रारम्भिक भाग में निहित विचारों का उल्लेख करते हैं जहाँ यह कहा गया है कि यह निःसन्देह सत्य है कि कोई भी विचार-विमर्श तार्किक प्रमाणों की यथार्थता की स्पष्ट अस्वीकृति से आरम्भ नहीं किया जाता, पर साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि किसी विचार-विमर्श को आरम्भ करने से पूर्व किसी प्रमाण की सत्यता स्वीकार की जाय। जो विचार-विमर्श प्रारम्भ करते हैं वे प्रमाणों की सत्यता अथवा असत्यता विषयक किसी भी पूर्व-विचार के बिना ऐसा करते हैं, वे समस्त प्रमाणों के चरम सत् अथवा असत् की ओर ध्यान नहीं देते, वरन् विचार-विमर्श ऐसे प्रारम्भ कर देते हैं मानों उस समय इस प्रकार के प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं है।[2] किसी विचार-विमर्श में केवल एक अस्थायी समझौते (समय-बन्ध) अथवा विचार-विमर्श हेतु युक्तियों एवं प्रमाणों के कतिपय नियमों की स्वीकृति की आवश्यकता होती है, क्योंकि उसके लिये इतना ही यथेष्ट है। इन अवस्थाओं में यह आवश्यक नहीं है कि हमें स्वयं प्रमाणों की सत्यता अथवा असत्यता, अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के स्वरूप पर विचार करना चाहिये।[3] अतः 'प्रमाणों' के चरम अस्तित्व एवं सत्यता को अंगीकार किये बिना भी विचार-विमर्श करना सम्भव है और वह केवल इस पारस्परिक अस्थायी

---

[1] व्यवहारिकं व्यवहार-विषयो दुःखादि। —वही, पृ० ३१।

[2] न ब्रूमो वयं न सन्ति प्रमाणादीनि इति स्वीकृत्य कथारभ्येति किं नाम सन्ति न सन्ति प्रमाणादीनि इत्यस्यां चिन्तायां उदासीनैः यथा स्वीकृतयतादि भवता व्यवह्रियन्ते तथा व्यवहारिभिरेव कथा प्रवर्त्यताम्। —वही, पृ० ३२।

[3] तच्च व्यवहार-नियम-बन्धादेव—स च प्रमाणेन तर्केण च व्यवहर्तव्यम् इत्यादि-रूपः, न च प्रमाणादीनां सत्तापि इत्थम् एव तुम्यम् अंगीकर्तुम् उचिता, तादृश-व्यवहार-नियम-मात्रेणैव कथा-प्रवृत्तेः। —वही।

समझौते के आधार पर कि मानों उनका अस्तित्व है तथा वे सत्य हैं। इसलिये यह कहना त्रुटिपूर्ण है कि जो प्रमाणों के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते वे वैध ढंग से उचित विचार-विमर्श में प्रविष्ट नहीं हो सकते। 'माया' सिद्धांत के समर्थकों के हितों की रक्षा के हेतु उपर्युक्त विधि का उल्लेख करने के पश्चात् जयतीर्थ कहते हैं कि एक विचार-विमर्श में चाहे कैसा भी पारस्परिक समझौता क्यों न हो, यह एक निर्विवाद तथ्य है कि यदि प्रमाणों का अस्तित्व नहीं है तो ऐसी असत् सत्ताओं के द्वारा कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। या तो 'प्रमाणों' का अस्तित्व है अथवा नहीं है, कोई मध्यम मार्ग नहीं है। यदि उन्हें सत् नहीं स्वीकृत किया जाय तो वे कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकते। आप यह नहीं कह सकते कि आप 'प्रमाणों' के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के सम्बन्ध में उदासीन हैं और फिर भी एक निष्क्रिय की भाँति विचार-विमर्श में प्रवृत्त हो जायेंगे, क्योंकि हमारे विचारों का रूप ही ऐसा है कि या तो उनको सत् मानना पड़ेगा या नहीं। आप उनके सत् अथवा असत् के सम्बन्ध में अपना निर्णय स्थगित नहीं रख सकते और साथ ही विचार-विमर्श करने के लिये उनका प्रयोग नहीं कर सकते।[1] आप विचार-विमर्श प्रारम्भ करने से पूर्व उनके सम्बन्ध में विचार भले ही न करें, किन्तु, जब आप विचार-विमर्श कर रहे होते हैं तब इस सम्बन्ध में प्रश्न सरलता से उठाया जा सकता है और आपको उसे स्वीकार करना पड़ेगा अन्यथा विचार-विमर्श को त्यागना पड़ेगा। पारस्परिक समझौते द्वारा 'प्रमाणों' से विनिमय करने का अर्थ है उनके अस्तित्व को पहले ही से स्वीकार कर लेना।[2]

शंकरवादी प्रायः तीन प्रकार की सत्ताओं का कथन करते हैं, 'पारमार्थिक', 'व्यावहारिक' एवं 'प्रातिभासिक'। जगताभास (जगत-प्रपंच) की यह व्यावहारिक सत्ता न तो सत् है और न असत् है (सदसद्-विलक्षण)। श्रुतियाँ इसे मिथ्या कहती हैं, क्योंकि यह सत् नहीं है और फिर भी चूँकि यह पूर्णतः असत् नहीं है अतः उसके अंतर्गत पाये जाने वाले प्रमाणादि स्वयं उसके मिथ्यात्व तथा चरम सत्ता के निरपेक्ष सत्-स्वरूप को सिद्ध कर सकते हैं।[3] ऐसी मान्यता में वास्तव में कुछ बल होता यदि यह सिद्ध हो सकता कि 'जगत-प्रपंच' न तो सत् है और न असत्, पर ऐसा नहीं किया

---

[1] सत्वासत्वे विहाय प्रमाण-स्वरूपस्य बुद्धौ आरोपयितुमशक्यत्वेन उदासीनस्य तत्-स्वीकारानुपपत्तेः। —'न्याय-सुधा', पृ० ३४।

[2] प्रमाणैर व्यवहर्तव्यम् इति च नियम-वन्धनं प्रमाकरणभावस्य नियमान्तर्भावान् नियत-पूर्व-रूपं करणत्वम् प्रमाणानाम् अनादाय न पर्यवस्यति। —वही, पृ० ३४।

[3] तत्र व्यवहारिकस्य प्रपंचस्य सदसद्विलक्षणस्य सद्-विलक्षणत्वाद् उपपन्नं श्रुत्यादिना मिथ्यात्व-समर्थनम् असद्-विलक्षणत्वात् तद्-अन्तर्गतस्य प्रमाणादेः साधकत्वं च इति। —वही, पृ० ३५।

जा सकता, क्योंकि असत् सत् के अभाव के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है (तस्य सत्ता भावाव्यतिरेकात्)। अतः जो सत् से भिन्न है वह असत् होना चाहिये तथा जो असत् से भिन्न है वह सत् होना चाहिये, यहाँ कोई मध्यम मार्ग नहीं है। श्रुतियाँ भी यह नहीं कहती कि 'जगत-प्रपंच' का ऐसा स्वरूप है जो सत् एवं असत् से भिन्न (सदसद्-विलक्षण) हो।

'सद्-विलक्षण' वाक्यांश के अर्थ के सम्बन्ध में अनेक अर्थों एवं उनके खण्डन का निर्देश करने के पश्चात् जयतीर्थ इस वैकल्पिक व्याख्या का सुझाव देते हैं कि उक्त वाक्यांश का अर्थ हो सकता है 'सत्ता-सामान्य से वैलक्षण'। किन्तु प्रतिपक्षी द्वारा निश्चय ही यह अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक सामान्य सत्ता को स्वीकार करने का तात्पर्य है उन विभिन्न विशेष सत्ताओं को स्वीकार करना जिनसे सामान्यीकरण किया जा सके।[1] एक शंकरवादी द्वारा यह स्वीकार नहीं किया जा सकता तथा जहाँ तक स्वयं जयतीर्थ का सम्बन्ध है वे विशेष सत्ताओं से पृथक् किसी सामान्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते (द्रव्याद्यतिरिक्त-सत्व-सामान्यस्यैव अनंगीकारात्)। शंकरवादी कहते हैं कि इस जगत्-प्रपंच की अनिर्वचनीयता इस तथ्य से स्पष्ट है कि वह सम्यक् ज्ञान से अंततः नष्ट हो जाता है तथा मध्ववादियों द्वारा भी यह स्वीकार किया जाता है कि यह जगत-प्रपंच सम्यक् ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है एवं यह जगत-प्रपंच नष्ट होने योग्य है। इस आपत्ति का जयतीर्थ यह उत्तर देते हैं कि जब मध्ववादी यह कहते हैं कि जगत् प्रभु के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है, तो यह उसी अर्थ में है जिस अर्थ में एक मुद्गर के प्रहार से एक घट को धूल में परिणत कर दिया जाता है।[2] परन्तु हमारे मत में 'प्रकृति' के सम्बन्ध में ऐसा विनाश भी सम्भव नहीं है तथा यह विनाश एक शंकरवादी द्वारा समझे जाने वाले 'ज्ञान' के द्वारा 'बाध' से सर्वथा भिन्न है। क्योंकि, जैसाकि प्रकाशात्मन् अपने 'विवरण' में लिखते हैं, 'बाध' का अर्थ यह है कि ज्ञान के द्वारा 'अज्ञान' अपने समस्त कार्यों सहित बाधित हो जाता है (अज्ञानस्य स्वकार्येण वर्त्तमानेन प्रविलीनेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिर्बाधः)। मध्ववादियों के अनुसार 'सम्यक्ज्ञान' के द्वारा 'बाध' किसी ऐसी वस्तु के सम्बन्ध में होता है जिसके बारे में पहले 'अन्यथा ज्ञान' था। 'सदसद्विलक्षण' जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व सम्यक्-ज्ञान के द्वारा बाधित वस्तु के अनुरूप नहीं माना जा सकता, सम्यक्-ज्ञान के द्वारा किसी वस्तु के सम्बन्ध में केवल आपके दोषपूर्ण ज्ञान का 'बाध' हो सकता है। शुक्ति-रजत का उदाहरण कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि हम यह

---

[1] सत्ता सामान्यांगिकारे च सद्-भेदो दुर्वारैव, न ह्येकाश्रयं सामान्यमऽस्ति।

—वही, पृ० ३८

[2] मुद्गर-प्रहारादिना घटस्यैव ईश्वरस्य ज्ञानेच्छा-प्रयत्न-व्यापारैर्विनाशैव।

—वही, पृ० ३९।

स्वीकार नहीं करते कि शुक्ति-रजत जैसी कोई ऐसी वस्तु है, जिसका अस्तित्व था और जो सम्यक्-ज्ञान के द्वारा विनिष्ट हो गई, क्योंकि वास्तव में उसका कभी कोई अस्तित्व था ही नहीं। न केवल शुक्ति-रजत के संबंध में बल्कि 'आकाश' आदि के संबंध में भी यह कथन सर्वथा गलत है कि वह 'सदसद्विलक्षण' है।

भ्रम का अर्थ है एक वस्तु को जैसी वह है उससे भिन्न समझना (अन्यथा-विज्ञानम् एव भ्रांति)। शुक्ति-रजत 'अन्यथा-विज्ञान' अथवा 'अन्यथा-ख्याति' का सरल उदाहरण है तथा इसमें 'सदसद्विलक्षणत्व' अथवा 'ज्ञान-निवर्त्यत्व' जैसी कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि उसका अस्तित्व ही नहीं है। यहां यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि यदि उसका अस्तित्व नहीं होता तो हमें उसका प्रत्यय (प्रतीति) प्राप्त नहीं हो सकता था, कोई भी व्यक्ति ऐसी वस्तु का प्रत्यय प्राप्त नहीं कर सकता जिसका अस्तित्व ही न हो, किन्तु शुक्ति-रजत का अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण होता है। इसका उत्तर यह है कि प्रतिपक्षी भी यह स्वीकार नहीं करता कि ऐसी कोई सहवर्तिता है कि जिस वस्तु का अस्तित्व न हो उसका कोई प्रत्यय प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब प्रतिपक्षी किसी वस्तु को 'असद्-विलक्षण' अथवा असत् से भिन्न कहता है, तब उसमें 'असत्' का प्रत्यय होना चाहिये, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु (यथा, घट) को किसी अन्य वस्तु (यथा, पट) से भिन्न ज्ञान करना चाहता है तो इससे पूर्व इस भिन्नता को ज्ञात हो जाना चाहिये कि वह वस्तु (एक घट) क्या है ?[1] यहाँ पुनः यह ज्ञान-मिमांसा सम्बंधी समस्या खड़ी होती है कि क्या असत् का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है। इस प्रकार यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'क्या मनुष्य के मस्तक पर सींग हैं ? वाक्य किसी अर्थ को सूचित करता है, और यदि वह ऐसा करता है तो वह अर्थ किसी सत् सत्ता का है अथवा असत् सत्ता का ? वह सत् सत्ता का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में हमें वास्तव में सींग दिखाई पड़ने चाहियें, सींग की असत् सत्ता का प्रत्यय होना चाहिये, अतएव यह स्वीकार करना पड़ता है कि हम असत् सत्ताओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि यह सत्ता असत् नहीं है वरन् केवल 'अनिर्वचनीय' है, क्योंकि, यदि शश-शृंग अथवा मानव-शृंग जैसी सत्ताओं को भी असत् नहीं माना जाना चाहिये तो फिर शुक्ति-रजत को किससे भिन्न समझा जाना चाहिये ? क्योंकि 'असद्-विलक्षण' का कुछ अर्थ स्वीकार करना पड़ेगा, 'असत्' का अर्थ 'अनिर्वचनीय' नहीं हो सकता, उस दशा में शुक्ति-रजत, जिसे 'असत्' से विलक्षण कहा जाता है,

---

[1] यो यद्विलक्षणं प्रत्येति स तत्-प्रतीतिमान्
यथा घट-विलक्षणः पट इति प्रतीतिमान्
देवदत्तो घट-प्रतीतिमान् इत्यनुमानात्।

—'न्याय-सुधा,' पृ० ५७।

वर्णनीय हो जायगी।[1] 'असत्' न केवल ज्ञान का विषय बन सकता है बल्कि वह एक क्रिया का कर्त्ता अथवा कर्म भी हो सकता है। यथा जब यह कहा जाता है कि 'घट' उत्पन्न किया जा रहा है, 'घटो जायते' तो यह वाक्य असत् घट को सूचित करता है जो 'जायते' क्रिया का कर्त्ता है, क्योंकि बाद में यह प्रदर्शित किया जायगा कि शंकर का वह सिद्धान्त गलत है जिसके अनुसार कारणता के व्यापार के पूर्व भी कार्यों का पूर्व अथवा समकालिक अस्तित्व रहता है (सत्-कार्यवाद)। अतः चूंकि 'असत्' का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, इसलिये यह आपत्ति अमान्य है कि शुक्ति-रजत असत् नहीं हो सकती क्योंकि वह ज्ञात होती है।

किन्तु आगे एक यह आपत्ति उठाई जाती है कि यद्यपि यह अस्वीकृत नहीं किया जाता है कि असत् को ज्ञात किया जा सकता है, तथापि यह अस्वीकृत किया जाता है कि असत् अपरोक्ष रूप से प्रत्यक्ष तथा सत् रूप में भासित नहीं हो सकता (अपरोक्षतया सत्वेन च), मानो एक व्यक्ति एक मनुष्य के मस्तक पर उसी प्रकार सींग देखे जिस प्रकार वह उन्हें गाय के सिर पर देखता है। किन्तु शुक्ति रजत की दशा में जो कुछ-प्रत्यक्ष किया जाता है वह सत् के रूप में अपरोक्षतः प्रत्यक्ष किया जाता है, अतः शुक्ति रजत असत् होनी चाहिये। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है : जो व्यक्ति शुक्ति-रजत को असत् न मानकर 'अनिर्वचनीय' मानते हैं उनको 'इदम्' और 'रजत' के तादात्म्य का आभास स्वीकार करना पड़ेगा (इदं-रजतयोः)। शंकरवादियों के अनुसार भ्रम किसी वस्तु का उस वस्तु में आभास है जो वैसी नहीं है (अतस्मिंस्तद् इति प्रत्यय इति)। निश्चय ही यह 'अन्यथा-ख्याति' (यथार्थ से भिन्न आभास) नहीं है, क्योंकि भ्रम का आधार (भ्रामक रजत के 'अधिष्ठान' के रूप में शुक्ति) स्वरूप से मिथ्या नहीं है, बल्कि अपने रजतमय आभास के रूप में मिथ्या है अथवा मिथ्या आभास से संबंधित होने के रूप में (संसृष्ट-रूप) मिथ्या है, किन्तु मिथ्या आभास (अध्यस्त) 'स्वरूप' से भी मिथ्या है और प्रेक्षक के सम्मुख विषय से सम्बन्धित होने के रूप में भी मिथ्या है, 'माया' सिद्धान्त के समर्थक ऐसा स्वीकार करते हैं। 'अन्यथा-ख्याति' मत के समर्थकों के विचार में शुक्ति और रजत दोनों यथार्थ हैं, तथा केवल शुक्ति का रजत से एवं रजत का शुक्ति से तादात्म्याभास मिथ्या है।[2] मिथ्या अथवा असत् का यह आभास 'अपरोक्ष' होता है, जैसा कि अनुभव से ज्ञात होता है तथा यथार्थ सत्ता से युक्त होता है, क्योंकि वर्ना कोई भी उससे प्रवृत्त नहीं होता (सत्वेना-प्रतीतौ-प्रवृत्यनुपपत्तेश्च)। जबतक भ्रम का निवारण नहीं हो

---

[1] निरुपाख्याद् इति चेत् तर्हि तद्-वैलक्षण्यं नाम सोपाख्यानत्वम् एव।
—वही, पृ० ५८।

[2] अन्यथा-ख्याति-वादिभिर् अधिष्ठानारोप्ययोर् उभयोर् अपि संसृष्ट-रूपेणैव असत्वं स्वरूपेण तु सत्वम् इत्यंगीकृतम्। वही, पृ० ५८।

जाता तबतक असत् रजत का 'इदं' के साथ यह साहचर्य प्रेक्षक के सम्मुख यथार्थ रजत के प्रत्यक्षीकरण से लेशमात्र भी भिन्न नहीं होता। प्रतिपक्षी ऐसा कहेंगे कि यह एक मिथ्या और असत् साहचर्य (अन्यथात्वं यथागत् स्यात्), नहीं है, जैसाकि मध्ववादी मानते हैं, किन्तु यह समझना कठिन है कि उनका इस प्रकार की आपत्ति से क्या तात्पर्य है, क्योंकि रजत का शुक्ति से ऐसा साहचर्य यथार्थ (सत्) नहीं हो सकता, क्योंकि यदि वह ऐसा होता तो वह केवल भ्रम (भ्रांति) की अवस्था में ही क्यों भासित होता, जिसमें प्रथम प्रत्यक्षीकरण बाधित हो जाता है, जैसे 'यह रजत नहीं है' वाक्य में पुनः, जो यह सोचते हैं कि भ्रम की अवस्था में रजत 'अनिर्वचनीय' होती है, उनसे यह पूछा जा सकता है कि जो अनिर्वचनीय रूप में भासित होती है उसका स्वरूप क्या है ? क्या वह असत् अथवा मिथ्या के रूप में भासित होती है ? ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि फिर कोई भी उसे असत् अथवा मिथ्या जानकर उसके संबंध में कष्ट नहीं उठायेगा और न उसे उठाने का प्रयत्न करेगा। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह सत् के रूप में भासित होती है। यह हमारे भ्रम के अनुभव के अनुकूल है ('यह रजत') उसकी ओर आकृष्ट होने के लिये रजत के अस्तित्व की प्रतीति से रहित उसकी कोरी प्रतीति से यथेष्ट नहीं होती। परन्तु उसका यथार्थ अस्तित्व नहीं है, क्योंकि तब वह अनिर्वचनीय नहीं हो सकती, यदि वह असत् है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि असत् अपरोक्ष प्रत्यक्ष अनुभव में भासित होता है तथा सत् से युक्त प्रतीत होता है। पर प्रतिपक्षी यह कह सकते हैं कि यह उनकी समझ में परिस्थिति जैसी है उसका सही विश्लेषण नहीं है। क्योंकि उनके मत में शुक्ति में यथार्थ 'इदं' तथा रजत के साथ उसका संसर्ग उतना ही अनिर्वचनीय है जितनी कि अनिर्वचनीय रजत स्वयं है, अतएव रजत के आभास में रजत अनिर्वचनीय है और इसीलिये उनका परस्पर सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय है। शुक्ति में निहित सत्ता रजत के साथ अनिर्वचनीय ढंग से सम्बन्धित होती है। इसका उत्तर यह है कि ऐसा मत 'अनवस्था' नामक गम्भीर दोष से युक्त है। कारण जब यह कहा जाता है कि 'इदं' एवं 'रजतता' का पारस्परिक 'संसर्ग' तथा शुक्ति की सत्ता का रजत के साथ संसर्ग दोनों अनिर्वचनीय हैं, तो यह पूछा जा सकता है कि उनको अनिर्वचनीय कहने का ठीक-ठीक तात्पर्य क्या है ? वह साधारण प्रापंचिक अनुभव (व्यावहारिक) के स्वरूप की नहीं है क्योंकि मिथ्या रजत किसी व्यावहारिक उपयोग की नहीं होती। यदि वह मिथ्या (प्रातिभासिक) है तो क्या वह उसी रूप में भासित होती अथवा वह ऐसी भासित होती है मानो वह 'व्यावहारिक' स्वरूप की हो ? यदि वह प्रातिभासित रूप में भासित होती तो कोई भी व्यक्ति उसे मिथ्या समझकर उससे धोखा नहीं खाता तथा उसे उठाने के लिये नीचे झुकने का कष्ट नहीं उठाता। यदि वह ऐसी भासित होती मानो वह व्यावहारिक स्वरूप की हो, तो वह वस्तुतः ऐसी नहीं हो सकती क्योंकि फिर वह मिथ्या नहीं हो सकती थी। यदि वह व्यावहारिक स्वरूप की न होते हुए भी वैसी

भासित होती है, तो पुरानी बात स्वीकार करनी पड़ती है कि अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण में असत् सत् के रूप में भासित हो सकता है। यदि व्यावहारिक अनुभव के किसी विषय के रूप में रजत के इस आभास को अनिर्वचनीय मान लिया जाय तो उसके सम्बन्ध में पुन: इसी प्रकार के प्रश्न पूछे जा सकते हैं तथा यह श्रेणी-क्रम अनन्त तक चलता रह सकता है, यह बीज और पौधे निर्दोष अन्योन्याश्रय से भिन्न चक्रक दोष को सच्चे उदाहरण बन जायेंगे, क्योंकि यहाँ जब तब पूर्ववर्त्ती श्रेणी का एक निश्चित उत्तर संतोषजनक ढंग से न दे तब तक अनुवर्त्ती श्रेणी का हल नहीं निकाला जा सकता तथा स्वयं उसका हल इसी प्रकार उसके पूर्ववर्त्ती श्रेणी के हल पर निर्भर करता है तथा उसका हल किसी अन्य पर, और यह क्रम अनन्त तक चलता रहेगा, अतएव किसी भी स्तर पर कोई हल प्राप्त होना सम्भव नहीं है।[1] अत: यह पुरना मत स्वीकार करना पड़ता है कि मिथ्या एवं असत् भी यथार्थ एवं सत् के रूप में भासमान हो सकता है तथा जगत-प्रपंच को 'अनिर्वचनीय' नहीं मानना चाहिये।

ब्रह्म-सूत्र १, १, २ की व्याख्या

द्वितीय 'सूत्र' 'जन्माद्यस्य यत:' का शाब्दिक अनुवाद है जिससे इसकी उत्पत्ति, आदि। इस 'सूत्र' पर शंकर के भाष्य का आशय संक्षेप में निम्नलिखित है: 'उत्पत्ति आदि' का अर्थ है उत्पत्ति, स्थिति और विनाश। इस अति विशाल, नियम-बद्ध एवं विविधता से युक्त जगत-प्रपंच की उत्पत्ति, स्थिति व विनाश उस चरम कारण ईश्वर से होता है तथा न तो 'परमाणु' और न जड़ एवं 'प्रकृति' उसका कारण हो सकते हैं। यह सूत्र ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में एक अनुमान के रूप में अभिप्रेत नहीं है, बल्कि ब्रह्मन् के स्वरूप के सम्बन्ध में उपनिषद्-पाठों के आशय का वर्णन मात्र है,[2] क्योंकि ब्रह्मन् के स्वरूप का अंतिम ज्ञान हमारे ज्ञानेन्द्रियों की सीमा से परे होने के कारण, उपनिषद्-पाठों के अर्थ के सम्यक् अवबोध से ही प्राप्त हो सकता है।

मध्व के 'भाष्य' एवं 'अनुव्याख्यान' पर टीका करते समय जयतीर्थ इस 'सूत्र' की व्याख्या करने में मध्व का अनुसरण करते हैं। यह 'सूत्र' 'ब्रह्मन्' का सजातीय प्राणियों अर्थात् 'जीवों' तथा विजातीय जड़ पदार्थों से विभेदीकरण करने के अभिप्राय से ब्रह्मन् का 'लक्षण' बताता है। तात्पर्य यह है कि जिस सत्ता से जगत् की उत्पत्ति आदि होती है वह ब्रह्मन् है और महत्वपूर्ण श्रुति-पाठ कहते हैं कि जगत् ब्रह्मन् से उत्पन्न हुआ था।[3]

---

[1] 'न्याय-सुधा,' पृ० ५९।

[2] जन्मादि-सूत्र नानुमानोपन्यासार्थं किं तर्हि वेदान्त-वाक्य-प्रदर्शनार्थम्।

[3] जयतीर्थ इस 'सूत्र' की एक अन्य व्याख्या का उल्लेख करते हैं—'जन्म आद्यस्य

यह बताया जा चुका है कि 'सूत्र' में 'जन्मादि' का अर्थ शंकर ने 'सृष्टि', 'स्थिति' एवं विनाश ('लय' या 'भंग') लगाया तथा उन्होंने यहां यास्क द्वारा 'निरुक्त' में निर्देशित अस्तित्व-मय पदार्थों (भाव-विक) की छः अवस्थाओं का तीन अवस्थाओं में ही समावेश किया, यथा उत्पन्न होना, स्थिति में रहना, विकसित होना, परिवर्तित होना, क्षय होना तथा विलय होना; क्योंकि विकास और परिवर्तन का 'जन्म' के अन्तर्गत समावेश हो जाता है तथा क्षय का 'लय' में। परन्तु मध्व 'जन्मादि' पद में आठ विभिन्न पदार्थों का समावेश करते हैं, उनके अनुसार वे हैं 'सृष्टि' 'स्थिति' संहार 'नियम', 'ज्ञान', 'अज्ञान', 'बन्ध' तथा 'मोक्ष'।[२] इन समस्त गुणों की सत्ता 'ब्रह्मन्' नाम से निर्देशित गुणों के पूर्णत्व को लक्षित करती है। वह एक-मात्र सत्ता जिसमें उपर्युक्त सभी आठ गुण स्थित रहते हैं 'ब्रह्मन्' कहलाती है।

हिरण्यगर्भस्ययतस्तद् ब्रह्म'। 'यतः' शब्द द्वारा निर्देशित ब्रह्म के अर्थ के सम्बन्ध में 'न्याय-सुधा' में तथा अन्य स्थानों पर उल्लिखित मतों का 'तात्पर्य-चन्द्रिका' विवेचन करती है। 'ब्रह्मन्' शब्द के अंश 'बृह' के कई 'रूढ़' अर्थ हैं, जैसे 'जाति', 'जीव', 'कमलासन' अथवा 'ब्रह्मा'। किन्तु यह शब्द यहाँ 'रूढ़' अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है बल्कि व्युत्पत्यात्मक अर्थ में जो उस सत्ता को सूचित करता है जिसमें गुणों का पूर्णत्व हो, क्योंकि इसी अर्थ में इस 'सूत्र' तथा उसके पूर्ववर्ती 'सूत्र' के सम्बन्ध में निर्देशित उपनिषद्-पाठ सार्थक बनते हैं। पुनः, अन्य पाठों के आधार पर, जिनमें उसको (जिससे समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति होती है) समुद्र में स्थित बताया गया है, 'ब्रह्मन्' का अर्थ यहाँ विष्णु होता है (यथा 'समाख्या-श्रुति' में द्यावापृथिवा परं मम योनिरप्सु अन्तः समुद्रे), क्योंकि केवल उसमें ही सर्व गुणों का पूर्णत्व होता है। यह लक्षण 'रूढ़' अर्थों जैसे 'जाति' या 'जीव' में से किसी पर लागू नहीं होगा और इसीलिये यद्यपि 'रूढ़' अर्थ व्युत्पत्यात्मक अर्थ (यौगिक) से प्रबल होता है, तथापि यहाँ पाश्चादुक्त अधिमान्य है: 'ब्रह्म-शब्दस्य जीवे रूढ़त्वेऽपि बाधक सद्भावात् तद् ब्रह्म इति श्रुत्युक्तं ब्रह्म विष्णुएव' (तत्व-प्रकाशिका)। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि 'तत्व-प्रकाशिका', 'तात्पर्य-चन्द्रिका' व अन्य मध्व-रचनाओं के अनुसार यह माना जाता है कि यद्यपि साधारणतया ब्रह्म का 'रूढ़' अर्थ जीव होता है, तथापि पण्डितों के लिये इस शब्द का सदा रूढ़ अर्थ विष्णु होता है। इस प्रकार साधारण 'रूढ़' अर्थ एवं विद्वद्-रूढ़' अर्थ में भेद स्थापित किया गया है तथा पश्चादुक्त को अधिमान्यता दी गई है', 'विदुषां ब्रह्म-शब्देन विष्णु-व्यक्ति-प्रतीते'।

—तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० १२०।

[२] मध्व का 'अनुभाष्य' या 'ब्रह्म-सूत्र' १, १, २ मध्व अपने पक्ष में 'स्कन्द पुराण' से एक अवतरण आप्त-वचन के रूप में उद्धृत करते हैं—

उत्पत्ति-स्थिति-संहार-नियतिर्ज्ञानमवृत्तिः
बन्ध-मोक्षं च पुरुषाद्यस्मात् स हरिर् एकराट्।

सामान्यत: दो प्रकार की परिभाषाओं में परस्पर विभेद किया जाता है, अर्थात् 'स्वरूप-लक्षण' और 'तटस्थ-लक्षण'। 'पंच-पादिका-विवरण' के लेखक प्रकाशात्मन् ब्रह्मन् की इस परिभाषा को पश्चादुक्त प्रकार की बताते हैं, क्योंकि केवल 'माया' के साहचर्य में ही ब्रह्मन् जगत-प्रपंच की उत्पत्ति आदि का कारण कहा जा सकता है। वह स्वरूप से विशुद्ध 'आनन्द' रूप है जो अपने स्वरूप में विशुद्ध 'ज्ञान' से एक-रूप है।[1] पर मध्व और उनके अनुयायी इस 'सूत्र' में बताये हुए गुणों को स्वरूप-लक्षण मानते हैं तथा यह नहीं स्वीकार करते कि 'आनन्द' एवं 'जीव' के सार-तत्व किसी भी अर्थ में गुणों के अतिरिक्त कुछ अन्य हैं, और उस दशा में वे 'ब्रह्मन्' से तादात्म्य रखने वाले सार-तत्व नहीं हो सकते जैसाकि एक 'स्वरूप-लक्षण' के लिये आवश्यक है, क्योंकि 'आनन्द' भी किसी अन्य गुण के समान एक गुण ही है, और यदि 'आनन्द' एक स्वरूप-लक्षण माना जा सकता है तो इस जगत का कारण होने का गुण भी स्वरूप-लक्षण माना जा सकता है।[2] यदि ब्रह्मन् का कारण होना उसका तटस्थ-लक्षण है तो, वह अपनी शुद्धता में 'आनन्द' भी नहीं हो सकता, चाहे 'आनन्द को एक जाति-प्रत्यय के अर्थ में लिया जाय, एक 'अनुकूल वेदना' माना जाय, 'परम-प्रेमास्पद' समझा जाय, अथवा दुःख के विपरीत बताया जाय, क्योंकि यदि 'आनन्द' का स्वरूप इनके जैसा है, तो वह स्वरूपत: सोपाधिक लक्षणों से सम्बन्धित होना चाहिए (सोपाधिकत्वम्)। इसी प्रकार 'ज्ञान' भी किसी न किसी अर्थ की अभिव्यक्ति करता है तथा स्वरूपत: अपने से बाह्य वस्तु से सम्बंधित होना चाहिये (अर्थ-प्रकाशात्मकत्वेन सोपाधिकमेव), क्योंकि ज्ञान का ज्ञाता एवं ज्ञेय से अपृथक् सम्बन्ध होता है (ज्ञानस्य ज्ञातृ-ज्ञेय-सापेक्षत्वात्)। 'पंच-पादिका-विवरण' में कहा गया है कि जो ज्ञान ब्रह्मन् का स्वरूप-लक्षण है वह सर्व-प्रकाशक विज्ञान है जो विषयों पर निर्भर होने अथवा उनसे अपृथक् सम्बन्ध रखने की उपाधियों से सर्वथा रहित है।[3] किन्तु यह तथ्य कि वह ज्ञान सर्व-प्रकाशक है, उसकी शक्ति-सम्पन्नता को सूचित करता है तथा यह शक्ति अनिवार्यत: उस विषय से सम्बन्धित होनी चाहिये जिसके प्रति वह प्रभावशाली है। इसके अतिरिक्त यदि कोई शक्ति स्वरूप-लक्षण मानी जा सकती है तो जगत् को उत्पन्न करने की शक्ति तथा उसे अन्य प्रकार से प्रभावित करने की शक्ति (जिसका इस 'सूत्र' में उल्लेख किया गया

---

[1] पंच-पादिका-विवरण, पृ० २२२–३।

[2] आनन्दं लक्षणमिति चेत् तर्हि जगत्-कारणं लक्षणमास्तु।

—तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० १४०।

[3] अनेन सर्वज्ञ-शब्देन सर्वावभास-क्षणं विज्ञप्ति-मात्रमादित्यादि-
प्रकाशवदविषयोपाधिकं विज्ञानमेव ब्रह्म-स्वरूप लक्षणम्।

—पंच-पादिका-विवरण, पृ० २१०।

है) भी एक स्वरूप-लक्षण मानी जा सकती है।[1] यह आपत्ति मान्य नहीं है कि किसी वस्तु का 'स्वरूप' स्वयं से भिन्न किसी वस्तु के संबंध द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी अन्य वस्तु से सर्वथा असंबंधित एवं संबंधों से रहित वस्तु ज्ञात नहीं की जा सकती (स्वरूपस्य स्व-वेद्यत्वात्)। प्रतिपक्षियों द्वारा आगे यह कहा जाता है कि ब्रह्मन् के जगत के कारण होने का 'तटस्थ-लक्षण' किसी मकान को एक अस्थाई साहचर्य (जैसे उसकी छत पर बैठे हुए कौए) के द्वारा निर्देशित करने के सदृश, एक अन्तर्निहित व आन्तरिक लक्षण (अनन्वयी) नहीं होता, किन्तु 'आनन्द' के सादृश एक स्वरूप-लक्षण वस्तु का अन्तर्निहित एवं आन्तरिक अंग (कार्यान्वयी) होता है। पर इस प्रकार की आपत्ति ब्रह्मन् के कारणत्व आदि लक्षणों को तटस्थ-लक्षण बताकर बहिष्कृत नही कर सकती, क्योंकि हम ब्रह्मन् को स्वरूपतः जगत के 'कारण' के रूप में उन्हीं अंशों में ज्ञात करना चाहते हैं जिन अंशों में अन्य किसी लक्षण के रूप में। ब्रह्मन् का स्वरूप-लक्षण जगत की उत्पत्ति आदि के चरम कारण के रूप में उसकी गुणों की पूर्णता है तथा उसके यह गुण किसी भी अर्थ में उसके 'आनन्द' रूपी स्वरूप से कम अनिवार्य नही हैं। अग्नि में जलाने की शक्ति के सादृश जगत की सृष्टि आदि करने की यह शक्तियां ब्रह्मन् के स्वरूप से सहव्यापक हैं। व्यास तीर्थ के कथनानुसार यह वस्तुतः आश्चर्य का विषय है कि शंकरवादी स्वरूप एवं तटस्थ लक्षणों के सम्बन्ध में इतने लम्बे विवेचन में प्रवेश करते हैं, क्योंकि समस्त लक्षणों का अर्थ है वस्तु को उसके प्रसिद्ध असाधारण धर्मों के द्वारा विदित कराना।[2] किन्तु, चूंकि शंकरवादी पूर्णतः निर्विशेष ब्रह्मन् में विश्वास करते हैं अतः उनको उसके लक्षण बताने का क्या अधिकार है? समस्त लक्षणों को ज्ञात गुणों के आधार पर अग्रसर होना पड़ता है।[3] 'लक्षण' चाहे 'स्वरूप' हो अथवा 'तटस्थ' हो, असाधारण विशिष्ट गुणों की गणना के द्वारा ही उसे अग्रसर होना पड़ेगा, और चूंकि प्रतिपक्षियों का ब्रह्मन् गुणों से रहित है इसलिये उसका कोई लक्षण नहीं बताया जा सकता।

रामानुज ने इस 'सूत्र' की व्याख्या में कहा था कि 'सूत्र' में उल्लिखित ब्रह्मन् के विशिष्ट गुण एवं शक्तियाँ ब्रह्मन् ही के हैं क्योंकि वह अन्तर्यामिन् है, परन्तु उपनिषद्

---

[1] सामर्थ्यस्य शक्ति-रूपत्वता, विषय-निरूप्यत्वाच्च,
जगज्जननादादि-सामर्थ्यस्यैव स्वरूप-लक्षणत्वोपपत्तेश्च।

—तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० १४१।

[2] प्रसिद्धस्य असाधारण-धर्मस्य लक्षणत्वेन, और, असाधारण-धर्मो हि लक्षणम परिकीर्यते।

—तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० १४०, १४३।

[3] स्वरूपं वा तटस्थं वा लक्षणं भेदकं मतं
सजातीयात् विजातीयात् तच्चाद्वैति-मते कथम्। —वही, पृ० १४३।

उसे बहिर्यामिन् के रूप में उसके विशिष्ट स्वरूप-लक्षणों में भी परिभाषित करते हैं तथा उसको सत्यं, ज्ञानं एवं अनंतं कहते हैं (सत्यं-ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म), इन लक्षणों से उसकी जीवों एवं जड़ पदार्थों से भिन्नता स्थापित होती है। किन्तु व्यासतीर्थ निर्देश करते हैं कि मध्व ने अपने 'अनुव्याख्यान' में लक्ष्यार्थ से इस मत का निषेध किया है, जहाँ उन्होंने ब्रह्मन् की कारणता को स्पष्ट रूप से उसका आन्तरिक स्व-लक्षण माना है।[1] व्यास तीर्थ कहते हैं कि रामानुज-मत की प्रतिरक्षा में यह आग्रह किया जा सकता है कि जैसे घट का विशेष आकार उसका अन्य सभी वस्तुओं से विभेदीकरण करता है, और फिर भी उसमें गंध का होना उसका मृत्तिका के रूप में स्व-लक्षण होता है, उसी प्रकार यद्यपि कारणता आदि ब्रह्मन् का अन्य विषयों से विभेदीकरण करते हैं, तथापि सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं के रूप में उसका स्वरूप ही उसका जीवों एवं जड़ पदार्थों से विभेदीकरण करता है। पर व्यास तीर्थ का तर्क है कि यह त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि एक घट का विशेष आकार उसका मृत्तिका से नहीं बल्कि पट इत्यादि से विभेदीकरण करता है, एक मृत्तिका का घट स्वयं मृत्तिका है, किन्तु जो विशेष आकार एक मृत्तिका-घट का अन्य वस्तुओं (जैसे पट आदि) से विभेद करता है वह उसी तथ्य के द्वारा यह भी प्रदर्शित करता है कि वह (घट) उनसे (पट आदि) भिन्न जाति का है। यहाँ भी जो कारणता ब्रह्मन् के जीवों आदि से विभेदीकरण करती है वही यह भी बताती है कि वह (ब्रह्मन्) उनसे (जीवों आदि) भिन्न स्वरूप का है। इसलिये ब्रह्मन् का उत्पत्ति आदि का कारण होना उसका स्वरूप-लक्षण है। ब्रह्मन् न केवल इन गुणों से सम्पन्न है बल्कि वास्तव में उसके गुण अनन्त हैं, तथा उनका सत्व उसका स्वरूप-लक्षण है (अनन्त-गुण-सत्वम् एव ब्रह्मणो लक्षणम्)।[2]

जिन दो प्रमुख वेदान्त-पाठों द्वारा शंकरवादी अपने अद्वैत-सिद्धांत की स्थापना करने का प्रयत्न करते हैं, वे हैं 'वह तू है' (तम् त्वम् असि) और 'ब्रह्म सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् है' (सत्यं ज्ञानम् अनंतम् ब्रह्म)। मध्व का आग्रह है कि चूंकि इनकी प्रत्यक्ष व्याख्या (मुख्यार्थ) भेद के आधार पर की जा सकती है, अतः अभेद के आधार पर उनकी अप्रत्यक्ष एवं दूरस्थ व्याख्या (लक्षण) करना उचित नहीं है।[3] 'न्याय-सुधा' संकेत करती है कि अद्वैतवादी व्याख्या से यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि 'निर्गुण' का 'सगुण' (जैसे जीव) के साथ कैसे तादात्म्य हो सकता है, निर्गुण स्वयं में निर्धारित

---

[1] अस्योद्भवादि-हेतुत्वं साक्षाद् एव स्व-लक्षणम्। —वही।

[2] 'न्याय-सुधा' पृ० १०७।

[3] भेदेनैव तु मुख्यार्थ-सम्भवे लक्षणा कुतः। 'अनुव्याख्यान' पृ० ५ 'ननुअभेदमुपादाय सूत्र-लक्षणां वा आश्रयणीय-भेदमुपादाय मुख्य-वृत्तिर् न इति संदिह्यते, वयं तु ब्रूमः, द्वितीय एव पक्षः श्रेयान्। 'न्याय-सुधा' पृ० १०१।

नहीं किया जा सकता, (निर्गुणस्यैव निरूपयितुमशक्यत्वात्)।[1] यदि यह 'निर्गुण ब्रह्म' शंकरवादियों द्वारा स्वीकृत 'सगुण' ब्रह्म अथवा ईश्वर से सर्वथा भिन्न है, तो द्वैत उत्पन्न हो जायगा, यदि उनका सम्बन्ध 'अनिर्वचनीय' माना जाय तो उसके विरोध में वही आलोचना लागू होगी जो प्रथम 'सूत्र' में अनिर्वचनीयता के विरुद्ध की गई है।[2] पर यदि यह आग्रह किया जाय कि उपर्युक्त अवतरणों में उल्लिखित एकत्व अथवा तादात्म्य विशुद्ध स्व-प्रकाश चैतन्य के रूप में ब्रह्मन् तथा 'जीव' को प्रमुख सत्ता को निर्मित करने वाले उसी चेतन तत्व के सम्बन्ध में प्रतिपादित किया गया है, तो यह समझना कठिन हो जाता है कि उपनिषद् स्वप्रकाश चैतन्य को प्रकाशित करने का दुःसाहस कैसे कर सकते हैं।[3] इसके अतिरिक्त यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि यदि ब्रह्मन् विशुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है तो उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित 'जीव' के साथ उसका 'एकत्व' ब्रह्मन् से भिन्न होने के कारण मिथ्या है, क्योंकि 'एकत्व' शुद्ध चैतन्य नहीं है, और यदि 'एकत्व' मिथ्या है तो द्वैत सत्य हो जाता है। यदि 'एकत्व' शुद्ध चैतन्य से एकरूप होता तो शुद्ध चैतन्य के स्व-प्रकाशत्व के साथ 'एकत्व' का भी स्व-प्रकाशत्व होता तथा 'एकत्व' की अभिव्यक्ति के लिये उपनिषदों अथवा किसी अन्य वस्तु की सहायता की आवश्यकता नहीं होती।

ब्रह्मन् के संबंध में 'सत्यं,' 'ज्ञानम्' एवं 'अनंतं' संज्ञाओं को लागू करने के प्रसंग में एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा होता है। क्या ब्रह्मन्, जिस पर यह समस्त गुण लागू किये गये हैं, स्वयं में एक सरल एकत्व है, अथवा वह अनेक गुणों–सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं का एक संमिश्र है, जिनके विभिन्न स्वार्थ हैं तथा जो समानार्थक नहीं है? शुद्ध 'चैतन्य' एक है किन्तु वे संज्ञाएँ अनेक हैं। हम एक 'चैतन्य' की स्वयं में पाये जाने वाले अनेक गुणों के साथ सह-अस्तित्व रखते हुए कैसे संकल्पना कर सकते हैं? एक चैतन्य के एकत्व में इन गुणों की अनेकता कैसे अन्तर्निहित रहती है?[4] अपने

---

[1] वही, पृ० १०२।

[2] 'साक्षी चेत् केवलो निर्गुणश्च' (श्वे० ४, ११) जैसे उपनिषदों के अवतरणों में 'निर्गुण' शब्द को इस कारण से एक रूपान्तरित अर्थ दिया जा सकता है कि इस वाक्य के प्रसंग में भी उसका कठोर प्रत्यक्ष अर्थ लगाना सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वयं इस अवतरण में ब्रह्म को न केवल निर्गुण कहा गया है, वरन् 'साक्षी' (अपरोक्ष द्रष्टा) भी कहा गया है तथा यह स्पष्टतया एक 'गुण' है। यह सम्भव नहीं है कि ब्रह्मन् को एक साथ 'गुण' सम्पन्न और निर्गुण कहा जाय।
—'न्याय-सुधा,' पृ० १०२।

[3] स्वप्रकाश-चैतन्यात्मक च शास्त्र-प्रतिपाद्य चेति व्याहतम। —वही, पृ० १०३।

[4] चैतन्यमेकं सत्यत्वादीन्यनेकानि इति संख्या-वैलक्षण्यमित्यादि भेदकार्याणि चावगम्यन्ते। —वही, पृ० १०६।

'अनुव्याख्यान' में इस प्रश्न का जो उत्तर मध्व ने दिया है और जिसकी जयतीर्थ ने आगे व्याख्या की है, वह यह है कि ब्रह्मन् के एकत्व में कोई विशेष सद्गुण (अतिशय) है जो भेद का प्रतिनिधित्व करता है और इसके उद्देश्य की पूर्ति करता है। ऐसा हमें स्वीकार करना पड़ेगा, इस कठिनाई को हल करने का अन्य कोई उपाय नहीं है तथा यही एकमात्र हल शेष रहता है (गत्यन्तराभावादर्थापत्त्या)। यह विशेष सद्गुण जो एकत्व का बलिदान किये बिना अनेकत्व को धारण करने व एकत्व से उसका सामंजस्य बनाये रखने में उपयोगी होता है, मध्वों के द्वारा 'विशेष' कहा जाता है, यह 'विशेष' केवल ब्रह्मन् में ही नहीं अपितु अन्य सभी वस्तुओं में अस्तित्व रखता है। उदाहरणार्थ, एक पट अपनी श्वेतता से भिन्न नहीं है, क्योंकि वे दोनों एक अविभाज्य एकत्व का निर्माण करते हैं। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि पट में ऐसा एक विशेष सद्गुण, एक 'विशेष' विद्यमान है जिसके द्वारा वह स्वयं में एकरूप रहकर भी उन गुणों की अनेकता को अभिव्यक्त करता है जिनके साथ वह निश्चय ही एकत्व का निर्माण करता है। ये 'विशेष' अनन्त संख्या के पदार्थों में अनन्त संख्या में विद्यमान रहते हैं, यद्यपि इन 'विशेषों' के स्वरूप में कोई आन्तर भेद नहीं होता। प्रत्येक एकत्व में उतने ही 'विशेष' होते हैं जितने गुणों के माध्यम से वह स्वयं को अभिव्यक्त करता है तथा इनमें से प्रत्येक 'विशेष' जिस गुण से सम्बन्धित होता है उसके अनुसार अन्य 'विशेषों' से भिन्न होता है, किन्तु इन 'विशेषों' को वस्तु से अपने सम्बन्ध के लिये अन्य 'विशेषों' की आवश्यकता नहीं पड़ती, अतएव 'अनावस्था' दोष उत्पन्न नहीं हो पाता। इसलिये प्रत्येक वस्तु में केवल एक ही 'विशेष' नहीं होता, वरन् उतने ही 'विशेष' होते हैं जितने विभिन्न गुणों का उसमें एकीकरण होता है।[1]

अतः प्रथम दो 'सूत्रों' द्वारा प्राप्त निष्कर्ष यह है कि द्वितीय 'सूत्र' में जिस ब्रह्मन् की परिभाषा दी गई है वही मुमुक्षुओं के लिये जिज्ञासा का विषय है।

ब्रह्म-सूत्र १, १, ३–४ की व्याख्या

शंकर 'शास्त्र-योनित्वात्' (उसके शास्त्र-योनि होने के कारण) 'सूत्र' में 'शास्त्र-योनि' समास का दो प्रकार से प्रतिपादन करते हुए इस 'सूत्र' की दो व्याख्याएं प्रस्तुत

---

[1] तेष्युक्त-लक्षण-विशेषा अशेषतोऽपि वस्तुषु प्रत्येकमनन्ताः सन्त्यतो नोक्त-दोषावकाश, अनन्त इति उपलक्षणम्, यत्र यावन्तो व्यवहारास्तत्र तावन्तो विशेषा इति ज्ञातव्यम्। —वही, पृ० १०६।

इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि मध्वों को 'विशेषों' को स्वीकार करने की इस स्थिति में लगभग विवश होकर आना पड़ा था, क्योंकि वे 'न्याय-वैशेषिक' के 'समवाय' नामक सम्बन्ध को 'ब्रह्म-सूत्र' द्वारा त्याज्य होने के कारण स्वीकार नहीं कर सकते थे।

'सूत्र' १. १. ४–शंकर यहाँ मीमांसकों की एक आपत्ति की कल्पना करते हैं कि वेदों का अभिप्राय ब्रह्मन् की स्थापना करना नहीं हो सकता क्योंकि वे सदा किसी कार्य-विशेष के सम्बन्ध में विधि-निषेध ही में अभिरूचि रखते हैं। वे इस आपत्ति का खण्डन यह कहकर करते हैं कि उपनिषदों के सम्यक् पाठ-अध्ययन से प्रकट होता है कि उनका प्रमुख अभिप्राय विशुद्ध ब्रह्मन् की स्थापना करना है तथा उसका किसी कार्य के अनुष्ठान से कोई सम्बन्ध नहीं है।

मध्व के मत में इस 'सूत्र (तत् तु समन्वयात्', किन्तु वह सम्यक् समन्वय के द्वारा') का तात्पर्य यह है कि सर्व 'शास्त्र' विष्णु के रूप में ब्रह्मन् को चरम कारण मानने में एकमत हैं न कि शिव अथवा किसी अन्य देवता को जैसाकि अन्य लोगों का मत है। 'मीमांसा' की आपत्ति एवं स्वयं शंकर के मत को उसी आधार पर अस्वीकृत किया गया है जिसका विवेचन प्रथम 'सूत्र' में किया जा चुका है।[1]

'ब्रह्म-सूत्रों' के अन्य महत्वपूर्ण अधिकरणों की एक व्यापक समीक्षा

५-११ 'सूत्रों' में समाविष्ट 'अधिकरण' में सांख्य के इस कल्पित दावे के विरोध में कि उपनिषदों में ब्रह्मन् को नहीं बल्कि 'प्रकृति' को चरम कारण माना गया है, शंकर निम्नलिखित युक्ति प्रस्तुत करते हैं: वे कहते हैं कि 'प्रकृति' का उपनिषदों से सामंजस्य नहीं बैठता, क्योंकि वे 'ईक्षति' का कथन करते हैं (ईक्षतेर्नाशब्दम्),[2] तथा 'ईक्षति' केवल एक चेतन कर्त्ता के सम्बन्ध में ही सत्य हो सकता है। सर्व-प्रकाशक नित्य चैतन्य होने के कारण ब्रह्मन् के प्रति सर्वज्ञता एवं 'ईक्षति' का प्रयोग उचित माना जा सकता है। मूल-पाठ के 'ईक्षति' शब्द की अन्यथा व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि एक चेतन कर्त्ता के प्रति उसका उल्लेख और भी सबल हो जाता है जब उसे 'आत्मन्' कहा जाता है, एक ऐसा शब्द जिसका 'चेतन कर्त्ताओं के लिये प्रयोग सुविदित है[3] तथा यह निश्चित है कि 'आत्मन्' शब्द का अर्थ 'प्रकृति' नहीं हो सकता, क्योंकि

करता है, अतः केवल 'पंचरात्र' की सत्यता की घोषणा के द्वारा वेद, जो उससे सहमत हैं, सत्य माने गये हैं, किन्तु अन्य जो कुछ भी उससे असहमत है अस्वीकृत किया गया है। इस प्रकार मध्व इस 'सूत्र' पर अपने 'भाष्य' में कहते हैं: 'वेद-पंचरात्रयोरै-क्याभिप्रायेण पंच-रात्रस्यैव प्रामाण्यमुक्तम्।'

[1] दे० तात्पर्य-चन्द्रिका (१. १. ४ पर), पृ० २०१-४।

[2] उल्लिखित उपनिषद् का अवतरण है 'तदैक्षत बहु स्याम्', आदि।
–'छांदोग्य' ६, २. ३।

[3] गुणश्चेत् नात्मा-शब्दात्, 'ब्रह्म-सूत्र' १. १. ७ देखिये, अनेन जीवेन आत्मना अनु-प्रविश्य (छांदोग्य, ६, ३. २)।

उसे मोक्ष का उपदेश दिया जाता है।[1] उसके अतिरिक्त, सम्पूर्ण अध्याय इसी ढंग से समाप्त हो जाता है तथा जिस अर्थ में 'आत्मन्' आदि का प्रयोग हुआ है उसमें आगे कोई संशोधन नहीं किया गया है, जैसाकि हुआ होता, यदि यह 'आत्मन्' मोक्ष के उपदेश से विसंगत अर्थ रखने के कारण बाद में अस्वीकृत कर दिया गया होता।[2] साथ ही, उपर्युक्त अवतरणों में उल्लिखित कारण को उसी पाठान्तर में अंतिम प्रलय-स्थान बताया गया है जिसमें सभी वस्तुओं का लय होता है।[3] इसके अतिरिक्त, सर्व वेदान्त पाठों[4] में इस प्रकार की व्याख्या पर पूर्ण सहमति है तथा उपनिषदों के स्पष्ट कथन भी उपलब्ध हैं (श्रुतत्वाच्च, ब्रह्म-सूत्र १. १. ११) जो यह घोषणा करते हैं कि ईश्वर जगत का चरम कारण है।[5] अतः शंकर के अनुसार इस अधिकरण का अभिप्राय यह है कि इन 'सूत्रों' के अनुसार ब्रह्मन् चरम कारण है, न कि 'प्रकृति'।

मध्व और उनके अनुयायी सांख्य-सिद्धांत के खण्डन का उपरोक्त अधिकरण में कोई उल्लेख नहीं पाते, किन्तु केवल इस तथ्य का कथन पाते हैं कि ब्रह्मन् 'शास्त्रों' के द्वारा अवर्णित नहीं है, क्योंकि वे स्वयं आदेश देते हैं कि उनका प्रत्यक्षीकरण करना चाहिये।[6] यदि ब्रह्मन् का 'शास्त्रों' द्वारा वर्णन नहीं हो सके तो उसके प्रति विचार-विमर्श करने की सम्भावना के उनके उल्लेख में कोई अर्थ नहीं होगा। यह केवल निम्न एवं सगुण आत्मा का ही उल्लेख नहीं करता, वरन् उच्चतम आत्मा, ब्रह्मन् का उल्लेख करता है, क्योंकि यह कहा गया है कि उस पर मोक्ष निर्भर करता है तथा यह

---

[1] तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्। 'वही', १. १. ७, उल्लिखित मूल-पाठ भी देखिये। छांदोग्य, ६. १४. २।

[2] हेयत्व-वचनाच्च। 'वही', १. १. ८।

[3] स्वाप्ययात्, 'वही', १. १. ९ 'छांदोग्य' भी ६. ८. १।

[4] गीता-सामान्यात्। 'वही', १. १. १०।

[5] श्वेताश्वतर, ६. ९।

[6] ब्रह्म-सूत्र, १. १. ५ यह नियम की एक सर्वथा भिन्न व्याख्या है तथा निश्चय ही कम युक्ति-संगत नहीं है। शंकर की व्याख्या के विरोध में उठाई गई आपत्ति यह है कि उनका सांख्य के लिये यह उल्लेख कि वह वेदों से असम्बद्ध (अशब्द) है, सांख्य-मतावलम्बियों को स्वीकार नहीं है तथा उपनिषदों (यथा श्वे० ४,५१) में निश्चय ही ऐसे अवतरण हैं जिनको सांख्य के प्रति स्पष्ट निर्देश मानना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्मन् 'प्रमाणों' के द्वारा अग्राह्य है और अवर्णनीय है, तो उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होगा, वह शश-शृंग के सदृश होगा।

भी कहा गया है कि महाप्रलय के समय समस्त वस्तुओं का अन्तिम लय उसी में होता है, उपनिषद्-पाठों में 'निर्गुण' ब्रह्मन् का भी निश्चित रूप से वर्णन किया गया है।

छठे अधिकरण (सूत्र १२-१९) में शंकर 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के अनेक अवतरणों तथा अन्य उपनिषदों की कल्पित आपत्तियों की तुलना के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि 'आनन्दमय' शब्द (तैत्तिरीय, २, ५) में परमात्मन अथवा ब्रह्मन् का उल्लेख करता है, मध्व और उनके अनुयायियों का तर्क है कि 'आनन्दमय' शब्द केवल विष्णु ही का उल्लेख करता है, न कि किसी अन्य देवता का। इस 'अधिकरण' के अन्य सभी 'सूत्रों' की व्याख्या इस टीका के समर्थन में दिये गये प्रासंगिक निर्देशों एवं तर्कों के रूप में की गई है।[1]

सातवें अधिकरण (सूत्र २०, २१) में शंकर एक अवतरण (छांदोग्य, १, ६, ६, ७, ८) के अर्थ का विवेचन करते हैं तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूर्य-मंडल और चक्षु में स्थित जिस पुरुष का उल्लेख किया गया है वह परब्रह्म है। किन्तु मध्व एक सर्वथा भिन्न अवतरण का एक सर्वथा भिन्न प्रसंग के सम्बन्ध में उल्लेख करते हैं

---

[1] 'न्याय-सुधा' का संकेत है कि शंकर का भाष्य इस अमान्य परिकल्पना पर आधारित है कि उपनिषदों में दो प्रकार के ब्रह्मन् का उल्लेख आया है, 'अविद्या' से आच्छादित ब्रह्मन् तथा विशुद्ध ब्रह्मन्। उपनिषद् के अवतरणों (वे जो पूर्वोक्ति का निर्देश करते हैं) में से कुछ तो उपासना व तज्जन्य भौतिक अभ्युदय के हेतु बताये जाते हैं और कुछ क्रम-मुक्ति की प्राप्ति के हेतु कहे जाते हैं (क्रम-मुक्त्-यर्थानि) इत्यादि। जयतीर्थ कहते हैं कि यह सिद्धान्त पूर्णतः गलत है, क्योंकि यह मानना सर्वथा अप्रामाणिक है कि ब्रह्मन् दो प्रकार का होता है (ब्रह्मणो द्वैरूपस्य अप्रामाणिकत्वात्), क्योंकि सर्व वेदान्त-पाठ समस्त गुणों के निधान नारायण का निर्देश करते हैं, किन्तु कुछ उसको सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्व-नियंत्रक क्षमता, सौन्दर्य आदि से सम्पन्न बताते हैं, कुछ उसे पाप, दुःख, सामान्य भौतिक शरीरों (प्राकृत-मान्तिकर-विग्रह-रहितत्व) से रहित होने के रूप में नकारात्मक गुणों से सम्पन्न बताते हैं, तथा अन्य उसका अनिर्वचनीय एवं वाणी व विचार से अतीत के रूप में वर्णन करते हैं (उसका गूढ़ व रहस्यमय स्वरूप बताने के लिये) पुनः अन्य समस्त गुणों को छोड़कर उसे एक बताते हैं, और अन्य उसे सबकी आत्मा कहते हैं (सर्वात्मक), किन्तु ये सब 'परम पुरुष' विष्णु के ही विभिन्न विवरण हैं, तथा किसी प्रकार से दो भिन्न प्रकार के ब्रह्मन् का निर्देश नहीं करते। केवल इस भ्रान्त धारणा के कारण (कि ब्रह्मन् केवल एकात्मक स्वरूप का है) शंकर, जिनको वेद के ज्ञाता पूर्व गुरु पथ-निर्देश के लिये उपलब्ध नहीं थे, इन अवतरणों की इस प्रकार की व्याख्या करते हैं (ततो व्याकुलबुद्धयो गुरु-सम्प्रदाय-विकल अश्रुत-वेद-व्याख्यातारः सर्वत्रापि वेद-रूपतामनु-संदधाना वेदं छिन्दन्ति)। —'न्याय-सुधा,' पृ० १२४।

तथा वे यह मानते हैं कि उस अवतरण में उल्लिखित अन्तस्थित पुरुष परम प्रभु नारायण है।[1] आठवें अधिकरण (सूत्र २२) में शंकर 'छांदोग्य,' १, ६, १ का विवेचन करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'आकाश' शब्द का अर्थ आकाश-तत्व नहीं है वरन् परब्रह्म है। मध्व भी इस 'सूत्र' द्वारा निर्देशित इसी अवतरण को लेते हैं तथा इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, किन्तु उनके लिए परब्रह्म का अर्थ सदा विष्णु होता है। नवें अधिकरण (सूत्र २३) में शंकर छांदोग्य १, ११, ४, ५ का विवेचन करते हैं तथा यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वहां 'प्राण' शब्द ब्रह्मन् का निर्देश करने के लिये प्रयुक्त किया गया है न कि साधारण 'प्राण' के लिये जो 'वायु' का एक विकार है। पर मध्व 'तैत्तिरीय आरण्यक'[2] के एक अन्य अवतरण में आये हुए 'प्राण' शब्द के प्रयोग के सम्बंध में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। दसवें अधिकरण (सूत्र २४-२७) में शंकर 'छांदोग्य' ३, १३, ७ का विवेचन करते हैं, और यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उसमें 'ज्योति' शब्द का अर्थ ब्रह्मन् है न कि साधारण प्रकाश। मध्व अपने 'अनु-व्याख्यान' से इस अधिकरण का विवेचन नहीं करते हैं, अपने 'भाष्य' में वे इसी निष्कर्ष पर एक सर्वथा अन्य पाठ के सम्बन्ध में पहुँचते हैं। पच्चीसवां 'सूत्र' जो शंकर के अनुसार दसवें अधिकरण में समाविष्ट होता है, मध्व के द्वारा एक पृथक् अधिकरण के रूप में माना गया है, जिसमें 'छंदस्' शब्द का तात्पर्य' 'गायत्री' का अर्थ (छांदोग्य, ३, १२, १ 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्,' 'गायत्री ही यह सब है') विष्णु है न कि उस नाम का छन्द अथवा उस छन्द को निर्मित करने वाले अक्षरों का संयोजन। आगामी तथा प्रथम भाग के प्रथम अध्याय के अन्तिम अधिकरण की शंकर द्वारा व्याख्या 'कौशीतकि' ३, १, २, ३ का उल्लेख करके की गई है, जिसमें 'प्राण' शब्द ब्रह्मन् का निर्देश करता है और किसी अन्य वायु की धारा का नहीं। परन्तु मध्व इस अधिकरण में 'ऐतरेय' में आये हुए अनेक अवतरणों का उल्लेख करते हैं जिनमें 'प्राण' शब्द का प्रयोग हुआ है तथा यह मानते हैं कि पाठगत तुलनाओं से यह स्पष्ट होता है कि उन अवतरणों में यह शब्द विष्णु का उल्लेख करता है न कि साधारण वायु अथवा आत्माओं इत्यादि का।

शंकर और मध्व दोनों के अनुसार प्रथम भाग के द्वितीय अध्याय में कुल मिलाकर सात अधिकरण या विषय हैं। पहले अधिकरण में मध्व कुछ वैदिक अवतरणों का

---

[1] मध्व के अनुसार 'तैत्तिरीय' के निम्नलिखित अवतरण के संबंध में यह संदेह उत्पन्न हो जाता है कि उसमें 'अन्तः प्रविष्ट' शब्द परमात्मा का निर्देश करता है अथवा किसी अन्य प्राणी का : 'अन्तः-प्रविष्टं विज्ञानन्ति देवाः।'

—तैत्तिरीय आरण्यक, ३, २, ५।

[2] तद् वै त्वं प्राणोऽभवः, महान् भगति, प्रजापतेः, भुजः करिष्यमानः, यद्देवान् प्राणयन्नेवेति।

—वही।

उल्लेख करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास करते हैं कि वे सर्व गुणों के पूर्णत्व के चरम-विन्दु के रूप में नारायण का निर्देश करते हैं।[1] यद्यपि वह दूरस्थ रहकर भी समस्त वस्तुओं की समस्त शक्तियों को प्रेरित करने की क्षमता रखता है, तथापि वह अपनी लीला (लीलया) से सब स्थानों पर उपस्थित रहता है तथा सर्व वस्तुओं की मुकुलित प्राय शक्तियों की अध्यक्षता करता है। आगे यह संकेत किया गया है कि अनुवर्ती अवतरण सर्वव्यापी ब्रह्मन् का 'जीवों' अथवा आत्माओं से विभेदीकरण पूर्वोक्त को कर्म-कारक तथा पश्चादुक्त को कर्त्ता-कारक में इस प्रकार रखकर करते हैं कि कोई संदेह नहीं रहता कि सर्व-व्यापकत्व आदि गुणों के उल्लेख ब्रह्मन् के प्रति किए गए हैं, न कि 'जीवों' के प्रति।[2] किन्तु शंकर इस अधिकरण द्वारा संकेतित एक सर्वथा भिन्न पाठ (छांदोग्य ३, १४, १) का निर्देश करते हैं तथा पाठगत तुलनाओं के विवेचन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उक्त अवतरण ईश्वर का निर्देश करता है, न कि 'जीवों' का। दूसरे अधिकरण में मध्व 'बृहदारण्यक' १, २, ५ के सम्बन्ध में यह संदेह करते हैं कि 'अत्ति' शब्द विष्णु के विनाशकारी कर्तृत्व का निर्देश करता है अथवा अदिति और पूर्वोक्त का पक्ष ग्रहण करते हैं, तथा कहते हैं कि विष्णु प्रायः अदिति नाम से भी पुकारा जाता है।[3] किन्तु शंकर यह मानते हैं कि उक्त अधिकरण

---

[1] 'ऐतरेय आरण्यक,' ३, २, ३।

[2] वही।

[3] 'अनुव्याख्यान' पर अपनी 'न्याय-सुधा' में जयतीर्थ द्वारा इस अधिकरण में कुछ रुचिपूर्ण बातों पर ध्यान दिया गया है। इस प्रकार जयतीर्थ कहते हैं कि एक आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि ईश्वर जगत का स्रष्टा व विनाशक होने के फलस्वरूप नित्य है, किन्तु 'क्रिया' अनित्य है : तथा ईश्वर में दो विरोधी गुण किस प्रकार स्थित हो सकते हैं (नित्यानित्ययोः कथमभेदः स्यात्) ? इस आपत्ति का उत्तर यह है कि ईश्वर में क्रियाएं भी स्थिर होती हैं (न केवलमीश्वरः स्थिरः अपितु स तदीय-विशेष-धर्मोऽपि क्रिया-रूपः स्थिरः) और ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि सर्व क्रियाएं 'परिष्पन्द' स्वरूप होनी चाहिए इसका कोई प्रमाण नहीं है–ईश्वर में परिष्पन्द अस्तित्व कदाचित् नहीं हो। पुनः, ईश्वर में परिष्पन्दनों के नित्य अस्तित्व की स्वीकृति रर कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। जैसे परिष्पन्दन अथवा क्रिया अनेक क्षणों तक सतत अस्तित्व के फलस्वरूप संयोगादि उत्पन्न कर सकती है, वैसी ही नित्य अस्तित्व रखने वाला परिष्पन्दन अथवा क्रिया विशेष क्षणों में संयोग एवं वियोग उत्पन्न कर सकती है (यथा अनेक-काल-वर्तिन्यपि क्रिया कदाचित् संयोगादि आरभते न यावत् सत्वम् तथा नित्यापि कदाचित् संयोगादि-धारभतां को विरोधः)। सर्व क्रियाएं अव्यक्त ढंग से 'शक्ति' के रूप में ईश्वर में नित्य अस्तित्व रखती हैं तथा जब वह व्यक्त होती हैं (व्यक्ति तभी ऊर्जा के यथार्थ

'कठ' १, २, २४ से सम्बंध रखता है तथा यह निष्कर्ष प्राप्त करते हैं कि उसमें निर्देशित 'भक्षक' ईश्वर है न कि 'जीव' अथवा 'अग्नि'।[1] मध्व और शंकर दोनों के अनुसार तीसरा अधिकरण 'कठ' १, ३, १ से सम्बंध रखता है तथा उसमें निर्देशित दो कर्त्ता मध्व के अनुसार ईश्वर के दो रूप हैं, पर शंकर के अनुसार वे 'जीव' और ईश्वर हैं। मध्व अपने विचार में इस अधिकरणसम्बंधी जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय है उस पर बल देना चाहते हैं, अर्थात् यह कि उपनिषद्-पाठों के सम्मिलित प्रमाण के आधार पर' ब्रह्म' और 'जीव' सर्वथा भिन्न हैं।[2] चौथे अधिकरण में मध्व 'छांदोग्य,', ४, १५ के एक अवतरण का निर्देश करते हैं जहां उस पुरुष के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है जो चक्षु में दिखाई पड़ता है, अर्थात् यह पुरुष 'अग्नि' है अथवा विष्णु है तथा मध्व पाठगत आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वह विष्णु है।[3] पांचवां अधिकरण शंकर एवं मध्व दोनों के अनुसार 'बृहदारण्यक' ३, ७, १, २ का निर्देश करता है जहां जगत के एक 'अन्तर्यामिन्' का उल्लेख आया है तथा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह 'अन्र्यामिन्' विष्णु (शंकर के अनुसार ईश्वर) अथवा 'जीव' है। इस अधिकरण के 'सूत्रों' में से एक (शरीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनम् अधीयते) यह स्पष्टतया संकेत करता है कि 'बृहदारण्यक' ३, ७, २२ के दोनों परिशोधित पाठों (कण्वों एवं माध्यंदिनों के अनुसार) में आत्मन् (शारीर) स्पष्टतया अन्तर्यामिन् से

रूपान्तर एवं कार्य के सम्पादन घटित होते हैं (शक्ति-रूपेण स्थिरः स यदा व्यज्यते, तदा व्यवहारलम्बनम्), 'व्यक्ति' केवल 'शक्ति' की एक अवस्था विशेष है (व्यक्ति-शब्देन शक्तेर् एव अवस्थाविशेष विवक्षित-त्वात्)। इस सम्बन्ध में जयतीर्थ यह सिद्ध करने के लिये भी एक लम्बे तर्क एवं विवेचन में संलग्न होते हैं कि 'कर्म' प्रत्यक्ष देखे जाते हैं न कि केवल अनुमान के द्वारा ज्ञात किये जाते हैं (प्रत्यक्षाश्रितं कर्म प्रत्यक्षमेव)।

[1] 'तात्पर्य-चन्द्रिका, शंकर की व्याख्या पर आपत्ति उठाती है तथा निर्देश करती है कि 'सूत्र' में आया हुआ 'चराचर' शब्द निर्देशित पाठ में उल्लिखित नहीं किया गया है, और पाठ में 'आदेन' शब्द का अर्थ संहार (संहार्य) होना चाहिये। मध्व अपने मत के समर्थन में 'स्कन्द' एवं 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणों को उद्धृत करते हैं।

[2] मध्व अपने मत के समर्थन में 'ब्रह्म-पुराण,' 'पैंगी-श्रुति,' 'भाल्लवेय-श्रुति' आदि को उद्धृद करते हैं। परन्तु शंकर किसी प्रतिपक्षी (आक्षेप्तृ) से संघर्ष करते हुए प्रतीत होते हैं जिसके मत में इस अवतरण में निर्देशित दो कर्त्ता न तो 'बुद्धि' और 'जीव' हो सकते हैं, और न जीव और ईश्वर।

[3] जयतीर्थ अपनी 'न्याय-सुधा' में इस अधिकरण में यह निर्देश करते हैं कि ईश्वर द्वारा नियंत्रणत्व के हमारे गुण तथा उसके नित्य नियंत्रक बने रहने की आवश्यकता का विधान भी ईश्वर ने किया है।

भिन्न कहा गया है। शंकर इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे, किन्तु उनके विचार में यह भेद इस तथ्य के कारण उत्पन्न होता है कि 'जीव' अज्ञान की उपाधि से सीमित हो जाता है, जैसे असीम 'आकाश' एक घट से परिच्छिन्न हो जाता है (घटाकाशवद् उपाधि परिच्छिन्नत्वात्)। अपनी 'तात्पर्य चन्द्रिका' में व्यासतीर्थ इसे अद्वैत वेदान्त के अनुयायियों की कटु आलोचना का अवसर बनाते हैं। वे कहते हैं कि यदि द्वैत की ऐसी प्रत्यक्ष घोषणाओं के बावजूद भी इन 'सूत्रों' की अन्यथा व्याख्या की जाती है, तो बौद्धों द्वारा दी गई 'सूत्रों' की व्याख्या भी सही मानी जा सकती है अगर वे 'शून्य' के अतिरिक्त सर्व वस्तुओं के मिथ्यात्व को उनका अभिप्राय बतायें। बौद्ध तो वेदों से बाह्य रहकर अपना विरोध करते हैं, किन्तु 'माया-सिद्धान्त' के समर्थक वेदों के भीतर से ऐसा करते हैं, अतएव वे अधिक भयानक हैं।[1]

छठा अधिकरण 'मुण्डक' १. १. ६ से सम्बन्धित कहा गया है (मध्व और शंकर दोनों के अनुसार) तथा दोनों यह मानते हैं कि उसमें आया हुआ 'भूत-योनि' और 'मुण्डक' १. १. ७ में कथित 'अक्षर' विष्णु (शंकर के अनुसार ईश्वर) का उल्लेख करते हैं न कि 'प्रकृति' अथवा 'जीव' का। इस अधिकरण के 'सूत्र' २६ में (रूपोपन्यासच्च) शंकर पहले तो वृत्तिकार द्वारा दी गई एक पूर्व व्याख्या का खण्डन का प्रयास करते हैं, जो यहाँ (उसके तुरन्त पश्चात् आये हुए 'मुण्डक' के अवतरणों (२. १. ४) की सामग्री के आधार पर) इस मत को स्वीकार करते हुए माने गये हैं कि सर्व विकारमय जगत ईश्वर की आत्मा है (सर्व विकारात्मकं रूपं उपन्यस्यमानं पश्यामः)। इस अधिकरण के 'सूत्र' २१ के सम्बन्ध में व्यासतीर्थ अपनी 'तात्पर्य-चन्द्रिका' में यह निर्देश करते हैं कि वाचस्पति इस मान्यता का विरोध करते हुए कि चूंकि केवल जड़ वस्तुएँ ही अन्य आसन्न वस्तुओं का कारण हो सकती हैं, यह संकेत करते हैं कि यथार्थ परिवर्तन से रहित (विवर्त) मिथ्या आरोपणों के द्वारा भ्रमों के घटित होने के लिये ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि भ्रम के 'अधिष्ठान' एवं उस पर आरोपित भ्रम (आरोप्य) में कोई सादृश्य होना चाहिये। सादृश्यता के बिना भी प्रत्यक्षकर्त्ता की मानसिक न्यूनताओं,

---

[1] अद्वैतिभिर् व्याक्रियते कथं वा द्वैतदूषणं सूत्रयतां स्वसिद्धान्त-त्यागं विनैव तु यदि मिथ्यार्थवादीनि सूत्राणीत्येव कर्त्तव्यं, सूत्र-व्याख्या तर्हि वेद-बाध्य-मिथ्यात्व-बोधको बौद्धागमोऽपि वेदस्य व्याख्या-रूपः प्रसज्यते, बौद्धो पि ब्रह्म-सूत्रं व्याख्यायते यथा तथा भवभिव मिथ्यैषो र्थः किन्तु तत्वं शून्यमेवेति कीर्त्तयेत्, असद्-वेत्यादिवचनं तस्य स्यात् तत्व-वेदकं। स्वोक्तं श्रुतिभिः सूत्रे यत्नेन साधितं मिथ्यार्थतां कथं ब्रूयात् सूत्राणां भाष्यकृत स्वयं। सौगता वेद-बाह्या हि वेदाप्रामाण्य-वादिनः, अवैदिका इति ज्ञात्वा वैदिकैः परिवर्जिताः। वेदान् प्रविश्य वेदानाम् अप्रामाण्यं प्रसाधयन् मायी तु यत्नतस् त्यज्यः।

उसके अज्ञान अथवा भावावेगों के कारण भ्रमों के घटित होने से कोई रोक नहीं सकता। जगत विशुद्ध व परिवर्तनशील ब्रह्मन् पर एक मिथ्या आरोपण है :

विवर्तस्तु प्रपंचोऽयम् ब्रह्मणो परिणामिणः
अनादि-साधनोद्भूतो न सादृप्यमपेक्षते।

हाँ, व्यासतीर्थ शंकर की इस व्याख्या से सहमत नहीं हो सकते तथा अन्य उपनिषद्-पाठों के आधार पर एवं वहाँ एक मकड़ी के रूप में दी गई सृष्टि-रचना की सादृश्यता के आधार पर (न कि रज्जु-सर्प की सादृश्यता के आधार पर, जैसाकि 'विवर्त' की अवस्था में होगा) भी यह तर्क देने का प्रयत्न करते हैं कि यह स्वीकार करना चाहिये कि यहाँ सगुण विष्णु का उल्लेख किया गया है।[1] सातवाँ अधिकरण 'छांदोग्य' ५. ११ से सम्बंधित माना गया है तथा यह संदेह उत्पन्न होता है कि उसमें प्रयुक्त 'वैश्वानर' शब्द अग्नि का उल्लेख करता है अथवा विष्णु का, प्रासंगिक अवतारणों की तुलना के आधार पर मध्व पश्चादुक्त के पक्ष में निर्णय लेते हैं (शंकर ईश्वर को अधिमान्यता देते हैं)।[2]

प्रथम भाग के तृतीय अध्याय का पहला अधिकरण 'मुण्डक' २. ११. ५ का निर्देश करता बताया गया है तथा मध्व के अनुसार 'स्वर्ग एवं पृथ्वी का निवासस्थान (द्यु-म्व्-आवायतन) विष्णु का उल्लेख करता है न कि रुद्र का। शंकर के अनुसार वह ईश्वर का निर्देश करता है और 'प्रकृति', 'वायु' अथवा 'जीव' का नहीं।[3] दूसरा अधिकरण 'छांदोग्य' के कुछ अवतरणों (जैसे ७. २३, २४, ७. १५. १) से सम्बंधित कहा गया है, जहाँ 'प्राण' को महान् बताया गया है और मध्व एवं शंकर के क्रमशः यह निष्कर्ष हैं कि यह 'प्राण' का अर्थ विष्णु और ईश्वर है। तीसरा अधिकरण

---

[1] इस अधिकरण में जयतीर्थ 'अनुव्याख्यान' के विवेचनों का अनुसरण करते हुए अभावात्मक योग्यताओं की यथार्थता पर विचार-विमर्श करते हैं तथा यह तर्क देते हैं कि अन्यत्व के रूप में अभाव का द्रव्यात्मक बल होता है। अतः 'अदृश्य' आदि ब्रह्मन् की योग्यताएँ उसके यथार्थ गुण हैं।

[2] इस अधिकरण (१. २. २६) के नियम २६ के संबंध में शंकर एक स्वयं द्वारा स्वीकृत पाठ (पुरुषमपि चैनमधीयते) से एक भिन्न पाठ की ओर ध्यान दिलाते हैं (पुरुषविधमपि चैनमधीयते)। पश्चादुक्त पाठ मध्व द्वारा स्वीकृत किया गया है।

[3] इस अधिकरण के प्रथम नियम के उपसंहारात्मक भागों में शंकर 'अपर आह' के रूप में किसी अन्य व्याख्याकार के मत का उल्लेख करते हैं। उसकी पहिचान करना कठिन है, शंकर के किसी भी टीकाकार द्वारा इस सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं किया गया है।

'बृहदारण्यक' ३. ८, ७, ८ से सम्बंधित कहा गया है, जहाँ 'अक्षर' शब्द का अर्थ मध्व के अनुसार विष्णु और शंकर के अनुसार ब्रह्मन् कहा गया है, न कि 'वर्णमाला का चिह्न' जो भी साधारणतया उस शब्द का अर्थ होता है। मध्व के अनुसार चौथा प्रकरण 'छांदोग्य' ६. २. १ का निर्देश करता है तथा यह माना गया है कि वहाँ सत् शब्द विष्णु का निर्देश करता है और 'प्रकृति' का नहीं, क्योंकि उसी 'प्रसंग' में 'ऐक्षत' (प्रत्यक्ष किया गया) शब्द प्रयुक्त हुआ है। शंकर के मत में यह अधिकरण 'प्रश्न०' ५. २. ५ का निर्देश करता है। अपनी 'तात्पर्य-चन्द्रिका' में व्यासतीर्थ पाठ-गत आधार पर इसका विरोध करते हैं।[1] पाँचवें अधिकरण का निर्देश 'छांदोग्य' ८. १. १ के प्रति कहा गया है तथा वहाँ प्रयुक्त 'आकाश' शब्द का उल्लेख विष्णु के प्रति बताया गया है।[2] छठा अधिकरण 'मुण्डक' से सम्बंधित बताया गया है और वहाँ निर्देशित प्रकाश ब्रह्मन् का प्रकाश कहा गया है तथा कोई अन्य प्रकाश अथवा आत्मन् नहीं। सातवें अधिकरण का निर्देश 'कठ' २. ४. १३ के प्रति कहा गया है और मध्व मानते हैं कि वहाँ प्रयुक्त 'ईश्वर' शब्द वायु का नहीं बल्कि ईश्वर का संकेत करता है। पर शंकर का विचार है कि कठिनाई उस वाक्य के एक अन्य शब्द अर्थात् 'पुरुष' के सम्बंध में उत्पन्न होती है, जिसका अर्थ उसके अनुसार ईश्वर है और 'जीव' नहीं है। आठवें अधिकरण का अभिप्राय यह स्थापित करना है कि देवताओं को भी परा विद्या का अधिकार है। दसवें अधिकरण का संकेत 'कठ' २. ६. २ की ओर बताया गया है और यह माना जाता है कि जिस 'प्राण' का वहाँ जगत को कम्पायमान करने वाले के रूप में उल्लेख आया है वह न तो मेघगर्जन है और न पवन है, वरन् ईश्वर है। मध्व के अनुसार ग्यारहवां अधिकरण 'बृहदारण्यक' ४. ३. ७ का निर्देश करता है और यह माना गया है कि वहाँ प्रयुक्त 'ज्योतिः' शब्द विष्णु का उल्लेख करता है और 'जीव' का नहीं। किन्तु शंकर के विचार में यह अधिकरण 'छांदोग्य' ८. १२. ३ का निर्देश करता है और वे यह मानते हैं कि वहाँ प्रयुक्त 'ज्योतिः' शब्द का अर्थ ब्रह्मन् है सूर्य-मण्डल नहीं है। बारहवें अधिकरण का निर्देश 'छांदोग्य' ८. १४. १ के प्रति कहा गया है तथा वहाँ प्रयुक्त 'आकाश' शब्द का उल्लेख मध्व के अनुसार तो विष्णु के प्रति बताया गया है और शंकर के अनुसार ब्रह्मन् के प्रति। मध्व के अनुसार तेरहवां अधिकरण 'बृहदारण्यक' ४. ३. १५ का निर्देश करता है और यह माना गया है कि इस

---

[1] 'तात्पर्य-चन्द्रिका' पृ० ६१०-१२। इस अधिकरण के प्रथम नियम में शंकर किसी अन्य व्याख्या के मत को उद्धृत करते हैं, जिसका उन्होंने खण्डन करने का प्रयास किया है।

[2] इस अधिकरण के 'सूत्र' १९ में शंकर किसी अन्य व्याख्याता द्वारा दी गई 'छांदोग्य' ८. ११ की व्याख्या का उल्लेख करते हैं। वे इस 'सूत्र' में 'ब्रह्म-सूत्र' की एक से अधिक व्याख्या का भी उल्लेख करते हैं।

अवतरण में 'असंग' शब्द विष्णु का उल्लेख करता है और जीव का नहीं। परन्तु शंकर के विचार में यहाँ 'बृहदारण्यक' ४. ३. ७ का निर्देश किया गया है तथा 'विज्ञान-मय' (चैतन्य-स्वरूप) ब्रह्मन् का उल्लेख किया गया है, जीव का नहीं।

प्रथम भाग का चतुर्थ अध्याय सात अधिकरणों में विभक्त है। इनमें से पहला अधिकरण 'कठ' १. ३. ११ में 'अव्यक्त' के सम्भाव्य अर्थ का विवेचन करता है तथा शंकर मानते हैं कि उसका अर्थ 'मानव शरीर' है, जबकि मध्व कहते हैं कि उसका अर्थ विष्णु है न कि सांख्य की 'प्रकृति'।[1] दूसरा अधिकरण, जिसमें तीन 'सूत्र' हैं, शंकर के अनुसार 'श्वेताश्वर' ४. ५ का निर्देश करता है, जो यह मानते हैं कि उसका उल्लेख अग्नि, आप व पृथ्वी के भौतिक सिद्धान्तों के प्रति किया गया है, न कि 'प्रकृति' के प्रति,[2] मध्व के अनुसार यह इस तथ्य पर बल देने के उद्देश्य से पूर्व अधिकरण का एक विस्तरण किया गया है कि अन्य शब्दों की भांति (चमस आदि) 'अव्यक्त' का अर्थ यहाँ विष्णु है, न कि 'प्रकृति'।

किन्तु मध्व के मत में दूसरा अधिकरण सूत्र १, ४, ६ से प्रारम्भ होता है, न कि १, ४, ८ से, जैसाकि शंकर का मत है। मध्व के अनुसार दूसरा अधिकरण

---

[1] 'अव्यक्त' शब्द जिसका प्रयोग साधारणतया सूक्ष्म स्वरूप होने के कारण 'प्रकृति' का निर्देश करने के लिये किया जाता है, बहुत उपयुक्तता से ब्रह्मन् का निर्देश करने के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है जो सबसे सूक्ष्म है तथा जो इस सूक्ष्मता के कारण 'प्रकृति' का चरम 'आश्रय' है। शंकर द्वारा दी गई 'अव्यक्त' की वह व्याख्या अमान्य है जिसके अनुसार 'अव्यक्त' का अर्थ है–शरीर के सूक्ष्म भौतिक कारण, क्योंकि यदि 'अव्यक्त' का प्रत्यक्ष अर्थ छोड़ दिया जाय तो इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि वह सांख्य की 'प्रकृति' का उल्लेख करे। यह कल्पित सांख्य युक्ति सत्य नहीं है कि विचाराधीन अवतरण में समाविष्ट कथन (कि 'अव्यक्त' 'महत्' से श्रेष्ठ (परा) है और पुरुष 'अव्यक्त' से श्रेष्ठ है) तभी सत्य हो सकता है जबकि यहाँ 'अव्यक्त' का अर्थ 'प्रकृति' हो, क्योंकि 'प्रकृति' के सर्व गुण ईश्वर पर निर्भर करते हैं, अतः जो गुण 'प्रकृति' पर लागू किये जा सकते हैं वे उसके स्वामी ईश्वर पर भी लागू किये जा सकते हैं (प्रधानाधिगत-परावरत्वादि-धर्माणां भगवद् आधीनत्वात्)। –तत्व-प्रकाशिका, पृ० ६७।

इस अधिकरण में शंकर द्वारा पठित 'सूत्र' 'वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् (१, ४, ५) का मध्व द्वारा दो 'सूत्रों' में विभाजन कर दिया गया है, 'वदतीति चेन् न प्राज्ञो हि' और 'प्रकरणात्' जिनकी क्रमशः १, ४, ५ व १, ४, ६ के रूप में गणना की गई है।

[2] 'अजमकम् लोहित-शुक्ल-कृष्णाम्, आदि।

–श्वेताश्वतर, ४, ५।

१, ४, ९ तथा १, ४, १० तक सीमित है तथा वह 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यज' से आरम्भ होने वाले एक अवतरण का निर्देश करता है, जो अन्य विद्वानों के अनुसार 'ज्योतिष्टोम' का निर्देश करता है, मध्व का मत है कि यहाँ प्रयुक्त 'ज्योतिष' शब्द 'ज्योतिष्टोम' यज्ञ का उल्लेख नहीं करता है, वरन् विष्णु का उल्लेख करता है। मध्व एवं शंकर दोनों के अनुसार तीसरे अधिकरण में सूत्र १२, १३ व १४ का समावेश होता है तथा वे दोनों यहाँ एक ही अवरण, अर्थात् 'बृहदारण्यक' ४, ४, १७ का निर्देश करते हैं, शंकर के विचार में वह सांख्य के पच्चीस पदार्थों का नहीं वल्कि 'पंच वायु' का उल्लेख करता है, किन्तु मध्व का मत है कि वह विष्णु का उल्लेख करता है। उसका कदाचित् पांच गुणों, यथा 'चक्षुष्ट्व' 'प्राणत्व' आदि के अस्तित्व के कारण 'पंच-जनाः' कहा गया है। शंकर के अनुसार चौथा अधिकरण यह मत अभिव्यक्त करता है कि यद्यपि उपनिषदों में अनेक भासमान विरोधी कथन हैं, तथापि स्रष्टा के स्वरूप के संबंध में कोई विवाद अथवा विरोध नहीं है। पर मध्व का मत है कि इस अधिकरण का अभिप्राय यह स्थापित करना है कि वे सव वस्तुओं के नाम, यथा 'आकाश' 'वायु' आदि, जिनसे सृष्टि-रचना हुई है, विष्णु का उल्लेख करते हैं। मध्व यह तर्क देते हैं कि 'समन्वय-सूत्र' (१, १, ४) का अभिप्राय यह है कि उपनिषदों में सर्व शब्द केवल विष्णु और विष्णु ही का उल्लेख करते हैं, तथा इसी तर्क के अनुसार यह सिद्ध हो जाना चाहिये कि ये शब्द ('आकाश' आदि) जो एक भिन्न अर्थ लिये हुए प्रतीत होते हैं, केवल विष्णु और विष्णु ही का उल्लेख करते हैं। हाँ, ये युक्तियाँ लगभग सदा पाठ-गत स्वरूप की होती हैं। इस प्रकार मध्व अपने इस तर्क के समर्थन में यहाँ 'बृहदारण्यक' ३, ७, १२ आदि को उद्धृत करते हैं। पांचवां अधिकरण, जिसमें मध्व के अनुसार १, ४, १६ (शंकर के अनुसार १, ४, १५), २३ (१, ४, २४ शंकर के अनुसार) का समावेश होता है का अभिप्राय यह है कि इस तथ्य से कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती कि जिन शब्दों का उपनिषदों में अभिप्रेत अर्थ विष्णु है उनके साधारण भाषागत प्रयोग में सर्वथा भिन्न अर्थ होते हैं। किन्तु शंकर इस अधिकरण की गणना १, ४, १५ से १८ तक करते हैं, और यह मानते हैं कि वह 'कौशीतकि ब्राह्मण' ४, १९ का निर्देश करता है तथा जिस सत्ता को ज्ञात करने का उसमें उल्लेख आया है वह जीवन नहीं है, वरन् ईश्वर है, इसका अपनी 'तात्पर्य-चन्द्रिका' में व्यासयति द्वारा 'सूत्र' के प्रसंग के आधार पर विरोध किया जाता है, जिसके अनुसार यह न्यायसंगत नहीं है कि इसी अध्याय में तनिक पूर्व उपसंहार के रूप में की गई टिप्पणी के पश्चात् अवतरणों के अर्थों का उल्लेख किया जाय।[1] छठा अधिकरण जिसमें शंकर के मत में १, ४, १९ से २२ का समावेश होता है 'बृहदारण्यक' ४, ५, ६ का निर्देश करता है तथा इस निष्कर्ष

---

[1] 'तात्पर्य-चन्द्रिका' पृ० ८२१। इस अधिकरण की शंकर द्वारा दी गई व्याख्या के विरोध में अन्य आपत्तियां भी उठाई गई हैं।

पर पहुँचता है कि यहाँ 'आत्मन्' शब्द ब्रह्मन् का उल्लेख करता है, न कि 'संसार' चक्र को सहन करने वाले 'जीव' का। पर मध्व के विचार में छठा अधिकरण (१, ४, २४ से २८) पाठगत विवेचनों के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि वे शब्द भी जो स्त्रीलिंग में हैं; यथा 'प्रकृति' आदि विष्णु ही का निर्देश करते हैं, क्योंकि सर्व-वस्तुओं की उत्पत्ति विष्णु से होती है, अतः उसके लिए स्त्रीलिंग शब्दों के प्रयोग पर कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। किन्तु शंकर के लिये सातवां अधिकरण १, ४, २३-२७ (शंकर की गणना के अनुसार) से प्रारम्भ होता है और इसमें वे यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ब्रह्मन् जगत का न केवल निमित्त कारण है वरन् 'उपादान कारण' भी है। इसके विरोध में मध्व की सुस्पष्ट आपत्तियां यह हैं कि यदि जगत के निमित्त कारण और उपादान कारण एक ही होते तो एक घट के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हो सकता था, कोई यह मान सकता था कि कुम्भकार एवं मृत्तिका एकरूप हैं। 'भामती' के विरोध में भी छुट-पुट आपत्तियाँ उठाई गई हैं, जो यह मान लेती है कि यहां उपादान कारण का अर्थ है 'भ्रम का अधिष्ठान' (भ्रमाधिष्ठान)। परन्तु शंकर के अनुसार एक आठवां अधिकरण भी है जिसमें १, ४ के अन्तिम 'सूत्र' का ही समावेश होता है, और जो मध्व के सातवें अधिकरण के अनुरूप है। मध्व के मत में इस अधिकरण का आशय यह है कि 'असत' अथवा 'शून्य' जैसे शब्द भी विष्णु का निर्देश करते हैं, क्योंकि उसी के संकल्प से 'असत्' अथवा 'शश-शृंग' भी अपना स्वरूप बनाये हुए हैं। किन्तु शंकर के मत में इस अधिकरण का अर्थ यह है कि अब तक तो खंडन के प्रयत्न केवल सांख्य-सिद्धान्त के विरोध में किये गये थे, क्योंकि उस सिद्धान्त का वेदान्त के सिद्धान्तों में कुछ सादृश्य इस रूप में था कि वह कारण एवं कार्य की एकता को स्वीकार करता है तथा उसको देवल और अन्य विधि-प्रदाताओं ने आंशिक रूप से मान्यता दी थी—पर न्याय वैशेषिक जैसे अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के खंडन की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे वेदान्त से अत्यधिक दूर हैं।

द्वितीय भाग के प्रथम अध्याय में तेरह अधिकरणों का समावेश होता है। सम्पूर्ण अध्याय में अन्य सम्प्रदायों के विचारकों की स्वीकृत रचनाओं के दृष्टिकोण से उठाई गई सभी आपत्तियों का खंडन किया गया है। मध्व के मत में पहले अधिकरण का उद्देश्य पाशुपत आदि उन अन्य सम्प्रदायों के अनुयायियों के आक्षेपों का खंडन करना है, जो यह अस्वीकार करते हैं कि विष्णु जगत् का चरम कारण है।[1] किन्तु इन मतों को कोई मान्यता नहीं दी जा सकती क्योंकि इनके उपदेशों वेदों के उपदेशों के

---

[1] मध्व के अनुसार यह अधिकरण प्रथम तीन 'सूत्रों' से निर्मित है, पर शंकर प्रथम दो 'सूत्रों' के लिये एक अधिकरण बनाते हैं तथा तीसरे 'सूत्र' के लिये अन्य अधिकरण बनाते हैं (एतेन योगः प्रत्युक्तः) तथा वे केवल इतना ही कहते हैं कि प्रथम अधिकरण में सांख्य के विरोध में दी गई युक्तियाँ योग का भी खंडन करती हैं।

अनुकूल नहीं हैं, ऐसे सभी सिद्धान्त अप्रामाण्य हैं। वेद 'पंचरात्र' नामक 'स्मृति' अथवा पाशुपतों या योग के परम्परागत स्मृति-लेखों का, कुछ भागों के अतिरिक्त, कोई समर्थन नहीं करते। परन्तु शंकर के अनुसार यह अधिकरण इस मत का खंडन करता है कि वैदिक पाठों की व्याख्या सांख्य-मत के अनुसार करनी चाहिये क्योंकि सांख्य हमारे आदर के योग्य कतिपय परम्परागत स्मृति-लेखों का प्रतिनिधित्व करता है, यदि सांख्य को व्याख्या के लिये आदर्श मान लिया जाय तो सांख्य से अधिक आदर योग्य अन्य स्मृतियों; यथा, मनु एवं 'गीता' आदि से विरोध उत्पन्न हो जायगा। सांख्य इस कारण से आदर के योग्य माना जाता है कि वह कपिल के मत का प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उपनिषदों में जिन महर्षि कपिल की प्रशंसा की गई है ये वही हैं, और यदि ऐसा नहीं है तो सांख्य का उक्त आदर के लिये अधिकार विलुप्त हो जाता है।

मध्व के दूसरे अधिकरण (शंकर का तीसरा) का आशय यह माना गया है कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति पाशुपत-पात्रों की प्रामाणिकता पर संदेह कर सकता है उसी प्रकार किन्हीं विशेष परिस्थितियों में कतिपय वैदिक यज्ञों की निष्फलता के कारण किसी को वेदों की प्रामाणिकता में संदेह करने का अधिकार नहीं हो सकता, क्योंकि वेद नित्य एवं अपौरुषेय हैं अतएव वे अन्य पाठों से भिन्न हैं। वेदों का आप्तत्व स्वयं उन्हीं के आधार पर स्वीकार करना पड़ता है, वह किसी अन्य पाठ के संदर्भ से सर्वथा स्वतंत्र और निरपेक्ष है।[1] ऐसी परिस्थिति में यदि किसी यज्ञ का उचित अनुष्ठान होने पर भी अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती है तो यह समझना चाहिये कि अनुष्ठान में कुछ दोष थे।[2] शंकर के तीसरे अधिकरण (सूत्र ४–१२) की मुख्य बातें ये हैं:

---

[1] मध्व यहाँ निम्नलिखित पाठ का एकमात्र प्रामाण्य पाठ के रूप में उल्लेख करते हैं जिसको वे अपने 'भाष्य' (२, १, ५) में 'भविष्य-पुराण' से उद्धृत करते हैं:

> ऋग्-यजुस्सामाथर्वाश्च मूल-रामायणं तथा
> भारतं पंच-रात्रं च वेद इत्येव शब्दितः
> पुराणानि च यानीह वैष्णवा निविदो विदुः
> स्वतः–प्रामाण्यमेतेषां नात्र किंचिद् विचार्यते।

[2] शंकर और मध्व में न केवल अधिकरणों के विभाजन एवं 'सूत्रों' के क्रम के सम्बन्ध में मतभेद है, अपितु मध्व द्वारा दिये गये 'ब्रह्म-सूत्रों' के पाठ में एक नवीन 'सूत्र' भी जोड़ दिया गया है। इस प्रकार मध्व के अनुसार दूसरा अधिकरण केवल चौथे एवं पांचवें 'सूत्रों' से ही निर्मित है तथा तीसरा अधिकरण छठे एवं सातवें 'सूत्रों' से। किन्तु पांचवां 'सूत्र' शंकर के पाठ में छठा है तथा मध्व का छठा, शंकर का पांचवां है। मध्व का सातवां 'सूत्र' शंकर के पाठ में सर्वथा अनुपस्थित

यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि जड़ एवं अशुद्ध जगत की उत्पत्ति विशुद्ध चैतन्यमय शुद्ध ब्रह्मन् से नहीं हो सकती थी तथा जगत् के अशुद्ध होने का यह भेद वेदों में भी स्वीकृत किया गया है, किन्तु यह एक वैध आपत्ति नहीं है, क्योंकि उपनिषद् यह स्वीकार करते हैं कि अग्नि, पृथ्वी आदि के समान जड़ विषयों की भी चेतना कर्त्ताओं अथवा देवताओं द्वारा अध्यक्षता की जाती है तथा चेतन कर्त्ताओं के केश, नाखून आदि की उत्पत्ति एवं सजीव कीड़ों की निर्जीव गोबर आदि से उत्पत्ति के उदाहरण यह प्रदर्शित करते हैं कि ब्रह्मन् से जड़ जगत की उत्पत्ति असम्भव नहीं है, विशेषतः जब उपनिषदों का ऐसा कथन है। यह आपत्ति नहीं हो सकती कि इससे कारणों के सह-अस्तित्व अथवा पूर्व-अस्तित्व के सिद्धान्त (सत्कार्यवाद) को क्षति पहुँचाती है, क्योंकि वर्तमान अवस्था में तथा उत्पत्ति से पूर्व भी जगन् का पारमार्थिक सत्य उसके ब्रह्म-स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी में निहित नहीं है। प्रलय की अवस्था में सर्व वस्तुओं का ब्रह्मन् में लय हो जाता है तथा सृष्टि के समय मुक्तात्माओं के अतिरिक्त सर्व वस्तुएं उसी प्रकार संसार-चक्र में प्रविष्ट हो जाती हैं जैसे, स्वप्न के पश्चात् जाग्रत अवस्था में तथा ब्रह्मन् में, जगत् के ऐसे विलय उसे अशुद्ध नहीं बना सकते, जैसे एक मायावी अपनी माया-सृष्टि से प्रभावित नहीं होता अथवा जैसे घट आदि के मृत्तिका-आकार अपने उपादान मिट्टी में परिणत होने पर उसे प्रभावित नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की आपत्तियां आक्षेपकों अर्थात् सांख्यवादियों के विरोध में भी खड़ी की जा सकती हैं। पर चूंकि अनुभव के द्वारा इन जटिल समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं है अतः अनुमान के द्वारा भी उन्हें हल नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक अनुमान का चाहे कितना ही प्रबल आधार क्यों न हो, एक चतुर तर्क-शास्त्री तब भी उसमें त्रुटि निकाल सकता है। फलतः इस विषय में हमें पूर्णतः वैदिक पाठों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा।

मध्व का तीसरा अधिकरण (सूत्र ६, ७) यह आपत्ति उठाता है कि वेद विश्वसनीय नहीं हैं क्योंकि वे असम्भव कथन करते हैं, यथा, मृत्तिका बोली (मृद् अब्रवीत्), इस आपत्ति का यह उत्तर देकर खंडन किया जाता है कि इस प्रकार की चेतन क्रियाओं के उल्लेख उनके अध्यक्ष देवताओं (अभिमान देवता) के प्रति किये गये हैं। मध्व के चौथे अधिकरण (सूत्र ८ से १३) का अभीष्ट वेदों के अन्य कल्पित असम्भव कथनों को खंडित करना है, यथा वह कथन जो 'असत्' से उत्पत्ति के सम्बन्ध में हैं; यह माना गया है कि यदि उत्तर में यह कहा जाय कि एक ऐसा 'असत्' हो

है। शंकर का तीसरा अधिकरण 'सूत्रों' ४–११ से निर्मित है। किन्तु मध्व के अधिकरण इस प्रकार हैं: दूसरा अधिकरण, 'सूत्र' ४, ५ तीसरा अधिकरण 'सूत्र' ५, ६, ७ चौथा अधिकरण 'सूत्र' ८–१३, तेरहवां शंकर के पाठ का बारहवां है। शंकर का चौथा अधिकरण केवल इस 'सूत्र' से निर्मित है।

सकता है जिससे वैदिक कथनों के बल पर उत्पत्ति सम्भव है (यद्यपि यह सुविदित है कि सर्व प्रकार के असत् से उत्पत्ति असम्भव है, यथा एक शश-शृंग) तो उस दशा में प्रलय की अवस्था पूर्ण असत् की अवस्था होगी (सर्वा सत्व), तथा यह असम्भव है क्योंकि सर्व प्रकार की उत्पत्ति पूर्व सत् की अवस्था से अग्रसर होती हुई देखी जाती है और सर्व प्रकार के विनाश की किसी अवशेष में परिसमाप्ति होनी चाहिये।[1] इन आपत्तियों का यह उत्तर दिया गया है कि इन प्रश्नों का निर्णय तर्क के आधार पर नहीं किया जा सकता, जिसका प्रयोग सर्व प्रकार के निष्कर्षों को न्यायोचित ठहराने के लिये किया जा सकता है। शंकर का चौथा अधिकरण केवल सूत्र १२ से निर्मित है, जिसका कथन है कि उन अन्य विचार-सम्प्रदायों की आपत्तियों की भी इसी प्रकार उपेक्षा की जा सकती है जिनको सामान्यत: मान्यता नहीं दी जाती है।

शंकर का पांचवां अधिकरण, (सूत्र २, १, १३) : उनके द्वारा यह संकेत करता हुआ माना गया है कि यह आपत्ति कि भोक्ता और भोग्य का तादात्म्यीकरण नहीं किया जा सकता, अतएव उसी ढंग से ब्रह्मन् को जगत का उपादान कारण नहीं माना जा सकता, तर्क-संगत नहीं है, क्योंकि तादात्म्य के होते हुए भी कतिपय कल्पित उपाधियों के कारण ठीक उसी प्रकार आपात्त भेद हो सकते हैं जिस प्रकार समुद्र एवं तरंगों में तादात्म्य होने पर भी कई दृष्टिकोण से वे भिन्न माने जा सकते हैं। किन्तु मध्व के अनुसार इस अधिकरण का अर्थ यह है कि वे पाठ जो 'जीव' एवं ब्रह्मन् के एकत्व का कथन करते हैं उनको जल में जल के साधारण मिश्रण की सादृश्यता के आधार पर समझना चाहिये। यहाँ यद्यपि जल का इस अर्थ में भेद-रहित मिश्रण हो गया है कि दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता तथापि दोनों एक नहीं बने हैं क्योंकि कम से कम जल की मात्रा में अभिवृद्धि हो गई है। इससे यह संकेत मिलता है कि यद्यपि 'जीव' ब्रह्मन् में अपृथक् रूप से विलीन हो जाता है तथापि दोनों में ऐसा कुछ भेद रहना चाहिये कि एक का दूसरे के साथ पूर्ण तादात्म्य नहीं हो सकता।[2]

छठा अधिकरण; जो शंकर और मध्व के अनुसार 'सूत्र' १४-२० से निर्मित है, शंकर की मान्यता के अनुसार कारण एवं कार्य, ब्रह्मन् एवं जगत के तादात्म्य का कथन करता है तथा यह मानता है कि आपात भेद श्रुति-पाठ एवं युक्तियों द्वारा निश्चित रूप से कथन करता है जिसमें केवल मृत्तिका ही घट आदि के रूप में अपने सर्व परिणमनों

---

[1] सत् उत्पत्तिः सशेष-विनाशश्च हि लोके दृष्टः। —मध्व-भाष्य, २, १, १०।

[2] व्यासतीर्थ द्वारा यह निर्देश किया गया है कि शंकर की व्याख्या कल्पित 'पूर्वपक्ष' और 'सिद्धान्त' दोनों की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। 'विवर्त' मत के अनुसार समुद्र एवं तरंगों तथा फेन (फेन-तरंग-न्याय) का उदाहरण स्वीकृत नहीं किया जा सकता।
—तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० ८७२।

में सत् मानी गई है। अतः केवल ब्रह्मन् ही (मृत्तिका की भाँति) सत् है और जगत् उसकी उपज (घट आदि की भाँति) माना गया है। अनेक उपनिषद्-पाठ ऐसे हैं जो नानात्व को सत् मानने वालों को फटकारते हैं। किन्तु यह भी साधारण अनुभव के विरोध में प्रतीत होता है तथा एकमात्र समझौता सम्भव यही है कि जगत का नानात्व तभी तक अस्तित्व रखता है जब तक कि उसका आभास होता है, परन्तु जब ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब यह मिथ्या आभास जगने पर स्वप्न-अनुभवों के समान विलीन हो जाता है। पर जगत् के इस मिथ्या अनुभव से भी तथा श्रुतियों से सत्य ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि मिथ्या भय से सत्य मृत्यु घटित हो सकती है। साधारण अनुभव का 'व्यावहारिक' जगत् तभी तक अस्तित्व रखता है जब तक कि आत्मन् की ब्रह्मन् के साथ तादात्म्य की अनुभूति नहीं की जाती, पर जब एक बार यह अनुभूति हो जाती है, तब जगत का मिथ्या आभास विलीन हो जाता है। कारण एवं कार्य का तादात्म्य इस तथ्य से भी दृष्टिगोचर होता है कि जब उपादान कारण (यथा मृत्तिका) अस्तित्व में होता है तभी कार्य (यथा घट) अस्तित्व में रहता है। २. १. १८ में 'सत्कार्यवाद' के पक्ष में कई अन्य युक्तियाँ दी गई हैं। किन्तु मध्व इस अधिकरण की एक भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। ब्रह्म स्वयं ही स्वतंत्र उपकरणों अथवा अन्य उपसाधनों की सहायता के विना जगत् की सृष्टि करता है, क्योंकि समस्त उपसाधन एवं उपकरण अपनी शक्ति के लिये उस पर निर्भर करते हैं। शंकर की व्याख्या के विरोध में युक्ति देते हुए व्यासतीर्थ कहते हैं कि मिथ्या जगत का ब्रह्मन् के साथ अभेद स्थापित नहीं किया जा सकता (अनृतस्य विश्वस्य सत्य-ब्रह्माभेदायोगात्)। इसके अतिरिक्त, 'अभेद' उस अर्थ में नहीं लिया जा सकता जिस अर्थ में उसे 'भामती' लेती है, अर्थात्, 'अभेद' के अर्थ में नहीं वरन् केवल 'भेदाभाव' के अर्थ में, क्योंकि 'भेदाभाव' और 'अभेद' एक ही वस्तु है (भेदाभावे अभेदध्रनूयात्)। साथ ही, यदि कोई 'भेद' नहीं है तो एक को सत्य तथा दूसरे को अमृत नहीं कहा जा सकता (भेदा-भावे सत्यानृत-व्यवस्थायोगाच् च)। इसलिये भेद और अभेद दोनों को स्वीकार करना ही उचित होगा। यह नहीं कहा जा सकता कि 'अनन्यत्व' और ब्रह्मन् पर आरोपण एक ही हैं (ब्रह्मण्यारोपितत्वम्)। इन सब युक्तियों के द्वारा व्यासतीर्थ यह कहना चाहते हैं कि यदि उपनिषद् ब्रह्मन् और जगत् के अभेद की घोषणा करते भी हैं, तो ऐसा अभेद न केवल शंकर के स्वीकृत मत के विरोध में जाता है कि जगत मिथ्या एवं असत्य है अतएव ब्रह्मन् के साथ उसका अभेद स्थापित नहीं किया जा सकता, अपितु उनकी यह व्याख्या भी अमान्य है कि 'अभेद' का अर्थ है मिथ्या 'आरोप', क्योंकि कोई भी यह नहीं समझता कि शुक्ति का उस पर आरोपित मिथ्या रजत से अभेद है। यह मानने का कोई अधिकार नहीं है कि अधिष्ठान के ज्ञान में अनिवार्यतः आरोपित वस्तु का ज्ञान भी समाविष्ट होता है, अतएव पूर्वोक्त को पश्चादुक्त का तत्व नहीं माना जा सकता तथा मृत्तिका के ज्ञान से घट आदि के ज्ञान में उसके घट के रूप

में आकार के ज्ञान का समावेश होता है।[1] जयतीर्थ अपनी 'न्याय-सुधा' में इस अधिकरण में मध्व-सम्प्रदाय के कारणता के सिद्धान्त का भेदाभेद-सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादन करते हैं, जिसके अनुसार कार्य का एक प्रकार से कारण के साथ अभेद है तथा अन्य प्रकार से भेद है। इस प्रकार यह सिद्धान्त दोनों अतियों का विरोध करता है—न्याय में प्रतिपादित कारण एवं कार्य का पूर्ण भेद तथा शंकर अथवा सांख्य द्वारा प्रतिपादित कारण एवं कार्य का पूर्ण भेद तथा शंकर अथवा सांख्य द्वारा प्रतिपादित उनका पूर्ण अभेद। वे यह तर्क देते हैं कि यदि कार्य का पूर्व अस्तित्व एवं कारण के साथ अभेद होता तो, उस (कारण) का भी अपने कारण में पूर्व अस्तित्व होगा और इस प्रकार यह क्रम तबतक चलता रहेगा जबतक कि हम मूल कारण पर नहीं पहुँच जाते। अब, चूंकि मूल कारण की कभी उत्पत्ति नहीं होती अथवा विनाश नहीं होता, अतः पट, घट आदि साधारण वस्तुओं की भी कभी उत्पत्ति अथवा विनाश नहीं हो सकता था तथा आत्मन् जैसी नित्य सत्ताओं में और घट जैसी अनित्य सत्ताओं में कोई अंतर नहीं हो सकता था एवं कारणता-सम्बंधी व्यापार भी निरर्थक होते। इसके अतिरिक्त, यदि कार्य (यथा पट) का कारण (यथा तंतु) में पूर्व अस्तित्व हो तो वह दृष्टिगोचर होना चाहिये। यदि किसी दृष्टिगोचर न होने वाली वस्तु का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो खर-विषाण का अस्तित्व भी स्वीकार करना पड़ेगा। यदि कार्य (यथा पट) का पूर्व अस्तित्व होता तो उसको अभी उत्पन्न नहीं किया जा सकता था, पुनः, कार्य का कारण से बहुत भेद होता है, क्योंकि कार्य के नष्ट होने पर भी कारण शेष रहता है, कारण अनेक होते हैं, पर कार्य एक होता है तथा दोनों की उपयोगिता आभास आदि में भी बहुत अन्तर होता है। कभी-कभी यह आग्रह किया जाता है कि कार्य की उत्पत्ति का अर्थ उसकी अभिव्यक्ति (व्यक्ति) है और उसके विनाश का अर्थ उसकी 'अव्यक्ति' है। तब इस 'व्यक्ति' एवं 'अव्यक्ति' का अर्थ होगा प्रत्यक्षीकरण (उपलब्धि) और अप्रत्यक्षीकरण (अनुपलब्धि)। इसका तात्पर्य यह होगा कि जो वस्तु एक समय विशेष में प्रत्यक्ष की जाती है वह उसी समय उत्पन्न की जाती है। यदि कार्य का पूर्व अस्तित्व था तो उसको उस समय प्रत्यक्ष क्यों नहीं किया गया था? यदि प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का आभास होने पर उसका अस्तित्व अनिवार्य हो तो उस दशा में यह पूछा जा सकता है कि क्या कार्य के आभास से पूर्व उसकी 'अभिव्यक्ति' का भी अस्तित्व था? यदि हाँ, तो वह उस समय दृष्टिगोचर होनी चाहिये थी, यदि उस अभिव्यक्ति के लिये भी अन्य अभिव्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है तथा उसके लिये अन्य की, तो अनवस्था-दोष हो जाता है। जयतीर्थ द्वारा मान्य कारणता के प्रत्यय का दृष्टिकोण यह है कि यदि उत्पत्ति के कारण का अस्तित्व

---

[1] मृत्त्वाज्ञानेऽपि तत्संस्थान-विशेषत्व-रूप घटत्वा-ज्ञानेन घटस्तत्त्वतो न ज्ञात इति व्यवहारात्। —'तात्पर्य-चन्द्रिका' पृ० ८७६।

है तो उत्पत्ति होती है और यदि विनाश के यथेष्ट कारण का अस्तित्व है तो उत्पत्ति होती है तथा यदि विनाश के यथेष्ट कारण का अस्तित्व है तो विनाश होता है। एक 'खर-विषाण' की उत्पत्ति नहीं होती है क्योंकि उसकी उत्पत्ति का यथेष्ट कारण नहीं है तथा 'आत्मन्' का विनाश नहीं होता क्योंकि उसके विनाश का भी यथेष्ट कारण नहीं है।[1]

शंकर का सातवां अधिकरण (सूत्र २१-२३) : इस आपत्ति का उत्तर इस प्रकार देता है कि यदि ब्रह्मन् और 'जीव' में अभेद है तो यह बात विचित्र है कि ब्रह्मन् स्वयं को जरा-मरण आदि के वशीभूत करे अथवा स्वयं को इस शरीर के कारागृह में बन्दी बनाये। इस आपत्ति के उत्तर में यह निर्देश किया गया है कि स्रष्टा और जीव एक समान नहीं हैं क्योंकि पश्चादुक्त अज्ञान के कारण केवल सोपाधिक अस्तित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं, अतः एक ही ब्रह्मन् के अस्तित्व के दो रूप हैं—ब्रह्मन् एवं 'जीव'। मध्व के अनुसार इस अधिकरण का अभिप्राय ईश्वर के स्रष्ट होने के पक्ष में तथा स्वयं जीवों को स्रष्टा मानने वाले मत के विपक्ष में विवेचन का उपक्रम करना है। उनके अनुसार यह अधिकरण 'सूत्रों' २१-२६ से निर्मित है, किन्तु शंकर के अनुसार वह 'सूत्रों' २४ व २५ से निर्मित है, जिनका उनके मत में यह अर्थ है कि विविध शक्तियों के अस्तित्व के कारण यह सम्भव है कि एक ब्रह्मन् से अनेकात्मक सृष्टि उत्पन्न हो। पुनः शंकर के अनुसार 'सूत्र' २६-२८ से नवें अधिकरण का निर्माण होता है जिसका आशय यह स्थापित करना है कि शरीर-रहित ब्रह्मन् से इस जगत की उत्पत्ति सम्भव है। मध्व के लिये आठवाँ अधिकरण उनकी गणना के अनुसार २८ वें 'सूत्र' से आरम्भ होता है और ३२ वें तक विस्तृत। मध्व के अनुसार इस अधिकरण का उद्देश्य विष्णु के सर्व-स्रष्टात्व के विरोध में दी गई युक्तियों का खण्डन करना है। इस प्रकार वह इस आपत्ति का खण्डन करता है कि यदि ब्रह्मन् बिना किसी उपकरण के सृष्टि-रचना करता तो एक तिनके आदि की रचना में उसका सम्पूर्ण अस्तित्व अन्तर्ग्रस्त हो जाता। ईश्वर में विविध प्रकार की शक्तियाँ होने के कारण सब कुछ सम्भव है। शंकर के अनुसार 'सूत्र' ३०-३१ से दसवां अधिकरण बनता है और वे यह स्थापित करते हैं कि ब्रह्मन् में सर्व शक्तियाँ हैं तथा वह इन्द्रियों की सहायता के बिना प्रत्येक कार्य को सम्पन्न कर सकता है। 'सूत्रों' ३३ व ३४ (शंकर की गणना के अनुसार ३२ और ३३) से एक नवीन अधिकरण बनता है जो यह स्थापित करता है कि यद्यपि उसकी (ब्रह्मन् की) समस्त कामनाएँ पूर्ण हैं तथापि वह सर्व प्राणियों के कल्याण के हेतु केवल लीला ही लीला में इस जगत की सृष्टि करता है। इस अधिकरण की शंकर द्वारा दी गई

---

[1] यस्य च विनाश-कारणं विद्यते तत् सदापि निरुध्यते, न च खर-विषाण जन्मनि आत्म विनाशे वा कारणमस्ति इति तयोर्जनन-विनाशाभावः।

—'न्याय-सुधा' पृ० ३०२।

व्याख्या का आशय भी यही है। 'सूत्र' ३४-३६ से निर्मित दसवाँ अधिकरण यह स्थापित करता है कि ईश्वर द्वारा मानवों को प्रदान किये गए पुरस्कार एवं दण्ड मानवों के सद्गुणों एवं पापों के अनुसार ईश्वर द्वारा नियमित किये जाते हैं तथा वह ऐसा अपनी इच्छा से स्वयं को न्याय के सिद्धान्त में दृढ़ बनाये रखने के लिये करता है, अतएव वह किसी प्रकार से अपने कार्यों में मानवी 'कर्मों' द्वारा नियंत्रित नहीं कहा जा सकता, और न वह किसी के प्रति पक्षपात अथवा क्रूरता के लिये दोषी ठहराया जा सकता है। शंकर द्वारा दी गई इस अधिकरण की व्याख्या का भी यही आशय है। प्रस्तुत अध्याय इस तथ्य के कथन से समाप्त होता है कि विष्णु सर्व-सद्गुणों से पूर्ण (सदा-प्राप्त-सर्व-सद्गुणम्) होने के कारण सर्वथा अधिक्षेपातीत है।

द्वितीय भाग के द्वितीय अध्याय में, जो भारतीय चिंतन के अन्य सम्प्रदायों के मतों के खण्डन के लिये प्रयुक्त हुआ है, मध्व और शंकर बहुत सीमा तक सहमत हैं। केवल बारहवें अधिकरण के सम्बन्ध में कोई यथार्थ मतभेद उत्पन्न होता है, जिसकी शंकर भागवत-सम्प्रदाय के मतों के खण्डन के रूप में व्याख्या करते हैं। मध्व और उनके अनुयायी 'पंचरात्र' की प्रामाणिकता को न्यायोचित ठहराने का प्रयास करते हैं तथा तदनुसार इस अधिकरण की व्याख्या करते हैं, पर शंकर उसकी भागवत-सम्प्रदाय के खण्डन के रूप में व्याख्या करते हैं।

द्वितीय भाग का तीसरा अध्याय एक ऐसे अधिकरण से प्रारम्भ होता है जिसमें 'आकाश' की उत्पत्ति की सम्भावना के सम्बन्ध में विवेचन आरम्भ किया गया है, क्योंकि इस विषय पर उपनिषद्-पाठों के दो विरोधी समूह उपलब्ध हैं। मध्व के अनुयायी दो प्रकार के 'आकाश' में विभेद करते हैं, विशुद्ध शून्य के रूप में 'आकाश' तथा तत्व के रूप में 'आकाश' उनके अनुसार उपनिषद् पाठों में केवल पश्चादुक्त की ही उत्पत्ति का उल्लेख है, पर पूर्वोक्त का नित्य के रूप में वर्णन किया गया है। दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें एवं छठे अधिकरणों का सम्बन्ध 'वायु', 'सत्' अथवा ब्रह्मन्, अग्नि एवं पृथ्वी की उत्पत्ति से है तथा यह माना गया है कि केवल ब्रह्मन् ही उत्पत्ति-रहित है और अन्य प्रत्येक वस्तु उससे उत्पन्न हुई है। ये अधिकरण मध्व और शंकर में प्रायः एक समान ही हैं। सातवां अधिकरण मध्व के अनुसार यह स्थापित करता है कि विष्णु न केवल जगत का स्रष्टा है वरन् उसका संहारक भी है। किन्तु शंकर के अनुसार इस अधिकरण का कथन यह है कि तत्वों की क्रमिक उत्पत्ति स्वयं उनकी उत्पादन शक्ति के कारण नहीं होती, बल्कि स्वयं ईश्वर की उत्पादन शक्ति के कारण होती है। आठवाँ अधिकरण यह मानता है कि तत्वों का विनाश जिस क्रम से उनकी उत्पत्ति हुई थी उसके प्रतिलोम क्रम में घटित होता है। मध्व इस अधिकरण का यही अर्थ स्वीकार करते हैं। नवाँ अधिकरण मध्व के अनुसार यह विवेचन करता है कि क्या यह सत्य है कि विनाश के सब उदाहरण उनकी उत्पत्ति के प्रतिलोम क्रम में

विनाश हो जाता है, किन्तु स्वरूप उपाधि का नाश नहीं होता।[1] इस प्रकार जीवों का ब्रह्मन् से एक साथ ही ऐक्य भी है और भिन्नता भी है, वे अपने अस्तित्व के लिये ईश्वर पर निर्भर करते हैं तथा स्वरूप में उसके समान हैं। सौलहवां अधिकरण जीवों के चित् एवं विशुद्ध आनन्द स्वरूप की स्थापना करने का प्रयास करता है, किन्तु वे गुण केवल मोक्ष की अवस्था में ही ईश्वर के प्रसाद से अपनी पूर्णता में अभिव्यक्त होते हैं तथा हमारी साधारण अवस्थाओं में वे मानों 'अविद्या' से आच्छादित रहते हैं।[2] सत्रहवां अधिकरण 'जीव' के कार्य की स्वतंत्रता एवं ईश्वर के चरम कर्त्तृत्व में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। ईश्वर ही 'जीवों' से उनके पूर्व 'कर्मों' के अनुसार कार्य करवाता है, जो 'अनादि' हैं। अतः यद्यपि ईश्वर ही सब 'जीवों' से उनके समस्त कार्य करवाता है, तथापि वह अपने निर्देशन में उनके पूर्व 'कर्मों' से संचालित होता है। अठारहवां अधिकरण यह स्थापित करने का प्रयास करता है कि यद्यपि 'जीव' ईश्वर के अंश हैं तथापि वे उसी अर्थ में अंश नहीं हैं जिस अर्थ में अंश-अवतार, मत्स्य-अवतार आदि हैं, क्योंकि जहाँ पश्चादुक्त 'स्वरूपांश' हैं वहाँ पूर्वोक्त स्वरूपांश नहीं हैं (जीवानामस्वरूपांशत्वम्), क्योंकि यद्यपि वे अंश हैं तथापि ईश्वर से भिन्न हैं। उन्नीसवां अधिकरण यह कहता है कि 'जीव' ईश्वर के प्रतिबिम्ब मात्र हैं।

पर शंकर के मत में इन 'सूत्रों' से सर्वथा भिन्न व्याख्याओं की प्राप्ति होती है। इस प्रकार बारहवां अधिकरण (सूत्र १८) यह कथन करता है कि सुषुप्ति में भी चैतन्य होता है तथा उस अवस्था में ज्ञान का अभाव इस कारण से होता है कि उसमें कोई ऐसा विषय नहीं होता जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा सके (विषयाभावाद् इयम् अचैतयमानता न चैतन्याभावात्:)। तेरहवां अधिकरण (सूत्र १९-३२) उनके मतानुसार इस प्रश्न का विवेचन करता है कि क्या उन पाठों को देखते हुए जिनमें आत्मन् के पलायन का कथन किया गया है, हमें आत्मन् को परमाणवीय मानना चाहिये अथवा क्या उसे सर्वव्यापक मानना चाहिये ? तथा वे आत्मन् के सर्व-व्यापकत्व के पक्ष में निर्णय लेते हैं क्योंकि उसका ब्रह्मन् से तादात्म्य है। चौदहवां अधिकरण ('सूत्र' ३३-३९) मनस् इन्द्रियों आदि के सम्भाव्य कर्तृत्व पर विचार करने के उपरान्त उसको अस्वीकृत करता है तथा आत्मन् के कर्त्तत्व के पक्ष में निर्णय लेता है, और यह मानता

---

[1] जीवोपाधिर्द्विधा प्रोक्तः स्वरूपं वाह्यैव च,
वाह्योपाधिर्लयं याति मुक्तावन्यस्य तु स्थितिः। —'तत्व-प्रकाशिका' पृ० ११९।

[2] एवं जीव-स्वरूपत्वेन मुक्तेः पूर्वमपि सतो ज्ञानानन्देन ईश्वर-प्रसादे-नाभिव्यक्ति-निमित्तेन आनन्दी भवति, प्रागभिव्यक्तत्वेनानुभवाभावप्रसंगात्।
—वही, पृ० १२०।

है कि 'बुद्धि' एवं इन्द्रियां केवल उपकरण एवं उपसाधन हैं। फिर भी पन्द्रहवें अधिकरण ('सूत्र' ४०) में शंकर आत्मन् के इस कर्तृत्व को यथार्थ नहीं वरन् ज्ञानेन्द्रियों, बुद्धि आदि की उपाधियों की उपस्थिति में मिथ्या स्थापित करने का प्रयास करते हैं (उपाधि-धर्माध्यासेनैव आत्मनः कर्तृत्वं न स्वाभाविकम्)। सोलहवें अधिकरण ('सूत्र' ४१–४२) में शंकर इस तथ्य को स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं कि ईश्वर व्यक्तियों को उनके पूर्व 'कर्म' के अनुसार अपने कार्यों को करने में सहायता प्रदान करता है। सत्रहवां अधिकरण (सूत्र ४३–५३) शंकर की व्याख्यानुसार इस मत का कथन करता है कि जीवों के परस्पर भेद और जीवों एवं ब्रह्मन् के भेद को केवल प्रतिबिम्ब, अवकाशिक परिसीमाओं आदि के सादृश्य के आधार पर ही समझा जा सकता है, क्योंकि यथार्थ में वे एक ही हैं तथा केवल सीमाकारक उपाधियों की उपस्थिति के द्वारा ही उनमें भेद का आभास होता है।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम भाग का पहला अधिकरण शंकर एवं मध्व दोनों के अनुसार ब्रह्मन् से 'प्राणों' के उद्गम का वर्णन करता है।[1] मध्व का दूसरा अधिकरण जिसमें शंकर के पाठ के तीसरे 'सूत्र' का समावेश होता है, ब्रह्मन् से 'मनस्' की उत्पत्ति का विवरण देता है। चौथा 'सूत्र' जिससे मध्व के तीसरे अधिकरण का निर्माण होता है, यह मानता है कि 'वाक्' भी ब्रह्मन् से उत्पन्न होती है, यद्यपि जब 'वाक्' का प्रयोग वेदों के लिये किया जाता है तब हम उसकी नित्यता का कथन सुनते हैं। पांचवें और छठे 'सूत्र' जिनसे चौथा अधिकरण निर्मित होता है, 'प्राणों' की संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न पाठों के आशय का विवेचन करते हैं तथा यह मानते हैं कि वे संख्या में बारह हैं। सातवें 'सूत्र' से निर्मित मध्व का पांचवां अधिकरण इस मत का कथन करता है कि 'प्राण' स्वरूपतः परमाणवीय हैं और सर्वव्यापक नहीं हैं, अतएव उनके ब्रह्मन् से उत्पन्न होने के विचार के प्रति कोई आपत्ति नहीं हो सकती। छठे अधिकरण को निर्मित करने वाले 'सूत्र' ८ और ९ ब्रह्मन् से 'प्राणों' की उत्पत्ति का प्रदर्शन करते हैं। सातवें अधिकरण को निर्मित करने वाले 'सूत्र' १० और ११ यह प्रदर्शित करते हैं कि 'मुख्य प्राण' भी अपनी उत्पत्ति एवं स्थिति के लिये ब्रह्मन् पर निर्भर करते हैं। १२वें 'सूत्र' से निर्मित आठवें अधिकरण में यह माना गया है कि मुख्य 'प्राण' की 'वृत्तियां' सेवकों के समान हैं, अतः उनके व्यापार भी वास्तव में ब्रह्मन् से व्युत्पन्न होते हैं। १३वें 'सूत्र' से निर्मित नवां अधिकरण 'प्राण' के 'परमाणवीय' स्वरूप के लिये दिये गये पाठगत प्रमाणों की पुनरावृत्ति करता है। सूत्रों १४-१६ से निर्मित दसवां अधिकरण इस मत का कथन करता है कि इन्द्रियां ब्रह्मन् के उपकरण हैं यद्यपि एक

[1] यह अधिकरण शंकर के अनुसार केवल 'चार सूत्रों' से निर्मित है, और मध्व के अनुसार प्रथम तीन 'सूत्रों' से। इनमें से तीसरा 'सूत्र' (प्रतिज्ञानुपरोधाच्च) शंकर द्वारा दिये गये 'ब्रह्म-सूत्रों' के पाठ में अनुपस्थित हैं।

दूरस्थ ढंग से वे 'जीव' के भी उपकरण मानी जा सकती हैं। १७वें से १९वें सूत्रों द्वारा निर्मित ग्यारहवां अधिकरण इस मत का कथन करता है कि तेरहवें अथवा 'मुख्य प्राण' के अतिरिक्त अन्य सब बारह 'प्राण' इन्द्रियां ही हैं। इनमें तथा 'मुख्य प्राण' में अन्तर यह है कि इन अन्य प्राणों का कार्य यद्यपि मुख्यतया ब्रह्मन् पर निर्भर करता है तथापि वह 'जीव' के प्रयत्न की भी अपेक्षा रखता है (ईश्वर-परवशा हि इन्द्रियाणां प्रवृत्तिर् जीव-प्रयत्नापेक्षैव), किन्तु 'मुख्य प्राण' का व्यापार किसी भी प्रकार से जीवों के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखता (मुख्यप्राणस्य प्रवृत्तिर् न पुरुष-प्रयत्नापेक्षया। बारहवां अधिकरण (२०वां 'सूत्र') यह प्रदर्शित करता है कि हमारे सब शरीरों की व्युत्पत्ति भी ब्रह्मन् से होती है। अंतिम अधिकरण इस मत का प्रतिपादन करता है कि हमारे शरीर एक तत्व से नहीं बल्कि पांच तत्वों से निर्मित हैं।

परन्तु शंकर के अनुसार इस अध्याय को नौ अधिकरणों में विभक्त करना चाहिये जिसमें से प्रथम का विवरण पहले ही दिया जा चुका है। दूसरे अधिकरण सूत्र (५–६) का यह मत है कि इन्द्रियां ग्यारह हैं न कि सात, जैसाकि सात 'प्राणों' की सादृश्यता के आधार पर कुछ विद्वान् मानते हैं। तीसरे अधिकरण (७वें 'सूत्र') का कथन है कि इन्द्रियां सर्व-व्यापक नहीं हैं, जैसाकि सांख्य के अनुयायी मानते हैं, किन्तु परमाणवीय स्वरूप की हैं। चौथे अधिकरण (८वें 'सूत्र') का कथन है कि अन्य किसी. भी 'प्राण' की भांति 'मुख्य प्राण' ब्रह्मन् का विकार है। पांचवें अधिकरण (सूत्र ९–१२) का कथन है कि 'प्राण' केवल 'वायु' नहीं है बल्कि उसका पांच प्रकार का आत्मगत विकार है और उसके सामान्य कार्य-व्यापार की व्याख्या पृथक्-पृथक् 'प्राणों' के व्यक्तिगत कार्यों के उल्लेख द्वारा उचित रूप से वैसे नहीं की जा सकती जैसे एक पिंजरे की गति की व्याख्या उसमें बन्द पक्षियों के सम्मिलित प्रयत्न के आधार पर की जा सकती हैं, क्योंकि 'प्राणों' के कार्य किसी भी प्रकार से सम्मिलित प्रतीत नहीं होते। जिस प्रकार इच्छा, कल्पना आदि मनस् की पांच अवस्थाएं होती हैं, उसी प्रकार पांच 'प्राण' मुख्य 'प्राण' के विकार मात्र हैं। छठे अधिकरण (१३वें 'सूत्र') का कथन है कि यह मुख्य 'प्राण' स्वरूप में परमाणवीय है। सातवें अधिकरण ('सूत्र' १४–१६) का कथन है कि प्राणों के कार्य-व्यापार में उनकी अध्यक्षता कतिपय देवताओं द्वारा की जाती है, और फिर भी वे जीवों के उपभोग के लिये ही होते हैं। आठवें अधिकरण ('सूत्र' १७-१९) का कथन है कि इन्द्रियां (कर्मेन्द्रियां एवं ज्ञानेन्द्रियां) मुख्य 'प्राण' के विभिन्न 'तत्वान्तर' हैं। नवें अधिकरण (सूत्र २०–२२) का कथन है कि 'जीव' स्रष्टा नहीं है, स्रष्टा तो ईश्वर ही है।

अध्याय २७

मध्व-दर्शन की एक व्यापक समीक्षा

तत्व-मीमांसा

मध्व का दर्शन इन सभी धारणाओं को स्वीकार करता है, अर्थात्, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव ।[1] 'द्रव्य' की परिभाषा 'उपादान-कारण' के रूप में की जाती है ।[2] एक 'द्रव्य' परिणाम एवं 'अभिव्यक्ति' अथवा इन दोनों की दृष्टि से उपादान कारण होता है । इस प्रकार जगत तो परिणाम के अधीन है, जबकि ईश्वर अथवा जीवों की केवल अभिव्यक्ति हो सकती है अथवा वे ज्ञात किये जा सकते हैं, किन्तु उनका कोई परिणामी परिवर्तन नहीं हो सकता, फिर, 'अविद्या' के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसके परिणामी परिवर्तन भी होते हैं और वह अभिव्यक्ति का विषय भी बनती हैं । द्रव्य बीस कहे

---

[1] 'तत्व-संख्यान्' (पृ० १०) में कहा गया है कि 'तत्व' दो प्रकार का होता है, 'स्वतंत्र' और 'अस्वतंत्र,' । अन्यत्र 'भाष्य' में कहा गया है कि 'पदार्थ' चार होते हैं, अर्थात ईश्वर, 'प्रकृति,' 'जीव,' और 'जड़' :

ईश्वर: प्रकृतिर्जीवो जड़ं चेति चतुष्टयम्
पदार्थाना सन्निधानात् तत्रेषो विष्णुरुच्यते ।

किन्तु मध्व-दर्शन का वर्तमान विभाजन, जिसमें दस पदार्थ स्वीकार किये गये हैं, इसलिये किया गया है कि वैशेषिक एवं अन्य मतों ने इसी प्रकार के विभाजन एवं वर्गीकरण का प्रयोग किया है ।

[2] 'द्रव्य' की एक अन्य परिभाषा भी दी गई है जब 'भागवत तात्पर्य' के द्वितीय खण्ड में उसे एक प्रतियोगिता की दौड़ के विषय के रूप में परिभाषित किया गया है तथा उसका उल्लेख 'मध्व-सिद्धान्त-सार' में भी किया गया है । इस प्रकार यह कहा गया है 'द्रव्यं तु द्रवण-प्राप्यं द्वयोर्विवदमानयो: पूर्वं वेगाभिसम्बन्धादाकाशस्तु प्रदेशत: ।'

किन्तु इस परिभाषा की आगे विस्तृत व्याख्या नहीं की गई प्रतीत होती है । इस काल्पनिक व्युत्पत्यात्मक अर्थ में कोई दार्शनिक भावार्थ ढूंढना—कदापि न्याय-संगत नहीं है ।

जाते हैं, अर्थात्, परमात्मन्, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृतकाश, प्रकृति, तीन गुण, महत्, अहंकार, बुद्धि, मनस्, इन्द्रिय, भूत, मात्र, अविद्या, वर्ण, अंधकार, वासना, काल एवं प्रतिविम्ब।

मध्व के गुण स्वरूप में वैसे ही हैं जैसेकि वैशिषिकों के गुण, किन्तु उनमें शम, कृपा, तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, गाम्भीर्य, सौन्दर्य, शौर्य, औदार्य आदि मानसिक गुणों का समावेश अपरिहार्य माना गया है, अतएव गुणों में न केवल संहतिवादी सांख्य के चौबीस गुणों का समावेश होता है वरन् अनेक अन्य गुणों का भी।

'कर्म' वे हैं जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से 'पुण्य' अथवा 'पाप' की ओर ले जाते हैं। कोई भी कर्म नैतिक दृष्टि से पूर्णतः उदासीन नहीं होते, ऊर्ध्वमुखी गति आदि जिन कर्मों को हम 'उदासीन कर्म' मान सकते हैं वे भी अप्रत्यक्ष रूप से पुण्य अथवा पाप के कारण होते हैं। 'कर्मों' का सामान्यतः तीन वर्गों में विभाजन किया जाता है–'विहित' अर्थात् शास्त्र द्वारा व्यादिष्ट, निषिद्ध, अर्थात् उसके द्वारा वर्जित तथा 'उदासीन' अर्थात् उसके द्वारा अनवेक्षित। पश्चादुक्त कर्म 'परिष्पन्द' स्वरूप के होते हैं तथा परिष्पन्द केवल पांच प्रकार का ही नहीं होता, जैसाकि वैशेषिक मानते हैं, अपितु अनेक अन्य प्रकार का भी होता है।[1] ईश्वर में विद्यमान सृष्टि, प्रलय आदि के कर्म नित्य होते हैं और उसके स्वरूपभूत होते हैं (स्वरूपभूताः), उसमें सृष्टि और प्रलय के विरोधी कर्म स्थित रह सकते हैं, पर शर्त यह है कि जब एक व्यक्त रूप में हो तब दूसरा अव्यक्त रूप से रहे।[2] अनित्य वस्तुओं में स्थित कर्म अनित्य होते हैं और इन्द्रियों द्वारा उनका अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है।

आगामी प्रश्न आता है 'जाति' अथवा सामान्य प्रत्ययों के सम्बन्ध में, जिन्हें न्याय-वैशेषिक एक ओर नित्य मानते हैं। मध्व-सम्प्रदाय में इनको केवल 'जीवों' के समान नित्य द्रव्यों में ही नित्य माना जाता है, किन्तु अनित्य द्रव्यों में उनको नाशवान माना जाता है तथा जिन व्यक्तियों में वे स्थित होते हैं उन तक ही विशिष्ट रूप से परिसीमित माने जाते हैं। नाशवान व्यक्तियों में ऐसे कोई जाति-प्रत्यय नहीं

---

[1] यहाँ संहतिवादी वैशेषिक मत का वर्णन किया गया है जिसके अनुसार कर्म पांच प्रकार का होता है, यह माना गया है कि वह वैशेषिक मत जिसके अनुसार साधारण सरलरेखीय गति (गमन) से वृत्तीय गति (भ्रमण) अथवा अन्य प्रकार की गतियों की प्राप्ति की जा सकती है आपत्तिजनक है, क्योंकि वृत्तीय गति सरलरेखीय गति की उपजाति नहीं है, अतएव 'कर्म' का पांच वर्गों में किया गया वैशेषिक वर्गीकरण भी अपर्याप्त माना गया है।

[2] सृष्टि-काले सृष्टि-क्रिया व्यक्त्यात्मना वर्तते, अन्यदा तु शक्त्यात्मना एवं संहार-क्रियापि। –'मध्व-सिद्धान्त-सार,' पृ० ४।

होते जो उन व्यक्तियों के नष्ट हो जाने के पश्चात् भी शेप रहते हैं। इस मत के विरोध में एक यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि स्थायी जाति-प्रत्ययों के अस्तित्व को स्वीकार न किया जाय तो 'व्याप्ति' का निरूपण करना असम्भव हो जायगा और फलतः अनुमान भी असम्भव होगा। मध्व की ओर से यह उत्तर दिया जाता है कि अनुमान 'सादृश्य' के आधार पर सम्भव होता है तथा उसके लिये नित्य जाति-प्रत्ययों की स्वीकृति आवश्यक नहीं है और यही बात शब्दों के अर्थ के निरूपण के सम्बन्ध में भी लागू होती है। जब कुछ विषयों को एक विशेष नाम से सम्बोधित किया जाता है तो उस नाम के द्वारा उन अन्य वस्तुओं को भी संबोधित किया जा सकता है जो उस नाम से मूलतः सम्बंधित पूर्व विषयों से अत्यधिक साम्य रखती हों।[1] 'जाति' (सामान्य-प्रत्यय) एवं 'उपाधि' (सीमित करने वाली अवस्था) में भी यह अन्तर बताया जाता है कि पश्चादुक्त तो वह है जो अपने निरूपण के लिये किसी अन्य प्रमुख प्रत्यय के निरूपण पर निर्भर करती है, जबकि पूर्वोक्त वह है जिसका निरूपण अपरोक्ष होता है तथा किसी अन्य प्रत्यय के निरूपण पर निर्भर नहीं करता।[2] उदाहरणार्थ, गाय का सामान्य प्रत्यय (गोत्व) तत्काल एवं अपरोक्ष रूप में ज्ञात किया जाता है, किन्तु 'प्रमेयत्व' का सामान्य-प्रत्यय केवल उन वस्तुओं के पूर्व ज्ञान के द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है जो प्रमा के विषय हैं। इसलिये प्रमेयत्व का सामान्य-प्रत्यय 'उपाधि' कहा जाता है और पूर्वोक्त 'जाति' कहा जाता है। आगे यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि एक जाति के सर्व व्यक्तियों में एक ही समय में विद्यमान एक नित्य सामान्य प्रत्यय के विरोध में आपत्ति की जाय, तो यही आपत्ति सादृश्य की स्वीकृति के विरोध में भी उठाई जा सकती है जो एक ही समय में अनेक व्यक्तियों में स्थित माना जाना चाहिये। इसके उत्तर में यह कहा गया है कि मध्व-दर्शन में दो अथवा तीन व्यक्तियों के मध्व में सादृश्य का सम्बंध उस प्रकार से सम्बंधित अनेक व्यक्तियों में एक समानतः स्थित माना जाता है, किन्तु उनमें से किसी एक व्यक्ति में पूर्णतः स्थित नहीं माना जाता। जब दो अथवा तीन समरूप कहे जाने वाले पदों का अस्तित्व होता है तब सादृश्य का सम्बन्ध एक द्व्यकीय अथवा त्र्यकीय सम्बंध के समान

---

[1] अनुगत-धर्म विनापि सादृश्येन सर्वत्र व्याप्त्यादिग्रहसम्भवातयं धूमः एतत्सदृशस् च वह्नि-व्याप्य इत्य् एवं-क्रमेण व्याप्ति-ग्रहः 'एकरूप धर्मों के आधार के बिना भी 'व्याप्ति' का निरूपण सादृश्य के आधार पर सम्भव है; यथा, यह धूम्र है और उसके सदृश वस्तुएं वह्नि से सम्बंधित हैं, आदि।'

—मध्व-सिद्धान्त-सार, पृ० ६।

[2] 'इतर निरूपणाधीन—निरूपणकत्वमुपाधि-लक्षणम्' तथा 'अन्य-निरूपणाधीन-निरूपणत्वं जातित्वम्।

—वही, पृ० ७।

होता है जो उन परस्पर आश्रित पदों के मध्य वर्तमान रहता है,[1] अत: अनेक पदों के मध्य का सादृश्य-सम्बन्ध एक नहीं होता वरन् एक अथवा दूसरे पद के दृष्टिकोण के अनुसार अनेक होता है। अ का ब के साथ सादृश्य ब का अ के साथ सादृश्य से भिन्न होता है (भिन्नभिन्नं सादृश्यम् इति सिद्धम्)।[1]

अब हम मध्व सम्प्रदाय के 'विशेष' के सिद्धान्तों को लेते हैं। वह मानता है कि प्रत्येक द्रव्य उसमें पाए जाने वाले प्रत्येक गुण से सम्बन्धित असंख्य विशेषों से निर्मित होता है। इस प्रकार जब गुणों और उनके द्रव्यों के सम्बन्ध के प्रति प्रश्न खड़ा होता है, यथा, घट से रंग आदि का सम्बन्ध, तब यदि कोई गुण द्रव्य से एक रूप होता तो उस गुण के विनाश का अर्थ होता द्रव्य का विनाश तथा द्रव्य एवं गुण का निर्देश करने वाले शब्द पर्यायवाची होते, किन्तु ऐसा नहीं है, साथ ही साथ यह कठिनाई भी इसी मान्यता के आधार पर हल की जा सकती है कि प्रत्येक गुण के आश्रय के अनुरूप विशिष्ट 'विशेष' होते हैं। 'विशेषों' एवं उनके द्रव्य के यथातथ सम्बंध के प्रति मतभेद हैं–कुछ के अनुसार उनका द्रव्य के साथ 'अभेद' होता है, कुछ के अनुसार 'भेद' होता है और कुछ के मत में 'भेद' और 'अभेद' दोनों होते हैं (भेदाभेद)। गुणों एवं द्रव्य के संबंध के प्रति चाहे कोई भी मत स्वीकार किया जाय, विरोध से बचने के लिये 'विशेष' के सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में जितने दृष्टिकोणों अथवा गुणों की व्याख्या करना अभीष्ट होता है उनके अनुरूप अगणित 'विशेष' होते हैं, किन्तु प्रत्येक 'विशेष' के लिये आगे और 'विशेष' नहीं होते, क्योंकि ऐसा मानने से अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। ईश्वर के विविध बाह्य गुणों की संतोषजनक व्याख्या करने के लिये उसमें नित्य 'विशेषों' को स्वीकार करना अनिवार्य है। विभु नित्य 'आकाश' के साथ घट आदि सान्त विषयों के संयोग की सम्भावना की व्याख्या करने के लिये 'आकाश' में विशेषों के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है।[2] उपर्युक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'विशेषों' की स्वीकृति केवल उन अवस्थाओं में आवश्यक होती है जहाँ दो सत्ताओं, यथा, द्रव्य और गुणों आदि के अभेद और भेद की व्याख्या अन्यथा संतोषजनक ढंग से नहीं की जा सकती। इन अवस्थाओं के लिये 'विशेषों' का सिद्धान्त कुछ ऐसे कल्पित विशेषों अथवा अवयवों को प्रस्तावित करता है जिनके उल्लेख से सम्पूर्ण द्रव्य का उल्लेख किये विना गुण के संयोग की व्याख्या की जा सके। किन्तु यह बात परमाणुओं में 'विशेष' के अस्तित्व के

---

[1] एक-निरूपितापराधीकरण-वृत्तित्वेन त्रि-विक्रम-न्यायेन तत्स्वीकारात्, प्रतियोगित्वानुयोगित्वादिवत्। –वही, पृ० ६।

[2] अतो गगनादि-विभु-द्रव्यस्य घटादिना संयोग तदभावोभय-निर्वाहको विशेषोऽनन्यगत्या स्वीकरणीय:। –वही, पृ० ६।

सम्बन्ध में लागू नहीं होती, क्योंकि परमाणुओं में अवयवों की सत्ता स्वीकार की जा सकती है, तथा किसी 'विशेष' की मान्यता के बिना भी उनके अन्य परमाणुओं के साथ संयोग की सरलतापूर्वक व्याख्या की जा सकती है। किसी अन्य वस्तु की तुलना में एक परमाणु लघुतम इकाई माना जा सकता है, किन्तु यह कोई कारण नहीं है कि वह स्वयं अपने अवयवों की अपेक्षा महत्तर स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये। यदि परमाणुओं के अवयव नहीं होते तो उनका दसों ओर से परस्पर संगठन सम्भव नहीं होता।[1] इसलिये परमाणुओं में 'विशेषों' को स्वीकार करने वाले वैशेषिक मत को अस्वीकृत करना पड़ेगा। यहाँ यह स्मरण रखना समीचीन होगा कि वैशेषिकों के अनुसार एक ही 'भूत' के परमाणुओं में तथा जीवों में भी ऐसे विशिष्ट अन्तर होते हैं कि उनका योगियों द्वारा एक दूसरे से विभेदीकरण किया जा सकता है। स्वयं परमाणुओं में स्थित इन अंतिम भेदों को कणाद सम्प्रदाय के विचारक 'विशेषों' की संज्ञा देते हैं। 'विशेष' की यह अवधारणा और उसकी उपयोगिता मध्व-सम्प्रदाय में पाई जाने वाली विशेष की अवधारणा से भिन्न है।[2]

न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में स्वीकृत 'समवाय' का सम्बंध मध्व-सम्प्रदाय द्वारा प्रायः उन्हीं कारणों से अस्वीकृत किया जाता है जिनके आधार पर 'ब्रह्म-सूत्रों' पर लिखित शंकर के 'भाष्य' में उसको अस्वीकृत किया गया है। न्याय-वैशेषिक का मत है कि कार्य में कारण की तथा द्रव्य में गुणों की अभिव्यक्ति स्पष्टतः एक सम्बन्ध के स्वरूप की होती है और चूँकि यह सम्बंध 'संयोग' का संबंध नहीं होता इसलिये वह एक पृथक् सम्बंध अर्थात् 'समवाय' का सम्बन्ध होना चाहिये। किन्तु इसी प्रकार स्वयं 'समवाय' (यथा, 'इह तन्तुपु पटसमवायः' वाक्य में) भी किसी अन्य वस्तु में किसी संबंध में स्थित प्रतीत हो सकता है, अतएव उसको सम्बन्धित करने के लिये अन्य सम्बन्धों की आवश्यकता पड़ सकती है। यदि ऐसे अन्य सम्बन्धों की श्रेणी के बिना भी समवाय का सम्बन्ध उसी रूप में सम्बन्धित हो सकता है जिस रूप में एक गुण और द्रव्य सम्बन्धित होते हैं, तो उस प्रकार का सम्बन्धत्व अथवा 'विशिष्टता' 'समवाय' के सब उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता है। इस प्रकार हमें 'सम्बंन्धित' अथवा 'विशिष्ट' को 'गुण' एवं 'द्रव्य' तथा उनके परस्पर सम्बन्ध से पृथक् व भिन्न पदार्थ के

---

[1] अन्यापेक्षया परमाणुत्वेऽपि स्वावयापेक्षया महत्वोपपत्तैः···किं च परमाणोरवयवानंगीकारे तस्य दशदिक्ष्वभिसम्बन्धो न स्यात्। —मध्व-सिद्धान्त-सार, पृ० १०।

[2] अस्मद्-विशिष्टानां योगिनां नित्येपु तुल्याकृति गुण-क्रियेपु परमाणुषु मुक्तात्मसु च अन्य निमित्ता सम्भवाद्येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं इति विलक्षणोऽयं प्रत्यय-व्यावृत्तिः देश-काल-विप्रकर्षे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति ते अन्त्या विशेषाः। —प्रशस्तपाद-भाष्य, पृ० ३२१-२२।

रूप में स्वीकार करना पड़ता है।[1] इसी कारण 'अंशी' सम्बन्धों या अंशों अथवा दोनों से भिन्न एक पृथक् पदार्थ माना गया है।

एक पृथक् पदार्थ के रूप में 'शक्ति' चार प्रकार का अस्तित्व रखती है: (१) ईश्वर में स्थित रहस्यमय अथवा 'अचिन्त्य-शक्ति' के रूप में, (२) 'कारण-शक्ति' अथवा 'सहज-शक्ति' जो स्वभावतः सर्व वस्तुओं में स्थित रहती है और जिसके द्वारा वे सर्व प्रकार के परिवर्तनों को उत्पन्न कर सकती है, (३) किसी वस्तु में एक नवीन प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न की गई एक शक्ति जिसे 'आधेय-शक्ति' कहा जाता है, यथा, एक मूर्ति में 'प्रतिष्ठा' सम्बन्धी कर्मकाण्डीय प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न की गई शक्ति और (४) शब्दों की महत्वपूर्ण शक्ति (पाद-शक्ति)। अभाव तीन प्रकार के बताये गये हैं:—(१) उत्पत्ति होने से पूर्व अभाव (प्रागाभाव), (२) नष्ट होने के पश्चात् अभाव (ध्वंसाभाव), (३) अन्यत्व के रूप अभाव में (अन्योन्याभाव), यथा, एक 'जग' का एक घट में अभाव होता है और एक घट का एक 'जग' में। अतः यह अभाव भेदों से एक रूप है जो सर्व वस्तुओं के स्वरूप माने जाते हैं।[2] जब वस्तुओं का विनाश हो जाता है तब उनके भेदों का भी विनाश हो जाता है। किन्तु ईश्वर एवं जीवों, जीव एवं जीव, अजीव एवं अजीव, अजीव एवं ईश्वर तथा अजीव एवं जीवों के मध्य पंच-भेद सर्व नित्य होते हैं, क्योंकि नित्य वस्तुओं के भेद नित्य होते हैं और अनित्य वस्तुओं के भेद अनित्य होते हैं।[3] चौथे प्रकार का अभाव, 'अत्यन्ताभाव' वह अभाव है जो शश-शृ ग के समान असम्भव सत्ताओं में पाया जाता है।

इस सम्प्रदाय में ईश्वर अथवा परमात्मन् अनन्त गुणों का पूर्णत्व माना जाता है। वह उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, नियंत्रण, ज्ञान, बन्धन, मोक्ष और 'आवृत्ति' का कर्त्ता है। वह सर्वज्ञ है और सर्व शब्द अपने व्यापकतम एवं प्रमुख अर्थ में उसका ही उल्लेख करते हैं। वह समस्त भौतिक पदार्थों, जीवों एवं 'प्रकृति' से भिन्न है तथा उसका शरीर ज्ञान एवं आनन्द से निर्मित है और पूर्णतः स्वतंत्र है यद्यपि उसके विविध रूप हो सकते

---

[1] विशिष्टं विशेषण-विशेष्य-तत्सम्बन्धातिरिक्तमवश्यं अंगीकर्त्तव्यम्।
—'मध्व-सिद्धान्त-सार' पृ० ११।

[2] भेदस्तु सर्व वस्तूनां स्वरूपं नैजमव्ययम्। —वही, पृ० २०।

[3] किन्तु जयतीर्थ अपनी 'न्याय-सुधा' १. ४. ६ (अधिकरण, पृ० २२२) में यह मानते हैं कि भेद (चाहे वे नित्य वस्तुओं में हो अथवा अनित्य वस्तुओं में हो) नित्य होते हैं। 'न च कदापि पदार्थानामन्योन्य-तादात्म्यमस्ति इति अनित्यानामपि भेदो नित्येव इत्याऽहुः। पद्मनाभ तीर्थ भी अपनी 'सन्-न्याय-रत्नावली' अथवा 'अनुव्याख्यान' में इसी विषय पर ठीक यही मत रखते हैं (१. ४. ६) विनाशिनोऽपि पटादेर धर्म-रूपो भेदः पर वाद्यभ्युपगतघटत्वादि-जातिवन्नित्योऽभ्युपगन्तव्यः।'

हैं (यथा 'वासुदेव', 'प्रद्युम्' आदि में) तथापि उसके ऐसे सर्व रूप उसके समस्त गुणों की पूर्ण अभिव्यक्ति होते हैं ।

जीव स्वभावतः अज्ञान, दुःख, भय आदि दोषों से मलिन होते हैं तथा वे रूपान्तर के चक्र के वशीभूत होते हैं । वे मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं:—अर्थात् वे जो 'मुक्ति-योग्य' होते हैं, यथा, देवगण जैसे ब्रह्मा, वायु आदि, अथवा नारद आदि जैसे ऋषि, पितृ, अथवा अम्बरीष जैसे सम्राट, अथवा अग्रगण्य मानव, ये अग्रगण्य जीव ईश्वर का सत्, चित्, आनन्द एवं आत्मन् के रूप में चिन्तन करते हैं । केवल द्वितीय वर्ग के जीव पुनर्जन्म के वशीभूत होते हैं और स्वर्ग के सुखों एवं पृथ्वी एवं नरक के दुःखों का उपभोग करते हैं । दानवों, प्रेतों आदि के समान जीवों का तृतीय वर्ग होता है । इन जीवों में से प्रत्येक जीव अन्य प्रत्येक जीव से भिन्न होता है तथा मोक्ष में भी जीव अपने-अपने पुण्यों, योग्यताओं, इच्छाओं आदि में एक दूसरे से भिन्न होते हैं ।

अब हम अव्यक्त आकाश पर विचार करेंगे, जो सृष्टि और प्रलय काल में एक रूप रहता है (अव्याकृत आकाशो दिग्-रूपः) । हाँ, यह 'भूत' के रूप में 'आकाश' से भिन्न है जिसे 'भूताकाश' कहा गया है और जो 'तमस्' अहंकार की उपज है तथा सीमित है । दिक् के रूप में 'आकाश' शून्यत्व एवं नित्य है ।[1]

मध्व-सम्प्रदाय में 'प्रकृति' को भी भौतिक जगत के उपादान-कारण के रूप में स्वीकार किया गया है ।[2] काल उसकी प्रत्यक्ष उपज है तथा अन्य सर्व वस्तुओं की उत्पत्ति उसके उन क्रमिक परिवर्तनों के द्वारा होती है जो 'महत्' आदि पदार्थों से प्रारम्भ होते हैं । 'प्रकृति' को यहाँ एक 'द्रव्य'[3] के रूप में स्वीकार किया गया है और मध्व-सम्प्रदाय में उसे 'माया' नामक ईश्वर की सहचरी के रूप में माना गया है यद्यपि वह 'दोष-युक्त' 'जड़' एवं 'परिणामी' कही गई है तथापि वह ईश्वर के पूर्ण नियंत्रण में होने के कारण उसकी इच्छा अथवा शक्ति मानी जा सकती है (हरेर् इच्छाथवा बलम्) । यह 'प्रकृति' जगत के लिये सर्व बन्धनों का कारण होती है (जग बन्धात्मिका) ।[4] सर्व प्राणियों के 'लिंग-शरीर' इस 'प्रकृति' के उपादान से निर्मित होते हैं । वह तीन गुणों की भी जननी है (गुणत्रयाद्युपादान-भूता) । यह माना जाता

---

[1] भूताकाशातिरिक्ताया देश-काल परिच्छिन्नायास्तार्किकाद्यभिमत-दिशा ऐवास्माकम व्याकृताकाशत्वात् ।

—तात्पर्य-चन्द्रिका, २, ३, १ (पृ० ६१२) ।　—न्याय-सुधा, २, ३, १ ।

[2] साक्षात् परम्पर्या वा विश्वोपादानं प्रकृतिः ।　—पदार्थ संग्रह ६३ ।

[3] 'न्याय-सुधा' और 'अनुव्याख्यान' २, १, ६ (पृ० २१) पर सन्-न्याय-रत्नावली ।

[4] 'भागवत-तात्पर्य,' ३, १०, ६ (पृ० २६) ।

है कि महा सृष्टि-रचना के समय केवल 'प्रकृति' का ही अस्तित्व था, अन्य किसी वस्तु का नहीं। उस समय ईश्वर ने अपनी सृजनात्मक इच्छा से 'प्रकृति' में से तीन समूहों में 'सत्व' 'रजस्' और 'तमस्' को उत्पन्न किया।[1] यह कहा जाता है कि 'रजस्' 'तमस्' से दुगना होता है और 'सत्व' 'रजस्' से दुगना होता है। 'सत्व' अपने विशुद्ध रूप में स्थित रहता है। 'रजस्' एवं 'तमस्' सदा एक दूसरे में तथा 'सत्व' में मिश्रित रहते हैं। इस प्रकार 'सत्व' न केवल इस विशुद्ध रूप में अस्तित्व रखता है, बल्कि मिश्रित 'रजस्' और मिश्रित 'तमस्' के अंश के रूप में भी अस्तित्व रखता है। मिश्रित 'रजस्' में 'रजस्' के प्रत्येक भाग के लिये 'सत्व' के सौभाग और तमस् का सौवां भाग उपस्थित रहते हैं। मिश्रित 'तमस्' में 'तमस्' के प्रत्येक भाग के लिये 'सत्व' के दस भाग और 'रजस्' का दसवां भाग होते हैं। जगत के 'विलय' के समय दस भाग 'सत्व' में लौट जाते हैं और एक भाग 'रजस्' में तथा एक भाग 'तमस्' में रह जाता है। तीन 'गुणों' की उत्पत्ति के तुरन्त पश्चात् जब उत्पन्न हुए तब 'रजस्' की सम्पूर्ण राशि का 'तमस्' में मिश्रण हो जाता है 'महत्-तत्व' की उत्पत्ति होती है, 'महत्-तत्व' 'रजस्' के तीन भागों एवं 'तमस्' के एक भाग से निर्मित होता है। आगामी परिणामों के सम्बन्ध में 'महत्-तत्व' 'सत्व' कहलाता है।[2] 'अहंकार' (जो 'महत्' के तुरन्त पश्चात् व्युत्पन्न होता है) में 'सत्व' के प्रत्येक दस भागों के लिये 'रजस्' का एक भाग तथा 'तमस्' का दसवां भाग होता है। उसके 'तमस्' भाग के 'सत्व' से 'मनस् आदि उत्पन्न होते हैं। 'रजस्' भाग से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, और 'तमस्' से महाभूत उत्पन्न होते हैं। वे प्रारम्भ में 'तन्मात्राओं' अथवा महाभूतों में अन्तर्निहित एवं अभिव्यक्त शक्तियों के रूप में प्रकट होते हैं, चूंकि 'अहंकार' में त्रिविध विकास की सामग्री निहित रहती है, इसलिये वह 'वैकारिक' तेजस' और 'तामस्' कहा जाता है। 'तत्व-संख्यान' में 'बुद्धि-तत्व' और 'मनस्-तत्व' का 'अहंकार' से क्रमशः विकसित होते हुए दो पदार्थों के रूप में कथन किया गया है। इस गणना के अनुसार 'महत्' से लेकर चौबीस पदार्थ इस प्रकार हैं–'महत्,' 'अहंकार,' 'बुद्धि,' 'मनस्' 'दस इन्द्रियाँ' पांच 'तन्मात्राएं' और 'पंच-भूत'।[3] जैसे 'बुद्धि' दो प्रकार की होती है, अर्थात् पदार्थ के रूप में 'बुद्धि'

---

[1] 'मध्व-सिद्धान्त-सार' पृ० ३६।

[2] मध्वाचार्य द्वारा लिखित भागवत-तात्पर्य ३, १४। इस अवतरण में मौलिक 'सत्व' को 'श्री' देवी कहा गया है, मौलिक 'रजस्' को 'भू' तथा मौलिक 'तमस्' को 'दुर्गा' कहा गया है, और जो देवी इन तीनों को अपने मूल के रूप में रखती है वह 'महालक्ष्मी' कहलाती है।

[3] विकास-क्रम में 'बुद्धि-तत्व' के स्थान के संबंध में कुछ मतभेद प्रतीत होता है। अभी प्रस्तुत किया गया मत 'तत्व-संख्यान' (पृ० ४१) में पाया जाता है। 'अन-सृष्टम महान् अहं बुद्धिर मनः खानि दश मात्र-भूतानि पंच च, और तत्वधर्म तनि

और ज्ञान के रूप में 'बुद्धि' वैसे ही 'मनस्' भी दो प्रकार का माना गया है, पदार्थ के रूप में 'मनस्' और इन्द्रिय के रूप में 'मनस्'। इन्द्रिय के रूप में वह नित्य एवं अनित्य दोनों है। वह ईश्वर, लक्ष्मी, ब्रह्मा तथा अन्य सर्व जीवों में उनके स्वरूप (स्वरूप-भूतम्) अथवा आत्मन् के रूप में नित्य होता है। ईश्वर, ब्रह्मा, जीवों आदि में अनित्य 'मनस्' पांच प्रकार का होता है, 'मनस्,' 'बुद्धि,' 'अहंकार,' 'चित्त' और 'चेतन' जो 'मनस्' की वृत्तियां अथवा व्यापार भी माने जा सकते हैं। इनमें से 'मनस्' वह है जिसके कारण 'संकल्प' और 'विकल्प' होते हैं। 'बुद्धि' वह है जिसके कारण किसी निश्चय पर आने का व्यापार होता है निश्चयात्मिका बुद्धि। 'अहंकार' वह है जिसके व्यापार के द्वारा असत् को 'सत्' समझ लिया जाता है (अस्वरूपे स्वरूप मतिः), और स्मृति का कारण 'चित्' है। इन्द्रियां बारह हैं, जिनमें पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ 'मनस्' और 'साक्षीन्द्रिय' का समावेश होता है, तथा 'बुद्धि,' 'मनस्' के अन्तर्गत ली जाती है। इन्द्रियों पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया गया है, अर्थात्, उनकी प्रबल 'तेजस्' सामग्री के दृष्टिकोण से, तथा इन्द्रियां होने के दृष्टिकोण से। अपनी सामग्री के विकास-क्रम में उत्पन्न पदार्थ होने के नाते वे नाशवान हैं, किन्तु इन्द्रियों के रूप में वे ईश्वर तथा सर्व प्राणियों में नित्य हैं। इन इन्द्रियों के शारीरिक अवयव सर्व नाशवान प्राणियों में नाशवान ही होते हैं। अंतः प्रज्ञा (साक्षी) अपरोक्ष रूप में सुख और दुख, अज्ञान, काल एवं दिक् का प्रत्यक्षीकरण कर सकती है। इस 'साक्षी' के द्वारा विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ध्वनियों, रंगों आदि की ज्ञानेन्द्रिय-सामग्री का अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र से अतीत सर्व वस्तुओं का ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में 'साक्षी' द्वारा अंतर्ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वस्तुतः

द्वारा लिखित टीका में इसका समर्थन किया गया है। यह 'कठ' १-३-१० के अनुकूल भी है। किन्तु 'मध्व-सिद्धान्त-सार' में मध्व के 'भाष्य' से उद्धृत एक अवतरण में कहा गया है कि 'विज्ञान-तत्व' (जो संभवतः 'बुद्धि-तत्व' ही है) 'महत्-तत्व' से उत्पन्न होता है तथा उससे फिर 'मनस्' उत्पन्न होता है, और मनस् से इन्द्रियां उत्पन्न होती है, इत्यादि।

> विज्ञान-तत्वं महतः समुत्पन्नं चतुर्मुखात्,
> विज्ञान-तत्वाच्च् मनो मनस्तत्वाच्च खादिकम्।'

पद्मनाभ सूरि अपने 'पदार्थ-संग्रह' में जिस प्रकार इस कठिनाई को हल करने का प्रयत्न करते हैं वह यह है कि 'बुद्धि-तत्व' सीधा 'महत्-तत्व' से उद्भूत होता है, किन्तु वह 'तेजस् अहंकार' के साहचर्य में विकसित होता है (तेजसाहंकारेण उपचित)। इससे 'तत्व-संख्यान' में दी गई 'अहंकार' की पूर्ववर्तिता की व्याख्या हो जाती है। हां, 'बुद्धि' दो प्रकार की होती है, ज्ञान के रूप में (ज्ञान-रूप), और पदार्थ (तत्व) के रूप में।

'साक्षी-ज्ञान' को अंत:प्रज्ञात्मक ज्ञान का एक विशेष साधन मानना और विशेषत: काल एवं दिक् के प्रत्यक्षीकरण के लिये उसे अपरिकार्य मानना, मध्व-दर्शन का एक महत्व-पूर्ण विशिष्ट लक्षण है। शंकर वेदान्त में 'साक्षी' अनिर्वाच्य 'ब्रह्म'-ज्योति के रूप में स्वीकार किया गया है जो 'अज्ञान' से आच्छादित हो सकता है, यद्यपि स्वयं 'अज्ञान' अपने यथार्थ स्वरूप, अविद्या के रूप में 'साक्षी' द्वारा प्रकट किया जाता है।[1] मध्व मानते हैं कि 'साक्षी' की अंत:प्रज्ञा के द्वारा एक व्यक्ति अपने इन्द्रिय-ज्ञान तथा 'अहम्' के रूप में अपने आत्मन् की सत्यता का निरीक्षण करता है। इस मत के अनुसार आत्मन् का प्रत्यक्षीकरण मनस् की क्रिया के कारण अथवा मानसिक अनुभव (मनोनुभव) के कारण नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो एक व्यक्ति मनस् की क्रिया अथवा मानसिक व्यापार के फलस्वरूप स्वयं अपने आत्मन् पर भी संदेह कर सकता था, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता, अतएव यह स्वीकार करना पड़ता है कि आत्मन् का प्रत्यक्षीकरण 'साक्षी' नामक किसी अन्य अन्त:प्रज्ञा के कारण होता है। इस प्रकार 'साक्षी' हमें सदा दोष रहित एवं निश्चित सत्यों पर पहुँचाता है, किन्तु जहाँ कहीं ज्ञान में विवेक-जन्य क्रिया होती है तथा दोष की सम्भावना होती है, तो वह मानसिक अनुभव के कारण उत्पन्न माना जाता है।[2]

मध्ववाद में 'तन्मात्राओं' को पांच स्थूल 'भूतों' की सूक्ष्म सामग्री के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि 'अहंकार' और 'बुद्धि' तत्व

---

[1] यत्-प्रसादादविद्यादि स्फुरत्येव दिवा-निशातनप्यपह्नुतेऽविद्या नाज्ञानस्यास्ति दुष्करम्।

—अद्वैत-ब्रह्म-सिद्धि, पृ० ३१२।

जैसाकि यह रचना भी संकेत करती है, 'शंकर वेदान्त' में 'साक्षी' के स्थान के सम्बन्ध में चार मत हैं। इस प्रकार 'तत्व-शुद्धि' मानती है कि वह ब्रह्म की ज्योति है जो मानो 'जीव' में अभिव्यक्त होती है, 'वेदान्त-प्रदीपिका' मानती है कि वह ईश्वर है जो सर्व जीवों में स्वयं को अभिव्यक्त करता है, 'वेदान्त-कौमुदी' मानती है कि वह केवल ईश्वर का एक रूप है, एक तटस्थ सत्ता है जो जीव की समस्त क्रियाओं में एकरूप रहती है तथा प्रत्यक्ष एवं अपरोक्ष रूप में अनुभूत होती है, किन्तु वह उसको आच्छादित करने वाली 'अविद्या' भी है। 'कूटस्थ-दीप' उसे 'जीव' में शुद्ध चैतन्य की एक अपरिवर्तनशील ज्योति मानता है जो सर्व अवस्थाओं में एक समान रहती है अतएव 'साक्षी' कहलाती है।

[2] 'यत् क्वचिद् व्यभिचारि स्यात् दर्शनं मानसं हि तत्।' 'अनुव्याख्यान' एवं स देवदत्तो गौरो न वा परमाणुः गुरुत्वाधिकरणं न वा इति संशयो मानसः।

—मध्व-सिद्धान्त-सार, पृ ०४८।

एक प्रकार के सूक्ष्म भौतिक पदार्थ माने जाते हैं जिन्हें निश्चित 'परिणाम' युक्ति राशियों के रूप में समझा जा सकता है।[1]

'अविद्या' एक अभावात्मक 'द्रव्य' है जो ईश्वर की इच्छा से हम सबके स्वाभाविक चैतन्य को आच्छादित कर देती है।[2] किन्तु कोई एक सामान्य 'अविद्या' नहीं होती जो विभिन्न व्यक्तियों में प्रकट होती है। अतः वह हमारे वैयक्तिक अज्ञान का निर्देश करती है, न कि एक सामान्य सत्ता का, जो अधिकांश भारतीय दर्शनों में पाई जाती है, इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशिष्ट प्रातिस्विकि 'अविद्या' होती है।

'काल' का सर्वव्यापी आकाश (अव्याकृत आकाश) से सह-अस्तित्व होता है, तथा वह 'प्रकृति' के उपादान से सीधा उत्पन्न होता है, अतः 'प्रकृति' से व्युत्पन्न अन्य पदार्थों से अधिक प्राथमिक अस्तित्व रखता है।[3] वह स्वयं में अस्तित्व रखता है (स्वगत) और दिक् के समान अन्य समस्त वस्तुओं का 'आधार' है, तथा वह सर्व विषयों की उत्पत्ति का सामान्य कारण है।

'अंधकार' भी एक पृथक् 'द्रव्य' माना जाता है न कि केवल प्रकाश का अभाव। 'जीवों' का निर्देश करने के लिये 'प्रतिबिम्ब' का एक नवीन प्रत्यय प्रस्तुत किया गया है, जो ईश्वर से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रख सकते, तथा जो इसकी इच्छा से स्वतन्त्र किसी प्रकार से व्यवहार नहीं कर सकते, और इच्छा एवं भावना से युक्त चेतन सत्ताएं

---

१ मनु-बृहस्पत्यादयस्तु अहंकारात्परिमाणतो हीनेन मनस्तत्वेन स्वोचित-परिमाणे परिमित-देश-पर्यन्तमवस्थितम् विष्णुं पश्यन्ति सोम-सूर्य तु बुद्धि-तत्वत्परिमाणतो हीनेन मनस्तत्वेन परिमित-देश-पर्यन्तं अवस्थितं विष्णुं पश्यतः वरुणादयस्तु आकाश-वायु-आदि भूते: क्रमेण परिमाणतो दशाहीनेः परिमित-देश-पर्यन्तम स्थित विष्णुं योग्यतानुसारण पश्यन्ति।

'सन्-न्याय-रत्नावली' और 'मध्व-सिद्धान्त-सार,' पृ० ४६०।

२ अतः परमेश्वर एव सत्वादि-गुणमय-अविद्या विरोधित्वेन अविद्यया स्वाधीनया प्राकृत्या अचिन्त्याभूतया स्वशक्त्या जीवस्य स्वप्रकाशम् अपि स्वरूप चैतन्यमध्याच्छादयति।

—'जिज्ञासा' विषय पर 'न्याय-सुधा'।

३ यह आपत्ति मान्य नहीं है कि यदि काल 'प्रकृति' के उपादान से निर्मित होता है तो फिर 'महत्' आदि का विकास कहाँ से होगा, क्योंकि काल केवल 'प्रकृति' के कुछ अंशों से ही विकसित होता है, तथा उसके अन्य अंशों से अन्य पदार्थों का विकास होता है: 'सर्वत्र व्याप्तानां कतिपय-प्रकृति-सूक्ष्माणां कालोपादनत्वम्, कतिपयानां महद्-आद्य-उपादानत्वां कतिपयानां च मूल-रूपेण अवस्थानम्।'

—मध्व-सिद्धान्त-सार, पृ० ६४।

होने के कारण अनिवार्यतः उसके समान हैं, यद्यपि वे प्रतिबिम्ब हैं, तथापि दर्पण में साधारण प्रतिबिम्बों की भांति नाशवान नहीं हैं, वरन् नित्य हैं (प्रतिबिम्बवस्तु बिम्बादिना भूतसत्-सदृशः ।[1]

मध्व-दर्शन न्यूनाधिक न्याय-वैशेषिक की भाँति ही 'गुणों' को स्वीकार करता है, उनमें परस्पर अन्तर तनिक भी दार्शनिक महत्व के नहीं हैं। जो उल्लेख योग्य हैं उनका अनुवर्ती परिच्छेदों में उल्लेख कर दिया जायगा।

प्रमाण (सत्य ज्ञान के साधन)

'प्रमाण' का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि 'प्रमाण' वह है जो किसी ज्ञान के विषय को अपने यथार्थ रूप में ग्राह्य बनाने (यथार्थं प्रमाणम्)।[2] 'प्रमाण' का कार्य-व्यापार इसमें निहित है कि वह अपरोक्ष (साक्षात्) अथवा परोक्ष (असाक्षात्) रूप में ज्ञान की उत्पत्ति के द्वारा किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाता है (ज्ञान-जननद् वाव ज्ञेयता-सम्पादकत्वेन)।[3] एक 'प्रमाण' के दो कार्य-व्यापार होते हैं, अर्थात् (१) किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाना (ज्ञेय-विषयीकरण), तथा (२) उस वस्तु की ज्ञेयता का सम्पादन करना (ज्ञेयता-सम्पादन)। जहाँ तक किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाने के कार्य-व्यापार का सम्बंध है, सर्व 'प्रमाण' उसका प्रत्यक्ष सम्पादन करते हैं, केवल द्वितीय कार्य-व्यापार के सम्बंध में 'केवल' और 'अनु' नामक दो प्रकार के 'प्रमाणों' में यह अन्तर होता है कि केवल पूर्वोक्त ही उसका अपरोक्ष रूप में सम्पादन करता है, और केवल पश्चादुक्त ही उसका परोक्ष रूप में सम्पादन करता है (परम्परा-क्रम)।[4] इन दो कार्य-व्यापारों से एक 'प्रमाण' का 'प्रमाता' (ज्ञाता) तथा 'प्रमेय' (ज्ञेय) से अन्तर स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि न तो ज्ञाता और न ज्ञेय ज्ञान के निमित्त कारण कहे जा सकते हैं, यद्यपि वे किसी अर्थ में कारणों के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं, तथा न वे किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाने के कारण होते हैं। हमारा ज्ञान किसी भी रूप में एक ज्ञान के विषय में रूपान्तर नहीं करता, किन्तु जब

---

[1] 'पदार्थ-संग्रह,' पृ० १६३।

[2] मध्व द्वारा अपने 'प्रमाण लक्षण' में दी हुई प्रमाण की परिभाषा का जयतीर्थ अपनी 'प्रमाण-पद्धति' में यह विस्तरण करते हैं—ज्ञेयमनतिक्रम्य वर्तमानं यथावस्थितमेव ज्ञेयं यद्विषयीकरोति नान्यथा तत्प्रमाणम्। (पृ० ८)।

[3] जनार्दन द्वारा 'प्रमाण-पद्धति' पर लिखी गई। —'जयतीर्थ-विजय-टिप्पणी।

[4] वही। और भी 'केवलं विषयस्य ज्ञेयत्वं ज्ञानमुपाधितया करणं तु तज्जनकतया सम्पादयन्ति इत्येतावन्तं विशेषमाश्रित्य केवलानुप्रमाण-भेदः समर्थितः।'

—न्याय-सुधा, २, १, २ (पृ० २४६)।

एक प्रकार के सूक्ष्म भौतिक पदार्थ माने जाते हैं जिन्हें निश्चित 'परिणाम' युक्ति राशियों के रूप में समझा जा सकता है।[1]

'अविद्या' एक अभावात्मक 'द्रव्य' है जो ईश्वर की इच्छा से हम सबके स्वाभाविक चैतन्य को आच्छादित कर देती है।[2] किन्तु कोई एक सामान्य 'अविद्या' नहीं होती जो विभिन्न व्यक्तियों में प्रकट होती है। अतः वह हमारे वैयक्तिक अज्ञान का निर्देश करती है, न कि एक सामान्य सत्ता का, जो अधिकांश भारतीय दर्शनों में पाई जाती है, इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशिष्ट प्रातिस्विकि 'अविद्या' होती है।

'काल' का सर्वव्यापी आकाश (अव्याकृत आकाश) से सह-अस्तित्व होता है, तथा वह 'प्रकृति' के उपादान से सीधा उत्पन्न होता है, अतः 'प्रकृति' से व्युत्पन्न अन्य पदार्थों से अधिक प्राथमिक अस्तित्व रखता है।[3] वह स्वयं में अस्तित्व रखता है (स्वगत) और दिक् के समान अन्य समस्त वस्तुओं का 'आधार' है, तथा वह सर्व विषयों की उत्पत्ति का सामान्य कारण है।

'अंधकार' भी एक पृथक् 'द्रव्य' माना जाता है न कि केवल प्रकाश का अभाव। 'जीवों' का निर्देश करने के लिये 'प्रतिविम्ब' का एक नवीन प्रत्यय प्रस्तुत किया गया है, जो ईश्वर से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रख सकते, तथा जो इसकी इच्छा से स्वतन्त्र किसी प्रकार से व्यवहार नहीं कर सकते, और इच्छा एवं भावना से युक्त चेतन सत्ताएं

---

[1] मनु-बृहस्पत्यादयस्तु अहंकारात्परिमाणतो हीनेन मनस्तत्वेन स्वोचित-परिमाणे परिमित-देश-पर्यन्तमवस्थितम् विष्णुं पश्यन्ति सोम-सूर्य तु बुद्धि-तत्वत्परिमाणतो हीनेन मनस्तत्वेन परिमित-देश-पर्यन्तं अवस्थितं विष्णुं पश्यतः वरुणादयस्तु आकाश-वायु-आदि भूतेः क्रमेण परिमाणतो दशाहीनैः परिमित-देश-पर्यन्तम स्थित विष्णुं योग्यतानुसारण पश्यन्ति।

'सन्-न्याय-रत्नावली' और 'मध्व-सिद्धान्त-सार,' पृ० ४६०।

[2] अतः परमेश्वर एव सत्वादि-गुणमय-अविद्या विरोधित्वेन अविद्यया स्वाधीनया प्राकृत्या अचिन्त्याभूतया स्वशक्त्या जीवस्य स्वप्रकाशम् अपि स्वरूप चैतन्यमप्याच्छादयति।

—'जिज्ञासा' विषय पर 'न्याय-सुधा'।

[3] यह आपत्ति मान्य नहीं है कि यदि काल 'प्रकृति' के उपादान से निर्मित होता है तो फिर 'महत्' आदि का विकास कहाँ से होगा, क्योंकि काल केवल 'प्रकृति' के कुछ अंशों से ही विकसित होता है, तथा उसके अन्य अंशों से अन्य पदार्थों का विकास होता है: 'सर्वत्र व्याप्तानां कतिपय-प्रकृति-सूक्ष्माणां कालोपादनत्वम्, कतिपयानां महद्-आद्य-उपादानत्वां कतिपयानां च मूल-रूपेण अवस्थानम्।'

—मध्व-सिद्धान्त-सार, पृ० ६४।

होने के कारण अनिवार्यतः उसके समान हैं, यद्यपि वे प्रतिविम्व हैं, तथापि दर्पण में साधारण प्रतिविम्वों की भांति नाशवान नहीं हैं, वरन् नित्य हैं (प्रतिविम्वस्तु विम्वादिना भूतसत्-सदृशः ।[1]

मध्व-दर्शन न्यूनाधिक न्याय-वैशेषिक की भाँति ही 'गुणों' को स्वीकार करता है, उनमें परस्पर अन्तर तनिक भी दार्शनिक महत्व के नहीं हैं। जो उल्लेख योग्य हैं उनका अनुवर्ती परिच्छेदों में उल्लेख कर दिया जायगा।

प्रमाण (सत्य ज्ञान के साधन)

'प्रमाण' का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि 'प्रमाण' वह है जो किसी ज्ञान के विषय को अपने यथार्थ रूप में ग्राह्य बनाने (यथार्थ प्रमाणम्)।[2] 'प्रमाण' का कार्य-व्यापार इसमें निहित है कि वह अपरोक्ष (साक्षात्) अथवा परोक्ष (असाक्षात्) रूप में ज्ञान की उत्पत्ति के द्वारा किसी वस्तु को ज्ञान का विषय वनाता है (ज्ञान-जननद् वाव ज्ञेयता-सम्पादकत्वेन)।[3] एक 'प्रमाण' के दो कार्य-व्यापार होते हैं, अर्थात् (१) किसी वस्तु को ज्ञान का विषय वनाना (ज्ञेय-विषयीकरण), तथा (२) उस वस्तु की ज्ञेयता का सम्पादन करना (ज्ञेयता-सम्पादन)। जहाँ तक किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाने के कार्य-व्यापार का सम्वंध है, सर्व 'प्रमाण' उसका प्रत्यक्ष सम्पादन करते हैं, केवल द्वितीय कार्य-व्यापार के सम्वंध में 'केवल' और 'अनु' नामक दो प्रकार के 'प्रमाणों' में यह अन्तर होता है कि केवल पूर्वोक्त ही उसका अपरोक्ष रूप में सम्पादन करता है, और केवल पश्चादुक्त ही उसका परोक्ष रूप में सम्पादन करता है (परम्परा-क्रम)।[4] इन दो कार्य-व्यापारों से एक 'प्रमाण' का 'प्रमाता' (ज्ञाता) तथा 'प्रमेय' (ज्ञेय) से अन्तर स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि न तो ज्ञाता और न ज्ञेय ज्ञान के निमित्त कारण कहे जा सकते हैं, यद्यपि वे किसी अर्थ में कारणों के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं, तथा न वे किसी वस्तु को ज्ञान का विषय वनाने के कारण होते हैं। हमारा ज्ञान किसी भी रूप में एक ज्ञान के विषय में रूपान्तर नहीं करता, किन्तु जब

---

[1] 'पदार्थ-संग्रह,' पृ० १६३।

[2] मध्व द्वारा अपने 'प्रमाण लक्षण' में दी हुई प्रमाण की परिभाषा का जयतीर्थ अपनी 'प्रमाण-पद्धति' में यह विस्तरण करते हैं–ज्ञेयमनतिक्रम्य वर्तमानं यथावस्थितमेव ज्ञेयं यद्विषयीकरोति नान्यथा तत्प्रमाणम्। (पृ० ८)।

[3] जनार्दन द्वारा 'प्रमाण-पद्धति' पर लिखी गई। —'जयतीर्थ-विजय-टिप्पणी।

[4] वही। और भी 'केवलं विषयस्य ज्ञेयत्वं ज्ञानमुपाधितया करणं तु तज्जनकतया सम्पादयन्ति इत्येतावन्तं विशेषमाश्रित्य केवलानुप्रमाण-भेदः समर्पितः।'
—न्याय-सुधा, २, १, २ (पृ० २४८)।

एक वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह ज्ञेय बन जाती है। सत्यता (यथार्थता), जिसका अर्थ है ज्ञान की अपने विषय के साथ यथार्थ अनुरूपता, मुख्यतया केवल ज्ञान में ही पाई जाती है (ज्ञानस्यैव मुख्यतो यथार्थ्यम्)। ज्ञान के साधन केवल परोक्ष रूप में इस आधार पर सत्य (यथार्थ) कहे जा सकते हैं कि वे यथार्थ ज्ञान के जनक होते हैं (यथार्थ-ज्ञान-जनक-यथार्थ)।[1] किन्तु फिर भी यह परिभाषा साधनों पर भी उचित रूप से लागू होती है, क्योंकि वे भी इस अर्थ में 'यथार्थ' हैं कि वे भी विषय की ओर ठीक उसी प्रकार उन्मुख होते हैं जिस प्रकार उस विषय का ज्ञान। जहाँ तक वे ऐसे सम्यक् विषय की ओर उन्मुख होते हैं जिसका हमें सम्यक् ज्ञान होता है, उनका कार्य क्षेत्र ज्ञान के विषय के क्षेत्र अथवा विस्तार अनुरूप होता है। अतः यह स्पष्ट है कि 'प्रमाण' दो प्रकार का होता है। यथार्थ ज्ञान के रूप में प्रमाण (केवल प्रमाण) तथा ज्ञान के 'साधन' के रूप में 'प्रमाण' (अनु प्रमाण)। यह 'केवल प्रमाण' पुनः दो प्रकार का होता है–'चैतन्य' के रूप में और 'वृत्ति' के रूप में। इस चैतन्य का जयतीर्थ द्वारा उत्तम 'मध्यम' एवं 'अधम' (उत्तम-मध्यमाधम), सत् मिश्रित, व असत् के रूप में वर्णन किया गया है, वृत्ति भी प्रत्यक्ष, अनुमान व 'आगम' के रूप में तीन प्रकार की होती है। 'अनु प्रमाण' भी प्रत्यक्ष अनुमान व आगम के रूप में तीन प्रकार का होता है। एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या 'प्रमाण' पद का प्रयोग किसी ऐसे सत् ज्ञान के लिये किया जा सकता है, जिसमें संयोग से सत्यता घटित हो गई हो (काकतालीय) तथा सत् ज्ञान की उचित प्रक्रिया द्वारा प्राप्त न की गई हो। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति केवल कल्पना के आधार पर यह कह सकता है कि उसके मित्र की जेब में पांच शिलिंग है, तथा यह ज्ञान वस्तुतः इस तथ्य के अनुरूप हो सकता है कि उस मित्र की जेब में पांच शिलिंग हैं, किन्तु यद्यपि यह ज्ञात सत् है, तथापि, इसे 'प्रमाण' की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि यह स्वयं वक्ता के निश्चित ज्ञान से फलित नहीं हुआ है, बल्कि उसने केवल एक कल्पना की थी जो एक प्रकार- का संशय मात्र है (वक्तुर् ज्ञानस्य संशयत्वेन अप्रसंगात्)।[2] यह बात उस अवस्था में भी लागू होती है जहाँ कोई व्यक्ति एक भ्रामक 'हेतु' के आधार पर अनुमान का निर्माण करता है, यथा भ्रम से भाप अथवा वाष्प को धूम्र समझकर उससे अग्नि का अनुमान लगाना।

'प्रमाण' की ज्ञान के विषयों के साथ अनुरूपता (यथार्थ) के रूप में की गई इस परिभाषा का मूल्य इस तथ्य में पाया जाता है कि उसमें पूर्व सत्य अनुभाव की 'स्मृति' का भी सत्य ज्ञान के रूप में समावेश हो जाता है, जबकि भारतीय दर्शन के अन्य अधिकांश तंत्रों की प्रवृत्ति अपनी परिभाषा का निर्माण इस ढंग से करने की होती है कि स्मृति

---

[1] वही।

[2] वही, पृ० २५०।

को प्रयोजनपूर्वक 'प्रमाण' गिने जाने के अधिकार से वंचित रक्खा जा सके।[1] शालिकनाथ द्वारा अपनी 'प्रमाण-पंचिका' में स्मृति को 'प्रमाण' की परिभाषा से बहिष्कृत करने के लिये दी गई युक्ति इस तथ्य पर आधारित है कि स्मृति एक ऐसा ज्ञान है जो केवल पूर्व ज्ञान के संस्कारों से उत्पन्न होता है (पूर्वविज्ञान-संस्कार-मात्रजं ज्ञानम्)। इसी कारण वह केवल पूर्व ज्ञान पर ही निर्भर करता है एवं अनिवार्यतः पूर्व अनुभव का उल्लेख नहीं कर सकता।[2] वे पहचान (प्रत्यभिज्ञा) का स्मृति से अपवर्जन करते हैं क्योंकि प्रत्यभिज्ञा की मूल आत्त-सामग्री में प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सम्पर्क का समावेश होता है, तथा वे एक ही वस्तु के 'धारावाहिक ज्ञान' का भी अपवर्जन करते हैं, क्योंकि यद्यपि उसमें स्मृति का समावेश होता है तथापि उसमें प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सम्पर्क का भी समावेश होता है, किन्तु 'प्रमाण' की परिभाषा से स्मृति का अपवर्जन केवल इन्द्रिय-सम्पर्क से असम्बद्ध शुद्ध स्मृति तक ही सीमित है। अभिप्राय यह है कि जो ज्ञान केवल पूर्व ज्ञान पर निर्भर करता है अथवा उसी से उत्पन्न होता है वह हमारे ज्ञान में प्रत्यक्ष रूप से योगदान नहीं देता, अतएव वह 'प्रमाण' नहीं है।

जिस कारण से जयतीर्थ स्मृति के समावेश का आग्रह करते हैं वह यह है कि स्मृति भी ज्ञान के विषय के अनुरूप हो सकती है अतएव उसे वैध रूप से 'प्रमाण' कहा जा सकता है। यह हो सकता है कि जब मैं एक विषय का स्मरण करता हूँ वह कदाचित् तबतक विद्यमान न हो अथवा उसका अस्तित्व समाप्त हो गया हो, किन्तु इससे 'प्रमाण' के रूप में स्मृति की सत्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि यद्यपि स्मृति का विषय स्मृति के उत्पत्ति-काल में अस्तित्व में नहीं है तथापि स्मृति के द्वारा निर्देशित अनुभव के समय उसका अस्तित्व अवश्य था। यदि यह युक्ति दी जाय कि चूंकि स्मृति-काल में विषय उसी अवस्था में नहीं होता जिस अवस्था में वह अनुभव-

---

[1] यहाँ जयतीर्थ 'अनधिगतार्थ-गन्तृ प्रमाणम्' तथा 'अनुभूतिः प्रमाणम्' के रूप में मीमांसा द्वारा दी गई परिभाषाओं का उल्लेख करते हैं। प्रथम तो कुमारिल की की परिभाषा का उल्लेख करती है और द्वितीय प्रभाकर की। कुमारिल 'प्रमाण' की यह परिभाषा देते हैं (जैसाकि 'श्लोक-वार्तिक' के 'चोदना-सूत्र' ८० में पाया जाता है) कि प्रमाण वह दृढ़ ज्ञान (दृढं विज्ञानम्) है जो उत्पन्न हो (उत्पन्नम्) तथा अन्य ज्ञान से असम्बद्ध हो (नापि ज्ञानान्तरेण संवादम् ऋच्छति)। द्वितीय परिभाषा प्रभाकर की है जो शालिकनाथ की 'प्रकरण पंचिका' में उद्धृत की गई है, पृ० ४२ : 'प्रमाणम् अनुभूतिः'।

[2] स्मृतिर्हि तदित्युपजायमाना प्राचीं प्रतीतिमनुरुध्यमाना न स्वातंत्र्येण अर्थं परिच्छिनत्ति इति न प्रमाणम्।

—प्रकरण-पंचिका, पृ० ४२।

काल में था; इसलिये स्मृति सत्य नहीं है, तो उस दशा में अनुमान अथवा शब्द पर आधारित भूत अथवा भविष्य विषयक सर्व ज्ञान असत्य हो जायगा क्योंकि अनुमित भूत एवं भविष्य की घटनाएँ अनुभव-काल में कदाचित् विद्यमान न हों। यदि यह युक्ति दी जाय कि पूर्व ज्ञान का विषय अपनी अवस्था परिवर्तित कर लेता है अतएव अपनी सम्पूर्णता में स्मृति के विषय के रूप में निर्देशित नहीं किया जा सकता तो इस युक्ति से सर्व 'प्रमाणों' की सत्यता नष्ट हो जाती है, क्योंकि किसी भी वस्तु को उसकी सम्पूर्णता में सर्व प्रमाणों का विषय नहीं बनाया जा सकता। यह भी आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि यदि वस्तु अपनी अवस्था परिवर्तित नहीं करती है तो स्मृति को उसका ऐसी वस्तु के रूप में परिग्रहण करना चाहिये जिसने अपनी अवस्था परिवर्तित नहीं की है। यह भी मान्य नहीं है, क्योंकि स्मृति किसी विषय का इस रूप में परिग्रहण नहीं करती है मानो उसने अपनी अवस्था परिवर्तित न की हो, बल्कि इस रूप में कि 'उस काल में वह वैसी थी' (तदासन् तद्दशा इति)। स्मृति इस प्रश्न के सम्बन्ध में सर्वथा उदासीन होती है कि एक विषय ने अपनी अवस्था परिवर्तित की है अथवा नहीं। चूँकि स्मृति यथार्थ वस्तुगत तथ्यों के अनुरूप होती है अतः उसे सत्य मानना पड़ता है तथा वर्तमान परिभाषा की यह विशिष्टता है कि उसमें स्मृति का एक सत्य 'प्रमाण' के रूप में समावेश होता है, जैसा अन्य दर्शन-तंत्रों में नहीं किया गया है। 'प्रमाण' के रूप में स्मृति की सत्यता इस तथ्य से सिद्ध हो जाती है कि लोग अपने समस्त व्यवहारों में उसका सत्य ज्ञान के रूप में प्रयोग करते हैं तथा मनुष्यों द्वारा केवल सत्य ज्ञान का उल्लेख किया जाता है (लोक-व्यवहार)। प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सत्यता को सिद्ध करने का सार्वभौम लोक-व्यवहार की चरम साक्ष्य के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है।[1]

इसके अतिरिक्त, मनु के पुनीत लेखनों की प्रामाणिकता भी वेदों के संस्मृत अभिप्राय पर आधारित है और इसलिये वे 'स्मृति' कहलाते हैं।[2] पुनः, यह युक्ति भी सही नहीं है कि स्मृति में कोई सत्यता नहीं है क्योंकि उससे हमें किसी फल की प्राप्ति नहीं होती (निष्कला), क्योंकि सत्यता अनुरूपता की विशुद्धि पर निर्भर करती है, फलदायकता पर नहीं। सत्यता का अभाव (अप्रामाण्य) इन्द्रियों के दोष अथवा तज्जन्य व्याघात (बाधक प्रत्यय) से स्पष्ट हो जाता है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि स्मृति सर्वथा निष्फल नहीं होती; जैसे, सुखमय बातों की स्मृति सुखद होती है तथा संस्कारों को भी सबल बनाती है (संस्कार-पटन)। पुनः, यह युक्ति दी जाती

---

[1] न ह्यस्ति प्रत्यक्षादि-प्रामाण्य-साधकमन्यद् लोक-व्यवहारात्।
—'न्याय-सुधा', २. १. २ 'अधिकरण', पृ० २५१।

[2] ते हि श्रुत्यादिनानुभूतार्थं स्मृत्वा तत्-प्रतिपादकम् ग्रन्थमारचयति।
—वही, पृ० २५२।

है कि 'प्रमाण' वही कहा जा सकता है जिसमें किसी नवीन वस्तु के ज्ञान का समावेश हो, अतएव स्मृति में नवीन ज्ञान का समावेश न होने के कारण उसे 'प्रमाण' नहीं गिना जा सकता। यदि यह अपेक्षित है कि एक ज्ञान का विषय 'प्रमाण' हो तो नित्य सत्ताएँ, जिनके सम्बन्ध में कोई नवीन ज्ञान नहीं हो सकता, 'प्रमाण' की विषय नहीं हो सकती। यदि नवीन ज्ञान सम्बन्धी आवश्यकता ज्ञान के विषयों के प्रति नहीं किन्तु केवल ज्ञान की विधि अथवा प्रक्रिया के प्रति उल्लेख करती है ऐसा माना जाय, तो किसी विषय के धारावाहिक प्रत्यक्षीकरण में समाविष्ट ज्ञान (धारावाहिक ज्ञान) 'प्रमाण' नहीं माना जा सकता। हाँ, बौद्ध दार्शनिक यह उत्तर दे सकते हैं कि प्रत्येक नवीन क्षण में एक नवीन विषय उत्पन्न होता है जिसका प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। सांख्य यह मान सकते हैं कि प्रत्येक नवीन क्षण में सर्व विषय एक नवीन परिवर्तन अथवा 'परिणाम' के भागी होते हैं, किन्तु एक मीमांसक क्या उत्तर देगा ? उसके अनुसार विषय (यथा, घट) समस्त क्रमिक क्षणों में एक समान बना रहता है। यदि यह युक्ति दी जाय कि क्रमिक क्षणों में स्थायी किसी विषय के ज्ञान में प्रति क्षण एक नवीन काल-तत्व का समावेश होता है तथा इस तथ्य के बावजूद कि ज्ञान का विषय क्रमिक क्षणों में स्थायी बना हुआ है उक्त काल-तत्व की नवीनता में ही ज्ञान की नवीनता निहित हो सकती है, तो यही युक्ति स्मृति के पक्ष में भी दी जा सकती है, क्योंकि वह वर्तमान काल में विषयों को अभिव्यक्त करती है तथा अतीत काल में घटित अनुभव के प्रति संकेत करती है (स्मृतिरपि वर्तमान-तत्-कालतया अनुभूतम अर्थम तीतकालतावगाहते)। जयतीर्थ मानते हैं कि 'प्रामाण्य' तथा इस आवश्यकता में कि विषय साहचर्य के द्वारा अथवा साहचर्य एवं किसी व्याघाती उदाहरण के अभाव के द्वारा पूर्व काल में अनुपार्जित हो (अनधिगतार्थ), कोई अनिवार्य सम्बन्ध बताना सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रथम आधार पर तो 'प्रामाण्य' से सम्बन्ध रखने वाली अन्य कई वस्तुओं को 'अनधिगत' मानना पड़ेगा, जो वे नहीं हैं और द्वितीय आधार पर कम से कम 'धारावाहिक ज्ञान' की स्थिति में लागू नहीं होता। क्योंकि धारावाहिक ज्ञान में क्रमिक क्षणों में नवीन ज्ञान न होने के बावजूद भी उनको 'प्रमाण' माना जाता है।

यदि यह आपत्ति की जाय कि एक 'प्रमाण' का यह व्यापार कैसे हो सकता है कि वह पूर्व ज्ञात विषय को हमें ज्ञात करवाये (अधिगतम् एवार्थम् अधिगमयता प्रमाणेन पिष्टं पिष्टं स्यात्), तो इस आपत्ति का अर्थ क्या है ? इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि एक ज्ञात विषय के सम्बन्ध में आगे कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि न तो ज्ञान, ज्ञान से विरोध में होता है और न ज्ञान का अभाव ज्ञान को उत्पन्न करने वाली अवस्थाओं का भाग होता है। एक ज्ञात विषय के द्वितीय ज्ञान की उत्पत्ति के विरोध में निष्फलता के आधार पर उठाई गई आपत्ति का पहले ही से उत्तर दिया जा चुका है। न यह कहा जा सकता है कि एक 'प्रमाण' किसी अन्य वस्तु पर इसका अन्य

ज्ञान पर आधारित नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह आक्षेप अनुमान पर भी लागू होगा जिसे सब विद्वान 'प्रमाण' के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः 'प्रमाण' की परिभाषा इस प्रकार दी जानी चाहिये कि उसमें स्मृति का समावेश किया जा सके। चलरिशेपाचार्य 'प्रमाण' में स्मृति के समावेश के समर्थन में एक अज्ञात श्रुति-पाठ को उद्धृत करते हैं।[1] जयतीर्थ उन सकारात्मक तर्कों का, जो उनके अनुसार 'प्रमाण' में स्मृति के समावेश का समर्थन करते हैं, संक्षिप्त कथन करते हुए कहते हैं कि स्मृति सत्य (यथार्थ) होती है। जब एक विषय एक समय विशेष एवं स्थान विशेष में एक निश्चित स्वरूप लिये हुए चेतना में भासित होता है तथा वास्तव में उस काल और स्थान में उसी स्वरूप का होता है, तब यह ज्ञान सत्य अथवा यथार्थ होता है। स्मृति हमें ठीक इसी प्रकार का ज्ञान देती है, 'उस समय वह ऐसा था।' यह तथ्य नहीं है कि उस समय वह ऐसा नहीं था। स्मृति अपरोक्ष रूप से 'मनस्' द्वारा उत्पन्न की जाती है और 'संस्कारों' के माध्यम से उसका विषय से सम्पर्क होता है। संस्कारों के द्वारा मनस् विषय विशेष के सम्पर्क में आता है (संस्कारस् तु मनसस् तद्-अर्थ-सन्निकर्ष-रूप एव)। यह आक्षेप किया जा सकता है कि स्मृति द्वारा निर्देशित विषय कई परिवर्तनों को सहन करने तथा मध्यान्तर में अपने पूर्वावस्थागत अस्तित्व को समाप्त कर देने के कारण, वर्तमान स्मृति अपने विषय का परिग्रहण नहीं कर सकती, इसका उत्तर यह है कि उक्त आक्षेप में कुछ बल अवश्य होता है यदि मनस् से किसी अन्य साधन की सहायता के बिना विषय के परिग्रहण की आशा की जाती, किन्तु ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियां केवल वर्तमान काल में क्रियाशील होने पर भी प्रत्यभिज्ञा की प्रक्रिया को संस्कारों की सहायता से कर सकती हैं, उसी प्रकार यह स्वीकार किया जा सकता है कि मनस् भी संस्कारों की सहायता से उस विषय का निर्देश कर सकता है जिसने अपनी पूर्व अवस्था में परिवर्तन कर लिया है।[2]

'प्रमाण' के प्रत्यय को भारतीय दर्शन में एक अति महत्वपूर्ण विषय माना जाता है। 'प्रमाण' शब्द मुख्यतया दो भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, (१) असत्य अथवा भ्रामक संज्ञान से भिन्न एक सत्य मानसिक क्रिया के अर्थ में और (२) उन

---

[1] स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमान चतुष्टयम्
प्रमाणमिति विज्ञेयं धर्माद्यर्थे मुमुक्षुभिः। —प्रमाण-चन्द्रिका, पृ० ४।

[2] संस्कार-सहकृतम् मनः अननुभूतामपि निवृत्त-पूर्वावस्थां विषयीकुर्वत स्मरणम् जनयेत् इति को दोषः, वर्त्तमान विषयाणि अपि इन्द्रियाणि सहकारि सामर्थ्यात् कालान्तर-सम्बन्धितामपि गोचरयन्ति, यथा संस्कार-सहकृतानि सोयमित्यतीत-वर्तमानत्व विशिष्टविषयप्रत्यभिज्ञा-साधनानि प्राकृतेन्द्रियाणि मनोवृत्ति-ज्ञानं जनयन्ति।

—'प्रमाण-पद्धति', पृ० २४।

साधनों अथवा परिस्थितियों की संस्थिति के अर्थ में जो ज्ञान की उत्पत्ति करते हैं। पश्चादुक्त अर्थ में 'प्रमाण' का विवरण प्रथम भाग के पृ० ३३०-२ में दिया जा चुका है। ज्ञान के साधनों के रूप में 'प्रमाण' की व्याख्या के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी मत इस कारण से पाये जाते हैं कि विविध दर्शन-तंत्र ज्ञान के स्वरूप एवं उद्गम के सम्बंध में विभिन्न दृष्टिकोण अपनाते हैं। इस प्रकार न्याय-दर्शन कारणों की ऐसी संस्थिति के रूप में 'प्रमाण' की परिभाषा करता है जो ज्ञान ('उपलब्धि' अथवा 'प्रमा') को उत्पन्न करती है। स्मृति के कारणों को 'प्रमाण' से केवल इस शाब्दिक आधार पर अपवर्जित किया जाता है कि लोग 'स्मृति' शब्द का प्रयोग संस्कार-जन्य ज्ञान (संस्कार-मात्र-जन्मन:) का निर्देश करने के लिये करते हैं तथा उसका 'प्रमा' अथवा सत्य ज्ञान से विभेद करते हैं, जो अपने विषयों के अनुरूप होता है।[1]

किन्तु जैन दार्शनिक विषय की अभिव्यक्ति के निर्देश (अर्थोपदर्शकत्व) को 'प्रमा' मानते हैं, तथा इस बात में उनका बौद्ध-मत से अन्तर है जो विषय की वास्तविक प्राप्ति के रूप में 'प्रमा' की परिभाषा करते हैं (अर्थ-प्रापकत्व)।[2] यद्यपि ज्ञान के घटनाकाल में किए गए प्रयास के द्वारा तथा तदनुसार विषय की प्राप्ति की जा सकती है, तथापि ज्ञान का व्यापार केवल उसके द्वारा अभिव्यक्त विषय के निर्देश में ही निहित होता है।[3]

---

[1] प्रमा-साधनं हि प्रमाणं न च स्मृतिः प्रमा लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थ-सम्बंधः, लोकश्च संस्कार मात्र-जन्मनः स्मृतेकान्यामुपलब्धिमर्थाव्यभिचारिणीं प्रमामाचष्टे तस्मात् तद्-धेतुः प्रमाणमिति न स्मृति-हेतु-प्रसंगः।

—तात्पर्य-टीका, पृ० १४।

[2] प्रवृत्ति-मूला तूपादेयार्थ-प्राप्ति र्न प्रमाणाधीना तस्याः पुरुषेच्छाधीन प्रवृत्ति-प्रभवत्वात्।

—प्रमेय-कमल-मार्तण्ड, पृ० ७।

[3] यद्यप्य अनेकस्यात्ज्ञान-क्षणात् प्रवृत्तौ अर्थ-प्राप्तिश्तथापि पर्यालोच्यमानस्यर्थ-प्रदर्शकत्वमेव ज्ञानस्य प्रापकत्वं नान्यत्।

—वही।

यहाँ बौद्धों के विरोध में की गई टीका न्यायपूर्ण नहीं है, क्योंकि 'प्रवर्तकत्व' का अर्थ उनके लिये 'प्रदर्शकत्व' भी है, यद्यपि उनके विचार में 'प्रमाण-व्यापार' के द्वारा सूचित क्रिया-श्रेणी की परिसमाप्ति तभी होती है जबकि विषय (अर्थ) वस्तुतः प्राप्त हो जाता है। प्रत्यय अथवा 'विज्ञान' तो केवल विषय को प्रकट करता है, तथा जब विषय की अभिव्यक्ति हो जाती है तब प्रयत्न प्रारम्भ किया जाता है और विषय की प्राप्ति की जाती है। विषय की वास्तविक प्राप्ति केवल इसी अर्थ में महत्वपूर्ण है कि वही अन्त में निश्चित करता है कि 'विज्ञान' सही है अथवा नहीं, क्योंकि जब 'विज्ञान' के ठीक अनुरूप विषय की उपलब्धि हो जाती है तब 'विज्ञान' सही कहा जा सकता है।

—'न्याय-बिन्दु-टीका,' पृ० ३, ४।

अतः जैन दार्शनिकों के अनुसार 'प्रमा' 'स्वार्थ-परिच्छित्ति' अथवा विषय के मान-चित्रण के समतुल्य है, और उसका तात्कालिक साधन अथवा 'प्रमाण' वह ज्ञान की आत्मगत आन्तरिक चमक है जो उक्त वस्तुगत 'अर्थ-परिच्छित्ति' अथवा विषयों के निर्धारण को उत्पन्न करती है।[1] हाँ, 'स्वार्थ-परिच्छित्ति' 'ज्ञान' का व्यापार मात्र प्रतीत होती है अतएव एक अर्थ में उससे एकरूप है, तथा इस प्रकार 'प्रमाण' ज्ञान से एकरूप है। किन्तु चूंकि यहाँ वस्तुगत निर्देशन को 'प्रमा' का सार-तत्व माना गया है, अतः 'ज्ञान' अथवा ज्ञान की आन्तरिक अभिव्यक्ति उसका साधन अथवा 'प्रमाण' माना गया है, और न्याय-दर्शन द्वारा मान्य ज्ञान की उत्पत्ति के वाह्य भौतिक साधनों अथवा उप-साधनों को बहिष्कृत कर दिया गया है। ज्ञान की आत्माभिव्यक्ति ही तत्काल वस्तुगत निर्देशन एवं वस्तुगत निर्धारण को उत्पन्न करती है, तथा अन्य उपसाधनों की संस्थिति ('साकल्य' अथवा 'सामग्री') केवल ज्ञान के माध्यम से ही उसको उत्पन्न कर सकती है।[2] अतः केवल ज्ञान ही सबसे प्रत्यत्र एवं तात्कालिक पूर्व-साधन माना जा सकता है (साधकतम)। ऐसे ही कारणों से जैन-दार्शनिक सांख्य-मत को अस्वीकृत करते हैं जिसके अनुसार 'प्रमाण' इन्द्रियों का व्यापार है (ऐन्द्रिय वृत्ति) तथा प्रभाकर मत को भी अस्वीकृत करते हैं जिसके अनुसार 'प्रमाण' ज्ञान के व्यापार में ज्ञाता द्वारा अचेतन-स्तर पर की गई प्रक्रिया है।[3]

इस सम्बंध में इस बात पर ध्यान देना रुचिकर है कि धर्मोत्तर द्वारा स्पष्ट किया गया बौद्ध-मत, जैन-मत के निकटतम आ गया है क्योंकि उसमें 'प्रमाण' एवं 'प्रमाण-फल' का 'ज्ञान' में एकीकरण कर दिया गया है। इस प्रकार धर्मोत्तर के अनुसार 'प्रमाण' का अर्थ है विषय के प्रभाव से उत्पन्न प्रत्यय और विषय का सादृश्य, तथा प्रत्यय अथवा 'ज्ञान' को 'प्रमाण-फल' कहा गया है, यद्यपि ज्ञान तथा उसे उत्पन्न करने वाले विषय का सादृश्य स्वयं उस ज्ञान के व्यतिरिक्त नहीं है।[4] यह सादृश्यता

---

[1] अन्य-निरपेक्षतया स्वार्थ-परिच्छित्तिसाधकमत्वाद् ज्ञानमेव प्रमाणम्।
—प्रमेय-कमल-मार्तण्ड, पृ० ५।

[2] न्याय-दर्शन के 'प्रमाण' सम्बन्धी 'सामग्री'—सिद्धान्त के खण्डनार्थ जैन-युक्तियों के लिये देखिये।
—प्रमेय-कमल-मार्तण्ड, पृ० २—४।

[3] एतेनेन्द्रिय-वृत्तिः प्रमाणमित्यभिदधानः सांख्यः प्रत्याख्यातः एतेन प्रभाकरोऽप्यर्थ तथात्व-प्रकाशको ज्ञातृ-व्यापारोऽज्ञानरूपोऽपि प्रमाणमिति प्रतिपादयन् प्रतिव्यूढ़ः पतिपत्तव्यः।
—वही, पृ० ६।

[4] यदि तर्हि ज्ञानम् प्रमिति रूपत्वात् प्रमाण-फलम् किं तर्हि प्रमाणमित्याह, अर्थेन सह यत् सारुप्यं अस्य ज्ञानस्य तत् प्रमाणमिह ननु ज्ञानादव्यतिरिक्तं सादृश्यम् तथा च सति तदेव ज्ञानं प्रमाणम् तदेव प्रमाणफलम्।
—'न्याय-बिन्दु-टीका,' पृ० १८।

'प्रमाण' कही जाती है क्योंकि इसी सादृश्यता के कारण अनुभव के विषय-विशेष का निर्देश सम्भव होता है, नीलत्व का ज्ञान प्रत्यय की लित्व से सादृश्यता के कारण ही सम्भव होता है।

'यथार्थ-प्रमाणम्' के रूप में मध्व द्वारा दी गई 'प्रमाण' की परिभाषा का अर्थ है—वह जिसके द्वारा एक विषय अपने यथार्थ स्वरूप में ज्ञात किया जाता है। उसको उत्पन्न करने वाला साधन बाह्य इन्द्रिय-सम्पर्क इत्यादि हो सकता है जिसे यहाँ 'अनुप्रमाण' कहा गया है और जो न्याय-दर्शन की 'सामग्री' के अनुरूप है, तथा 'साक्षी' की अंत:प्रज्ञा के आन्त: प्राज्ञ की 'सामग्री' के अनुरूप है, तथा 'साक्षी' की अंत:प्रज्ञा के आन्त: प्राज्ञ व्यापार का प्रयोग (केवल प्रमाण), जो आत्मन् से एकरूप है। इस प्रकार वह प्रभाकर व जैनों के आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण एवं न्याय के वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का सामंजस्य है।

स्वत:—प्रामाण्य

'मध्व-दर्शन में 'स्वत: प्रामाण्य' सिद्धान्त का अर्थ है 'साक्षी' द्वारा उस ज्ञान को सत्य समझना जिसे वह दोषों अथवा अन्य बाधाओं से अप्रतिरुद्ध होकर ग्रहण करे।[1] 'साक्षी' एक बुद्धिमान एवं चेतन प्रत्यक्षकर्त्ता है जो दिक् एवं दूरत्व का अन्त:-प्रज्ञात्मक प्रत्यक्ष कर सकता है, और जब दूरत्व इतना होता है कि उससे यह संशय उत्पन्न हो जाय कि उसके दोष ने कदाचित् प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप को प्रभावित कर दिया हो, तो बुद्धिमान अन्त: प्राज्ञ कर्त्ता त्रुटि के भय से अपना निर्णय स्थगित कर लेता है, और तब 'संशय' नामक स्थिति उत्पन्न हो जाती है।[2] अपने 'तर्क-ताण्डव' में व्यासयति 'तत्व-निर्णय' के टीकाकार की भाषा में इस आशय को यह कहकर अभिव्यक्त करते हैं कि 'साक्षी' ही ज्ञान एवं उसकी प्रमाणिकता दोनों को ग्रहण करने की क्षमता रखता है, तथा प्रतिरुद्ध होने पर भी वह अपनी क्षमता बनाये रखता है किन्तु उसका प्रयोग नहीं करता।[3] जब प्रामाणिकता के प्रति भ्रम होता है (प्रामाण्य-भ्रम), तब 'साक्षी'

---

[1] दोषाद्यप्रतिरुद्धेन ज्ञान-ग्राहक-साक्षिणा
स्वतस्त्वं ज्ञानमानत्वनिर्णीति-नियमो हि न:। —'युक्ति-मल्लिका' १, ३११।

[2] यतो दूरत्व-दोषेण स्व-गृहीतेन कुण्ठित:,
न निश्चिनोति प्रामाण्यं तत्र ज्ञान-ग्रहेऽपि स्व देशस्य-विप्रकर्षो हि दूरत्वं
स च साक्षिणावर्गं हितुं शक्यते यस्मादाकाशव्याकृतो ह्यसौ।
—वही, १. ३१३, ३१४।

[3] साक्ष्येण ज्ञानं तत्प्रामाण्यं च विषयीकर्तुं क्षम:,
किन्तु प्रतिबद्धो ज्ञानमात्रं गृहीत्वा तत्-प्रामाण्य-ग्रहणाय न क्रमते।
—'तर्क-ताण्डव,' पृ० ७।

निष्क्रिय बना रहता है और मनस् अपने आसक्ति आदि भावावेगों से प्रभावित होने के कारण कु-प्रत्यक्ष कर बैठता है, तथा फलतः भ्रामक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। अपने ज्ञान की प्रामाणिकता को ग्रहण करने की 'साक्षी' द्वारा प्रक्रिया तभी सम्भव होती है जबकि कोई ऐसा प्रतिरोध न हो जिसके कारण 'मनस्' के भ्रामक प्रत्यक्षों के द्वारा उसकी प्रक्रिया में हस्तक्षेप हो। अतः यद्यपि भ्रम एवं संशय उत्पन्न हो सकते हैं, तथापि यह असम्भव है कि ज्ञान का अनुभव करते समय साक्षी उसी काल में अपने दोष-रहित समस्त प्रकृत व्यापारों में उसकी प्रामाणिकता का भी प्रत्यक्ष न करे, अन्यथा किसी अवस्था में कोई निश्चितता सम्भव नहीं होगी। इसलिये जहाँ कहीं भी विक्षोभ-जनक प्रभाव हो वह 'साक्षी' की 'सहज शक्ति' को प्रभावित करता है, और उस अवस्था में मनस् द्वारा संशय एवं मिथ्या प्रत्यक्षीकरण उत्पन्न किये जाते हैं। किन्तु जहाँ कहीं भी कोई विक्षेप-जनक प्रभाव सक्रिय नहीं होते हैं, वहाँ 'साक्षी' ज्ञान एवं उसकी प्रामाणिकता को भी ग्रहण कर लेता है।[1]

मीमांसा और वेदान्त में ज्ञान के स्वतः-प्रामाण्य की समस्या का संक्षिप्त विवेचन पहले ही से इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में किया जा चुका है।[2] जिस विधि से हम में, किसी ज्ञान की प्रामाणिकता का प्रत्यय उदय होता है अथवा हमारे द्वारा ज्ञात किया जाता है (स्वतः-प्रामाण्य-ज्ञप्ति) और हम अपनी चेतना की प्रामाणिकता के प्रति जागरूक होते हैं तथा जिस विधि से उक्त प्रामाणिकता वस्तुगत आधार के स्वरूप के कारण स्वतः उत्पन्न होती है (स्वतः प्रामाण्योत्पत्ति), उनमें विभेदीकरण किया गया है। पूर्वोक्त का सम्बन्ध इस आत्मगत एवं स्वतः स्फूर्त अन्तः-प्राज्ञ विश्वास से है कि हमारे प्रत्यक्ष अथवा अनुमान सत्य हैं, पश्चादुक्त का सम्बन्ध उस सिद्धान्त से है जा वस्तुनिष्ठ ढंग से इस मत का समर्थन करता है कि जिन अवस्थाओं ने ज्ञान को उत्पन्न किया है वे उसकी उत्पत्ति के द्वारा ही उसकी सत्यता को प्रमाणित करती है। 'स्वतः-प्रामाण्य' में 'प्रामाण्य' शब्द का प्रयोग 'प्रमात्व' अथवा सत्य के नैश्चित्य के अर्थ में किया गया है।

ज्ञान-मीमांसा सम्बन्धी स्थिति में भेद के अनुसार हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता के आत्मगत संप्रत्यक्ष का स्वरूप भी भिन्न होता है। इस प्रकार प्रभाकर के अनुयायी

इस पर टीका करते हुए राघवेन्द्रयति लिखते हैं: 'प्रमाणस्य सहज-शक्ति-विषयत्वं प्रतिबन्धस्थले योग्यता अस्ति।

[1] मनसा क्वचिदप्रमायामपि प्रामाण्य ग्रहेण सर्वत्र तेनैव प्रामाण्य-ग्रहणे अस्वरस-प्रसंगेन प्रमारूपेषु गृहीत-तत्-तत्-प्रामाण्ये अस्वरस्य नियमेन यथार्थस्य प्रामाण्य-ग्राहकस्य साक्षिणो अवश्यमपेक्षितत्वात्। —'भाव-विलासिनी' पृ० ५०।
('युक्ति मल्लिका' पर सुरोत्तमतीर्थ द्वारा रचित)।

[2] भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग १, पृ० २६८ टि० ३७२–५, ४८४।

निष्क्रिय बना रहता है और मनस् अपने आसक्ति आदि भावावेगों से प्रभावित होने के कारण कु-प्रत्यक्ष कर बैठता है, तथा फलतः भ्रामक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। अपने ज्ञान की प्रामाणिकता को ग्रहण करने की 'साक्षी' द्वारा प्रक्रिया तभी सम्भव होती है जबकि कोई ऐसा प्रतिरोध न हो जिसके कारण 'मनस्' के भ्रामक प्रत्यक्षों के द्वारा उसकी प्रक्रिया में हस्तक्षेप हो। अतः यद्यपि भ्रम एवं संशय उत्पन्न हो सकते हैं, तथापि यह असम्भव है कि ज्ञान का अनुभव करते समय साक्षी उसी काल में अपने दोष-रहित समस्त प्रकृत व्यापारों में उसकी प्रामाणिकता का भी प्रत्यक्ष न करे, अन्यथा किसी अवस्था में कोई निश्चितता सम्भव नहीं होगी। इसलिये जहाँ कहीं भी विक्षोभ-जनक प्रभाव हो वह 'साक्षी' की 'सहज शक्ति' को प्रभावित करता है, और उस अवस्था में मनस् द्वारा संशय एवं मिथ्या प्रत्यक्षीकरण उत्पन्न किये जाते हैं। किन्तु जहाँ कहीं भी कोई विक्षेप-जनक प्रभाव सक्रिय नहीं होते हैं, वहाँ 'साक्षी' ज्ञान एवं उसकी प्रामाणिकता को भी ग्रहण कर लेता है।[1]

मीमांसा और वेदान्त में ज्ञान के स्वतः-प्रामाण्य की समस्या का संक्षिप्त विवेचन पहले ही से इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में किया जा चुका है।[2] जिस विधि से हम में, किसी ज्ञान की प्रामाणिकता का प्रत्यय उदय होता है अथवा हमारे द्वारा ज्ञात किया जाता है (स्वतः-प्रामाण्य-ज्ञप्ति) और हम अपनी चेतना की प्रामाणिकता के प्रति जागरूक होते हैं तथा जिस विधि से उक्त प्रामाणिकता वस्तुगत आधार के स्वरूप के कारण स्वतः उत्पन्न होती है (स्वतः प्रामाण्योत्पत्ति), उनमें विभेदीकरण किया गया है। पूर्वोक्त का सम्बन्ध इस आत्मगत एवं स्वतः स्फूर्त अन्तः-प्राज्ञ विश्वास से है कि हमारे प्रत्यक्ष अथवा अनुमान सत्य हैं, पश्चादुक्त का सम्बन्ध उस सिद्धान्त से है जा वस्तुनिष्ठ ढंग से इस मत का समर्थन करता है कि जिन अवस्थाओं ने ज्ञान को उत्पन्न किया है वे उसकी उत्पत्ति के द्वारा ही उसकी सत्यता को प्रमाणित करती है। 'स्वतः-प्रामाण्य' में 'प्रामाण्य' शब्द का प्रयोग 'प्रमात्व' अथवा सत्य के नैश्चित्य के अर्थ में किया गया है।

ज्ञान-मीमांसा सम्बन्धी स्थिति में भेद के अनुसार हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता के आत्मगत संप्रत्यक्ष का स्वरूप भी भिन्न होता है। इस प्रकार प्रभाकर के अनुयायी

इस पर टीका करते हुए राघवेन्द्रयति लिखते हैं : 'प्रमाणस्य सहज-शक्ति-विषयत्वं प्रतिबन्धस्थले योग्यता अस्ति।

[1] मनसा क्वचिदप्रमायामपि प्रामाण्य ग्रहेण सर्वत्र तेनैव प्रामाण्य-ग्रहणे अस्वरस-प्रसंगेन प्रमास्वेपु गृहीत-तत्-तत्-प्रामाण्ये अस्वरस्य नियमेन यथार्थस्य प्रामाण्य-ग्राहकस्य साक्षिणो अवश्यमपेक्षितत्वात्। —'भाव-विलासिनी' पृ० ५०।
('युक्ति मल्लिका' पर सुरोत्तमतीर्थ द्वारा रचित)।

[2] भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग १, पृ० २६८ टि० ३७२–५, ४८४।

द्वारा प्रस्तावित 'स्वतः-प्रामाण्य' की परिभाषा गंगेश द्वारा अपनी 'तत्व-चिन्तामणि' में दी गई दूसरी वैकल्पिक परिभाषा से सहमत है : वह ज्ञान को उत्पन्न करने वाली सामग्री को स्वीकार करने की आवश्यकता का परित्याग करती है, उसके अनुसार ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता उसका वह लक्षण है जो किसी ऐसे ज्ञान के द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता है जिसका विषय वह सामग्री हो जिसकी प्रामाणिकता ग्रहण की जाती है, अर्थात्, वही ज्ञान जो किसी विषय को ग्रहण करता है उसी क्रिया के द्वारा, किसी अन्य व्यवहित प्रक्रिया में प्रविष्ट हुए बिना, उसकी प्रामाणिकता को भी ग्रहण कर लेता है।[1] हम देखेंगे कि यह मत 'स्वतः-प्रामाण्य' सम्बन्धी भाट्ट एवं मिश्र मतों से भिन्न है, क्योंकि भाट्ट मत के अनुसार स्वतः-प्रामाण्य की उस ज्ञान के प्रति अभिपुष्टि की जाती है जो केवल अनुमित किया जा सकता है तथा एक-एक विशिष्ट ज्ञातता (यथा, 'मैं इस घट को ज्ञात करता हूँ') सहित अपरोक्ष रूप में ग्रहण न किया गया हो, और मिश्र मत में स्वतः-प्रामाण्य की अभिपुष्टि केवल ऐसे 'अनुव्यवसाय' के फलस्वरूप ही की जाती है, जो ज्ञातता का आत्मन् के साथ साहचर्य स्थापित करता है (यथा, 'मैं ज्ञात करता हूँ')।[2]

व्यासतीर्थ इस मत पर बल देते हैं कि दोषों एवं शंकाओं की अनुपस्थिति में (दोष-शंकादिना अनास्कन्दितः) किसी वस्तुगत तथ्य की आत्मगत अनुभूति अपनी प्रामाणिकता स्वयं लिये हुए होती है। वे निर्देश करते हैं कि यह कहना सही नहीं है कि विषय के वृहत्तर पृष्ठ से इन्द्रिय-सम्पर्क तज्जन्य ज्ञान की प्रामाणिकता का कारण माना जाना चाहिये, क्योंकि यह सुविदित है कि ऐसे इन्द्रिय-सम्पर्क के बावजूद भी यदि कु-निरीक्षण को उत्पन्न करने वाले 'दोष' वर्तमान हों तो त्रुटि हो सकती है। अतः यह मानना कहीं अधिक उपयुक्त है कि स्वयं 'ज्ञान-सामग्री' से ही ज्ञान की प्रामाणिकता उत्पन्न होती है। इन्द्रिय-सम्पर्क तभी लाभप्रद होता है जबकि ज्ञान की उत्पत्ति में शंकाएं तथा अन्य प्रतिरोध हों, किन्तु वह स्वयं ज्ञान की प्रामाणिकता को उत्पन्न नहीं करता।[3] दोषों का अभाव भी ज्ञान की प्रामाणिकता का कारण नहीं है, क्योंकि

---

[1] तज्-ज्ञान-विषयक-ज्ञानाजन्य-ज्ञान-विषयत्वमेव स्वतस्तम्।
—वही, पृ० १५ और 'तत्व-चिन्तामणि' पृ० १२२।

[2] व्यासतीर्थ द्वारा स्वीकृत 'स्वतः-प्रामाण्य' की उपर्युक्त परिभाषा 'तत्व-चिन्तामणि' में एक ऐसी परिभाषा के रूप में दी गई है जिसमें मीमांसा की तीनों शाखाओं के मतों में सामान्य सहमति है (मत-त्रय-साधारण), उसमें 'तद्-ज्ञान-विषयक' शब्द की 'ज्ञानानुबन्धिविषयताश्रय' के रूप में एक विशिष्ट व्याख्या का समावेश होता है। (देखिये—मथुरानाथ की टीका, पृ० १४४)।

[3] 'तर्क-ताण्डव' पृ० ८३—९०।

दोषों का अभाव तो केवल एक निषेधात्मक तत्व है जो निःसंदेह अनिवार्य है किन्तु किसी भी प्रकार से स्वतः-प्रामाण्य की उस सकारात्मक अनुभूति का निर्माणकारी तत्व नहीं है, जो ज्ञान की सामग्री से तत्काल एवं अपरोक्षतः उत्पन्न होती है।[1] दोषों की उपस्थिति में भी संयोग हो सकता है।[2] किन्तु सर्व भ्रामक ज्ञान दोषों की उपस्थिति के कारण उत्पन्न होता है, क्योंकि उस दशा में ज्ञान का विषय हमारे समक्ष विद्यमान नहीं होता, तथा उससे वास्तविक इन्द्रिय-सम्पर्क नहीं होता। अतः मध्व के अनुयायी 'परतः-अप्रामाण्य' के सिद्धान्त को मानते हैं, जिसका उनके मतानुसार यह अर्थ है कि अप्रामाणिक ज्ञान के समस्त उदाहरण ज्ञान की सामग्री से भिन्न अन्य कारणों (अर्थात् 'दोषों') से उत्पन्न होते हैं।[3] इस प्रसंग में वादिराज अपनी 'युक्ति-मल्लिका' में यह निर्देश करते हैं कि दोषाभाव ज्ञान की सामग्री का विशेषक लक्षण होने के कारण स्वयं में प्रामाणिक ज्ञान (प्रमा) का एक स्वतंत्र कारण नहीं माना जा सकता। सामान्य अवस्थाओं में किये गये प्रत्यक्षीकरण के अधिकांश उदाहरणों में हमें सत्य ज्ञान प्राप्त होता है, तथा केवल विशेष परिस्थितियों में ही संशय होता है और संवीक्षण की आवश्यकता प्रतीत होती है। यदि ज्ञान के प्रत्येक चरण में उसकी प्रामाणिकता के संबंध में शंका होती, तो 'अनवस्था' दोष उत्पन्न हो जाता, अतएव हम किसी ज्ञान की प्रामाणिकता एवं निश्चितता की कदापि अनुभूति नहीं कर पाते।[4] व्यासतीर्थ न्याय के सदृश मत में पाये जाने वाले अनवस्था दोष पर भी बल देते हैं, जहाँ ज्ञान की प्रामाणिकता अनुवर्त्ती बाह्य परीक्षणों द्वारा निश्चित की जाती है (परतस्त्वानुमान) वे निर्देश करते हैं कि हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय हमें कार्य में प्रवृत्त करता है (प्रामाण्य-निश्चयस्य प्रवर्तकत्वम्)।[5] पर, यदि प्रत्येक ज्ञान की प्रामाणिकता का अन्य ज्ञान के द्वारा परीक्षण करना पड़े तो स्वभावतः अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है।[6] किन्तु 'साक्षी' अपनी अवस्थाओं, अपने सुख-दुःख को साक्षात् एवं तत्काल ज्ञात करता है, तथा ज्ञान के ऐसे संदेहरहित स्वतः-प्रामाण्य उदाहरणों में संशय की कोई सम्भावना नहीं रहती।

---

[1] दोषाभावस्यापेक्षितत्वेऽपि प्रमा-जनन-शक्तिः सहाया। —वही पृ० ८८।

[2] उक्तं हि विष्णु-तत्व-निर्णय-टीकायां दोषाभावोऽपि न प्रामाण्यकारणम्, यादृच्छिक-संवादादिषु सत्यऽपि दोषे प्रमा-ज्ञानोदयात्। —वही, पृ० ८९।

[3] वही, पृ० ९८। 'विष्णु-तत्व-निर्णय' भी, पृ० २।

[4] 'युक्ति-मल्लिका,' श्लोक० ३४३–७०, तथा उस पर रचित सुरोत्तमतीर्थ की 'भाव-विलासिनी'।

[5] 'तर्क-ताण्डव,' पृ० ४१–६।

[6] वही, पृ० ४६–५०।

भ्रान्ति और संशय

ज्ञान के स्वतः-प्रामाण्य का उपरोक्त विवेचन हममें स्वभावतः मध्व के भ्रम-सिद्धान्त तथा भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत अन्य भ्रम सिद्धान्तों को खंडित करने की उसकी विधि के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न करता है। मध्व-दर्शन में किसी विषय के अन्यथा-ज्ञान को भ्रम कहा जाता है (अन्यथा-विज्ञानम् एव भ्रान्ति), और भ्रम का 'बाद्य' 'सम्यग्-ज्ञान' के उदय के द्वारा भ्रामक आकार के मिथ्यात्व को ज्ञात करने में निहित होता है। इसका तात्पर्य यह है कि भ्रम वह ज्ञान है जिसमें एक वस्तु अन्य वस्तु के रूप में भासित होती है, जो असत् है वह सत् के रूप में भासित होता है, तथा जो सत् है वह असत् के रूप में भासित होता है।[1] भ्रम दोषों से प्रभावित इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। दोष केवल विरोध ही उत्पन्न नहीं करते, वे विषय का एक गलत प्रदर्शन भी उत्पन्न कर सकते हैं, अतः वे न केवल अनिरीक्षण के लिए बल्कि कुनिरीक्षण के लिए भी उत्तरदायी होते हैं। अब बात यह है कि ज्ञान का विषय केवल वही हो सकता है जो किसी प्रकार उसकी उत्पत्ति को प्रभावित कर सके, शुक्ति के सम्बन्ध में रजत के एक भ्रामक ज्ञान में रजत असत् होने के कारण ज्ञान की उत्पत्ति में कोई भाग नहीं ले सकती, अतएव वह ज्ञान का विषय नहीं बन सकती। इसके उत्तर में जयतीर्थ कहते हैं कि एक असत् वस्तु भी ज्ञान का विषय बन सकती है। हम सभी अतीत की घटनाओं को अनुमित करते हैं तथा वस्तुओं का उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में उल्लेख करते हैं जिनका अस्तित्व दीर्घकाल से समाप्त हो चुका है। ऐसे उदाहरणों में यह कहा जा सकता है कि असत् वस्तुओं ने ज्ञान को उत्पन्न नहीं किया है किन्तु उसको निर्धारित (निरूपक) किया है।[2] यह माना जा सकता है कि ऐसे निर्धारण के लिये उस वस्तु के तात्कालिक अस्तित्व को पूर्वगृहीत नहीं किया जाता, क्योंकि उसको ऐसे प्रत्यय, संकल्पना, अथवा ज्ञान तक सीमित समझा जा सकता है जिसके अनुरूप किसी वस्तुगत सत्ता की उपस्थिति अथवा अस्तित्व के प्रति कोई उल्लेख नहीं होता। यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि एक विषय के दृष्टि-प्रत्यक्ष की अवस्था में यह निश्चित है कि वह विषय द्वारा इन्द्रिय-सम्पर्क के माध्यम से उत्पन्न किया जाता है, परन्तु शुक्ति में रजत के भ्रम की अवस्था में रजत वस्तुतः अनुपस्थित होती है, अतएव उसका कोई इन्द्रिय-सम्पर्क नहीं हो सकता, और फलतः उसका कोई दृष्टि-प्रत्यक्ष सम्भव नहीं हो सकता। इस आपत्ति का यह उत्तर दिया गया है कि दुष्ट दृश्येन्द्रिय ही शुक्ति के सन्निकर्ष होने के कारण एक ऐसे संज्ञान को उत्पन्न करती

---

[1] 'न्याय-सुधा,' पृ० ४६।

[2] वही पृ० सं० ४८।

है जो उसे सर्वथा असत् रजत के रूप में प्रदर्शित करता है।[1] जयतीर्थ कहते हैं कि यह युक्ति देना समीचीन नहीं है कि यदि एक विषय के बिना ज्ञान हो सकता है, तो कोई भी ज्ञान विश्वसनीय नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्यतः ज्ञान स्वतः-प्रामाण्य होता है (औत्सर्गिक ज्ञानानां प्रामाण्यम्)। आत्मचेतन कर्त्ता (साक्षी) किसी अन्य प्रक्रिया अथवा कर्त्ता की मध्यस्थता के बिना प्रत्यक्षीकरण करता है और स्वयं के प्रति मानसिक अवस्थाओं की प्रामाणिकता को प्रमाणित करता है। यह अपरोक्ष नैश्चित्य अथवा 'सत्य विश्वास' जिसकी हम चेतन प्रत्यक्षकर्त्ताओं के नाते उन सभी अवस्थाओं में अनुभूति करते हैं जिनमें उत्पन्न ज्ञान कुनिरीक्षण अथवा अनिरीक्षण को जन्म देने वाले दोषों से अप्रभावित रहता है, ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता समझा जाता है।[2] एक भ्रामक प्रत्यक्ष की अवस्था में (यथा, रजत के रूप में शुक्ति) एक वस्तु का अन्य वस्तु के रूप में आभास होता है, तथा उसका ऐसा होना अपरोक्ष रूप में प्रत्यक्ष अथवा अनुभूत (अनुभव) किया जाता है, यदि शुक्ति को रजत के रूप में प्रत्यक्ष नहीं किया जाता तो रजत को ढूंढने वाला मनुष्य शुक्ति को उठाने के लिये क्यों झुकता ? रजत का भ्रामक प्रत्यक्ष आभास में रजत के यथार्थ प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं होता।

शुक्ति-रजत के भ्रम के सम्बन्ध में मीमांसा-मत जिसके अनुसार वह रजत एवं स्मृति की शुक्ति के प्रत्यक्ष तथा उनमें विभेद करने की असमर्थता से निर्मित होता है— के विरोध में तर्क देते हुए जयतीर्थ कहते हैं कि ऐसे उदाहरणों में रजत के आभास में स्मृति के कोई लक्षण नहीं होते, तथा इस मिथ्या विश्वास से उत्पन्न क्रिया की व्याख्या केवल एक स्मृति-प्रतिमा एवं एक दृश्य प्रत्यक्ष के भेद के अविवेक के द्वारा ही नहीं की जा सकती। दो वस्तुओं में अविवेक को समाविष्ट करने वाला एक कोरा निषेध किसी व्यक्ति को किसी निश्चित वरण की प्रेरणा नहीं दे सकता। इसके अतिरिक्त, यदि कोई व्यक्ति स्मृति-प्रतिमा के यथा-तथ्य रूप एवं प्रत्यक्ष के यथा-तथ्य रूप के प्रति चेतन है, तो यह कैसे हो सकता है कि उनका विभेद ज्ञात न हो ?

शंकर सम्प्रदाय के द्वारा दी गई भ्रम की व्याख्या के विरोध में जयतीर्थ आग्रह करते हैं कि यह मत भी सही नहीं है कि शुक्ति-रजत 'अनिर्वचनीय' है, क्योंकि इस अनिर्वचनीय स्वरूप का अर्थ यह होगा कि वह न सत् है, न असत् है और न सदसद् है। इनमें से प्रथम एवं अन्तिम विकल्पों को तो मध्व-मत के अनुसार भी स्वीकार किया जाता है। द्वितीय मत सही नहीं हो सकता, क्योंकि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि असत् रजत का हमारे समक्ष उपस्थित होने का आभास हुआ था। यह

---

[1] शुक्तिका-सन्निकृष्टं दुष्टमिन्द्रियं तमेव अत्यन्तासद्रजतामेन अवग्राहमानम् ज्ञानं जनयति। —न्याय-सुधा, पृ० ४८।

[2] वही, पृ० ४८।

उत्तर दिया जा सकता है कि उक्त आभास दोषों की उपस्थिति के कारण हुआ था, क्योंकि जो असत् था वह ज्ञान का विषय नहीं बन सकता था, तथा जैसाकि शंकर के अनुयायी जानते हैं कि 'अधिष्ठान' 'इदं' का ज्ञान एक सत्य अन्तःकरण-वृत्ति है, तो फिर कोई दोष कैसे हस्तक्षेप कर सकता है ?[1] यदि वह अनिर्वचनीय है तो फिर शुक्ति-रजत प्रत्यक्षीकरण के समय सत् और उसके पश्चात् असत् क्यों भासित होता है, तथा वह किसी भी काल में अनिर्वचनीय भासित क्यों नहीं होती ? इसके अतिरिक्त शंकरवादी के लिये यह व्याख्या करनी दुष्कर होगी कि असत् क्या है।

वादिराज अपनी 'युक्ति-मल्लिका' में निर्देश करते हैं कि साधारण प्रत्यक्षीकरण में आँख अपने सम्मुख एक सत्ता, 'इदं' के सम्पर्क में आती है, जिसे 'विशेष्य' माना जा सकता है, तथा 'विशेष्य' अथवा सत्ता के ग्रहण द्वारा 'घट' के रूप में उसका लक्षण भी ग्रहण कर लिया जाता है, क्योंकि एक का दूसरे के साथ तादात्म्य का सम्बन्ध होता है। किन्तु भ्रामक प्रत्यक्ष में 'रजत' का लक्षण विशेष्य 'इदं' से सम्बंधित नहीं होता, अतएव 'इदं' अथवा शुक्ति, से इन्द्रिय सम्पर्क के द्वारा रजत ज्ञात नहीं की जा सकती, अतएव उक्त भ्रामक ज्ञान की व्याख्या नही मानकर की जा सकती है कि वह दोषों की उपस्थिति के कारण उत्पन्न होता है। इसलिए यथार्थ ज्ञान एवं भ्रामक ज्ञान की अवस्था में 'ज्ञान-सामग्री' भिन्न-भिन्न होती है, पूर्वोक्त अवस्था में तो सामान्य ज्ञान-सामग्री होती है, जबकि पश्चादुक्त अवस्था में एक वाह्य प्रभाव, अर्थात् 'दोष' का प्रभाव होता है। 'दोष' का अभाव किसी ज्ञान-सामग्री का नैसर्गिक लक्षण होने के कारण सम्यग्ज्ञान का एक वाह्य कारण नहीं माना जा सकता।[2]

यह बताना आवश्यक है कि सम्यग्ज्ञान का दो अन्य प्रकार के ज्ञान, अर्थात्, भ्रामक ज्ञान (विपर्यय) एवं 'संशय' से इस तथ्य के कारण विभेद होता है कि केवल वही निश्चित एवं निष्कम्प कार्य को प्रवृत्त करने की योग्यता रखता है।[3] कुछ विद्वानों का कथन है कि संशय पांच प्रकार का माना जा सकता है।[4] प्रथम तो वस्तुओं के

---

[1] मायावादि मते अधिष्ठान-ज्ञानस्य अन्तःकरण वृत्तित्वेन् सत्यत्वान् न दोष-जन्यत्वम्।

—वही, पृ० ५५।

[2] युक्ति-मल्लिका, गुण-सौरभ, श्लोक ४६०—५००।

[3] अवधारणत्वं च निष्कम्प-प्रवृत्ति-जनन-योग्यत्वम्।
जनार्दन की 'जयतीर्थ-विजय'

—प्रमाण-पद्धति पर एक टीका, पृ० १०।

[4] 'न्याय-सूत्र' १. १. २३ की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन यह विचार प्रकट करते हैं कि संशय पांच प्रकार का होता है—अर्थात्, 'समान-धर्म,' 'अनेक धर्म,' 'विप्रतिपत्ति'

समान लक्षणों के निरीक्षण के कारण होता है, जैसे, कुछ दूरी पर एक मनुष्य जितना ऊंचा पदार्थ देखकर कोई व्यक्ति एक वृक्ष के ठूंठ और एक मनुष्य दोनों को स्मरण करने में प्रवृत्त हो सकता है, तथा प्रत्येक के असाधारण धर्मों, अर्थात् वृक्ष के छेदों, रूक्ष व कठोर पृष्ठ आदि और मनुष्य के सिर, हाथों और पैरों की गति का विभेदीकरण करने में असमर्थ होने के कारण वह स्वभावतः संशय कर सकता है कि 'क्या वह एक वृक्ष का ठूंठ है अथवा एक मनुष्य है ?' दूसरे, एक व्यक्ति यह देखकर कि 'आकाश' का विशेष लक्षण (असाधारण धर्म) शब्द है, यह संशय कर सकता है कि क्या शब्द, शब्द के रूप में नित्य है। तीसरे, यह देखकर कि सांख्य और वैशेषिक मतों के अनुयायी इन्द्रियों के 'भौतिकत्व' के सम्बन्ध में परस्पर विरोध (विप्रतिपत्ति) करते हैं, यह संशय हो सकता है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं अथवा नहीं। चौथे, जब एक कुएं को खोदने के पश्चात् हमें जल प्राप्त होता है (उपलब्धि) तब यह संशय हो सकता है कि क्या वहाँ जल पहले से था तथा खोदने की प्रक्रिया से केवल प्रकट हुआ, अथवा क्या वह अस्तित्व में नहीं था किन्तु खोदने की प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ। पांचवें, ऐसी एक जनश्रुति हो सकती है कि अमुक वृक्ष में एक प्रेत का निवास है, पर जब हम वहाँ जाते हैं और उसे नहीं देखते (अनुपलब्धि) तब यह संशय हो सकता है कि क्या प्रेत वस्तुतः वहाँ था किन्तु स्वयं को अदृश्य बना लेने की अपनी शक्ति के कारण वह देखा नहीं गया, अथवा क्या वह उस वृक्ष में कोई अस्तित्व ही नहीं रखता था। परन्तु अन्य

'उपलब्धि' और 'अनुपलब्धि' के द्वारा उत्पन्न संशय, जिनमें से प्रथम दो तो समान एवं असमान लक्षणों की वस्तुनिष्ठ घटनाएं हैं तथा अन्तिम दो ज्ञान की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति की आत्मनिष्ठ अवस्थाएं हैं। उनके द्वारा दिए गए उदाहरण वे ही हैं जो नीचे दिए गए हैं। किन्तु उद्योतकर उपरोक्त 'सूत्र' की व्याख्या केवल प्रथम तीन प्रकार के संशयों अर्थात् 'समानधर्मोपपत्ति' 'अनेकधर्मोपपत्ति' व 'विप्रतिपत्ति' के उल्लेख के रूप में करते हैं ('न्याय-वार्तिक' पृ० ८७,९६-९)। कणाद अपने 'वैशेषिक-सूत्र' (२. २. १७, १८, १९, २०) में संशय के दो प्रकार के होने का कथन करते हैं, आन्तरिक (यथा, जब कोई यह संदेह करता है कि ज्योतिषि की वे भविष्यवाणियाँ जो कुछ उदाहरणों में सत्य पाई गई थी और अन्य उदाहरणों में असत्य पाई गई थी, एक विशेष उदाहरण में सत्य होने की सम्भावना रखती है अथवा नहीं) और बाह्य (यथा, जब कोई यह संदेह करता है कि उसके सम्मुख स्थिति ठूंठ एक वृक्ष है अथवा एक मनुष्य है)। बाह्य संशय पुनः दो प्रकार का होता है, (१) जब विषय सम्पूर्णता में देखा जाता है, तथा (२) जब उसका केवल एक भाग ही देखा जाता है।

—'न्याय-कन्दली, पृ० १७५–६।

विद्वान चौथे और पांचवें, 'उपलब्धि' और 'अनुपलब्धि' सम्बंधी प्रकारों को प्रथम प्रकार, अर्थात् समान धर्म (साधारण धर्म) के प्रत्यक्षीकरण में समाविष्ट करते हैं तथा इस प्रकार केवल तीन प्रकार के संशय को ही मानते हैं।[1] किन्तु जयतीर्थ का विचार है कि 'असाधारण धर्म' एवं 'विप्रतिपत्ति' सम्बंधी, अन्य दो प्रकारों का भी प्रथम प्रकार में समावेश किया जा सकता है, क्योंकि एक असाधारण धर्म स्वयं दो वस्तुओं के स्मरण को प्रेरित नहीं कर सकता जिससे संशय उत्पन्न होता है। यह जानना कि शब्द आकाश का असाधारण धर्म है, कोई ऐसे दो पदार्थों का स्मरण करना नहीं है जिनके मध्य संशय हो, तथा संशय के पूर्व दो पदार्थों का स्मरण होना आवश्यक है। साधारण धर्म भावात्मक अथवा अभावात्मक हो सकते हैं। इस प्रकार 'आकाश' में एक तो ऐसे गुणों की श्रेणी होती है जो अनित्य वस्तुओ में नहीं पाये जाते (नित्य-व्यावृत्वत्त-विशिष्टम् आकाश-गुणत्वम् और अनित्य व्यावृत्तत्व-विशिष्टम् आकाश गुणत्वम्)। यह संशय हो सकता है कि क्या शब्द, जो आकाश का एक असाधारण धर्म है, 'आकाश' के उन गुणों में से है जो 'आकाश' एवं नित्य वस्तुओं में समान हैं, अथवा 'आकाश' अनित्य वस्तुओं में समान हैं। अतः यह संशय भी प्रथम प्रकार के संशयों, अर्थात् 'साधारण धर्म' के प्रत्यक्षीकरण से सम्बंधित संशयों के अन्तर्गत आना चाहिये। मध्व के अनुयायी अपने 'विशेप' के सिद्धान्त के कारण एक ही वस्तु में दो विरोधी गुणों की श्रेणियों के अस्तित्व पर सहमत हो सकते हैं। इसलिये परस्पर विरोधी मतों अथवा विप्रतिपत्तियों की स्थिति में भी संशय भौतिक एवं अभौतिक पदार्थों में साधारण धर्मों के प्रत्यक्षीकरण के द्वारा उत्पन्न माना जा सकता है, अतएव एक व्यक्ति यह संशय कर सकता है कि इन्द्रियाँ कुछ गुणों में भौतिक पदार्थो के समान होने के कारण भौतिक हैं अथवा अन्य गुणों में अभौतिक पदार्थों के समान होने के कारण अभौतिक हैं। इसलिए मध्व-दर्शन के अनुसार संशय केवल एक प्रकार का ही होता है। जयतीर्थ कहते हैं कि वैशेपिक मत के अनुयायियों के विचार में सशय और भ्रम (विपर्यय) के अतिरिक्त दो प्रकार का मिथ्या ज्ञान होता है, अर्थात् अनिश्चितता (अनध्यवसाय) और स्वप्न। अनध्यवसाय संशय से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि वह दो वस्तुओं के मध्य में दोलन नहीं होता, बल्कि अनन्त सम्भावनाओं के मध्य में होता है; यथा, यह वृक्ष कौनसा है? जयतीर्थ कहते हैं कि उदाहरणों में अनध्यवसाय को ज्ञान कहा ही नहीं जा सकता, वह तो जिज्ञासा-मात्र है, (संज्ञा-विपयं जिज्ञासा-मात्रं)। इस प्रकार, यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि यह वृक्ष मुझे ज्ञात अन्य वृक्षों से भिन्न है, तथापि मैं उसका नाम नहीं जानता और उसके संबध में जिज्ञासा करता हूं। अधिकांश स्वप्न अवचेतन स्मृति-संस्कारों के कारण उत्पन्न होते

---

[1] जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है, यह 'न्याय-सूत्र' १–१–२३ पर उद्योतकर का मत है।

हैं, अतः जहाँ तक उन संस्कारों का संबंध है वे मिथ्या नहीं हैं। त्रुटि हमारी इस संकल्पना में निहित है कि कोरी स्मृति-प्रतिमाएं उस समय वास्तविक वस्तुगत अस्तित्व रखती हैं, अतएव यह अंश भ्रम (विपर्यय) समझा जाना चाहिये। 'सम्भावना' (जिसे 'ऊहा' भी कहते हैं) को भी एक प्रकार का भ्रम ही मानना चाहिये जिसमें कई वस्तुओं में से एक की सम्भावना अधिक होती है (यथा, यह बहुत सम्भव है कि वह वही मनुष्य है जो मकान के बाहर खड़ा था')।[१]

उपरोक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ संशय को दोलन की एक मानसिक वृत्ति माना जाता है, दार्शनिक जिज्ञासा एवं अनुसंधान में उसके महत्व, संशयवाद और समालोचना से उसके सम्बन्ध की पूर्णतः उपेक्षा की जाती है। वात्स्यायन, उद्योतकर और कणाद के वर्गीकरण यहाँ कोई महत्व नहीं रखते। अतएव संशय को उसी रूप में मानना अधिक उपयुक्त है जिस रूप में जयतीर्थ ने माना है।

'भेद' की प्रतिरक्षा[२]

ईश्वर एवं जीव का भेद हमारी ओर से हम प्रत्यक्ष करते हैं तथा ईश्वर की ओर से वह प्रत्यक्ष करता है। हमें ज्ञात है कि हम उससे भिन्न हैं तथा वह जानता है कि वह हमसे भिन्न है, क्योंकि यद्यपि हम ईश्वर का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकते हैं तथापि हम उसके सम्बन्ध में हमारे भेद को प्रत्यक्ष कर सकते हैं, भेद को प्रत्यक्ष करने का यह अर्थ अनिवार्यतः नहीं होता कि जिससे भेद प्रत्यक्ष किया जाता है उसका भी प्रत्यक्ष होना चाहिये, इस प्रकार, एक व्यक्ति एक पिशाच का प्रत्यक्ष किए बिना भी यह कह सकता है कि वह जानता है कि एक स्तम्भ एक पिशाच नहीं होता।[3]

पुनः, ब्रह्मन् से जीवों के भेद को अनुमान द्वारा इस आधार पर भी प्रमाणित किया जा सकता है कि जीव दुःख व पीड़ा के विषय होते हैं, जो ब्रह्मन् नहीं है।[४]

---

[१] 'प्रमाण-पद्धति,' पृ० १०–१३, और उस पर लिखी गई 'जयतीर्थ-विजय' भी।

[२] इस परिच्छेद की सामग्री व्यासतीर्थ के 'भेदोज्जीवन' तथा श्रीनिवास की 'व्याख्या-शर्करा' से ली गई है।

[3] सप्रतियोगिक-पदार्थ-प्रत्यक्षे न प्रतियोगि प्रत्यक्षं तन्त्रम्······स्तम्भः पिशाचो न इत्यादौ व्यभिचारात्।

—'भेदोज्जीवन,' पृ० १३।

[४] जीवो ब्रह्म-प्रतियोगिक-धर्मि-सत्ता-समान-सत्ताक-भेदाधिकरणं ब्रह्मण्यनुसंहित-दुःखानुसंधातृत्वाद् व्यतिरेकेण ब्रह्मवत्।

—वही, पृ० १५।

और चूंकि ब्रह्मन् और जीव स्थायी नित्य सत्ताएं हैं इसलिये उनका परस्पर भेद भी नित्य एवं यथार्थ है। यह तर्क दिया जा सकता है कि दुःख की पीड़ा सोपाधिक आत्मन् को होती है न कि शुद्ध चैतन्य को; यह शुद्ध चैतन्य 'जीव' है, और चूंकि पीड़ा केवल जब तक होती है तब तक कि उपाधि रहती है; इसलिये उपाधि के तिरोहित होने पर भेद भी अंततोगत्वा तिरोहित हो जाता है, अतएव वह यथार्थ नहीं हो सकता। परन्तु मध्वों द्वारा स्वरूप में सीमित इन जीवों को मिथ्या नहीं माना जाता, अतएव उनके स्वरूप पर अवलम्बित भेद भी मिथ्या नहीं है। जीवों और ईश्वर के स्वरूप में एक नित्य एवं यथार्थ भेद होने के कारण, अर्थात् यह कि पूर्वोक्त दुःख को भोगते हैं पर पश्चादुक्त नहीं भोगता, दोनों में कदापि अभेद नहीं हो सकता। जीव केवल 'जीवत्व' के जाति-प्रत्यय के उदाहरण मात्र हैं, जो पुनः द्रव्य का एक उप-प्रत्यय है, और द्रव्य सत्ता का उप-प्रत्यय है। यदि जीवों में रंग आदि द्रव्य के गुण नहीं होते तथापि उनमें कम से कम एक, दो, तीन आदि के संख्यात्मक गुण होते हैं। यदि यह एक बार स्थापित हो जाता है तो उससे इस मत का शंकर के मत से विभेद हो जायगा जिसके अनुसार जीव स्वयं-प्रकाश चैतन्य है और जो भेद-रहित अद्वैतवाद को जन्म देता है। जीव को एक जाति-प्रत्यय के रूप में मानने का अर्थ यह होगा कि विभिन्न जीव जाति-प्रत्यय के उदाहरण होने के नाते परस्पर समान भी हैं और भिन्न भी हैं (क्योंकि प्रत्येक जीव अन्य सर्व जीवों एवं ईश्वर से संख्या की दृष्टि से भिन्न पृथक् व्यक्ति है। शंकर-सम्प्रदाय के अनुयायियों की मान्यता है कि जीवों में कोई अन्तर भेद नहीं होता, तथा आभासी भेद 'अंतःकरण' नामक तात्कालिक प्रभाव डालने वाली सत्ता के कारण उत्पन्न होता है, जो जीवों में प्रतिविम्बित होता है तथा जीवों के स्वरूप में आभासी भेद उत्पन्न करता है, यद्यपि यथार्थ में ऐसा कोई भेद नहीं होता, किन्तु व्यासतीर्थ आग्रह करते हैं कि सत्य दूसरे पक्ष में निहित है, तथा जीवों के भेद ही यथार्थ में उनसे सम्बंधित अंतःकरणों एवं शरीरों में विभेद करते हैं। उपनिषद् भी इस मत के पक्ष में हैं कि ईश्वर जीवों से भिन्न है, तथा व्यासतीर्थ यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि उपनिषद-पाठों के अद्वैतवादी आशय को सिद्ध करने का प्रयत्न असफल सिद्ध किया जा सकता है।[1]

किन्तु भेद की यह प्रतिरक्षा चित्सुख द्वारा अपनी 'तत्व-प्रदीपिका एवं नृसिंहाश्रम मुनि द्वारा अपने 'भेद-धिक्कार' में, अन्य विद्वानों द्वारा किये गये भेद के खंडन की तुलना में निर्बल प्रतीत होती है। चित्सुख भेद के प्रत्यय एवं उसको संकल्पित करने की समस्त विभिन्न सम्भव विधियों में सीधे प्रवेश करते हैं; वस्तुओं के 'स्वरूप' के रूप में भेद, 'अन्योन्याभाव' के रूप में भेद (यथा, घट पट नहीं है, पट एक घट नहीं

---

[1] वे 'द्वा सुपर्णा' आदि उपनिषद् पाठ का उल्लेख करते हैं।

है), 'पृथक्त्व' के रूप में भेद 'वैधर्म्य' में रूप में भेद और विभिन्न लक्षणों के विविध पदार्थों में अभिव्यक्त भेद (भिन्न लक्षण-योगित्व-भेद), किन्तु व्यासतीर्थ उन युक्तियों का समीचीन उत्तर देने का कोई प्रयत्न नहीं करते। इन लेखकों द्वारा भेद के प्रत्यय का जो खंडन किया जाता है उसका उदाहरण प्रस्तुत कृति के प्रथम भाग में पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है।[1]

---

[1] भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग १, पृ० ४६२।

अध्याय २८

मध्व का तर्कशास्त्र

प्रत्यक्ष

विषयों से यथार्थ अनुरूपता के रूप में प्रमाण की परिभाषा पहले दी जा चुकी है, तथा यह भी बता दिया गया है कि वह दो वर्गों में विभाजित किया जाता है; 'केवल प्रमाण' और 'अनुप्रमाण'। 'केवल-प्रमाण' वह है जिससे ज्ञान के विषयों का अपरोक्ष एवं तत्काल ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वस्तुतः वह अंतःप्रज्ञात्मक प्रक्रिया एवं अंतर्ज्ञान दोनों होता है। मध्व-सम्प्रदाय में ऐसे चार प्रकार के अन्तर्ज्ञान, योगी-जनों का अन्तर्ज्ञान, साधारण व्यक्तियों (अयोगी-जनों) का अन्तर्ज्ञान।[1] ईश्वर का अंतर्ज्ञान सदा सही, स्वतन्त्र, अनादि एवं नित्य, पूर्णतः स्पष्ट और सर्वार्थ-विषयक (सर्वार्थ-विषयकम्) होता है। लक्ष्मी का अन्तर्ज्ञान ईश्वर पर निर्भर होता है और उसके ज्ञान से स्पष्टता में निम्न कोटी होता है, वह समान रूप से अनादि, नित्य, सही होता है, और स्वयं ईश्वर के सम्पूर्ण विस्तार के अतिरिक्त सर्व वस्तुएं उसकी विषय होती हैं।

'योग' के द्वारा प्राप्त विशेष रूप से दक्ष ज्ञान योगीजनों में पाया जाता है, वह तीन प्रकार का होता है। प्रथम उन सरल योगीजनों (ऋजु-योगिन्) का ज्ञान होता है जो ब्रह्मत्व के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार का ज्ञान ईश्वर एवं लक्ष्मी के आंशिक ज्ञान के अतिरिक्त सर्व वस्तुओं को ज्ञात करता है: जब तक 'मुक्ति' प्राप्त नहीं हो जाती, यह ज्ञान 'योग' की वृद्धि के साथ-साथ अभिवृद्ध होता रहता है। ये योगीजन अन्य जीवों की तुलना में ईश्वर के सम्बन्ध में अधिक जानते हैं। इसके पश्चात् देवताओं का ज्ञान आता है (तात्विक-योगी-ज्ञानम्), जो योगीजनों के ज्ञान से निम्न होता है। इसके उपरान्त साधारण व्यक्तियों का ज्ञान आता है, और योग्यता के अवरोही क्रम के अनुसार इनके भी तीन वर्ग होते हैं, प्रथम वे जो मुक्ति के योग्य होते हैं, दूसरे वे जो पुनर्जन्म भोगते हैं, तीसरे वे जो और भी निम्नतर अस्तित्व रखते हैं। अन्तःप्रज्ञा (केवल) के रूप में 'प्रमाण' का उस अन्तःप्रज्ञा के साधन के रूप में 'अनुप्रमाण' से विभेद करना चाहिये, जो तीन प्रकार का हो सकता है,

---

[1] ईश्वरज्ञानं लक्ष्मीज्ञानं योगिज्ञानं अयोगिज्ञानं चेति।

—न्याय-पद्धति, पृ० १६।

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम)। किसी दोष-रहित ज्ञानेन्द्रिय के एक दोष-रहित विषय के साथ सम्पर्क को प्रत्यक्ष कहते हैं। विषय अत्यधिक दूरी, अत्यधिक समीपता, अत्यधिक लघुता, मध्य में आने वाले अवरोध, अपने समान वस्तुओं के साथ मिश्रित होने, अभिव्यक्त होने, तथा अन्य वस्तुओं के सदृश होने (सादृश्य) के कारण दोषपूर्ण हो जाते हैं। ज्ञानेन्द्रियां दो प्रकार की होती हैं, ज्ञाता (साक्षी) की अन्तः-प्रज्ञात्मक शक्ति जो उसी के स्वरूप की होती है, तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, श्रवण एवं 'मनस्' नामक साधारण ज्ञानेन्द्रियां, अन्तःप्रज्ञात्मक शक्ति के विषय आत्म-स्वरूप एवं उसके धर्म, अविद्या, 'मनस्' एवं उसकी वृत्तियों, सर्व बाह्येन्द्रियों का ज्ञान, सुख-दुःखादि, काल एवं आकाश होते हैं।[1] 'दृश्येन्द्रिय रंग-युक्त बड़े पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण करती है, और मनस् सर्व ज्ञानेन्द्रियों एवं स्मरण-शक्ति का अधीक्षक होता है। 'मनस्' के जिन दोषों के कारण त्रुटियाँ होती हैं वे भावावेग एवं आसक्तियां हैं तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियों के दोष पांडु-रोग आदि जैसी व्याधियाँ, और शीशे आदि जैसे मध्यवर्ती माध्यम के विकर्षणात्मक प्रभाव होते हैं। साधारण ज्ञानेन्द्रियाँ 'मनस्' की वृत्तियों को उत्पन्न करती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ उन यंत्रों की भांति होती हैं जो ज्ञान के विषयों से सम्पर्क स्थापित करते हैं। अन्त-प्रज्ञात्मक शक्ति भी अपने कार्य व्यापारों के कारण (वह अपने स्वरूप से एकरूप रहकर भी 'विशेष' के कारण पृथक् अस्तित्व भी रखती है) विषयों के सम्पर्क में समझी जा सकती है। यद्यपि अन्तप्रज्ञात्मक शक्ति सदा ऐन्द्रिय-निरीक्षणों की सामग्री को सही-सही ज्ञात करने में समर्थ होती है, तथापि यह आवश्यक नहीं है कि उसका निर्णय सदा वस्तुगत रूप से सत्य हो। ईश्वर एवं योगी-जनों में वह आत्मगत एवं वस्तुगत दोनों रूपों में तथ्यों के अनुरूप होती है, साधारण व्यक्तियों में वह एक उदाहरण विशेष में वस्तुगत अंशों के अनुरूप हो सकती है अथवा नहीं भी हो सकती है, अथवा अन्य शब्दों में, उसकी सामग्री वस्तुगत तथ्यों के अनुरूप हो सकती है अथवा नहीं भी हो सकती है, किन्तु वह ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उपस्थित की गई सामग्री को ज्ञात करने में सदा सही होती है।[2]

जयतीर्थ न्याय के अनुयायियों द्वारा मान्य छः प्रकार के सम्पर्क (सन्निकर्ष) की आवश्यकता का परिहार करते हैं।[3] ऐसा होना आवश्यक भी है क्योंकि मध्व-दर्शन

---

[1] इन्द्रिय-शब्देन ज्ञानेन्द्रियं गृह्यते, तद् द्वि-विधं प्रमातृ-स्वरूपं प्राकृतं च तत्र स्वरूपे-न्द्रियं साक्षीत्युच्यते, तस्य विषय आत्म-स्वरूपं तद्-धर्मः अविद्या-मनस्-तद्-वृत्तयः बाह्येन्द्रिय-ज्ञान-सुखादयः कालव्याकृताकाशश्च।

—प्रमाण-पद्धति, पृ० २२।

[2] वही, पृ० २६।

[3] दे० भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग १ (प्रथम संस्करण), पृ० ३३४।

में 'समवाय' सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया गया है, और न यह स्वीकार किया गया है कि वस्तुओं और उनके गुणों में कोई भेद होता है (गुण-गुण्य्-अभेद)। इसलिए जयतीर्थ के अनुसार इन्द्रिय-सम्पर्क एक ही घटना के रूप में सम्पन्न होता है, एक ओर तो इसलिये कि गुणों और वस्तुओं में कोई भेद नहीं होता, दूसरी ओर इसलिये कि आत्मन् एवं उसके धर्मों का अन्तःप्राज्ञ सत्ता द्वारा अपरोक्ष प्रत्यक्ष किया जाता है तथा 'मनस्' के सम्पर्क की कोई आवश्यकता नहीं होती, अतएव न्याय के अनुयायियों द्वारा प्रस्तावित छः प्रकार के सम्पर्क को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

पुनः, हमें विदित ही है कि न्याय-दर्शन 'निर्विकल्प' और 'सविकल्प' ज्ञान में विभेद करता है, इस दर्शन के अनुसार निर्विकल्प ज्ञान का अर्थ है विषय का स्वयं में ऐसा सरल संज्ञान जो आठ प्रकार के प्रत्ययात्मक विकल्पों से रहित हो अर्थात्, द्रव्य-विकल्प, यथा 'एक दंड को रखने वाला' (द्रव्य-विकल्पो यथा दंडी), गुण-विकल्प, यथा 'शुक्ल' (गुण-विकल्पो यथा शुक्लः), क्रिया-विकल्प, यथा 'वह जाता है' (क्रिया-विकल्पो यथा गच्छति), जाति-विकल्प, यथा 'गौ' (जाति-विकल्प यथा गौः) विशेष-विकल्प, यथा 'परमाणुओं के चरम विशिष्ट लक्षण होते हैं जिनके कारण योगीजन एक परमाणु का अन्य परमाणु से विभेद करते हैं' (विशेष विकल्पो यथा विशिष्टः परमाणुः), समवाय-विकल्प; यथा, 'एक पट में तन्तु' (समवाय-विकल्पो यथा, पट-समवायवन्तास्तन्तवः), नाम-विकल्प, यथा 'देवदत्त नामक मनुष्य' (नाम-विकल्पो यथा देवदत्त), अभाव-विकल्प, यथा 'भूमि पर घट का अभाव है' (अभाव-विकल्पो यथा घटा भाववद् भूतलम्)। किन्तु जयतीर्थ कहते हैं कि निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्षों के इन विभेदों में से एक को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे 'विशेष' एवं 'समवाय' नामक दो पदार्थों की मान्यता पर आधारित है, जो दोनों अमान्य हैं। किसी प्रत्यक्ष का नाम भी पश्चात् के क्षण में क्रियाशील स्मृति के द्वारा ज्ञात किया जाता है तथा किसी सत्ता का अभाव स्वयं उस सत्ता की स्मृति पर निर्भर करता है। यद्यपि ये सर्व प्रत्यय प्रत्यक्षीकरण के प्रथम क्षण में उत्पन्न नहीं होते, तथापि चूंकि द्रव्य, गुण, क्रिया आदि जैसे कुछ प्रत्यय प्रत्यक्षीकरण के प्रथम क्षण में ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये 'निर्विकल्प प्रत्यक्ष' के अस्तित्व की कल्पना करने का कोई कारण नहीं है। समस्त प्रत्यक्ष सविकल्प होते हैं। न्याय का यह मत सही नहीं है कि किसी विषय की उपयोगिता अथवा अवांछनीयता की अनुभूति प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप होती है, क्योंकि इनकी उपलब्धि अनुमान द्वारा की जाती है।[1] जब एक मनुष्य एक कांटे से बचता है तब उसका कारण यह है कि वह अपने अतीत के अनुभव से यह निर्णय कर लेता है कि वह उसे दुःख पहुँचाएगा, जब वह किसी वांछनीय वस्तु की ओर प्रवृत्त

---

[1] 'न्याय-मंजरी', पृ० ६७–७१।

होता है तो ऐसा वह अतीत में उसके वांछनीय होने की अनुभूति पर आधारित अनुमान से करता है।

अनुमान

अनुमान का कारण एक दोषरहित तर्क होता है (जिसके द्वारा उसकी सहवर्तिता के आधार पर किसी वस्तु का अभिनिश्चय किया जा सकता है)। जयतीर्थ द्वारा इस साहचर्य अथवा व्याप्ति के स्वरूप का अपृथक् व्याप्ति (अविनाभाव) के रूप में वर्णन किया गया है। व्यासतीर्थ का 'तर्क-ताण्डव' में आग्रह है कि इस अपृथक् व्याप्ति का अर्थ वस्तुतः ऐसे अनुभव का बोध होना चाहिए जो आग्रह्य मान्यता अथवा उपपत्ति को प्रेरित करे (अनुपपत्ति)। जब एक विशेष देश-काल-संबंध में अनुभूत वस्तु किसी अन्य देश-काल-संबंध में अनुभूत अन्य वस्तु की मान्यता के अतिरिक्त असत्य हो, तब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन दोनों में स्थित सम्बन्ध एक 'व्याप्ति' सम्बन्ध है, जो पूर्वोक्त के आधार पर पश्चादुक्त के अनुमान को प्रेरित करता है।[1]

व्यासतीर्थ का आग्रह है कि अनुमान के इस मत का समर्थन मध्व ने अपने 'प्रमाण-लक्षण' में भी किया है, जहाँ वे कहते हैं कि सत्य अनुमान के समस्त उदाहरणों में अवशेष-विधि (परिशेष) आवश्यक विधि होती है।[2] किसी सत्य अनुभव के संबंध में अनुपपत्ति के कारण ही एक अनुमान की प्रक्रिया में साध्य की आवश्यकता सिद्ध होती है।[3] जयतीर्थ ने अपनी 'प्रमाण-पद्धति' में 'व्याप्ति' की वस्तुतः 'अविनाभाव' के रूप में परिभाषा दी है, इस अपृथक् व्याप्ति का सभी उदाहरणों में अभावान्वय, अर्थात् 'साध्य' अथवा अनुमित वस्तु के अभाव के सर्व उदाहरणों में 'हेतु' के अभाव के रूप में वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसी स्थितियाँ भी होती हैं जिनमें ऐसे निषेधात्मक उदाहरणों के अभाव के बावजूद भी अनुमान सम्भव होता है, यथा, ध्वनि ज्ञेय होने के कारण वाच्य है, यहाँ कोई ऐसा निषेधात्मक उदाहरण उपलब्ध नहीं है जिसमें वाच्यता न हो, अतः ऐसे 'केवलान्वयी' अनुमान के उदाहरणों में व्याप्ति की उपरोक्त परिभाषा, जिसमें व्याप्ति के अभिनिश्चय के लिए निषेधात्मक उदाहरणों के अस्तित्व की आवश्यकता होती है, लागू नहीं होगी। हेतु और साध्य में किसी प्रकार के

---

[1] यद्देश-काल सम्बन्धस्य यस्य यद् देश-काल सम्बन्धेन येन विनानुपपत्तिस्तस्यैव तेन सह व्याप्तिः।
—'तर्क-ताण्डव' (पां० लि०, पृ० १)

[2] परिशेषोऽर्थापत्तिरनुमानमित्यविशेषः।
—'प्रमाण-लक्षण' और 'प्रमाण-लक्षण-टीका' पृ० २७।

[3] अनुमानमपि आवश्यकानुपपत्त्यैव गमकम्।
—'तर्क-ताण्डव' (पां० लि० पृ० २)।

अवकाशिक साहचर्य का भी व्याप्ति की एक अपरिहार्य अवस्था के रूप में आग्रह नहीं किया जा सकता; क्योंकि किसी प्रदेश के निचले भाग में नदी में बाढ़ के प्रत्यक्षीकरण के ऊपरी भागों में वर्षा का अनुमान किया जा सकता है तथा यहाँ हेतु और साध्य में कोई अवकाशिक समीपता नहीं है। अतः अनुमान को निर्धारित करने वाली व्याप्ति का प्रमुख लक्षण एक अकाट्य अनुभव की अनुपपत्ति है जिसके कारण अनुमित वस्तु की मान्यता आवश्यक हो जाती है। इसी का 'साहचर्य-नियम' के रूप में भी वर्णन किया गया है। अग्नि एवं धूम के सुपरिचित उदाहरण में अग्नि के अभाव के सर्व उदाहरणों में धूम के अभाव के निरुपाधिक एवं नियत साहचर्य के रूप में जिस नियम का वर्णन किया गया है वह भी 'अनुपपत्ति' का ही एक उदाहरण है। यह नियम 'केवलान्वयी' अनुमान के उदाहरणों में भी समान बल से लागू होगा, क्योंकि वहाँ भी साध्य के असम्भव अभाव से हेतु की अयुक्ति उत्पन्न हो जाएगी, अतएव साध्य की मान्यता अनिवार्य सिद्ध हो जाती है।

व्यासतीर्थ गंगेश द्वारा अपनी 'तत्व-चिन्तामणि' में दी गई अनुमान की परिभाषा का विस्तार से खंडन करते हैं, जहाँ वे साध्य और हेतु के सह-अस्तित्व (सामानाधिकरण्य) के रूप में व्याप्ति की व्याख्या करते हैं तथा साथ ही इस शर्त का उल्लेख करते हैं कि पूर्वोक्त के अभाव के प्रत्येक उदाहरण में पश्चादुक्त का भी अभाव होता है। 'केवलान्वयी' अनुमान में ऐसे निषेधात्मक उदाहरण उपलब्ध नहीं होते जिनमें हमें साध्याभाव के उदाहरणों में हेत्वाभाव के उदाहरणों का भी परिचय हो सके (साध्याभाव-वदवृत्तित्वम्)। यदि यह कठिनाई नहीं होती तो गंगेश प्रसन्नतापूर्वक सर्व साध्याभाव के उदाहरणों में हेतु के निरुपाधिक एवं नियत अभाव (साध्याभाव वदवृत्तित्वम्) के रूप में 'व्याप्ति' की परिभाषा दे देते। किन्तु उपर्युक्त कठिनाई के कारण गंगेश हेतु और साध्य के 'सामानाधिकरण्य' के रूप में व्याप्ति की परिभाषा देने को बाध्य हो गए जिसमें हेतु की यह विशेषता भी बताई गई है कि वह उन सभी सम्भव अवस्थाओं के अभाव का निधान होता है जो 'साध्य' के साथ उसके समानाधिकरण को असिद्ध कर सके।[1] इस प्रकार की परिभाषा के निर्माण में गंगेश की सूझ इस तथ्य में निहित है कि उनके विचार में हेतु का साध्य में सर्वव्यापी अस्तित्व ही पश्चादुक्त के पूर्वोक्त से अनुमान के लिये यथेष्ट होता है, पर शर्त यह है कि हेतु विशुद्ध हो तथा किसी अन्य उपाधि की उपस्थिति से मिश्रित न हो। हेतु में मिश्रित

---

[1] प्रतियोग्यसमानाधिकरण-यत्समानाधिकरणात्यन्ताभाव-प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः।

—'तत्व-चिन्तामणि,' भाग २, पृ० १०० (१८८८ का संस्करण, बिब्लियोथेका इण्डिका)।

अन्य उपाधियों की उपस्थिति के कारण ही साध्य के साथ उसका सर्वव्यापी समानाधिकरण असिद्ध हो सकता है, अतः यदि उनका निराकरण किया जा सके तो साध्य में हेतु का सर्वव्यापी अस्तित्व ही पूर्वोक्त एवं पश्चादुक्त में व्याप्ति-सम्बन्ध स्थापित करने के लिये यथेष्ट होगा।

पर व्यासतीर्थ यह निर्देश करते हैं कि अनुमान के सभी उदाहरणों में हेतु की साधय में उपस्थिति सार्वभौम रूप से सत्य नहीं होती। यथा, निचले भागों में नदी के जल में बाढ़ से ऊपरी भागों में वर्षा होने के अनुमान में हेतु का साध्य के साथ कोई अवकाशित सह-अस्तित्व (सामानाधिकरण्य) नहीं होता, यही बात इस अनुमान के सम्बन्ध में भी सत्य है कि चूंकि 'कृत्तिका' तारा-मंडल का उदय हो चुका है इसलिये 'रोहिणी' तारा-मंडल का उदय भी शीघ्र होने वाला है। इस प्रकार के सर्व उदाहरणों में तथा सर्व अनुमान के उदाहरणों में 'अनुपपत्ति' के दृष्टिकोण से व्याप्ति की, सदा सर्वोत्तम ढंग से परिभाषा दी जा सकती है, अतएव वह सर्व प्रकार के अनुमान (जिनमें केवलान्वयी अनुमान भी समाविष्ट है) का सर्वोत्तम आधार बन सकता है। क्योंकि केवलान्वयी अनुमान के उदाहरण–'यह वाच्य है क्योंकि यह ज्ञेय है'–में हम यह तर्क कर सकते हैं कि अवाच्यता का निषेध किसी विषय के ज्ञेय होने के अकाट्य अनुभव की सत्यता की एक अनिवार्य मान्यता है।[1] यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि अवाच्यता एक गोल वर्ग की भाँति मिथ्या सत्ता होने के कारण उसके पुनः निषेध करने में कोई सार्थकता नहीं होगी। इसका व्यासतीर्थ यह उत्तर देते हैं कि निषेध का प्रयोग मिथ्या एवं अप्रामाणिक सत्ता के लिये भी किया जा सकता है।[2]

यह स्पष्ट है कि व्याप्ति का यह दृष्टिकोण व्यासतीर्थ द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का एक अनुवर्त्ती विकास-चरण है। क्योंकि जयतीर्थ अपनी 'प्रमाण-पद्धति' में व्याप्ति का 'अविनाभाव' के रूप में वर्णन करते हैं, जिसकी वे 'साहचर्य नियम' के रूप में तथा अव्यभिचारी सम्बन्ध (अव्यभिचरितः सम्बन्धः) के रूप में भी व्याख्या करते हैं।[3] किन्तु जनार्दन 'प्रमाण-पद्धति' पर अपनी टीका में मानते हैं कि जयतीर्थ के इस 'साहचर्य-नियम' की व्याख्या व्यासतीर्थ की 'अनुपपत्ति' के अर्थ में करनी चाहिये, इसके अतिरिक्त यह भी सबके लिये स्पष्ट है कि जयतीर्थ की उपरोक्त परिभाषा का अभिप्रेत व्यासतीर्थ का व्याप्ति-सम्बन्धी मत है, तथा वे अपने मत की पुष्टि इस निर्देश के द्वारा

---

[1] इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात् केवलान्वयि अनुमानम्।

[2] तत्र साध्याभावस्य असत्त्वादेव साध्याभावे सति साधनस्य योपपत्तिस्तदभावरूपानुपपत्तेः सत्त्वात्, मन्मतेऽप्रामाणिकस्यापि निषेधप्रतियोगित्वात्।

–तर्क-ताण्डव (पां० लि०, पृ० ६)।

[3] 'प्रमाण-पद्धति,' पृ० ३०।

करते हैं कि 'प्रमाण-लक्षण' और 'प्रमाण-लक्षण' पर अपनी टीका दोनों में जयतीर्थ ने 'परिशेष:' एवं 'अर्थापत्ति' का अनुमान में समावेश किया है, क्योंकि उनके विचार में इनकी विधियाँ लगभग स्वयं अनुमान की विधियाँ ही हैं।[1] किन्तु इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि 'परिशेष' और 'अर्थापत्ति' भी अनुमान के प्रकार हैं, न कि यह कि उनमें समाविष्ट 'अनुपपत्ति' की विधि अनुमान के एकमात्र सम्भाव्य प्रकार के रूप में स्वीकार की जानी चाहिये। यदि वे ऐसा सोचते तो वे निश्चय ही उसका उल्लेख करते तथा व्याप्ति की अपनी परिभाषा को 'साहचर्य नियम' तक सीमित नहीं रखते। चलरिशेषाचार्य जो श्रद्धापूर्वक जयतीर्थ के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हैं और प्राय: उनकी भाषा की भी पुनरावृत्ति करते हैं, जयतीर्थ के इस नियत साहचर्य की 'जहाँ धूम्र है वहाँ अग्नि है' के रूप में व्याख्या करते हैं, किन्तु वे यह कहते हैं कि इस नियत साहचर्य का अर्थ केवल हेतु का साध्य से एक नियत सम्बन्ध-मात्र है (अत्र साहचर्य हेतो: साध्येन सम्बन्ध-मात्रं विवक्षितम्), न कि केवल एक ही स्थान में उनका अस्तित्व (सामानाधिकरण्य)। यहाँ साहचर्य का अर्थ है साध्य के साथ अव्यभिचारी सम्बन्ध (अव्यभिचरित साध्य-सम्बंधो व्याप्ति:), और यही 'व्याप्ति' कहलाती है।[2] वे गंगेश की 'व्याप्ति' की उपरोक्त परिभाषा का उल्लेख करते हैं, और यह निर्देश करते हैं कि व्याप्ति की यह परिभाषा अनुमान के उन उदाहरणों में लागू नहीं होगी जहाँ कोई अवकाशिक साहचर्य न हो (यथा, नदी के निचले भागों में पानी की बाढ़ से ऊपरी भागों में वर्षा होने का अनुमान)।[3] ऐसे उदाहरणों के बल पर यह निर्देश करते हैं कि व्याप्ति की साहचर्य (सामानाधिकरण्य) के रूप में परिभाषा नहीं दी जा सकती, किन्तु वह एक ऐसा अव्यभिचारी सम्बन्ध है जो विभिन्न स्थानों में विद्यमान एक कारण एवं कार्य के मध्य स्थित हो सकता है। इन उदाहरणों के बल पर चलरिशेषाचार्य साहचर्य से रहित व्याप्ति की सम्भावना (व्यधिकरण-व्याप्ति) के पक्ष में तर्क देते हैं, अतएव व्याप्ति की एक अनिवार्य अवस्था के रूप में साहचर्य के परित्याग का पक्ष-पोषण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यासतीर्थ ने इन कथनों से लाभ उठाया और चलरिशेषाचार्य के 'अव्यभिचारी सम्बन्ध' से संतुष्ट होने के स्थान पर

---

[1] अनुपपत्तेर्व्याप्तित्वं च प्रमाण-लक्षणे परिशेषार्थापत्ति: अनुमाविशेषित्यत्रार्थापत्तिरिवानुमानमपि आवश्यकानुपपत्त्यैव गमकमित्युक्तत्वात्।
—'तर्क-ताण्डव' (पां० लि० पृ० १–२)। 'प्रमाण-लक्षण-टीका' भी, पृ० ५–७।

[2] तुलना कीजिये 'विशेष-व्याप्ति' भाग में गंगेश द्वारा दी गई 'व्याप्ति' की वैकल्पिक परिभाषा से—'यत्सम्बन्धितावच्छेदक—रूपवत्त्वं यस्य तस्य सा व्याप्ति:।
—तत्व-चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५६।

[3] न तु समानाधिकरण्यमेव।
—'प्रमाण-चन्द्रिका' पृ० ८ घ।

इस 'अव्यभिचारी सम्बंध' को 'अनुपपत्ति' नामक निश्चित सम्बन्ध के रूप में व्याख्या की।[1]

तर्क

अनुमान को उत्पन्न करने वाली मानसिक क्रिया के संघटक के रूप में विद्यमान निर्धारक दोलन को 'तर्क' अथवा 'ऊह' कहते हैं।[2] अपने 'न्याय-सूत्र' में गौतम उसका वर्णन सत्य के ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से किये गये तर्क के रूप में करते हैं जिसमें यह निर्धारित करने का प्रयास समाविष्ट होता है कि किसी तथ्य में एक धर्म-विशेष पाया जाता है, तथा यह प्रयास उक्त निर्धारण के हेतु से सम्बन्धित समुचित पृच्छा पर आधारित होता है। यथा, ज्ञाताओं के रूप में आत्माओं के स्वरूप से संबंधित सत्य को जानने की जिज्ञासा होती है कि क्या वे उत्पत्तिशील हैं अथवा उत्पत्ति-रहित हैं ? यदि वे उत्पत्तिशील होते तो समस्त उत्पत्तिशील वस्तुओं की भाँति विनाश के भागी होते, तथा अपने कर्म-फल का उपभोग नहीं करते। यदि वे उत्पत्तिरहित हैं

---

[1] 'प्रमाण-चन्द्रिका' पृ० ८ अ, ९।

[2] ऊहत्वं च मानसत्व-व्याप्यो जाति-विशेषः
'तर्कयामि' इत्यनुभव-सिद्धः। —'विश्वनाथ-वृत्ति' १, पृ० ४०।

'न्याय-मंजरी' (पृ० ५८६) में जयन्त द्वारा भी 'तर्क' का 'ऊह' के अर्थ में प्रयोग किया गया है। जयन्त कहते हैं कि 'ऊह' के रूप में उसका व्यापार निर्बल विकल्प को निर्बल बनाने में और फलतः सबलतर विकल्प की सम्भावना को सबल बनाने में, तथा इस प्रकार पश्चादुक्त विकल्प की निश्चितता के सत्य ज्ञान की उत्पत्ति में सहायता देने में निहित होता है। यहाँ 'तर्क' के अर्थ का 'अनुमान' से विभेद करना आवश्यक है, जो 'तर्क' का अर्थ 'ब्रह्म-सूत्र' २. १. ११ (तर्का-प्रतिष्ठानात्······) में है, तथा तर्क-विज्ञान (आन्वीक्षिकी), जो चौदह विद्याओं में से एक है (विद्या-स्थान), के रूप में 'तर्क' के प्रयोग से भी उसका विभेद करना आवश्यक है। 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' १. ३ 'न्याय मंजरी' भी, पृ० ३–४। सांख्य के लिये ऊह शब्दों अथवा वाक्यों के अर्थ को निर्धारित करने के लिये मान्य भाषागत नियमों के प्रयोग की प्रक्रिया है, (युक्त्या प्रयोग-निरूपणमूहः), वही, पृ० ५८८। यहाँ 'ऊह' का लगभग 'अनुमान' के अर्थ में प्रयोग किया गया है और इसलिये वह एक 'प्रमाण' है। किन्तु यहाँ 'न्याय' में 'ऊह' अथवा 'तर्क' सम्यक्-ज्ञान एवं संशय के बीच की दशा होती है। इस प्रकार जयन्त कहते हैं : 'तदेष मीमांसक-कल्प्यमानो नोहः प्रमाण-व्यतिरेकमेति प्रमाण-संदेहदशान्तरालवर्ती तु तर्कः कथितोऽत्र शास्त्रे' (पृ० ५९०)।

तो वे अपने कर्म-फलों का उपभोग करने एवं पुनर्जन्म के लिये सदा अस्तित्व में बने रह सकते हैं। अतः पुनर्जन्म को प्राप्त होने वाला एवं अपने सभी कर्म-फलों को भोगने वाला आत्मन् अनिवार्यतः उत्पत्तिरहित होना चाहिये।[1] वात्स्यायन कहते हैं कि 'तर्क' न तो स्वीकृत 'प्रमाणों' में समाविष्ट किया जाता है और न वह एक पृथक् 'प्रमाण' ही है, किन्तु वह एक ऐसा व्यापार है जो 'प्रमाणों' के सत्य ज्ञान को निर्धारित करने में सहायता देता है।[2] अपने 'तर्क-भाष्य' में केशव मिश्र की प्रवृत्ति तर्क को संशय में समाविष्ट करने की है।[3] किन्तु अन्नम् भट्ट अपनी 'तर्क-दीपिका' में कहते हैं कि यद्यपि 'तर्क' की गणना 'विपर्यय' में करना उचित है तथापि चूंकि वह 'प्रमाणों' की सहायता करता है अतः उसकी पृथक गणना की जानी चाहिये।[4] अनुमान में तर्क की उपयोगिता इस बात में निहित है कि वह मन को साध्य में हेतु के अस्तित्व के 'व्यभिचार' के उदाहरणों को अभाव के प्रति आश्वस्त करता है तथा इस प्रकार हेतु एवं साध्य की व्याप्ति के प्रत्यय के निर्माण में सहायक होता है।[5] विश्वनाथ कहते हैं कि 'तर्क' 'हेतु' के 'व्यभिचार' के सम्भाव्य उदाहरणों के सम्बन्ध में संशयों का निवारण करता है (यथा, यदि धूम का अस्तित्व किसी ऐसे उदाहरण में होता जहाँ वह्नि नहीं हो तो वह्नि धूम का कारण नहीं होती) और इस प्रकार 'व्याप्ति' के ज्ञान को अचूक बना देता है, अतएव अनुमान की क्रिया से प्रत्यक्ष रूप में नहीं बल्कि अप्रत्यक्ष रूप में (पारम्परया) सहायक होता है।[6] विश्वनाथ आगे यह कहते हैं कि ऐसा 'तर्क' पाँच प्रकार का होता है, अर्थात् 'आत्माश्रय' दोष (यथा, यदि इस घट का ज्ञान इस घट के ज्ञान से उत्पन्न होता है, तो वह इस घट से भिन्न होना चाहिए), 'अन्योन्याश्रय' दोष (यथा, यदि यह घट ज्ञान-जन्य ज्ञान का विषय है तो वह इस घट से भिन्न होना चाहिए), 'चक्रक' दोष (यदि यह घट-जन्य किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न होता है तो वह

---

[1] न्याय-सूत्र, १. १. ४० और उस पर वात्स्यायन की 'वृत्ति'।

[2] तर्को न प्रमाण-संगृहितो न प्रमाणान्तरम्,
प्रमाणानामनुग्राहकस्तावज्ज्ञानाय परिकल्प्यते।

—वात्स्यायन-भाष्य, १. १. १।

[3] 'तर्क-भाष्य,' पृ० ४४।

[4] तर्क-दीपिका, पृ० ८८।

[5] व्यभिचारज्ञानाभावसम्पादकत्वेन तर्कस्य व्याप्तिग्रहे उपयोगः।
'दीधिति' पर 'भवानन्दी' 'न्याय-कोष' से उद्धृत, पाद-टिप्पणी, पृ० २९२।

[6] तथा च धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् वह्निजन्यो न स्यातित्यनेन व्यभिचार-शंका-निरासे निरंकुशेन व्याप्ति-ज्ञानेन अनुमितिरिति परम्परया एवास्य उपयोगः।

—विश्वनाथ-वृत्ति, १. १. ४०।

घट-जन्य अन्य वस्तु से जन्य किसी भी वस्तु से भिन्न है), 'अनवस्था' दोष (यथा, यदि 'घट' नामक जाति-प्रत्यय समस्त घटों का उल्लेख करता है तो वह घट-जन्य वस्तुओं का उल्लेख नहीं कर सकता), 'प्रमाण-बाधितार्थक प्रसंग' दोष (यदि धूम वह्नि के अभाव में अस्तित्व रखता है, तो वह वह्नि-जन्य नहीं हो सकता अथवा यदि पर्वत बह्निमान नहीं होता तो वह धूमवान नहीं होता)।[1]

व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण में 'तर्क' की प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए मथुरानाथ कहते हैं कि जब कोई वह्नि के सर्व ज्ञात उदाहरणों में धूम का अस्तित्व देखकर तथा वह्निरहित स्थानों में धूम का अभाव देखकर भी यह निश्चय करे कि धूम वह्नि से उत्पन्न होता है अथवा नहीं, तब तर्क सर्व वैध संशयों के निवारण में सहायक होता है। जैसाकि गंगेश ने प्रदर्शित किया है, ऐसा 'तर्क' इस प्रकार अग्रसर होगा—या तो धूम वह्नि से उत्पन्न होता है अथवा वह उससे उत्पन्न नहीं होता है। इसलिये यदि धूम न तो वह्नि से और न निर्वाह्नि से उत्पन्न होता है, तो वह सर्वथा उत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु यदि यह शंका हो कि क्या धूम निर्वाह्नि से उत्पन्न होता है, अथवा वह कभी-कभी वह्नि के अभाव में भी विद्यमान हो सकता है अथवा वह किसी 'हेतु' के बिना (अहेतुक) उत्पन्न होता है, तो हम में से कोई भी क्रिया में प्रवृत्त होने के लिए धूम के सर्व उदाहरणों में वह्नि के अपृथक् अस्तित्व के प्रत्यय की प्राप्ति नहीं कर पाते

---

[1] प्रथम तीन में से प्रत्येक के 'ज्ञप्ति' 'उत्पत्ति' एवं 'स्थिति के निर्देशानुसार तीन प्रकार होते हैं। इस प्रकार 'आत्माश्रय' का त्रिविध उदाहरण होगा (१) एतद्-घट-ज्ञानं यद्येतत-घट-जन्यं स्यातेतद्-घट-भिन्नं स्यात्, (२) घटोऽयम् यद्येतद् घटजनकः स्यात्, एतद्-घट-भिन्नः स्यात् (३) अयं घटो यद्येद्घट-वृत्तिः स्यात्, तथात्वेन उपलभ्येत। 'ज्ञप्ति' में 'अन्योन्याश्रय' का उदाहरण अयं घटो यद्येतद्-घट-ज्ञान-जन्य-ज्ञान-विषयः स्यातेतद्-घट-भिन्नः स्यात्। 'उत्पत्ति' में 'चक्रक' का उदाहरण— घटोयं यद्येतद्-घट-जन्य-जन्य-जन्यः स्यात्तदा एतद्-घट-जन्य-जन्य भिन्नं स्यात्। माधव, अपने 'सर्व-दर्शन-संग्रह में पुरातन न्याय परम्परा का उल्लेख करते हुए, अन्य सात प्रकारों को जोड़ देते हैं, 'व्याघात,' 'प्रतिबन्धि-कल्पना' 'लाघव,' 'गौरव,' 'उत्सर्ग,' 'अपवाद,' 'वैजात्य'। किन्तु विश्वनाथ,—जिनकी सूची उपरोक्त से कुछ भिन्न है क्योंकि वे 'व्याघात' को छोड़ देते हैं और 'प्रतिबन्धि कल्पना,' 'अपवाद' एवं 'वैजात्य' के स्थान पर 'प्रथमो-पस्थितत्व' एवं 'विनिगमन-विरह' को स्वीकार करते हैं—यह मानते हैं कि इनको 'तर्क' कहना उचित नहीं है, किन्तु वे 'तर्क' इसलिये कहलाते हैं कि वे सहकारी के रूप में 'प्रमाणों' के सहायक होते हैं (प्रमाण-सहकारित्व-रूप-साधर्म्यात् तथा व्यवहारः)।

—'विश्वनाथ वृत्ति' १. १. ४०।

(सर्वत्व स्व-क्रिया-व्याघातः)।[1] 'तर्क' नामक विचारधारा केवल तभी व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण में सहायक हो सकती है जब अनेक विधानात्मक एवं निषेधात्मक उदाहरणों का वस्तुतः निरीक्षण किया जा चुका है तथा एक अन्तःकालीन निश्चितता प्राप्त हो चुकी है। अन्तःकालीन निश्चितता प्राप्त हो जाने पर भी जब तक मन उपरोक्त 'तर्क' के द्वारा स्पष्ट नहीं हो जाता तब तक 'संशय-धारा' कदाचित् प्रवाहित हो सकती है।[2] गंगेश कहते हैं कि यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि उक्त विधि के द्वारा व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण के पश्चात् भी कदाचित् संशय उत्पन्न हो सकते हैं कि वह्नि धूम का कारण नहीं है अथवा धूम अहेतुक है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो आप धूम की इच्छा होने पर वह्नि को 'नियत' रूप से प्रज्वलित नहीं करते, अथवा क्षुधा-निवारण की इच्छा होने पर भोजन नहीं करते या अन्य लोगों तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिये शब्दों का प्रयोग नहीं करते। इस प्रकार के नियत प्रयत्न स्वयं यह प्रकट करते हैं कि इन अवस्थाओं में कोई 'शंका' नहीं होती, क्योंकि यदि 'शंका' होती तो यह प्रयत्न ऐसे नियत नहीं होते। यह सम्भव नहीं है कि आप इस शंका में रहते हुए भी कि वह्नि धूम का कारण है या नहीं नियत रूप से धूम की प्राप्ति के लिये वह्नि को प्रज्वलित करें। ऐसी अवस्थाओं में शंका का अस्तित्व धूम की इच्छा होने पर वह्नि को प्रज्वलित करने के आपके नियत प्रयास के व्याघात में होगा, शंकाओं को तभी तक स्वीकार किया जा सकता है जब तक उनका स्वक्रिया से व्याघात (स्वक्रिया-व्याघात) न हो।[3]

किन्तु श्रीहर्ष वेदान्त के दृष्टिकोण से युक्ति देते हुए शंका निवारण में 'तर्क' की योग्यता को अस्वीकृत करते हैं। उनका आग्रह है कि यदि यह कहा जाय कि 'तर्क' सभी उदाहरणों में अनिवार्यतः शंकाओं का निवारण करता है तथा किसी विशेष व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण में सहायक होता है, तो यह कथन स्वयं किसी अन्य व्याप्ति-प्रत्यय पर आधारित होना चाहिये और वह किसी अन्य पर इस प्रकार 'अनवस्था' दोष उत्पन्न होता है। पुनः, यह तथ्य कि हम वह्नि एवं धूम के सार्वभौम साहचर्य को जानते हैं तथा अन्य किसी ऐसे तत्व को वह्नि में सार्वभौम रूप में स्थित नहीं देखते जिसका वह्नि से धूम के समान सार्वभौम साहचर्य हो, यह सिद्ध नहीं करता

---

[1] 'तर्क' के प्रति गंगेश एवं उस पर मथुरानाथ की टीका।

—तत्व-चिन्तामणि, भाग २, पृ० २१९-२८।

[2] वही, पृ० २२०, देखिये कामाख्यानाथ की टिप्पणी एवं पृ० २२८ भी।

[3] तदेव ह्याशंक्यते यस्मिन्न आशंक्यमाने स्वक्रिया-व्याघातो न भवतीति, न हि सम्भवति स्वयं वह्न्यादिक धूमादि-कार्य्यार्थं नियमत उपादत्ते तत्कारणं तन्नेत्या-शक्यते च।

—वही, पृ० २३२।

कि उसमें ऐसा कोई तत्व स्थित नहीं है जो वस्तुतः धूम का कारण हो (यद्यपि आभासतः वह्नि ही उसका कारण प्रतीत हो)। हमारा प्रत्यक्षीकरण केवल उन समस्त वस्तुओं के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व को प्रमाणित कर सकता है जो दृष्टि-प्रत्यक्ष की साधारण अवस्थाओं में दृष्टिगोचर हों, वह उन अवस्थाओं से अनियन्त्रित सत्ताओं के भाव अथवा अभाव के सम्बन्ध में कुछ नहीं बता सकता अथवा हम केवल यही कह सकते हैं कि वह्नि के अभाव में एक विशिष्ट प्रकार के धूम के अस्तित्व का अभाव होता है। हम यह नहीं कह सकते कि सभी प्रकार के धूम का अभाव होगा, क्योंकि यह सम्भव है कि कोई अन्य प्रकार का कारण विद्यमान है जो ऐसे विशेष प्रकार के धूम को उत्पन्न करता है जिसका हम अबतक प्रत्यक्षीकरण नहीं कर पाये हैं, केवल अप्रत्यक्षीकरण यह सिद्ध नहीं कर सकता कि ऐसा विशेष प्रकार का धूम सर्वथा अस्तित्व नहीं रखता, क्योंकि प्रत्यक्षीकरण केवल उन सत्ताओं पर लागू होता है जो प्रत्यक्षीकरण के योग्य हों तथा तत्सम्बन्धी अवस्थाओं से निर्धारित हों, अतएव उन सत्ताओं पर लागू नहीं किया जा सकता जो उन अवस्थाओं के अन्तर्गत नहीं लाई जा सकती।[1] 'तर्क,' जो कि 'स्वक्रिया-व्याघात' की मान्यता के द्वारा संशय का निराकरण करता है तथा जो इस प्रकार व्याप्ति का समर्थन करता है, स्वयं व्याप्ति पर आधारित न होने के कारण स्वभावतः अपने उक्त कार्य को करने में असफल रहेगा, क्योंकि यदि यह मान लिया जाय कि ऐसा आधारहीन 'तर्क' व्याप्ति की स्थापना करता है, तो यह स्वयं एक 'व्याघात' होगा। उदयन ने कहा था कि यदि शंका के अभाव के होते हुए भी आप यह मान लें कि भविष्य में शंका उत्पन्न हो सकती है तो ऐसा केवल अनुमान के कारण ही हो सकता है, अतः अनुमान प्रामाणिक है। 'तर्क' के आधार में स्थित व्याप्ति के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शंकाओं को जताना आवश्यक नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से स्वक्रिया-व्याघात की उत्पत्ति होगी, क्योंकि हम यह नहीं कह सकते कि हमें वह्नि के धूम के कारण होने में विश्वास है और फिर भी हमें इसमें शंका है। श्रीहर्ष ने इसका उत्तर यह कहकर दिया था कि जहाँ साहचर्य के व्यभिचार का अनुभव हो तो वहाँ उसी से व्याप्ति की मान्यता संशयपूर्ण हो जाती है, जब साहचर्य के व्यभिचार का कोई अनुभव न हो, तब अनिश्चित शंकाओं का कोई अन्त नहीं हो पाता, क्योंकि ऐसी अज्ञात शंकाओं की समाप्ति तभी होती है जब साहचर्य के किसी विशिष्ट व्यभिचार की सूचना हो, अतः किन्हीं परिस्थितियों में 'तर्क' के द्वारा शंकाओं का

---

[1] तददर्शनस्य आपाततो हेत्वन्तर प्रयोज्यावान्तरजात्यदर्शनेन अयोग्यतया अविकल्प्यत्वादप्युपपत्तेः, यदा तु हेत्वान्तर-प्रयोज्यो धूमस्य विशेषो द्रक्ष्यते तदासौ विकल्पिष्यते इति सम्भावनाया दुर्निवारत्वात्।

—श्रीहर्ष का 'खंडन-खंड-खाद्य,' पृ० ६८०।

निवारण नहीं किया जा सकता।[1] विवाद मुख्यत: इस बात पर है कि जहाँ श्रीहर्ष कल्पित शंकाओं के कारण 'तर्क' में विश्वास करने में हिचकते हैं, वहाँ उदयन का विचार है कि यदि हम इतने निराशावादी हो जाएंगे तो हमें अपनी समस्त क्रियाओं को स्थगित करना पड़ेगा। किन्तु उनमें से कोई भी सम्भावना के मध्यवर्ती मार्ग का विवेचन नहीं करता जो हमें क्रिया की ओर प्रेरित कर सके और फिर भी सिद्ध प्रामाणिक अनुमान के रूप में स्वीकार न किया जा सके। पर वर्धमान उदयन के उपरोक्त श्लोक पर टीका करते हुए गंगेश का उल्लेख करते हैं जिनके अनुसार 'तर्क' के द्वारा व्याप्ति-प्रत्यय का निर्माण नहीं हो सकता।[2]

परन्तु व्यासतीर्थ का 'तर्क-ताण्डव' में आग्रह है कि 'तर्क' व्याप्ति-प्रत्यय की एक अपरिहार्य अवस्था नहीं है। हम 'तर्क' की प्रक्रिया के विना आप्त पुरुषों में श्रद्धा के द्वारा अथवा पूर्व-जन्म के अनुभवों से प्राप्त वंशगत संस्कारों के द्वारा अथवा सर्व-मान्य मत की सम्मति के द्वारा व्याप्ति के प्रत्यय की प्राप्ति कर सकते हैं। किन्तु वे वर्धमान के उपरोक्त कथनानुसार गंगेश द्वारा मान्य 'तर्क'—सम्बन्धी मत से अधिकांश में सहमत प्रतीत होते हैं क्योंकि वे यह मानते हैं कि 'तर्क' प्रत्यक्ष रूप में व्याप्ति की स्थापना में सहायक नहीं होता। वे कहते हैं कि 'तर्क' हमें प्रत्यक्ष रूप में

---

[1] उदयन का श्लोक निम्नलिखित था :

शंका चेदनुमास्त्येव न चेच्छंका ततस्तराम्
व्याघातावधिराशंका तर्क: शंकावधिर्मत:।

'कुसुमांजलि,' ३, ७।

श्रीहर्ष ने इसका उत्तर उदयन के शब्दों में थोड़ा-सा परिवर्तन करके निम्न प्रकार से दिया—

व्याघातो यदि शंकास्ति न चेच्छंका ततस्तराम्
व्याघातावधिराशंका तर्क: शंकावधि: कुत:।

—'खंडन-खंड-खाद्य,' पृ० ६९३।

गंगेश सुझाव देते हैं कि श्रीहर्ष में 'व्याघात' शब्द का अर्थ साहचर्य का व्यभिचार है (सहानवस्थान-नियम), जबकि उदयन में उसका अर्थ 'स्वक्रिया-व्याघात:' है। किन्तु जैसाकि व्यासतीर्थ वताते हैं, उक्त शब्द को श्रीहर्ष में भी पश्चादुक्त अर्थ में लिया जा सकता है।

—'तर्क-ताण्डव' (पा० लि०, पृ० २५)।

[2] अत्रास्मत्पितृचरना:, तर्को न व्याप्ति-ग्राहक: किन्तु, व्यभिचार-ज्ञानाभावसहकृतं सहचार-दर्शनम्।

—प्रकाश, ३, पृ० २६।

व्याप्ति की स्थापना में सहायता नहीं देता, क्योंकि साहचर्य के व्यभिचार के अभाव के ज्ञान से साक्षेप तत्सम्बन्धी व्यापक अनुभव (भूयो-दर्शन) के द्वारा व्याप्ति का साक्षात् ग्रहण कर लिया जाता है।[1] वाचस्पति भी लगभग इसी मत को मानते हैं जब वे यह कहते हैं कि भूयो-दर्शन-जनित संस्कार की सहायता से इन्द्रिय ही व्याप्ति के स्वाभाविक सम्बन्ध को ग्रहण करती है।[2] व्यासतीर्थ कहते हैं कि उपाधियों के अभाव का निर्धारण जो कि 'तर्क' का एक व्यापार है, केवल कुछ प्रकार के अनुमान में आवश्यक होती है, उसकी सदा अपेक्षा नहीं होती। यदि उसकी सदा आवश्यकता होती तो 'तर्क' समस्त व्याप्ति-प्रत्ययों के लिये अपेक्षित होने के कारण और व्याप्ति 'तर्क' का आधार होने के कारण 'अनवस्था' दोष की उत्पत्ति हो जायगी।[3] यदि साहचर्य के व्यभिचार का ज्ञान न हो तो साहचर्य के उदाहरणों से ही साक्षी तत्काल व्याप्ति के प्रत्यय का निर्माण कर लेता है।[4] इसलिये आवश्यकता केवल साहचर्य के व्यभिचार की शंकाओं के निवारण की है (व्यभिचार-शंका-निवृत्ति-द्वार)। किन्तु ऐसी शंकाएं क्वचित् ही (क्वचित्कैव) खड़ी होती हैं, सदा नहीं; तथा इन कदाचित्क शंकाओं की निवृत्ति के लिये कभी-कभी ही 'तर्क' के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है। यह युक्ति नहीं दी जा सकती कि शंकाओं की सम्भावना सभी अवस्थाओं में बनी रह सकती है अतएव सभी उदाहरणों में 'तर्क' के प्रयोग की आवश्यकता होती है, क्योंकि प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या ऐसी शंकाएँ हमारे मन में स्वयं उत्पन्न होती हैं अथवा वे दूसरों के द्वारा उत्पन्न की जाती हैं? प्रथम मान्यता के अनुसार हम अपने ही हाथों अथवा पैरों के प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध में शंकाएँ कर सकते हैं, अथवा हम अपनी ही शंकाओं के प्रति शंकाएं कर सकते हैं, जिससे शंकाएँ भी अप्रामाणिक हो जाएँगी। यदि यह माना जाय कि अन्य विकल्पों के सुझाव से ही शंकाएँ उदित होती हैं, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कई अवस्थाओं में ऐसे विकल्पों का कोई सुझाव नहीं दिया जायगा अथवा उनमें से एक की सम्भावना का ऐसा प्रबल सुझाव दिया जा सकता है कि शंकाओं के लिये कोई अवसर उत्पन्न न होगा। अतः यह स्वीकार करना होगा कि अनेक उदाहरणों में हमें कुछ कोटि के साहचर्य में स्वाभाविक विश्वास होता है

---

[1] अपि च तर्को न साक्षाद् व्याप्ति-ग्राहकः भूयो-दर्शन-व्यभिचारादर्शन-सहकृत-प्रत्यक्षेणैव तद्-ग्रहणात्। —'तर्क-ताण्डव' (पां० लि०, पृ० २०)।

[2] भूयो-दर्शन-जनित-संस्कार-सहितमिन्द्रियमेव स्वाभाविक सम्बन्ध-ग्राहि।
—तात्पर्य-टीका।

[3] श्रीहर्ष की आपत्तियों का विवरण देते समय यह पहले ही बता दिया गया है।

[4] अदृष्टे व्यभिचारे तु साधकं तदति स्फुटं
ज्ञायते साक्षिणैवाद्धा मानवधो न तद् भवेत्।
—तर्क-ताण्डव, (पां० लि०, पृ० २१)।

जहाँ स्वयं कोई शंकाएँ उत्पन्न नहीं होती (स्व-रसिक विश्वासस्यावश्यकत्वान् न सर्वत शंका),[1] कोई भी व्यक्ति आजीवन अविरल शंका-धारा से संक्रान्त नहीं देखा जाता (न चाविरल-लग्न-शंका-धारा-अनुभूयते)। द्वितीय मान्यता के आधार पर भी कोई यह नहीं कह सकता कि संशय सदा उत्पन्न हो सकते हैं। धूम और वह्नि के सम्बन्ध में कोई यह सुझाव नहीं दे सकता कि वह्नि से भिन्न कोई अन्य सत्ता भी हो सकती है जो धूम का कारण है, क्योंकि यदि यह सत्ता इन्द्रिय-ग्राह्य होती तो उसका प्रत्यक्षीकरण हो जाता और यदि वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होती तो कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता था कि एक इन्द्रियों से अगोचर सत्ता का अस्तित्व है अथवा हो सकता है। क्योंकि यदि श्रीहर्ष सर्व वस्तुओं के प्रति इतने संशयपूर्ण हैं तो यह निर्देश किया जा सकता है कि 'अद्वैत' के पक्ष में दिये गये प्रमाणों में सहस्र दोष हो सकते हैं और द्वैतवादियों की युक्तियों में सहस्र अच्छी बातें हो सकती हैं, अतएव इन शंकाओं के फलस्वरूप आप स्वयं अपने अद्वैत मत की स्थापना में किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते।[2] यदि एक व्याप्ति में निश्चय उत्पन्न होता है तो संशय की अनिश्चित सम्भावना-मात्र से व्याप्ति की सत्यता के सहज निश्चय का प्रतिवन्ध नहीं होता।[3] यदि आप स्वयं क्षुधा-निवृत्ति के लिये भोजन करते हैं, तो आप यह नहीं कह सकते कि आप फिर भी शंका करते हैं कि भोजन करना कदाचित् क्षुधा-निवृत्ति का कारण नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, यह आग्रह करने से क्या लाभ होता है कि शंकाओं की सम्भावना सदा बनी रहती है? क्या इसका तात्पर्य सर्व अनुमान अथवा समस्त व्याप्ति-प्रत्ययों की प्रामाणिकता को नष्ट करना है? अनुमान की उपयोगिता को स्वीकार करने का इच्छुक कोई भी व्यक्ति उसको स्थापित करने के साधन-व्याप्ति-प्रत्यय को नष्ट करने का नहीं सोच सकता। यदि व्याप्ति की स्थापना नहीं हो पाती तो वेदान्ती को पता लगेगा कि उन वैदिक अद्वैतवादी शब्दों के अर्थों को समझना सम्भव नहीं है जिनके द्वारा वह अद्वैतवाद को स्थापित करने का इच्छुक है। पुनः, यदि अनुमान की प्रामाणिकता को स्थापित करना है तो ऐसा अनुमान के द्वारा ही किया जा सकता है, प्रत्यक्ष द्वारा नहीं। अनुमान के बिना वेदान्ती न तो किसी बात को स्थापित कर सकता था और न अपने प्रतिपक्षियों द्वारा उसके सिद्धान्तों के विरोध में दिये गये कथनों का खण्डन कर सकता था। अतः यह प्रतीत होगा कि श्रीहर्ष एक अनुमान को ऐसे स्थापित करना चाहते हैं मानों कल्पित शंकाओं का कोई भय नहीं है

---

[1] तर्क-ताण्डव, पृ० २२-३।

[2] वही, पृ० २४।

[3] न हि ग्राह्य-संशय-मात्रं निश्चय-प्रतिवन्धकम्, न च उत्पन्नस्य व्याप्ति-निश्चयस्य वलवद् वाधकमस्ति येन औत्सर्गिक प्रामाण्यमपोद्येत।

—वही, पृ० २४।

और फिर भी केवल कहने मात्र के लिये यह कहते हैं कि सर्व अनुमान में शंकाओं के अस्तित्व की सम्भावना बनी रहती है।[1]

उपरोक्त विवेचन से जो मुख्य बातें फलित होती हैं वे यह हैं कि जबकि श्रीहर्ष यह युक्ति देंगे कि किसी व्याप्ति-प्रत्यय की प्रामाणिकता को खतरे में डालने वाली शंकाओं का तर्क निवारण नहीं कर सकता और जब नैयायिक यह मानेंगे कि व्याप्ति-प्रत्ययों से शंकाओं को निवृत्त करने के अपने व्यापार के कारण 'तर्क' सर्व अनुमान-प्रक्रियाओं का एक तत्व है, वहां व्यासतीर्थ यह युक्ति देते हैं कि यद्यपि शंका-निवारण में 'तर्क' की योग्यता को स्वीकृत किया जाता है, तथापि चूंकि अनेक अनुमानों में 'तर्क' की सहायता की अपेक्षा रखने वाली शंकाएं उत्पन्न ही नहीं होगी अतः यह कहना सत्य नहीं है कि 'तर्क' सर्व अनुमानों में एक अनिवार्य तत्व है।[2] उपरोक्त कथन से ऐसा प्रतीत होगा कि 'तर्क' के यथार्थ व्यापार के सम्बन्ध में न्याय-सम्प्रदाय में कुछ सूक्ष्म मतभेद है। किन्तु सामान्य प्रवृत्ति 'तर्क' के व्यापार को शंका-निवारण तक सीमित रखना है और इस प्रकार व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण में सहायता देना है, परन्तु वह प्रत्यय रूप में व्याप्ति-प्रत्यय को उत्पन्न नहीं करता (न तु व्याप्ति-ग्राहक) और न वह विशेष आगमनों को प्रकृति की एकरूपता के सामान्य सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा सत्यापित करता है।[3]

---

[1] वही, पृ० २५-३१।

[2] किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि न्याय अनुमान के सर्व उदाहरणों में 'तर्क' की आवश्यकता का आग्रह करेंगे। प्राचीन न्याय-लेखक इस विषय पर स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहते, किन्तु विश्वनाथ अपनी 'मुक्तावली' में कहते हैं कि तर्क केवल उन्हीं उदाहरणों में आवश्यक होता है जहाँ व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण में संदेह हों। जहाँ स्वभावतः कोई शंकाएँ उत्पन्न नहीं हों वहाँ 'तर्क' की कोई आवश्यकता नहीं होती (यत्र स्वतैव शंका नावतरति तत्र न तर्कापेक्षापीति)। 'मुक्तावली', १३७।

किन्तु 'मुक्तावली' १३७ पर अपनी 'टीका' में दिनकर के विचार में 'तर्क' दो प्रकार के होते हैं, संशय-परिशोधक एवं व्याप्ति-ग्राहक (तर्कश्च द्विविधो संशय-परिशोधका व्याप्ति-ग्राहकश्च)। पर यह ऊपर दिये गये वर्धमान के मत से प्रत्यक्ष विरोध में है।

[3] इस विषय पर 'हिन्दू रसायन-शास्त्र का इतिहास' (पृ० २६४) में डा० पी० सी० राय द्वारा 'तर्क' के विषय में डा० सील के संक्षिप्त उल्लेखों का विवरण सही शब्दों में नहीं दिया गया है। वहाँ वे कहते हैं–'तर्क' अथवा 'ऊह' इस प्रकार, प्रकृति की एकरूपता एवं कारणता के उन सिद्धान्तों के उपनय द्वारा विशेष आगमनों के सत्यापन एवं न्याय-संगति की स्थापना को कहते हैं, जो स्वयं 'भूयो-दर्शन' तथा एकरूपता अथवा कारणता के अगणित विशेष आगमनों के अभिनिश्चय पर निर्भर

अबतक व्यासतीर्थ ने 'तर्क' शब्द का प्रयोग 'न्याय' द्वारा स्वीकृत अर्थ में किया है और उस अर्थ में प्रयोग करते हुए उन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि शंकाओं का निवारण व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण के लिये अपरिहार्य नहीं है। किन्तु उनके अनुसार 'तर्क' साध्याभाव के कारण साधनाभाव के ज्ञान की अनिवार्य उत्पत्ति में निहित है, इस दृष्टिकोण से देखने पर वह 'अनुमान' से एकरूप हो जाता है। जयतीर्थ भी अपनी 'प्रमाण-पद्धति' में कहते हैं कि 'तर्क' का अर्थ है किसी विशेष धर्म अथवा वस्तु (साधन) के प्रत्यक्षीकरण करने अथवा अंगीकार करने पर किसी अन्य वस्तु (साध्य) की अनिवार्य मान्यता को स्वीकार करना (कस्यचिद् धर्मस्यांगी कारेर्थान्तरस्यापादनं तर्कः)।[1] यह अंगीकार करने पर कि पर्वत में वह्नि नहीं है, हमें अनिवार्यतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसमें धूम नहीं है, यह 'तर्क' है और 'अनुमान' भी है।[2] इस प्रकार 'तर्क' वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक परिकल्पना की मान्यता स्वभावतः निष्कर्ष की सत्यता को सिद्ध करती है। इसलिये यह एक 'प्रमाण' अथवा ज्ञान का प्रामाणिक साधन है और इसे संशय अथवा मिथ्या ज्ञान नहीं माना जाना चाहिये, जैसाकि कुछ न्याय-लेखकों ने किया, अथवा जैसाकि अन्य न्याय-लेखकों ने माना, इसे संशय और 'निर्णय' से भिन्न नहीं समझना चाहिये। इस प्रकार व्यासतीर्थ के अनुसार 'तर्क' का दोहरा व्यापार होता है, एक तो शकाओं के निवारक एवं अन्य प्रमाणों के सहायक के रूप में और दूसरा अनुमान के रूप में। व्यासतीर्थ जो मुख्य बात उदयन (जो यह मानते हैं कि तर्क का उपयोग केवल अनिष्ट मान्यताओं का निवारण करना है) और वर्धमान (जो यह मानते हैं कि तर्क का उपयोग केवल साध्याभाव के संदेह का निवारण

करते हैं (भूयो-दर्शन-जनित-संस्कार-सहितमिन्द्रियमेव स्वाभाविक सम्बन्ध-ग्राहि वाचस्पति)। इस प्रकार 'तर्क' 'संदेह'—निवारण में भी सहायक होता है।

'व्याप्ति' प्रत्यय के निर्माण-मार्ग को साफ करने में उसके कार्य व्यापार पर : 'मार्ग-साधन-द्वारेण तर्कस्य ताव-ज्ञानार्थत्वमिह विवक्षितम्'। 'न्याय-मंजरी' पृ० ५८६ देखिए। मथुरानाथ भी निर्देश करते हैं कि 'तर्क' का कार्य-व्यापार ऐसे आधारों को प्रदान करना है कि संशय उत्पन्न न हो सके, किन्तु वह 'व्याप्ति-ग्राहक' नहीं होता (तर्कः शंकानुतपत्तौ प्रयोजकः——)।

—'तत्व-चिन्तामणि', भाग २, पृ० २४० पर मथुराराय।

[1] 'प्रमाण-पद्धति', पृ० ३६ अ। मन्मते तु अंगीकृतेन साध्याभावेन सह अनंगीकृतस्य साधनाभावस्य व्यापकत्व-प्रमा वा साध्याभावांगीकार-निमित्तक-साधनाभावस्यांगी-कर्त्तव्यत्वप्रमा वा तर्क्यतेऽनेन इति व्युत्पत्त्या तर्कः।

—तर्क-ताण्डव (पां० लि० पृ० ७८)।

[2] पर्वतो निर्धूमत्वेनांगीकर्तव्यः निरग्निकत्वेनांगीकृतत्वाद् हृदवतित्यनुमानमेव तर्कः।

—वही, पृ० ८४।

पाप-पूर्ण है क्योंकि वह वेदों में वर्जित है और वह वेदों में वर्जित है क्योंकि वह पाप-पूर्ण है, यहाँ दोनों वृतों में 'समवृत्ति' है। दूसरे, जब एक वृत्त दूसरे से छोटा हो, जैसे धूम एवं वह्नि के उदाहरण में (न्यूनाधिक-वृत्ति), वह्नि का वृत्त धूम के वृत्त से बड़ा है अतएव हम धूम को वह्नि से अनुमित कर सकते हैं, पर वह्नि को धूम से नहीं—'व्याप्य' 'व्यापक' से छोटा है। तीसरे, जहाँ दोनों वृत परस्पर अपवर्जित हों (परस्पर-परिहारेणैव वर्तते) यथा, 'गोत्व' का जाति-प्रत्यय और 'अश्वत्व' का जाति-प्रत्यय, जहाँ एक होता है वहाँ दूसरा नहीं होता। यहाँ अपवर्जन का सम्बन्ध है न कि 'व्याप्य' एवं 'व्यापक' का सम्बन्ध। चौथे, जहाँ दोनों कभी तो परस्पर अपवर्जित होते हैं और फिर भी कभी-कभी उनमें समवृत्ति पाई जाती है; जैसे, भोजन स्त्रियों द्वारा पकाया जाता है, फिर भी पुरुष भी भोजन पकाते हैं, भोजन पकाने और पुरुषों में परस्पर अपवर्जन है, यद्यपि कुछ पुरुष ऐसे हो सकते हैं जो भोजन पकाते हैं (क्वचित् समाविष्ट अपि क्वचित् परस्पर-परिहारेणैव वर्तते)। भोजन पकाने का वृत पुरुषों एवं स्त्रियों में विभक्त होता है। यहाँ भी पुरुषों और भोजन पकाने में एक सम्बन्ध है, किन्तु वह अचूक (अव्यभिचारिता) नहीं है, अव्यभिचारी सम्बन्ध का अर्थ यह है कि जहाँ एक है वहाँ दूसरा भी होना चाहिये।

जब एक मनुष्य वह्नि एवं धूम के अस्तित्व का निरीक्षण करता है, तब वह अपने मन में सहज ही विचार करता है, 'क्या इसी स्थान में वह्नि एवं धूम साथ-साथ दृष्टि-गोचर होते हैं, जबकि अन्य स्थानों में और अन्य कालों में एक की उपस्थिति दूसरे की उपस्थिति का अपवर्जन करती है, अथवा क्या वे साथ-साथ पाये जाते हैं,' फिर अनेक उदाहरणों का निरीक्षण करने पर वह पाता है कि जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है और जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ धूम नहीं है तथा कम से कम कुछ उदाहरणों में वह्नि है किन्तु धूम नहीं है। इन निरीक्षणों के पश्चात् इस प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं—'चूंकि, यद्यपि अनेक उदाहरणों में वह्नि का धूम के साथ साहचर्य है और कम से कम कुछ उदाहरणों में जहाँ धूम नहीं है वहाँ वह्नि पाई जाती है, इसलिये क्या धूम,—यद्यपि मुझे ज्ञात सब उदाहरणों में वह वह्नि के साथ अस्तित्व रखता है, कभी उसके बिना अस्तित्व रखता है अथवा क्या वह सदा वह्नि से साहचर्य रखता है?' पुनः यह विचार उत्पन्न होता है कि धूम का वह्नि से सम्बन्ध आर्द्र ईंधन (आर्द्रेन्धन) द्वारा निर्धारित होता है, जिसे एक 'उपाधि' कहा जा सकता है, अर्थात् यदि यह उपाधि नहीं होती तो वह्नि का धूम से और धूम का वह्नि से निरपेक्ष साहचर्य होता। यह उपाधि धूम के सब उदाहरणों में अस्तित्व रखती है किन्तु वह्नि के सब उदाहरणों में नहीं।[1] जहाँ साहचर्य इस प्रकार की उपाधि से निर्धारित नहीं होता, वहाँ वह सार्वभौम रूप से पारस्परिक होता

---

[1] इसलिये यह उपाधि 'पर्वत में धूम्र है चूंकि वहाँ अग्नि है' अनुमान को असत्य बना देगी।

है। कुछ ऐसे गुण हैं जो वह्नि और धूम में उभयनिष्ठ हैं (यथा, ये दोनों प्रमेय हैं, यथा, प्रमेयत्वम्) और इनके द्वारा सम्बन्ध निर्धारित नहीं हो सकता। कुछ अन्य गुण हैं जो धूम अथवा वह्नि में नहीं पाये जाते हैं तथा इनसे भी सम्बन्ध निर्धारित नहीं हो सकता। ईंधन की आर्द्रता की उपस्थिति-रूप उपाधि ही अपने अभाव से वह्नि को धूम से विलग कर सकती है, पर धूम को वह्नि से विलग नहीं कर सकती। यदि ऐसी कोई उपाधि होती जो वह्नि के सब उदाहरणों में विद्यमान होती परन्तु धूम के सब उदाहरणों में नहीं होती, तो धूम से वह्नि का अनुमान उतना ही दोषपूर्ण होता जितना वह्नि से धूम का अनुमान। अब, जहां तक हमने निरीक्षण किया है, ऐसी कोई उपाधि नहीं है जो वह्नि के सब उदाहरणों में उपस्थित हो किन्तु धूम के सब उदाहरणों में न हो, यह भय अवैध है कि कुछ ऐसी उपाधियां हैं जो हमारी इन्द्रियों के लिये अति सूक्ष्म हैं, क्योंकि यदि वह अन्य प्रमाणों द्वारा न तो प्रत्यक्ष की जाती है और न ज्ञात की जाती है (प्रमाणान्तर-वेद्य), तो यह शंका उत्पन्न नहीं हो सकती कि वह फिर भी किसी प्रकार अस्तित्व रख सकती है। अतः जब हम संतुष्ट हो जाते हैं कि कोई उपाधियाँ नहीं हैं, तब नियत व्याप्ति के प्रत्यय का उदय होता है (अविनाभाव-प्रमितिः)।[1] अतः नियत व्याप्ति को ऐसे व्यापक अनुभव की सहायता से प्रत्यक्षीकरण द्वारा ग्रहण किया जाता है जिसके साथ उपसाधनों के रूप में साहचर्य के अपवाद के ज्ञान का अभाव तथा उपाधियों के अभाव का निश्चय क्रियान्वित रहता है। जब एक बार धूम और अग्नि के परस्पर नियत सम्बन्ध को ग्रहण कर लिया जाता है, तब जहाँ धूम का प्रत्यक्षीकरण होता है वहाँ वह्नि को अनुमित किया जाता है।[2] व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण का यह वर्णन न्यूनाधिक न्याय-मत के समान ही प्रतीत होता है, वहाँ भी अपवाद के अभाव के ज्ञान के रहित साहचर्य का प्रत्यक्षीकरण व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण को प्रेरित करता है।[3]

---

[1] यहाँ व्यासतीर्थ कहते हैं कि उपाधियों के अभाव का अभिनिश्चय उन अधिकांश उदाहरणों में आवश्यक होता है जहाँ उनके सम्भाव्य अस्तित्व के प्रति शंकाएँ हों, किन्तु सर्व उदाहरणों में उसकी अपरिहार्यता का आग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस दशा में उपाधियों के अभाव का अभिनिश्चय व्याप्ति के निर्धारण पर आधारित होने के कारण तथा वह उपाधियों के अभाव के पूर्व अभिनिश्चय पर आधारित होने के कारण 'अनवस्था' दोप उत्पन्न हो जायगा। 'या तु पद्धतवुपाधि-निश्चयस्य सहकारित्वोक्तिः सा तु उपाधि-शंकास्थाभिप्राया न तु सार्वत्रिकाभिप्राया अन्यथा उपाध्याभावनिश्चयस्य व्याप्ति-सापेक्ष-तर्काधीनत्वेन-नवस्थापातात्।'

—'तर्क-ताण्डव' (पां० लि० पृ० २२)।

[2] 'प्रमाण-पद्धति', पृ० ३१–५।

[3] 'व्यभिचार-ज्ञान-विरह-सहकृतं सहचार-दर्शनं व्याप्ति-ग्राहकम्।'

अनुमान में ज्ञानमीमांसात्मक प्रक्रिया

न्याय का मत है कि जब धूम एवं वह्नि के मध्य स्थित व्याप्ति-सम्बन्ध से परिचित कोई व्यक्ति एक पर्वत पर धूम देखता है तो वह व्याप्ति-सम्बंध का स्मरण (व्याप्ति-स्मरण) करता है कि वह धूम वह्नि से नियत एवं निरुपाधिक सम्बन्ध रखता है।[1] फिर दोनों प्रत्ययों का सम्बन्ध स्थापित होता है, अर्थात्, वह धूम, जिसका वह्नि से निरुपाधिक नियत सम्बन्ध है, पर्वत में विद्यमान है। ज्ञान का यह तीसरा संश्लेषण ही हमें पर्वत में वह्नि के अनुमान की ओर प्रेरित करता है। 'न्याय-सुधा' का अनुसरण करते हुए व्यासतीर्थ यह युक्ति देते हैं कि उपरोक्त मत उन सभी उदाहरणों में सत्य हो सकता है जहाँ हेतु को बिना देखे व्याप्ति का स्मरण होता है वहाँ यह त्रिविध संश्लेषण स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु प्रभाकर यह मानते हैं कि समस्त अनुमान दो पृथक् तर्क-वाक्यों से अग्रसर होता है तथा संश्लेषण की कोई अपेक्षा नहीं रहती। दो तर्क-वाक्य हैं 'धूम वह्नि से व्याप्य है' और 'पर्वत वह्निमान है।' प्रभाकर का मत है कि चूंकि इन दो तर्क-वाक्यों में निरूपित ज्ञान समस्त अनुमान से नियत एवं निरुपाधिक रूप से पूर्व आना चाहिए, इसलिए यह विश्वास करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि उनका संश्लेषण अनुमान का कारण है, क्योंकि वस्तुतः ऐसा कोई संश्लेषण घटित नहीं होता। परन्तु व्यासतीर्थ युक्ति देते हैं कि इस प्रकार का विश्लेषण अनुमान एवं अन्य मानसिक प्रक्रियाओं, यथा प्रत्याह्वान आदि में एक यथार्थ मनोवैज्ञानिक अवस्था होता है। इसके अतिरिक्त, यदि धूम (जिसके साथ वह्नि नियत रूप से उपस्थित पाई गई थी) और पर्वत में अब देखे गये धूम की एकरूपता की दो तर्क-वाक्यों के संश्लेषण के द्वारा स्थापना नहीं की जाती तो न्याय-वाक्य में चार पद हो

'तत्व-चिन्तामणि' पृ० २१०। जैसाकि पहले ही ऊपर वर्णन कर दिया गया है, व्याप्ति के प्रति वैध शंकाएं 'तर्क' द्वारा दूर की जा सकती हैं।

'न्याय-सुधा' का अनुसरण करते हुए व्यासतीर्थ 'उपाधि' की 'साध्य-व्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिरिति' के रूप में परिभाषा देते हैं, तथा वे 'साध्य-सम-व्याप्तत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः' के रूप में उदयन की परिभाषा और 'पर्यवसित-साध्य-व्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः' के रूप में गंगेश की परिभाषा के प्रति आपत्ति उठाते हैं। किन्तु, जैसी कि ऊपर व्याख्या की जा चुकी है, इन विभिन्न परिभाषाओं द्वारा निर्दिष्ट अभिप्राय वही है। उक्त विभेद तार्किक अथवा दर्शन-सम्बंधी होने के बजाय शाब्दिक एवं पाण्डित्यपूर्ण अधिक है। 'उपाधि' पर समस्त विवेचन को देखिये व्यासतीर्थ के 'तर्क-ताण्डव' (पां० लि० पृ० ४८-६१) में।

[1] 'अयं धूमो वह्नि-व्याप्य' अथवा 'वह्नि-व्याप्य-धूमवान अयमिति'।

—न्याय-मत।

जाते, अतएव वह दोषपूर्ण हो जाता।[1] पुनः अनुमान में निहित विचार का संचलन इस प्रकार के संश्लेषण की अपेक्षा रखता है जिसके बिना दोनों तर्क-वाक्य सम्बन्ध-रहित एवं स्थैतिक (निष्पादक) बने रहेंगे और कोई अनुमान फलित नहीं होगा।

अनुमान के सम्बन्ध में विभिन्न विचार

अनुमान तीन प्रकार का होता है–(१) कार्यानुमान–कारण का कार्य से अनुमान, यथा वह्नि का धूम से अनुमान, (२) कारणानुमान–कार्य का कारण से अनुमान, यथा वर्षा का घिरते हुए बादलों से अनुमान, (३) अकार्य–कारणानुमान–कारण-कार्य प्रकारों से एक भिन्न स्तर का अनुमान, यथा रस से रूप का अनुमान (रसे रूपस्य)। एक अन्य दृष्टिकोण से अनुमान दो प्रकार का होता है–(१) दृष्ट, जहाँ अनुमित पदार्थ 'प्रत्यक्ष-योग्य' होता है, यथा वह्नि का धूम से अनुमान, और (२) सामान्यतो-दृष्ट जहाँ वह 'प्रत्यक्ष-योग्य' नहीं होता (प्रत्यक्षायोग्य), यथा रूप के प्रत्यक्षीकरण से चक्षु-इन्द्रिय का अनुमान। 'दृष्ट' एवं 'अदृष्ट' में अनुमान का यह विभाजन एक अन्य दृष्टिकोण से भी किया जा सकता है। यथा, जब दो वस्तुओं के मध्य व्याप्ति के साक्षात् निरीक्षण के आधार पर अनुमान किया जाता है (यथा, वह्नि और धूम), तब वह 'दृष्ट' कहलाता है, किन्तु, जब एक अनुमान समानता अथवा सादृश्यता के आधार पर किया जाता है तब वह 'सामान्यतो-दृष्ट' कहलाता है, यथा यह अनुमान कि जैसे हल चलाना आदि, फसल की उत्पत्ति को प्रेरित करते हैं वैसे यज्ञ भी स्वर्गीय सुखों को उत्पन्न करते हैं क्योंकि उनमें यह सादृश्य है कि दोनों प्रत्यन के फल हैं। पुनः अनुमान दो प्रकार का माना जा सकता है–(१)साधनानुमान–एक प्रमा से दूसरी प्रमा का अनुमान, यथा, वह्नि का धूम से, (२) दूषणानुमान–मिथ्या ज्ञान का अनुमान, यथा यह अपने निष्कर्ष को सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि इसका अनुभव से व्याघात होता है। 'पुनः कुछ विद्वान् मानते हैं कि अनुमान तीन प्रकार का होता है (१) उपस्थिति में पूर्ण अन्वय के आधार पर (जहाँ व्यतिरेक का कोई उदाहरण सम्भव नहीं होता), (२) पूर्ण व्यतिरेक के आधार पर (जहाँ कोई बाह्य अन्वय का उदाहरण सम्भव नहीं होता), (३) संयुक्त अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर, इस दृष्टिकोण से वह 'केवलान्वयी' (असम्भाव्य-व्यतिरेक), 'केवलव्यतिरेकि' (असम्भाव्य-अन्वय), और 'अन्वय-व्यतिरेकि' (संयुक्त अन्वय-व्यतिरेक) कहलाता है। इस प्रकार 'सब ज्ञेय पदार्थ वाच्य हैं' तर्क-

---

[1] एवं च किंचित प्रमेय वह्नि-व्याप्यं पर्वतश्च प्रमेयवान इति ज्ञान-द्वयमिव कश्चिद धर्मो वह्नि-व्याप्यः पर्वतश्च धूमवनिति विश-कलितं परस्पर-वर्तनाभिज्ञं ज्ञान-द्वयमपि नानुमिति हेतुः।

–तर्क-ताण्डव, (पां० लि० पृ० ६८)।

की तथा वह उनको नित्य स्मरण रखता है, अतः शब्दों के वैदिक क्रम के नष्ट होने की कोई सम्भावना नहीं है। साधारणतया तथ्यों की प्रामाणिकता का दावा उनको अभिव्यक्त करने वाले शब्दों से अग्रिम होता है तथा पश्चादुक्त पूर्वोक्त पर आश्रित रहते हैं, किन्तु वेदों में शब्द एवं अवतरणों में एक ऐसी प्रामाणिकता होती है जो तथ्यों से अग्रिम है तथा उनसे स्वतंत्र है। इस प्रकार मध्व-मत न्याय अथवा मीमांसा मतों से असहमत होते हुए दोनों का सामंजस्य करता है।

अध्याय २९

द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों के मध्य विवाद

जगत के मिथ्यात्व पर व्यासतीर्थ, मधुसूदन और रामाचार्य

वेदान्तियों का आग्रह है कि जगत-प्रपंच मिथ्या है। किन्तु मिथ्यात्व के स्वरूप से सम्बंधित विवेचन मे प्रविष्ट होने से पूर्व वेदान्तियों को मिथ्यात्व की परिभाषा देनी चाहिये। प्राचीन वेदान्तियों द्वारा पांच प्रमुख परिभाषाएँ दी गई हैं, उनमें से पहली यह है कि मिथ्यात्व वह है जो सत् एवं असत् दोनों का अत्यन्ताभाव हो (सत्वात्यन्ता-भावत्वे सति असत्वात्यन्ता-भावत्व-रूप विशिष्टम्)'।[1] किन्तु व्यासतीर्थ का आग्रह है कि चूंकि इनमें से एक दूसरे का निषेध है इसलिये दोनों का संयुक्त कथन विमध्य-नियम के विरुद्ध होगा अतएव आत्म-विरोधी होगा और असत् दोनों को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया जा सकता है, पर इस तथ्य से यह स्थापित नहीं होता कि उनकी संयुक्त स्वीकृति की जाय (यथा, शश और शृंग पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं, पर शश-शृंग का कहीं भी अस्तित्व नही होता)। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि विमध्य-नियम सत् और असत् के प्रत्येक उदाहरण में लागू नहीं होता। इस प्रकार मिथ्या आभास जहाँ तक भासित होते हैं वे सत् हैं, और जहाँ तक उनका अनस्तित्व है वे असत् हैं, सत् का अपवर्जन हमें अनिवार्यतः असत् पर नहीं ले जाता और इसका विलोम भी सत्य है। इसका 'तरंगिणी' के लेखक द्वारा दिया गया प्रत्युत्तर यह है कि शंकरवादी स्वयं यह कहते हैं कि यदि एक वस्तु का अस्तित्व नहीं है तो वह भासित नहीं हो सकती, जिससे प्रदर्शित होता है कि वे स्वयं विमध्य-नियम को स्वीकार करते हैं तथा जैसाकि तर्क-शास्त्र सत् और असत् के किसी भी एवं प्रत्येक सम्बन्ध-विशेष के परीक्षण में प्रचुर प्रदर्शन करता है उक्त नियम के बल को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। शंकरवादियों द्वारा दी गई मिथ्यात्व की दूसरी परिभाषा यह है कि मिथ्यात्व वह है जिसके अस्तित्व का आभास होने पर भी उसका तीनों कालों में निषेध किया जा सके (प्रति-पन्नोपाधु त्रैकालिक निषेध-प्रतियोगित्व)। इसका व्यासतीर्थ उत्तर

---

[1] 'न्यायमृत,' पृ० २२।

देते हैं कि यदि निषेध सत्य है तो यह सत्य वस्तु ब्रह्म के समतुल्य अस्तित्व रक्खेगी और इस प्रकार चरम अद्वैतवादी सिद्धान्त खण्डित हो जायगा (निषेधस्य तत्त्विकत्वे अद्वैत-हानिः), यदि निषेध केवल एक सीमित रूप से (व्यावहारिक) असत्य अथवा सत्य है तो जगत-प्रपंच सत्य हो जायगा। पुनः, इस निषेध का वस्तुतः अर्थ क्या है? तथाकथित आभास एक उपादान कारण से उत्पन्न बताए जाते हैं तथा वे प्रत्यक्षीकरण के समय सत् रूप में प्रत्यक्ष किये जाते हैं, और यदि यह माना जाय कि फिर भी उनका कोई अस्तित्व नहीं है, तो काल्पनिक शश-शृंग की भाँति वे सर्वथा असत् होने चाहिये। यदि यह माना जाय कि जगदाभास का शश-शृंग आदि कल्पित सत्ताओं से यह भेद है कि वे पूर्ण-रूपेण अनिर्वचनीय हैं तो उत्तर यह है कि स्वयं 'अनिर्वचनीय' पद उनके स्वरूप का वर्णन कर देता है। पुनः, जो पूर्णतः असत् है वह किसी प्रकार से ज्ञान में भासित नहीं हो सकता (असतः अ-प्रतीताव्), अतएव उसके प्रति उल्लेख करना अथवा उसे किसी भी प्रकार से किसी अन्य वस्तु से सम्बंधित करना सम्भव नहीं है। शंकरवादी स्वयं यह मानते हैं कि जो असत् है वह ज्ञान में भासित नहीं हो सकता (असत् चेन् न प्रतीयेत), और इस प्रकार वे स्वयं असत् वस्तु के ज्ञान में आभास-मात्र ही नहीं होती। फलतः यदि ब्रह्मन् सदा ज्ञान में अबाधित रहता तो उस आधार पर उसकी यथार्थता का अभिवचन नहीं किया जा सकता था। पुनः यह सत्य नहीं है कि शश-शृंग की भाँति सर्वथा असत् एवं काल्पनिक वस्तुओं का निर्देश करने वाले शब्द कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि वे भी एक प्रत्यय को उत्पन्न करते हैं, साधारण भ्रमों एवं काल्पनिक वस्तुओं में यह अन्तर है कि जहाँ साधारण भ्रमों का अधिष्ठान सत्य एवं प्रामाणिक होता है, वहाँ काल्पनिक वस्तुओं का कोई अधिष्ठान नहीं होता। अतः, चूँकि काल्पनिक वस्तुएँ भी चेतना की विषय बनाई जा सकती हैं, इसलिये वे ज्ञान में असत् के रूप में भासित होती हैं। वैदिक पाठ 'असत् ही प्रारम्भ में अस्तित्व रखता था' (असदेव इदमग्र आसीत्) भी इस तथ्य की साक्ष्य देता है कि 'असत्' सत् के रूप में भासित हो सकता है। फिर असत् की यह परिभाषा नहीं दी जा सकती कि वह मात्र 'सत्' तथा 'अनिर्वाच्य' से भिन्न होता है, क्योंकि पश्चादुक्त को 'असत्' के प्रत्यय के द्वारा ही समझा जा सकता है तथा इसका विलोम भी सत्य है। इस प्रकार 'असत्' की यह परिभाषा दी जा सकती है कि वह उस सत् से भिन्न है जिसका सर्वत्र त्रिकाल में निषेध कदापि नहीं किया जा सकता (सार्वत्रिक-त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगित्व-रूप-सदन्यस्यैव तत्वाच्च)। यदि 'अनिर्वाच्य' की यह परिभाषा दी जाय कि अनिर्वाच्य वह है जिसका त्रिकाल में निषेध किया जा सकता है, तो वह स्वयं असत् से एकरूप हो जाता है। असत् की भी यह परिभाषा नहीं दी जा सकती कि असत् वह है जो किसी व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता, क्योंकि शुक्ति-रजत भी, जिसे असत् स्वीकृत किया जाता है, एक संभ्रान्त व्यक्ति में उसे ग्रहण करने के प्रयास को उत्पन्न करने में सहायक हो सकती है और इस प्रकार उसमें एक तरह की प्रवृत्ति-

अध्याय २९

द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों के मध्य विवाद

जगत के मिथ्यात्व पर व्यासतीर्थ, मधुसूदन और रामाचार्य

वेदान्तियों का आग्रह है कि जगत-प्रपंच मिथ्या है। किन्तु मिथ्यात्व के स्वरूप से सम्बंधित विवेचन में प्रविष्ट होने से पूर्व वेदान्तियों को मिथ्यात्व की परिभाषा देनी चाहिये। प्राचीन वेदान्तियों द्वारा पांच प्रमुख परिभाषाएँ दी गई हैं, उनमें से पहली यह है कि मिथ्यात्व वह है जो सत् एवं असत् दोनों का अत्यन्ताभाव हो (सत्वात्यन्ता-भावत्वे सति असत्वात्यन्ता-भावत्व-रूप विशिष्टम्)'।[1] किन्तु व्यासतीर्थ का आग्रह है कि चूंकि इनमें से एक दूसरे का निषेध है इसलिये दोनों का संयुक्त कथन विमध्य-नियम के विरुद्ध होगा अतएव आत्म-विरोधी होगा और असत् दोनों को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया जा सकता है, पर इस तथ्य से यह स्थापित नहीं होता कि उनकी संयुक्त स्वीकृति की जाय (यथा, शश और शृंग पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं, पर शश-शृंग का कहीं भी अस्तित्व नहीं होता)। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि विमध्य-नियम सत् और असत् के प्रत्येक उदाहरण में लागू नहीं होता। इस प्रकार मिथ्या आभास जहाँ तक भासित होते हैं वे सत् हैं, और जहाँ तक उनका अनस्तित्व है वे असत् हैं, सत् का अपवर्जन हमें अनिवार्यत: असत् पर नहीं ले जाता और इसका विलोम भी सत्य है। इसका 'तरंगिणी' के लेखक द्वारा दिया गया प्रत्युत्तर यह है कि शंकरवादी स्वयं यह कहते हैं कि यदि एक वस्तु का अस्तित्व नहीं है तो वह भासित नहीं हो सकती, जिससे प्रदर्शित होता है कि वे स्वयं विमध्य-नियम को स्वीकार करते हैं तथा जैसाकि तर्क-शास्त्र सत् और असत् के किसी भी एवं प्रत्येक सम्बन्ध-विशेष के परीक्षण में प्रचुर प्रदर्शन करता है उक्त नियम के बल को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। शंकरवादियों द्वारा दी गई मिथ्यात्व की दूसरी परिभाषा यह है कि मिथ्यात्व वह है जिसके अस्तित्व का आभास होने पर भी उसका तीनों कालों में निषेध किया जा सके (प्रति-पन्नोपाधु त्रैकालिक निषेध-प्रतियोगित्व)। इसका व्यासतीर्थ उत्तर

---

[1] 'न्यायमृत,' पृ० २२।

देते हैं कि यदि निषेध सत्य है तो यह सत्य वस्तु ब्रह्म के समतुल्य अस्तित्व रक्खेगी और इस प्रकार चरम अद्वैतवादी सिद्धान्त खण्डित हो जायगा (निषेधस्य तत्त्विकत्वे अद्वैत-हानिः), यदि निषेध केवल एक सीमित रूप से (व्यावहारिक) असत्य अथवा सत्य है तो जगत-प्रपंच सत्य हो जायगा। पुनः, इस निषेध का वस्तुतः अर्थ क्या है? तथाकथित आभास एक उपादान कारण से उत्पन्न बताए जाते हैं तथा वे प्रत्यक्षीकरण के समय सत् रूप में प्रत्यक्ष किये जाते हैं, और यदि यह माना जाय कि फिर भी उनका कोई अस्तित्व नहीं है, तो काल्पनिक शश-शृंग की भाँति वे सर्वथा असत् होने चाहिये। यदि यह माना जाय कि जगदाभास का शश-शृंग आदि कल्पित सत्ताओं से यह भेद है कि वे पूर्ण-रूपेण अनिर्वचनीय हैं तो उत्तर यह है कि स्वयं 'अनिर्वचनीय' पद उनके स्वरूप का वर्णन कर देता है। पुनः, जो पूर्णतः असत् है वह किसी प्रकार से ज्ञान में भासित नहीं हो सकता (असतः अ-प्रतीताव्), अतएव उसके प्रति उल्लेख करना अथवा उसे किसी भी प्रकार से किसी अन्य वस्तु से सम्बंधित करना सम्भव नहीं है। शंकरवादी स्वयं यह मानते हैं कि जो असत् है वह ज्ञान में भासित नहीं हो सकता (असत् चेत् न प्रतीयेत), और इस प्रकार वे स्वयं असत् वस्तु के ज्ञान में आभास-मात्र ही नहीं होती। फलतः यदि ब्रह्मन् सदा ज्ञान में अबाधित रहता तो उस आधार पर उसकी यथार्थता का अभिवचन नहीं किया जा सकता था। पुनः यह सत्य नहीं है कि शश-शृंग की भाँति सर्वथा असत् एवं काल्पनिक वस्तुओं का निर्देश करने वाले शब्द कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि वे भी एक प्रत्यय को उत्पन्न करते हैं, साधारण भ्रमों एवं काल्पनिक वस्तुओं में यह अन्तर है कि जहाँ साधारण भ्रमों का अधिष्ठान सत्य एवं प्रामाणिक होता है, वहाँ काल्पनिक वस्तुओं का कोई अधिष्ठान नहीं होता। अतः, चूँकि काल्पनिक वस्तुएँ भी चेतना की विषय बनाई जा सकती हैं, इसलिये वे ज्ञान में असत् के रूप में भासित होती हैं। वैदिक पाठ 'असत् ही प्रारम्भ में अस्तित्व रखता था' (असदेव इदमग्र आसीत्) भी इस तथ्य की साक्ष्य देता है कि 'असत्' सत् के रूप में भासित हो सकता है। फिर असत् की यह परिभाषा नहीं दी जा सकती कि वह मात्र 'सत्' तथा 'अनिर्वाच्य' से भिन्न होता है, क्योंकि पश्चादुक्त को 'असत्' के प्रत्यय के द्वारा ही समझा जा सकता है तथा इसका विलोम भी सत्य है। इस प्रकार 'असत्' की यह परिभाषा दी जा सकती है कि वह उस सत् से भिन्न है जिसका सर्वत्र त्रिकाल में निषेध कदापि नहीं किया जा सकता (सार्वत्रिक-त्रैकालिक-निषेध-प्रतियो-गित्व-रूप-सदन्यस्यैव तत्वाच्च)। यदि 'अनिर्वाच्य' की यह परिभाषा दी जाय कि अनिर्वाच्य वह है जिसका त्रिकाल में निषेध किया जा सकता है, तो वह स्वयं असत् से एकरूप हो जाता है। असत् की भी यह परिभाषा नहीं दी जा सकती कि असत् वह है जो किसी व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता, क्योंकि शुक्ति-रजत भी, जिसे असत् स्वीकृत किया जाता है, एक संभ्रान्त व्यक्ति में उसे ग्रहण करने के प्रयास को उत्पन्न करने में सहायक हो सकती है और इस प्रकार उनमें एक तरह की प्रवृत्ति-

सामर्थ्य मानी जा सकती है तथा विशुद्ध ब्रह्मन्, जिसे सत्य सत्ता माना जाता है, स्वयं किसी प्रकार के व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति करने में असमर्थ होता है। पुनः मिथ्यात्व अथवा असत् की यह कहकर परिभाषा नहीं दी जा सकती कि उसका अपना कोई स्वरूप नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो यह नहीं कहा जा सकता था कि मिथ्यात्व का निषेध स्वयं उसके स्वरूप पर लागू होता है और न मिथ्यात्व का स्वरूप स्वयं मिथ्या माना जा सकता है, क्योंकि ऐसी व्याख्या केवल मिथ्यात्व के अर्थ की पारिभाषिक मान्यता पर आधारित होगी, और उससे विवादग्रस्त विषय का कोई स्पष्टीकरण नहीं हो पायगा, क्योंकि यदि तथाकथित सत्ता का स्वरूप अपने देश एवं काल में बना रहता है तो उस स्वरूप को स्वयं में मिथ्या कहना अर्थहीन होगा। ऐसी मान्यता का तात्पर्य यह भी होगा कि व्यावहारिक कुशलता में सहायक वस्तु एवं उसमें सहायक न होने वाली वस्तु में कोई विभेदीकरण नहीं किया जाता है, यदि ऐसी वस्तु जो देश काल में बनी रहती है तथा व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति कर सकती है और मिथ्या कही जा सकती है, तो सत् और असत् में कोई भेद नहीं रहेगा यदि ऐसा होता तो सत् का अभाव तन्तु के समान ही पट का कारण कहा जा सकता था। इस प्रकार पूर्ण असत् की यह परिभाषा दी जा सकती है कि पूर्ण असत् वह है जिसका सर्वत्र त्रैकालिक निषेध किया जा सकता है (सर्वत्र त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगित्वं)। यह भी नहीं माना जा सकता है कि असत् इसीलिये पूर्ण निषेध का विषय नहीं बन सकता क्योंकि वह असत् है, जैसाकि आनन्दबोध के 'न्याय-मकरन्द' में कहा गया है, क्योंकि, यदि एक पूर्ण निषेध का कोई विषय नहीं हो सकता तो ऊपर दिये गये इस कारण 'क्योंकि वह असत् है'—का स्वयं कोई विषय नहीं होगा, अतएव वह लागू नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, जैसे भावात्मक सत्ताओं का निषेध किया जा सकता है, वैसे भावात्मक सत्ताओं का उल्लेख करने वाले विशिष्ट निषेधों का भी निषेध किया जा सकता है और इस प्रकार वे अपने अनुरूप स्वीकारात्मक अभिवचनों को प्रेरित कर सकते हैं। पुनः, यह भी स्वीकार किया गया है कि विशिष्ट भावात्मक सत्ताएं 'प्रागभाव' की स्थिति से अपने अनुरूप निषेधों के निषेध द्वारा अस्तित्व में आती हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि नकार अथवा निषेध अपनी प्रक्रिया तथा निषेध के व्यापार के लिये अनिवार्यतः भावात्मक गुणों अथवा सत्ताओं की अपेक्षा नहीं रखता। उक्त विवेचन का एकमात्र निष्कर्ष यह है कि यदि मिथ्यात्व का अर्थ ज्ञान में भासित होने वाली किसी वस्तु का पूर्ण निषेध है तो उसका आशय यह है कि किसी भी सत्ता का अभिवचन नहीं किया जा सकता, क्योंकि मिथ्या अथवा सत्य का अभिवचन केवल ज्ञान में भासित सत्ताओं पर लागू होगा तथा उस दशा में ब्रह्मन् की सत्ता भी सोपाधिक हो जायगी, अर्थात् जहाँ तक वह ज्ञान में भासित होती है। पुनः, पूर्ण निषेध (सर्वत्र त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगित्वं) का काल्पनिक सत्ताओं से विभेद नहीं किया जा सकता। और यदि जिगदाभास पूर्ण निषेध का विषय होता तो उसकी स्थिति काल्पनिक सत्ताओं से तनिक भी वरिष्ठ नहीं होती (यथा, शश-शृंग)।

मिथ्यात्व की परिभाषा के विरुद्ध व्यासतीर्थ की आपत्तियाँ यह हैं कि यदि मिथ्यात्व यथार्थ है तो उससे द्वैतवाद लक्षित होता है और यदि मिथ्यात्व मिथ्या है तो उससे जगत की यथार्थता की पुनः स्वीकृति लक्षित होती है। इनके उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि चूंकि निषेध स्वयं (जहाँ तक उसके चरम अधिष्ठान का सम्बन्ध है) ब्रह्मन् से एकरूप है, इसलिये मिथ्यात्व की यथार्थता से द्वैतवाद लक्षित नहीं होता, क्योंकि निषेध की यथार्थता से उस दृश्य-घटना की यथार्थता लक्षित नहीं होती जिसके निषेध का निषेध समस्त दृश्य-घटनाओं के निषेध द्वारा किया जा चुका है। उसमें केवल उतनी ही यथार्थता है जितनी समस्त दृश्य-घटनाओं के अधिष्ठान, ब्रह्मन् में अन्तर्निहित है। पुनः, मिथ्यात्व के मिथ्यात्व से जगदाभास की यथार्थता की स्वीकृति लक्षित नहीं होती, क्योंकि शुक्ति-रजत के उदाहरण में यद्यपि यह ज्ञात होता है कि न केवल वह मिथ्या था किन्तु, चूँकि उसका सर्वथा अस्तित्व ही नहीं था, वह कभी अस्तित्व नहीं रखता है एवं कदापि अस्तित्व नहीं रक्खेगा, और उसके प्रति मिथ्यात्व का कथन भी मिथ्या है, इसलिये वस्तुतः शुक्ति-रजत् की यथार्थ के रूप में पुनः स्वीकृति नहीं की जाती। यह मानना गलत है कि मिथ्यात्व का मिथ्यात्व अथवा निषेध का निषेध सब दशाओं में पुनः स्वीकृति होता है, केवल उसी दशा में निषेध का निषेध स्वीकृति होता है जब यथार्थता एवं निषेध का एक ही स्तर होता है तथा उनका क्षेत्र एकरूप होता है, किन्तु, जब उनके अर्थ का क्षेत्र भिन्न होता है, तब निषेध के निषेध द्वारा एक स्वीकृति लक्षित नही होती। आगे यह निर्देश किया जा सकता है कि जब निषेध के निषेध द्वारा भावात्मक सत्ता की पुनः स्वीकृति अभिप्रेत होती है, तब निषेध का निषेध स्वीकृति को प्रेरित करता है। पर, जब एक निषेध भावात्मक सत्ता एवं निषेध (जो स्वयं एक पृथक् सत्ता माना जाता है) दोनों का निषेध करता है, तब द्वितीय निषेध स्वीकृति को प्रेरित नहीं करता।[1] जगदाभास का निषेध शुक्ति-रजत के निषेध की भाँति जगदाभास की यथार्थता का स्वरूप से (स्वरूपेण) निषेध होता है। यह तथ्य कि जगत्-प्रपंच 'अज्ञान' की एक उपज माना गया है तनिक भी यह लक्षित नही करता कि वह स्वरूपतः मिथ्या नहीं हो सकता, क्योंकि जो अपने स्वरूप से ही मिथ्या है वह मिथ्या ही रहेगा, चाहे वह उत्पन्न हो अथवा न हो। शुक्ति-रजत के निषेध ('यह रजत नहीं है') का अर्थ यह है कि शुक्ति-रजत वास्तविक रजत से अन्य है, अर्थात्, यहाँ निषेध अन्यत्व का है (अन्यो-अन्य-अभाव)। पर जब यह कहा जाता है कि 'यहाँ

---

[1] तत्र हि निषेधस्य निषेधे प्रतियोगि-सत्वमायाति, यत्र निषेधस्य निषेध-बुद्ध्या प्रतियोगिसाव व्यवस्थाप्यते, न निषेध-मात्रं निषेध्यते, यथा रजते न इद रजतमिति ज्ञानान्तरमिद न अरजतमिति ज्ञानेन रजतं व्यवस्थाप्यते। यत्र तु प्रतियोगि निषेधयोरुभयोरपि निषेधस्तत्र न प्रतियोगिसावम्।

—अद्वैत-सिद्धि, पृ० १०५-६।

कोई रजत नहीं है,' तब निषेध अभाव का होता है, और उसके द्वारा आभास के मिथ्यात्व का निश्चित रूप से कथन किया जाता है (मा च पुरोवर्ति-रजतस्यैव व्यावहारिकत्वमन्तरत्वमानम् विषयी-करोति इति कण्ठोक्तमेव मिथ्यात्वम्), जबकि पूर्वोक्त उदाहरण में मिथ्यात्व केवल लक्षित होता है (इदं शब्द-निर्दिष्ट पुरोवर्ति-प्रातीतिक रजत-शब्द-निर्दिष्ट-व्यावहारिक-रजत-अन्योन्य-अभाव-प्रतितेः आर्थिक मिथ्यात्वम्) ।[1] अब, रजते यदि जगत्-प्रपंच का निषेध किया जाता है ('यहाँ कोई जगत्-प्रपंच नहीं है') तब, चूंकि अन्य कहीं भी कोई जगत-प्रपंच नहीं है, अतः निषेध के द्वारा जगत-प्रपंच का पूर्ण अभाव लक्षित होता है, अर्थात् जगत-प्रपंच का वैसा ही अभाव है जैसा किसी काल्पनिक सत्ता का, यथा, शश-शृंग होता है। इस आपत्ति का कि 'अनिर्वचनीय' के रूप में जगदानुभव के पूर्ण अभाव और काल्पनिकता (तुच्छ) के रूप में पूर्ण अभाव में अन्तर होता है, यह उत्तर है कि पश्चादुक्त का तो कहीं भी प्रातीतिक आभास भी नहीं होता, जबकि पूर्वोक्त बाधित न होने तक वस्तुतः सत् के रूप में भासित होता है (क्वचिद् अप्य उपाधौ सत्वेन प्रतीत्यनर्हत्वमत्यन्त असत्वं यावद् बाधम् प्रतीतियोग्यत्वं प्रातीतिक-सत्वम्)। इस सम्बन्ध में आगे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जो निषेध मिथ्यात्व को उत्पन्न करता है उसका निषेध की गई सामग्री के समान ही सम्बन्ध, उसके समान ही विस्तार व क्षेत्र होना चाहिए (येन रूपेण यद्-अधिकरणतया यत् प्रतिपन्नं तेन रूपेण तन्-निष्ठ-अत्यन्त-अभाव-प्रतियोगित्वस्य प्रतिपन्न-पदेन सूचितत्वात्, तच्च रूपं सम्बन्ध विशेषोऽवच्छेदक विशेषश्च) ।[2] इसके अतिरिक्त, शंकरवादी अभाव को एक पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार नहीं करते, बल्कि अभाव को जिस आश्रय में वह प्रकट होता है उसके निरपेक्ष स्वरूप से एकरूप मानते हैं। ब्रह्मन् में कोई गुण नहीं होते, अतएव इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका एक निषेधात्मक स्वरूप होता है, क्योंकि, अधिक पृथक् निषेधों के कारण समस्त गुणों के निषेध का अर्थ केवल ब्रह्मन् का विशुद्ध स्वरूप होता है। अनन्तता आदि तथाकथित भावात्मक गुणों के आरोपों का अर्थ भी मिथ्यात्व एवं सान्तता के विपरीत गुणों का अभाव होता है, जिससे अन्ततोगत्वा ब्रह्मन् के विशुद्ध स्वरूप के प्रति प्रत्यावर्तन लक्षित होता है आदि (अधिकरण अतिरिक्त-अभाव-अभ्युपगमेन उक्त-मिथ्यात्व-अभाव-रूप-सत्यत्वस्य ब्रह्म-स्वरूप-विरोधात्) ।[3]

रामाचार्य अपनी 'तरंगिणी' में मधुसूदन के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'प्रागभाव' के निषेध के अतिरिक्त अभाव के निषेध का अर्थ स्वीकार होता है, अतएव

---

[1] 'अद्वैत-सिद्धि,' पृ० १३०-१।

[2] 'अद्वैत-सिद्धि,' पृ० १५१।

[3] वही, पृ० १५६।

चूँकि कोई तीसरा विकल्प सम्भव नहीं है, इसलिये एक सत्ता के निषेध का निषेध के अनिवार्यतः स्वीकृत ही होता है। पुनः, मधुसूदन का यह कथन आधारहीन है कि भ्रम, मिथ्या रजत के यथार्थ रजत के रूप में भासित होने में निहित है, क्योंकि जिस उपादान कारण से मिथ्या रजत की उत्पत्ति हुई वह यथार्थ रजत के उपादान कारण से भिन्न होता है। मिथ्या रजत का अस्तित्व तभी समाप्त होता है जब मिथ्या रजत के उपादान कारण-रूप अज्ञान का निवारण करने वाले सत्य ज्ञान का उदय होता है (प्रातिभासिकस्य स्वोपादान-ज्ञान-निवर्तक-ज्ञान-विषयेणैव वा तादात्म्य प्रतीतेश्च): जहाँ एक ही उपादान कारण दो पृथक् आभासों को उत्पन्न करता है (यथा, पट एवं श्वेतता), वहाँ उनके तादात्म्य की प्रतीति हो सकती है। परन्तु, जब उपादान कारण सर्वथा भिन्न होते हैं तब उनसे उत्पन्न सत्ताओं के तादात्म्य की प्रतीति कदापि नहीं हो सकती।[1] पुनः, मधुसूदन द्वारा यह आग्रह किया गया है कि जिस निषेध के द्वारा मिथ्यात्व निर्मित होता है वह उन्हीं उपाधियों एवं सम्बन्धों से प्रतिबन्धित होना चाहिये जिनसे भावात्मक सत्ताएँ प्रतिबन्धित थीं, किन्तु यह निरर्थक है, क्योंकि इस प्रकार का प्रतिबन्धन इस सत्य को चुनौती नहीं दे सकता कि अभाव के निषेध का अर्थ स्वीकृति होता है, जबतक कि विमध्य-नियम की परिधि से बचने के लिये किसी तीसरे विकल्प के अस्तित्व का कोई निश्चित प्रमाण नहीं दिया जाता।[2]

व्यासतीर्थ कहते हैं कि मिथ्यात्व की परिभाषा यथार्थता के पूर्ण निषेध के रूप में नहीं दी जा सकती, क्योंकि जबतक निषेध का अर्थ नहीं समझ लिया जाता तबतक यथार्थता का अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता और इसका विलोम भी सत्य है। यहाँ विवाद का विषय यह है कि क्या शुक्ति-रजत का स्वरूप से निषेध किया जाता है अथवा उसकी यथार्थता का निषेध किया जाता है। पूर्वोक्त विकल्प इस आधार पर अस्वीकृत किया जाता है कि यदि उसको स्वीकार कर लिया जाय तो प्रत्यक्षकर्त्ता के सम्मुख शुक्ति-रजत के अस्तित्व की चेतना की व्याख्या करना कठिन हो जायगा, क्योंकि, यदि वह पूर्णतः असत् होती तो उसका साक्षात् प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता था। किन्तु उतने ही बल से यह निर्देश किया जा सकता है कि दूसरा विकल्प भी अमान्य है, क्योंकि, जब शुक्ति-रजत का प्रत्यक्षीकरण किया गया था तब वह यथार्थ के रूप में प्रत्यक्ष किया गया था और यदि ऐसा है तो उस यथार्थता का कैसे निषेध किया जा सकता है? इसके उत्तर में यदि यह सुझाव दिया जाता है कि शुक्ति-रजत की यथार्थता केवल एक सापेक्ष यथार्थता है और एक निरपेक्ष यथार्थता नहीं है, तब यह निर्देश किया जा सकता है कि यदि एक बार यथार्थता के अंश को स्वीकार कर लिया

---

[1] 'न्यायामृत-तरंगिणी', पृ० १६ (अ)।

[2] 'तरंगिणी', पृ० २०।

पर लागू नहीं होगी। दूसरे विकल्प में, अर्थात् यदि 'सामान्य' शब्द विरह का विशेष्य हो, तो यह निर्देश किया जा सकता है कि अद्वैतवादी एक विशेष सत्ता के अभाव से भिन्न एक सामान्य अभाव (विरह) को कदापि स्वीकार नहीं करता। इसके अतिरिक्त, चूंकि शुक्ति-रजत का स्वरूपतः मिथ्या होने के नाते निषेध किया जाता है, इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि उसका सामान्य अभाव (अर्थात् कारण व कार्य दोनों रूपों में) ज्ञान के उदय के कारण हुआ, क्योंकि उसको सत् के रूप में कभी अंगीकार नहीं किया जाता है।[1] पुनः, चूंकि, जैसाकि व्यासतीर्थ बता चुके हैं कि शुक्ति-रजत के अभाव और शश-शृंग के अभाव में कोई अन्तर नहीं होना चाहिये, इसलिये यदि शुक्ति-रजत का अभाव ज्ञान के उदय के कारण बताया जाता है तो शश-शृंग का अभाव भी ज्ञान के कारण कहा जा सकता है।

'स्वयं अपने अभाव के आश्रय में आभास' (स्वात्यन्त-अभाव-अधिकरणैव प्रतीयमानत्व) अथवा 'स्वयं अपने अस्तित्व के आश्रय में अभाव' (स्वाश्रय-निष्ठ-अत्यन्त-अभाव-प्रतियोगित्वम्) के रूप में मिथ्यात्व की परिभाषा का समर्थन करते हुए मधुसूदन कहते हैं कि चूंकि एक सत्ता के एक ही काल में भाव और अभाव दोनों हो सकते हैं, अतः उसके एक ही स्थान में भाव और अभाव दोनों हो सकते हैं। इसका रामाचार्य यह उत्तर देते हैं कि यदि यह अंगीकार कर लिया जाता है तो भाव और अभाव में कोई भेद नहीं रहता तथा व्यावहारिक अनुभव में कोई व्यवस्था नहीं रहती (तथा सति भावाभावयोर उच्छन्नकथा स्यात् इति व्यावहारिकयपि व्यवस्था न स्यात्), फलतः द्वैतवाद और उसका अभाव अद्वैतवाद एकरूप हो जाएंगे और अद्वैतवादी ज्ञान द्वैतवादी चेतना का निवारण करने में असमर्थ रहेगी।

सद् से भिन्नता के रूप में मिथ्यात्व (सद्-विविक्तत्वं मिथ्यात्वं) की पांचवीं परिभाषा के समर्थन में मधुसूदन सत् के अस्तित्व की यह परिभाषा देते हैं कि वह ज्ञान के द्वारा सिद्ध होता है और दोषों के द्वारा असिद्ध नहीं होता। सत् की परिभाषा में आगे संशोधन करते हुए वे कहते हैं कि वह दोषों द्वारा असिद्ध न किये हुए प्रमाणों के द्वारा सत् प्रतीत होता है। इस विशेषता के द्वारा वे काल्पनिक सत्ताओं एवं ब्रह्मन् का अपवर्जन करते हैं, क्योंकि काल्पनिक सत्ताएं सत् के रूप में प्रतीत नहीं होतीं और ब्रह्मन् यद्यपि स्वयं में सत् है तथापि वह किसी ऐसे मनस् का विषय नहीं बनता जिसे वह सत् प्रतीत हो (सत्वा-प्रकारक-प्रतीति-विषयताभावात्)।

सत् की यह परिभाषा दी गई है कि वह 'प्रमाण-सिद्ध' होता है और अबाधित होता है। इसके प्रति रामाचार्य की यह आपत्ति है कि ब्रह्मन् किन्हीं प्रमाणों का

---

[1] शुक्ति-रजतादेरवस्थियंगीकारे स्वरूपेण निषेधोक्त्ययोगनश्च।

—तरंगिणी, पृ० २२।

विषय नहीं होता, जबकि सर्व प्रमाणों द्वारा सिद्ध जगत् का अन्त में बाध हो जाता है।[1]

व्यासतीर्थ द्वारा यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या मिथ्यात्व का बाध होता है अथवा वह अबाधित रहता है। यदि वह अबाधित है तो मिथ्यात्व सत् हो जाता है और अद्वैतवादी सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। यदि उत्तर में यह कहा जाय कि मिथ्यात्व का भ्रम के अधिष्ठान ब्रह्मन् से तादात्म्य है तो 'प्रपंचो मिथ्या' वाक्यांश का अर्थ यह है कि जगत-प्रपंच का ब्रह्मन् से तादात्म्य है और इसका हम विरोध नहीं करते, क्योंकि ब्रह्मन् सर्व-व्यापक होने के कारण उसका एक अर्थ में जगत-प्रपंच से तादात्म्य होता है। इसके अतिरिक्त यदि मिथ्यात्व का ब्रह्मन् से तादात्म्य हो तो यह सामान्य युक्ति दोष-पूर्ण होगी कि वे ही वस्तुएँ मिथ्या हैं जो प्रज्ञेय हैं, क्योंकि मिथ्यात्व का ब्रह्मन् से तादात्म्य होने के कारण वह स्वयं अप्रज्ञेय होगा। यदि मिथ्यात्व का बाध होता है तो वह आत्म-बाध्य है तथा जगत सत् हो जायगा। यदि पुनः यह आग्रह किया जाय कि मिथ्यात्व का ब्रह्मन् से तादात्म्य नहीं है, किन्तु उसका द्वितीय निषेध अथवा मिथ्यात्व के अधिष्ठान रूप ब्रह्मन् की सत्ता से तादात्म्य है, तो भी इसका उत्तर यह होगा कि हमारा परिप्रश्न स्वयं इस प्रश्न पर केन्द्रित है कि क्या द्वितीय निषेध स्वयं बाधित होता है अथवा अबाधित रहता है और यह सुविदित है कि चूंकि सर्वत्र अधः-स्थित तत्व शुद्ध चैतन्य है, अतः द्वितीय निषेध की अधः-स्थित सत्ता का ऐसा कोई पृथक् अथवा स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता जिसके सम्बन्ध में कोई अभिवचन किया जा सके। यह स्पष्ट है कि यदि प्रथम अवस्था में मिथ्यात्व के ब्रह्मन् के साथ तादात्म्य होने का कथन अर्थ-हीन है, तो उसका द्वितीय निषेध में अधः-स्थित शुद्ध चैतन्य के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसके विस्तार का प्रयास वस्तुतः किसी नवीन अर्थ को प्रेरित नहीं करता। यदि यह फिर आग्रह किया जाय कि चूंकि शुक्ति-रजत मिथ्या है अतः मिथ्यात्व जो उस शुक्ति-रजत का एक धर्म है अनिवार्यतः मिथ्या होगा, यदि द्रव्य मिथ्या है तो उसका धर्म अनिवार्यतः मिथ्या होगा, अतएव इस मिथ्यात्व का मिथ्यात्व शुक्ति-रजत की यथार्थता की पुनः स्वीकृति नहीं करता। चूंकि दोनों मिथ्यात्व उस द्रव्य के मिथ्यात्व पर आश्रित हैं जिससे वे गुणात्मक दृष्टि से सम्बन्धित हैं, इसलिये निषेध के निषेध का अर्थ स्वीकृति नहीं होता। निषेध के निषेध का अर्थ स्वीकृति तभी हो सकता है जबकि द्रव्य यथार्थ हो। किन्तु यह स्पष्टतः एक सम्भ्रान्ति है, क्योंकि द्रव्य के अभाव से धर्मों का अभाव तभी फलित होता है जब उक्त धर्म द्रव्य के स्वरूप पर आश्रित हों, किन्तु मिथ्यात्व इस प्रकार आश्रित नहीं होता, क्योंकि वह जिन द्रव्य का

---

[1] 'तरंगिणी', पृ० २३।

उल्लेख करता है उसके स्वाभाविक रूप से प्रतिकूल होता है।[1] इसके अतिरिक्त, यदि शुक्ति-रजत का मिथ्यात्व केवल इसीलिये मिथ्या हो जाता है कि वह मिथ्या रजत से सम्बंधित होता है, यद्यपि व्याघात के अनुभव के कारण उसकी स्वीकृति की जाती है—तो वह सब वस्तुओं की आधार-भूत सत्ता ब्रह्मन् से अन्ततोगत्वा सम्बंधित होने के कारण समान औचित्य से सत् कहा जा सकता है, अथवा दूसरी ओर शुक्ति मिथ्या रजत से अपने साहचर्य के कारण समान औचित्य से मिथ्या कही जा सकती है तथा असत् भी सत् से सम्बधित होने के कारण सत् हो जायगा और इसका विलोम भी सत्य होगा।[2] इसके अतिरिक्त, शंकरवादियों द्वारा शुक्ति-रजत शश-शृंग की भाँति पूर्णतः असत् नहीं मानी जाती, अतएव मिथ्यात्व उसके साथ अपने साहचर्य के कारण पूर्णतः असत् नहीं माना जा सकता। पुनः, यह युक्ति कि मिथ्यात्व के अस्तित्व का स्तर वही नही है जो उसके द्वारा उल्लिखित जगत-प्रपच का होता है अतएव मिथ्यात्व की स्वीकृति चरम अद्वैतवाद को ठेस नहीं पहुँचाती, गलत है; क्योंकि यदि मिथ्यात्व का केवल सापेक्ष अस्तित्व (व्यावहारिकत्वे) है तो हमारे प्रतिदिन के अनुभव का जगत, जो उसके विरोध में है और जो प्रत्यक्षीकरण द्वारा प्रमाणीकृत होता है, परम सत् माना जाना चाहिये। इस प्रकार हमारी पूर्वोक्त आपत्ति बनी रहती है कि यदि मिथ्यात्व अबाधित हो तो अद्वैतवादी सिद्धान्त की क्षति होती है, यदि बाधित हो, तो जगत् सत्य हो जाता है।[२अ]

मधुसूदन उपरोक्त आपत्ति का पूर्वोक्त उत्तर देते हैं कि जब स्वीकृति और निषेध की सत्ता का स्तर भिन्न होता है, तब निषेध के निषेध में स्वीकृति अन्तर्निहित नहीं होती। यदि निषेध एक व्यावहारिक सत्ता का उल्लेख करता है, तो ऐसा निषेध एक काल्पनिक सत्ता की स्वीकृति का अपहरण नहीं करता।[3] इस प्रकार एक ही सत्ता विभिन्न अर्थों में सत्य एवं मिथ्या हो सकती है। मधुसूदन आगे कहते हैं कि जब निषेध एक विशिष्ट धर्म के कारण होता है, तब निषेध का निषेध एक स्वीकृति नहीं हो सकता। यहाँ शुक्ति और उसके धर्म दोनों का उनके उभयनिष्ठ आभासी अनुमोद-

---

[1] धर्म्यसत्त्वे धर्मासत्त्वं तु धर्मि-सत्वासापेक्ष-धर्म-विषयम्; मिथ्यात्वं तु तत्प्रतिकूलम्।
—'न्यायामृत', पृ० ४४।

[2] वही, पृ० ४५।

[२अ] मिथ्यात्वं यद्यबाध्यं स्यात्स्यदद्वैत-मत-क्षतिः
मिथ्यात्वं यदि बाध्यं स्यात् जगत्-सत्यत्वमापतेत्। —वही, पृ० ४७।

[3] परस्पर विरह-रूपत्वेऽपि विषम-सत्वाकयोर
विरोधात् व्यावहारिक-मिथ्यात्वेन व्यावहारिक–
सत्यत्वापहारेऽपि काल्पनिक-सत्यत्वानपहारात्। —'अद्वैत-सिद्धि', पृ० २१७।

जा सकता कि यह आपत्ति अज्ञान् पर लागू नहीं हो सकती क्योंकि अज्ञान् केवल साहचर्य में ही विषय बन सकता है और अपने स्वरूप से नहीं, क्योंकि, चूंकि अनिर्दिष्ट स्वरूप की वे नित्य एवं इन्द्रियातीत सत्ताएं जो स्वयं चेतना की सामग्री नहीं बन सकतीं किन्तु केवल अपने साहचर्य के रूपों में ही उक्त सामग्री बन सकती हैं समान अवस्थाओं से नियंत्रित होती हैं, इसलिये उस कारण से अज्ञान् को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। पुनः, यह मानना गलत है कि जब एक वस्तु ज्ञात की जाती है तब उस मानसिक वृत्ति की सामग्री का वही आकार होता है जो उक्त वस्तु का है, क्योंकि हम एक शश-शृंग को एक शाब्दिक सज्ञान के द्वारा यह माने बिना ज्ञात कर सकते हैं कि मानसिक वृत्ति का वही आकार है जो शश-शृंग का है। अतः यह मान्यता पूर्णतः असत्य है कि चेतना की सामग्री का वही आकार होना चाहिये जो उसके विषय का होता है। यह ब्रह्म-ज्ञान के सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि अनन्तता किसी भी चेतना की सामग्री नहीं बन सकती। अतः यह कहना कि एक वस्तु किसी चेतना की सामग्री है केवल यही अर्थ रखता है कि वह चेतना उस वस्तु का उल्लेख करती है (तद्-विषयत्वमेव तदकारत्वम्)।[1] ऐसा होने के कारण प्रत्यक्षीकरण की यह अवस्था पूर्णतः अनावश्यक है कि भौतिक वस्तु पर अध्यारोपित मानसिक वृत्ति में शुद्ध चैतन्य प्रतिबिम्बित होना चाहिये। अतः यह आपत्ति अवैध है कि सभी दृश्य वस्तुएं दृश्यत्व के कारण मिथ्या हैं।

इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि शुद्ध चैतन्य जो सदा स्वयं-प्रकाश है किसी चेतना का विषय कदापि नहीं बनता। वह केवल 'अज्ञान' के रूपान्तरणों के साहचर्य में चेतना का विषय भासित होता है तथा केवल 'अज्ञान' के रूपान्तरण ही ज्ञान की सामग्री बन सकते हैं। इस प्रकार सर्व परिस्थितियों में शुद्ध चैतन्य स्वयं-प्रकाश रहता है और स्वयं में कदापि सामग्री नहीं बन सकता। मधुसूदन व्यासतीर्थ द्वारा निर्देशित दृश्यत्व की द्वितीय व्याख्या (फल-व्याप्यत्व)[2] के अतिरिक्त अन्य सभी व्याख्याओं को स्वीकार करने को तैयार हैं, किन्तु वे यह स्वीकार करते हैं कि एक अधिक कड़ी आलोचना के लिये यह अपेक्षित होगा कि शब्द-जन्य-वृत्ति का अपवर्जन करके दृश्यत्व की परिभाषा में थोड़ा संशोधन कर दिया जाय (वस्तुतस्तु शाब्दाजन्य-वृत्ति-विषयत्वमेव दृश्यत्वम्), इस प्रकार, यद्यपि हम शाब्दिक वाक्यों के माध्यम से

---

[1] 'न्यायामृत', पृ० ५७।

[2] व्यासतीर्थ द्वारा दी गई 'दृश्यत्व' की निर्दिष्ट व्याख्याएं सात प्रकार से की गई हैं—किमिदं दृश्यत्वम्, वृत्ति-व्याप्यत्वं वा, फल-व्याप्यत्वं वा, साधारणं वा, कदाचिद्-कथंचिद्विषयत्वं वा, स्वव्यवहारे स्वातिरिक्त-संविदन्तरापेक्षा-नियतिर्वा, अस्व-प्रकाशत्वं वा। —वही, पृ० ४६।

काल्पनिक सत्ताओं के प्रति चेतन हो सकते हैं, तथापि वे उस कारण से मिथ्या नहीं कहे जाएँगे, क्योंकि वे पूर्णतः असत् सत्ताएँ हैं जो न तो सत्य कही जा सकती हैं और न मिथ्या।[1] मधुसूदन आगे दृश्यत्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि दृश्यत्व वह है जिसमें एक सुनिश्चित स्व-प्रकारक सामग्री हो (स्व-प्रकारक-वृत्ति-विषयत्वमेव दृश्यत्वं)। 'स्व-प्रकारक' पद से उनका तात्पर्य किसी भी उपाख्य धर्म से है (सौपाख्यः कश्चिद् धर्मः) तथा इस प्रकार वे ब्रह्मन् का अपवर्जन करते हैं, जिसका अर्थ है उपाख्य धर्म से रहित शुद्धत्व; दूसरी ओर निषेध के ज्ञान का भी यह कहकर वर्णन किया जा सकता है कि उसमें निषेधत्व का धर्म है। इस व्याख्या का प्रभाव यह होता है कि दृश्यत्व उन समस्त अनुभवों तक परिसीमित हो जाता है जो सापेक्ष एवं व्यावहारिक अनुभव की परिधि में आते हैं। दृश्यत्व के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए मधुसूदन उसकी यह कहकर परिभाषा देते हैं कि दृश्यत्व वह है जो किसी रूप में शुद्ध चैतन्य का विषय होता है (चिद्-विषयत्व)। इसका आत्मन् से तादात्म्य होने के कारण वह द्वि-पद सम्बन्ध से रहित होता है। वस्तुओं के दृश्यत्व के अर्थ का आगे स्पष्टीकरण करने के प्रयत्न में उसकी यह परिभाषा दी जाती है कि वह प्रकाशित होने के लिये स्वातिरिक्त चेतना की अपेक्षा रखता है (स्व-व्यवहारे स्वातिरिक्त-संविदपेक्षा-नियति-रूपं-दृश्यत्वं) अथवा अ-स्व-प्रकाश रूप होता है (अ-स्व-प्रकाशत्व-रूपत्वं दृश्यत्वम्)। अतः यह स्पष्ट है कि शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त कोई भी वस्तु प्रकाशित होने के लिये शुद्ध चैतन्य की अपेक्षा रहती है।

मधुसूदन का खंडन करने का प्रयास करते हुए रामाचार्य कहते हैं कि केवल 'अशुद्धत्व' और 'अस्वप्रकाशत्व' की व्याप्ति के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि शुद्ध चैतन्य स्व-प्रकाश होता है, किन्तु यह निष्कर्ष तभी प्राप्त किया जा सकता है जब यह ज्ञात हो कि शुद्ध चैतन्य में कोई 'अशुद्धत्व' नहीं होता। पुनः, अस्व-प्रकाशत्व एवं अशुद्धता की व्याप्ति तभी ज्ञात की जा सकती है जब यह ज्ञात हो कि उनके विलोम 'शुद्धत्व' एवं 'स्वप्रकाशत्व' शुद्ध चैतन्य से साहचर्य रखते हैं, इस प्रकार शुद्ध चैतन्य के साथ स्वप्रकाशत्व की व्याप्ति का ज्ञान और अशुद्ध चैतन्य के साथ अस्वप्रकाशत्व की व्याप्ति का ज्ञान परस्पर स्वतंत्र हैं। इसलिये किसी प्रकार यह अभिवचन नहीं किया जा सकता कि शुद्ध चैतन्य में स्वप्रकाशत्व है।[2] मिथ्यात्व के लिये दूसरा कारण यह

---

[1] 'अद्वैत-सिद्धि, पृ० २६८।

[2] न तावदस्वप्रकाशत्वाशुद्धत्वयोर्व्याप्यव्यापक-भाव-ग्रहमात्रेण शुद्धे स्वप्रकाशता पर्यवस्यति किन्तु शुद्धेस्वप्रकाशत्व-व्यापकस्याशुद्धत्वस्य व्यावृत्तौ ज्ञातायामेव। तथा च व्यापक-व्यतिरेक-ग्रहार्थमवश्यं शुद्ध-ज्ञानम्। किंचास्व-प्रकाशत्वाशुद्धत्वयोर्व्याप्य-व्यापक-भाव-ग्रहोऽपि तदुभयव्यतिरेकयोः शुद्धत्व-स्वप्रकाशत्वयोः शुद्धे सहचार-ग्रहे सत्येवेति घट्ट-कुटी प्रभात-वृत्तान्तः। —तरंगिणी, पृ० ३१।

दिया गया है कि जगत-प्रपंच मिथ्या है क्योंकि वह जड़ है। अब यह जड़त्व क्या है? उसका लक्षण 'अज्ञातत्व' 'अज्ञानत्व' के रूप में और 'अस्वप्रकाशत्व' अथवा 'अनात्मन्' के रूप में दिया गया है। यदि जड़त्व का प्रथम अर्थ स्वीकार किया जाता है तो यह निर्देश किया जा सकता है कि शांकरवादियों के अनुसार अहम् मिथ्या, और फिर भी वह ज्ञाता है, शुद्ध चैतन्य जो शांकरवादियों के अनुसार एकमात्र सत्ता है स्वयं ज्ञाता नहीं है। यदि यह सुझाव दिया जाय कि शुद्ध चैतन्य एक मिथ्या मान्यता के द्वारा ज्ञाता माना जा सकता है तो यह कहा जा सकता है कि मिथ्या मान्यता के द्वारा तो कोई भी मिथ्या तर्क सत्य बन सकता है लेकिन उससे कोई लाभ न होगा। जब कोई यह कहता है कि 'मैं' जो गोरा मनुष्य हूँ, जानता हूँ, तब शरीर भी ज्ञाता प्रतीत होता है, फिर भी उस कारण से शरीर को ज्ञाता नहीं माना जा सकता। द्वितीय व्याख्या, जो जड़त्व की 'अज्ञान' के रूप में परिभाषा देती है, स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि व्यावहारिक ज्ञान अंशतः सत्य एवं अंशतः मिथ्या होता है। पुनः, इस सम्बंध में यह पूछा जा सकता है कि क्या आत्मन् के ज्ञान में कोई सामग्री होती है अथवा नहीं। यदि कोई सामग्री है, तो वह अनिवार्यतः एक ज्ञानात्मक क्रिया का विषय होनी चाहिए, तथा यह असम्भव है कि आत्मन् की ज्ञानात्मक प्रक्रिया अपनी क्रिया को आत्मन् के प्रति प्रेरित करे। यदि उत्तर में यह आग्रह किया जाय कि आत्मन् में कोई ऐसी क्रिया नहीं होती जो स्वय की ओर प्रेरित हो, किन्तु यह तथ्य कि उसका आत्मन् के रूप में विभेदीकरण होता है वही उसका स्वयं का ज्ञान है, तो इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि सर्व वस्तुओं का ज्ञान भी इसी तथ्य में निहित है कि उनका उनके विशिष्ट धर्मों में विभेदीकरण होता है। पुनः, यदि आत्मन् के ज्ञान में कोई सामग्री नहीं होती तो उसमें कोई ज्ञान ही नही है। यदि कोई ऐसा ज्ञान स्वीकार किया जाय जो किसी विषय को प्रकाशित नहीं करता तो एक घट को भी ज्ञान कहा जा सकता है। इसलिए, यदि जड़त्व की 'अज्ञान' के रूप में परिभाषा दी जाय तो उपर्युक्त कारणों से आत्मन् भी अज्ञान होगा। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना उचित होगा कि ज्ञान के लिए विषय और ज्ञाता दोनों की आवश्यकता होती है, अनुभवकर्त्ता एवं अनुभूत वस्तु के बिना कोई अनुभव सम्भव नहीं है। पुनः, यदि आत्मन् को ज्ञान मात्र माना जाय तो यह पूछा जा सकता है कि उक्त ज्ञान सत्य ज्ञान है अथवा भ्रम है। यदि वह पूर्वोक्त है तो चूंकि 'अविद्या' के रूपान्तरण आत्मन् द्वारा ज्ञात किये जाते हैं अतः वे सत्य हो जाएंगे। वह पश्चादुक्त नहीं हो सकता क्योंकि आत्मन् दोषरहित है। आत्मन् आनन्द माना जा सकता है, क्योंकि सांसारिक विषयों का व्यावहारिक सुख आनन्द नहीं माना जा सकता है, तथा कोई ऐसी विधि नहीं है जिसके द्वारा सुख अथवा आनन्द के ऐसे अंशों को स्वीकार किया जा सके जो अंत में परमानन्द की प्राप्ति करवा सकें, क्योंकि जब एक बार सुख के अंशों को स्वीकार कर लिया जाता है, तो स्वभावतः एक

बाह्य तत्व प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार जड़त्व के कारण जगत का मिथ्यात्व किसी भी अर्थ में अमान्य है।[1]

इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि जड़त्व के द्वितीय और तृतीय अर्थ, अर्थात् जो अज्ञान है वह जड़ है अथवा जो अनात्मन् है वह जड़ है, बिल्कुल उपयुक्त होंगे। व्यासतीर्थ द्वारा प्रस्तुत किये गये ज्ञान के प्रतिपादन को दोषपूर्ण बताते हुए मधुसूदन कहते हैं कि यदि ज्ञान की यह परिभाषा दी जाय कि वह एक विषय को प्रकाशित करता है तो मोक्ष की अवस्था में भी विषयों का प्रकाशन होगा, जो असम्भव है, ज्ञान का विषयों से बाह्य सम्बन्ध है, अतएव मिथ्या है। यदि यह आपत्ति की जाय कि यदि मोक्ष की अवस्था में कोई विषय प्रकाशित नहीं होते तो आनन्द भी अभिव्यक्त नहीं होगा, तथा उस दशा में कोई भी मोक्ष-प्राप्ति की परवाह न करेगा, तो उत्तर यह है कि मोक्ष की अवस्था स्वयं आनन्द है तथा उसमें आनन्द की कोई पृथक् अभिव्यक्ति नहीं होती। एक विषय का साहचर्य केवल इन्द्रिय-ज्ञान में प्रत्यक्ष किया जाता है, आत्मन् के ज्ञान में इन्द्रियों का कोई साहचर्य नहीं होता, तथा यह माँग करना अनुचित है कि उस दशा में भी ज्ञान में विषयों का प्रकाशन होना चाहिए। जब यह कहा जाता है कि आत्मन् साक्षात् ज्ञान-स्वरूप है, तो यह सुझाव अमान्य है कि वह या तो सत्य होना चाहिए या असत्य क्योंकि सत्य और असत्य के रूप में ज्ञान का व्यावर्तक विभाजन केवल साधारण व्यावहारिक ज्ञान पर लागू होता है। किन्तु ज्ञान के रूप में आत्मन् अनिर्धारित ज्ञान के समान होता है, जो न सत्य होता है और न असत्य।

किन्तु रामाचार्य कहते हैं कि यदि ज्ञान का विषयों से सम्बन्ध बाह्य है तो परम ज्ञान के उदय के समय आत्मन् को स्वयं अपना विषय नहीं मानना चाहिये। यदि यह कहा जाय कि ऐसा केवल प्रत्यक्षीकरण के ज्ञान में होता है जहाँ विषय के आकार की 'वृत्ति' में शुद्ध चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, तो ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध मिथ्या हो जायगा, क्योंकि उस दशा में 'वृत्ति' की आवश्यकता एवं उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्बित होना चरम अवस्था में आत्मन् के ज्ञान के उदय के समय भी स्वीकार करना पड़ेगा। अतः विषय का ज्ञान के साथ सम्बन्ध बाह्य नहीं हो सकता, अतएव मिथ्या नहीं हो सकता। मधुसूदन के इस कथन के उत्तर में, कि जैसे नैयायिकों के अनुसार यद्यपि सामान्य और विशेष परस्पर सम्बन्धित होते हैं तथापि प्रलय की दशा में विशेषों के न रहने पर भी सामान्य बने रहते हैं, वैसे एक ऐसी अवस्था हो सकती है जिसमें ज्ञान हो पर विषय न हो, क्योंकि ज्ञान का क्षेत्र विषय-सहित ज्ञान के क्षेत्र से अधिक व्यापक होता है, रामाचार्य कहते हैं कि 'प्रलय' की दशा में जब भी विशेष नहीं

---

[1] यह युक्ति कि जगत् अपने जड़त्व के कारण मिथ्या है 'तत्त्व-शुद्धि' में दी गई है।

होते हैं तब सामान्यों का ज्ञान विशेषों को अपनी अन्तर्वस्तु के रूप में स्वयं में समाविष्ट रखता है। पुनः, विषयों के ज्ञान से साहचर्य का अर्थ यह नहीं है कि विषय ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, किन्तु यह कि ज्ञान विषयों से सम्बन्धित होता है। पुनः, यदि विषय से साहचर्य का अर्थ यह माना जाय कि ज्ञान 'अनिवार्यतः विषयों से उत्पन्न होता है,' अथवा यदि उसका अनिवार्यतः यह अर्थ हो कि 'यह विषय जिस देश अथवा काल में अस्तित्व रखे वहाँ ज्ञान विद्यमान होता है,' तो शंकरवादी आत्मन् के अद्वैत को स्वीकृत करने में असमर्थ रहेंगे। क्योंकि, चूंकि अद्वैत ब्रह्मन् में अस्तित्व रखता है, इसलिये वह जीवात्मन् के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। और पुनः, यदि यह कहा जाता है कि जब-जब ब्रह्मन् के साथ अद्वैत होता है तब आत्मन् के साथ अद्वैत होता है, तो चूंकि ब्रह्मन् सदा अद्वैत है इसलिये समस्त जीवात्मन् मुक्त हो जाएंगे, जीवात्माओं के अद्वैत एवं ब्रह्मन् के अद्वैत का निर्धारण भी असम्भव होगा। अतः विषय सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न नहीं करते, वरन् उनसे साहचर्य रखते हैं।

यह युक्ति दी जाती है कि जो कुछ परिच्छिन्न और भ्रान्त है वह मिथ्या है, यह परिच्छिन्नत्व देश, काल अथवा अन्य वस्तुओं द्वारा उत्पन्न हो सकता है (परिच्छिन्नत्व-मपि देशतः कालतो वस्तुतो वा)। इस सम्बन्ध में व्यासतीर्थ कहते हैं कि काल एवं देश, काल एवं देश के द्वारा परिच्छिन्न नहीं हो सकते, और यह इतना सत्य है कि परम सत्ता ब्रह्मन् के सम्बन्ध में भी प्रायः यह कहा जाता है कि वह सदा और सर्वत्र अस्तित्व रखता है, अतः काल और देश ऐसे सामान्य धर्म हैं जिनका अन्य वस्तुओं के प्रति अथवा स्वयं उनके प्रति निषेध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वाचस्पति का यह कथन पूर्णतः असत्य है कि जो कुछ भी किसी स्थान और किसी काल में असत् होता है वह उस कारण से सर्वत्र व सदा असत् रहता है, तथा जो सत् है वह सदा एवं सर्वत्र सत् रहता है (यत् सत् तत् सदा सर्वत्र सदेवं तथा च यत् कदाचित् कुत्रचिद् असत् तत् सदा सर्वत्र असदेव), क्योंकि यदि किसी विशेष काल में अनस्तित्व के कारण किसी भी अन्य काल में अस्तित्व असत्य बन सकता है, तो उस काल में अस्तित्व के द्वारा अन्य कालों में अनस्तित्व भी असत्य बन सकता है। यह कहना कि चूंकि वह (वस्तु) तब अस्तित्व में नहीं होगी, अतः वह अब अस्तित्व में नहीं है, उतना ही तर्क-संगत है जितना यह कहना कि चूंकि वह अब अस्तित्व में है, अतः तब अस्तित्व में होनी चाहिए।[1] पुनः, देश-जन्य परिच्छिन्नत्व का क्या अर्थ है? यदि उसका अर्थ है सर्व वस्तुओं से असंयोग (सर्व-मूर्त्तासंयोगित्वम्) अथवा चरम परिमाण का अनधिकरण (परम्-महत्-परिमाणानधिकरणत्वम्), तो ब्रह्मन् भी ऐसे ही स्वरूप का है, क्योंकि वह भी 'असंग' है, तथा परिमाण के रूप में उसमें कोई गुण नहीं होता, यदि उसका अर्थ

---

[1] 'न्यायामृत,' पृ० ७९।

सीमित 'परिमाण' का अधिकरण है तो 'परिमाण' एक गुण होने के कारण एक गुण में नहीं पाया जा सकता, अतः गुण परिच्छिन्न नहीं हो सकते (गुण-कर्मादौ गुणानंगीकारात्)। पुनः, काल-जन्य परिच्छिन्नता का 'अन्यत्व' के निषेध से साहचर्य स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि, यदि 'अन्यत्व' के रूप में परिच्छिन्नता का कभी निषेध किया जायगा, तो जगत में सभी वस्तुएं एक हो जाएंगी। अब अन्य वस्तुओं के द्वारा परिच्छिन्नत्व (जो परिच्छिन्नत्व की तीसरी परिभाषा है) का अर्थ है 'भिन्नत्व,' किन्तु ऐसे परिच्छिन्नत्व का (शंकरवादियों के अनुसार) प्रतिपादन के अनुभव-जगत में अभाव होता है, क्योंकि वे भिन्नत्व की सत्ता का निषेध करते हैं। पुनः मिथ्यात्व से भिन्नत्व आत्मन् में भी अस्तित्व रखता है, इसलिये आनन्दबोध की यह युक्ति, कि जो वस्तुएं विभक्त अस्तित्व रखती हैं (विभक्तत्वात्) वे उस कारण से मिथ्या हैं, असत्य है। पुनः यह मानना भी गलत है कि सत्ता का अपरिच्छिन्नत्व इस तथ्य में निहित है कि केवल वही सार्वदेशिक रहती है जबकि अन्य प्रत्येक वस्तु परिवर्तित हो जाती है अतएव उस पर अध्यारोपित समझी जानी चाहिये, क्योंकि जब हम कहते हैं कि 'एक घट अस्तित्व रखता है,' 'एक घट चलायमान होता है' तब घट अपरिवर्तनशील प्रतीत होता है, पर उसकी क्रिया 'अस्तित्व रखता है' और 'चलायमान होता है' परिवर्तित होती है। जैसे 'अनेक' का 'एक' से साहचर्य होता है, उसी प्रकार 'एक' का 'अनेक' से होता है, अतः इस युक्ति से कोई फल नहीं निकल सकता जो कि अपरिवर्तनशील रहता है वह अपरिच्छिन्न एवं सत्य है, और जो परिवर्तनशील है वह मिथ्या है।

इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि चूंकि शंकरवादी जाति-प्रत्ययों को स्वीकृत नहीं करते अतः यह मानना गलत है कि एक गाय के अस्तित्व के सभी उदाहरणों में एक गो-जाति होती है जो स्थिर बनी रहती है, और यदि ऐसा नहीं है तो अन्य व्याख्या केवल यही है कि व्यक्ति आते और जाते हैं तथा उस सत् के अनुभव पर अध्यारोपित होते हैं जो इस कारण एकमात्र सत्य है। अब, पुनः, यह युक्ति दी जा सकती है कि सत् के रूप में ब्रह्मन् सदा 'अज्ञान' से आवृत्त रहता है, उसका कोई प्रभेदात्मक आकार नहीं होता, अतएव यह सोचना गलत है कि जगत की वस्तुओं के हमारे अनुभव में ब्रह्मन् सत् के रूप अभिव्यक्त होता है। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मन् स्वयं अज्ञान से आवृत्त नहीं होता (सद्-आत्मना न ब्रह्मणो, मूला-ज्ञानेना-वृतत्वं) केवल जगत की वस्तुओं के विशिष्ट आकारों की उपाधियों के द्वारा ही उसका स्वरूप छिप जाता है, जब मनस् की वृत्ति के रूपान्तर की प्रक्रिया द्वारा इन विशिष्ट आकारों का नाश हो जाता है, तब इन वस्तुओं में अधः-स्थित ब्रह्मन् स्वयं को शुद्ध सत् के रूप में अभिव्यक्त करता है। यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि ऐसे शुद्ध सत् के रूप में ब्रह्मन् के कोई दृश्य लक्षण नहीं हैं अतएव वह चक्षु के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, क्योंकि

ब्रह्मन् किसी भी इन्द्रिय के द्वारा अथवा किसी विशेष इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है।[1]

उत्तर में रामाचार्य कहते हैं कि जाति-प्रत्यय ('गो' के रूप में) को स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि अन्यथा सत् के रूप में जाति-प्रत्यय कभी गाय के रूप में और कभी अन्य वस्तुओं के रूप में अभिव्यक्त हो सकता है ? पुनः, यह कहना गलत है कि ब्रह्मन् स्वयं में 'अविद्या' से आवृत नहीं है, क्योंकि यह कहा जाता है कि जब सत् पक्ष अभिव्यक्त होता है, तब आनन्द-पक्ष फिर भी आवृत रह सकता है, तब, चूंकि सत् और आनन्द एक होने चाहिए (क्योंकि अन्यथा अद्वैतवाद खण्डित हो जाएगा), इसलिए आवरण सत्-पक्ष के ऊपर भी होना चाहिये। पुनः, चूंकि ब्रह्मन् के कोई आकार एवं कोई लक्षण नहीं होता, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वह सभी इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होता है (प्रत्यन्तमव्यक्त-स्वभावस्य ब्रह्मनश्चक्षुरादि-सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वे मानाभावात्)।[2]

व्यासतीर्थ इस युक्ति का खंडन करते हैं कि मिथ्यात्व अंशों में अंशी के अभाव में निहित होता है। वे कहते हैं कि जहाँ तक इस मत का सम्बंध है कि चूंकि अंश और अंशी का तादात्म्य होता है इसलिए अंशी अंश पर आश्रित नहीं रह सकता, उनको कोई आपत्ति नहीं है। यदि अंशी न तो अंशों पर आश्रित है और न किसी अन्य वस्तु पर आश्रित है तो वह किसी पर भी आश्रित नहीं हो सकता, किन्तु उस कारण से वह मिथ्या नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह निर्देश किया जा सकता है कि प्रत्यक्षी-करण यह बताता है कि अंशी अंशों पर आश्रित है तथा उनमें स्थित है, अतएव प्रत्यक्ष की साक्ष के अनुसार अंशों में उसके अभाव को स्वीकृत नहीं किया जा सकता। प्रश्न यह उठता है कि क्या 'अभाव' अथवा 'निषेध' सत्य है अथवा असत्य, यदि वह सत्य है तो अद्वैतवाद खण्डित होता है, और यदि वह असत्य है तो 'अभाव' का निषेध होता है, जो व्यासतीर्थ के पक्ष में होगा। अब यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि 'अभाव' का अस्तित्व अद्वैतवाद के लिए घातक नहीं हो सकता, क्योंकि निषेध में स्वीकृति का अंतर्वस्तु के रूप में समावेश होता है। पुनः, ब्रह्मन् का 'अद्वितीय' पद से निर्देश किया जाता है, इसमें अभाव का समावेश होता है, और यदि अभाव असत्य है तो ब्रह्मन् के प्रति उसका निर्देश भी असत्य होगा। पुनः, ब्रह्मन् से किसी द्वितीय के निषेध का अर्थ न केवल भावात्मक सत्ताओं का निषेध हो सकता है बल्कि अभावात्मक

---

[1] न च रूपादि-हीनतया चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्तिः बाधिका इति वाच्यम्, प्रति-नियतेन्द्रिय-ग्राह्येष्वेव रूपाद्यपेक्षा-नियमात्सर्वेन्द्रिय-ग्राह्यं तु सद्-रूपं ब्रह्म नातो रूपादिहीनत्वेऽपि चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्तिः सत्वायाः परैरपि सर्वेन्द्रिय-ग्राह्यत्वाभ्युपगमात् च।

—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ३१८।

[2] 'तरंगिणी,' पृ० ५२।

सत्ताओं का भी निषेध हो सकता है, भावात्मकता का अर्थ होता है अभाव का अभाव। फिर यदि अभाव को स्वीकार किया जाता है तो चूंकि उसके रूपों में से एक रूप 'अन्यत्व' होता है, अतः उसकी स्वीकृति का अर्थ है अन्यत्व की स्वीकृति अतएव द्वैतवाद की स्वीकृति। इसके अतिरिक्त, शंकरवादियों के लिए अभाव के स्वरूप का वर्णन करना कठिन होगा, क्योंकि यदि किसी भी भावात्मक सत्ता का वर्णन नहीं किया जा सकता तो यह मानना ही पड़ेगा कि अभावात्मक सत्ताओं का वर्णन करना और भी कठिन होगा। इसके अतिरिक्त अंशी का अंशों में अभाव न केवल प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा बाधित होता है किन्तु वह तर्क के भी विरोध में हैं, चूंकि अंशी अन्य कहीं भी स्थित नहीं हो सकता, अतः यदि वह अंशों में स्थित नहीं माना जाता है तो उसका स्वरूप ही अव्याख्येय हो जाता है (अन्यासभवेतस्यांशित्वं स्ततन्तु-समवेतत्वं विना न युक्तं)।[1]

पुनः, यह मत गलत है कि चूंकि ज्ञान के बिना कुछ भी अभिव्यक्त नहीं होता, अतः तथाकथित वस्तुएं ज्ञान के सिवा कुछ भी नहीं हैं, क्योंकि वस्तुएं स्वयं ज्ञान के रूप में अनुभूत नहीं होती, किन्तु उन वस्तुओं के रूप में अनुभूत होती हैं जिनका हमें ज्ञान होता है (घटस्य ज्ञानमिति हि धीः न तु घटो ज्ञानमिति)।

उपर्युक्त के उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि, चूंकि कारण और कार्य के अनुभव की व्याख्या उनमें कुछ भेद को माने बिना नहीं की जा सकती, अतः इस तथ्य के बावजूद भी कि उनमें तादात्म्य है व्यावहारिक उद्देश्यों की दृष्टि से उक्त भेद को स्वीकार करना पड़ेगा। अभाव की सत्यता अथवा असत्यता सम्बन्धी विवाद को मधुसूदन अप्रासंगिक कहकर उपेक्षित कर देते हैं। पुनः, प्रत्यक्षीकरण का विरोध कोई विरोध नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षीकरण प्रायः भ्रमपूर्ण होता है। यह आपत्ति भी अवैध है कि यदि अंशी कहीं अन्य स्थित नहीं है तो अंशों में भी नहीं है, अतः उसका अस्तित्व अव्याख्येय है, क्योंकि यद्यपि अंशी एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में अंशों में अस्तित्व तभी रक्खे, तथापि वह उपादान कारण, अंशों, से एकरूप होकर स्थित हो सकता है, क्योंकि किसी वस्तु के उपादानात्मक तादात्म्य (एतत्-समवेतत्व) का होना उसमें उसके अभाव के निषेध से फलित नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वे सर्व धर्म जो केवलान्वयि हैं (फलतः वस्तु में विद्यमान होने के कारण) वस्तु मे समवेत हो जाएंगे।[2] किन्तु एक वस्तु का

---

[1] तथा च अंशित्व-रूप-हेतोरेतत्-तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व-रूप-साध्येन विरोधः। —न्यायामृत-प्रकाश, पृ० ८६।

[2] एतन्निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वं हि एतत्समवेतत्वे प्रयोजकं न भवति, परमते केवलान्वयि-धर्म-मात्रस्य एतत्समवेतत्वापत्तेः

—'अद्वैत-सिद्धि,' पृ० ३२४।

दूसरी वस्तु से समवेतत्व इस पर निर्भर करता है कि पूर्वोक्त का 'प्रागभाव' पश्चादुक्त में होना चाहिये (किन्तु एतन्-निष्ठ-प्रागभाव-प्रतियोगित्वादेस्तत्)। व्यासतीर्थ की यह आपत्ति कि पटका तन्तुओं में अभाव तभी हो सकता है जब तन्तु उसके संघटक अंश नहीं हों, इसी कारण से अवैध है कि अंशी का अंशों में अथवा कार्य का कारण में 'प्रागभाव प्रतियोगित्व' ही उनके समवेतत्व को निर्धारित करता है, अतएव यह कहना उचित नहीं है कि पट का केवल ऐसे तंतुओं में अभाव हो सकता है जो उसके संघटक अंश नहीं हों, क्योंकि पट के तन्तुओं में अभाव की शर्त यह नहीं है कि तन्तु पट के संघटक अंश नहीं हैं, वरन् यह कि तनुओं में पट के 'प्रागभाव' का अभाव है।

व्यासतीर्थ के द्वारा एक यह आपत्ति उठाई जाती है कि जिन कारणों से जगत् मिथ्या कहा जाता है उन्हीं कारणों से ब्रह्मन् को भी मिथ्या माना जा सकता है, क्योंकि ब्रह्मन् हमारे समस्त अनुभवों का अधिष्ठान है अतएव मिथ्या माना जा सकता है। इसके सम्बन्ध में मधुसूदन कहते हैं कि जहाँ तक ब्रह्मन् का 'अज्ञान' से साहचर्य है, ब्रह्मन् मिथ्या है, किन्तु जहाँ तक वह हमारे व्यावहारिक अनुभव से अतीत है, वह सत्य है। इसके अतिरिक्त यदि कोई आधारभूत सत्ता स्वीकृत न की जायगी तो समस्त जगत-प्रपंच मिथ्या होने के कारण हम विशुद्ध शून्यवाद में प्रविष्ट हो जाएँगे। पुनः, यह आपत्ति भी नहीं उठाई जा सकती कि ब्रह्मन् एक असत् सत्ता से भिन्न होने के कारण, शुक्ति-रजत के सदृश है जो यद्यपि सत् नहीं है तथापि असत् सत्ता से भिन्न है। कारण असत् सत्ता से भेद का अर्थ उस सत्ता से भेद है जो कहीं भी सत् के रूप में भासित नहीं हो सकती, तथा उससे वही सत्ता भिन्न हो सकती है जो कहीं एक सत् सत्ता के रूप में भासित हो, किन्तु यह बात ब्रह्मन् पर लागू नहीं होती क्योंकि ब्रह्मन् कहीं भी एक सत् सत्ता के रूप में भासित नहीं होता।

सत् की अनेक अस्थायी परिभाषाओं को अपना कर व्यासतीर्थ उन सबको दोषपूर्ण बताते हैं और कहते हैं कि शंकरवादी चाहे जिस प्रकार से सत् की परिभाषा दें वह जगत की सत्ता पर भी उसी प्रकार से लागू होगी। संक्षेप में, सत् की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि सत् वह है 'जिसका सर्व काल एवं सर्व देश में निषेध नहीं किया जा सकता' (सर्व देश काल-सम्बंधी–निषेध-प्रतियोगित्वं सत्वं)। उसकी इस रूप में भी परिभाषा दी जा सकती है कि सत् वह है जो असत् से भिन्न होने के कारण मिथ्या अध्यारोपण नहीं होता, अथवा सत् वह है जिसके अस्तित्व की कभी न कभी साक्षात् एवं सम्यक् प्रतीति की जाती है (अस्तित्व-प्रकारक-प्रमाणप्रति-कदाचिद् साक्षाद्-विषयत्वं)।

व्यासतीर्थ द्वारा सत् की परिभाषा देने के उक्त प्रयास के उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि हमारा प्रत्यक्षीकरण का अनुभव मिथ्यात्व से भिन्न अथवा विरोध में सत्य को

पहचानने में सर्वथा अवैध होता है।[1] सत्य एवं मिथ्यात्व परस्पर सम्बंधित होने के कारण उनकी पारस्परिक विरोध के द्वारा परिभाषा देने के सभी प्रयत्न चक्रक दोष से पूर्ण अतएव अवैध हो जाते हैं, सत् की वे परिभाषाएं भी गलत हैं जो किसी न किसी रूप में सत् के अनुभव का उल्लेख करती हैं क्योंकि उनमें जिस सत् की परिभाषा देनी होती उसी के प्रत्यय का पहले ही से समावेश हो जाता है। यह कहना भी गलत है कि जगत में उसी स्तर की उतनी ही सत्यता है जितनी ब्रह्मन् में है, क्योंकि मिथ्यात्व एवं सत्य का समतुल्य स्तर नहीं हो सकता। अब मिथ्यात्व की सर्व देश एवं त्रिकाल में अभाव के रूप में परिभाषा दी जाती है (सर्वदेशीय-त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगित्वं), सत्य उसका विरोधी होता है। प्रत्यक्षीकरण के द्वारा हम ऐसे अभाव को ग्रहण नहीं कर सकते, अतएव उसके द्वारा हम अभाव के विरोधी, अर्थात् सत् को भी ग्रहण नहीं कर सकते। यह तथ्य अप्रासंगिक है कि कुछ वस्तुओं का कहीं न कहीं सत् के रूप में प्रत्यक्षीकरण किया जाता है, क्योंकि एक मिथ्या आभास का भी ऐसा अस्थायी प्रत्यक्षात्मक अस्तित्व हो सकता है। न्याय-मत के अनुसार सामान्यों की प्रस्तुति का एक विशेष ढंग होता है (सामान्य-प्रत्यासत्ति), जिसके द्वारा उन सामान्यों के अन्तर्गत आने वाले सर्व व्यक्ति चेतना के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं तथा इसी साधन से निगमनात्मक अनुमान को उत्पन्न करने वाला आगमनात्मक सामान्यीकरण सम्भव होता है। इस मत के अनुसार यह दावा किया जाता है कि यद्यपि एक सत्ता के समस्त अभावों का सर्व देश व काल में दृष्टि-प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता तथापि वे प्रस्तुतीकरण के उक्त साधन द्वारा चेतना के समक्ष प्रस्तुत किये जा सकते हैं और यदि वे इस प्रकार चेतना के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं तो उनका निषेध अर्थात् सत् भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि सामान्यों को प्रस्तुत करने का ऐसा कोई विशेष ढंग नहीं होता है जिसके द्वारा उनसे सम्बन्धित सर्व व्यक्ति भी चेतना के समक्ष प्रस्तुत होते हैं, अर्थात् नैयायिकों द्वारा स्वीकृत 'सामान्य-प्रत्यासत्ति' जैसी कोई प्रक्रिया नहीं होती। फिर वे ऐसी 'सामान्य-प्रत्यासत्ति' के विरुद्ध शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होते हैं और यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि निगमनात्मक अनुमान व्याप्ति को निर्धारित करने वाले सामान्यों के विशिष्ट लक्षणों के साहचर्य के द्वारा सम्भव होते हैं,[2] इस प्रकार यदि 'सामान्य-प्रत्यासत्ति' नहीं होती है और यदि सर्व देश काल में सर्व

---

[1] चक्षुराद्यध्यक्ष-योग्य-मिथ्यात्व-विरोधी-सत्वा निरुक्तेः।

—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ३३३–४।

[2] व्याप्ति-स्मृति-प्रकारेण वा पक्षधर्मता-ज्ञानस्य हेतुताः महानसियैव धूमो धूमत्वेन व्याप्ति-स्मृति-विषयो भवति, धूमत्वेन पर्वतीय-धूम-ज्ञानं चापि जातम्, तच्च सामान्य-

अभाव एवं चेतना के समक्ष प्रस्तुत नहीं किये जा सकते, तो उनका विरोधी सत् भी प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता।

रामाचार्य का उत्तर यह है कि यद्यपि ऐसे अभाव सर्व देश एवं सर्व काल में इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किये जा सकते, तथापि कोई कारण नहीं है कि उनका विरोधी सत् प्रत्यक्ष नहीं किया जा सके, जब कोई घट देखता है तो अनुभव करता है कि वह वहीं है और अन्यत्र कहीं नहीं है। हम निषेध किये गये पदार्थों को प्रत्यक्ष करते हैं न कि स्वयं निषेध को।[1] वे आगे कहते हैं कि यद्यपि 'सामान्य-प्रत्यासत्ति' को नहीं माना जाय, तथापि अप्रत्यक्ष अभाव अनुमान द्वारा ज्ञात किये जा सकते हैं, अतएव मधुसूदन की यह आपत्ति द्विविध अवैध है कि जबतक 'सामान्य-प्रत्यासत्ति' को स्वीकार नहीं किया जाता ऐसे अभाव ज्ञात नहीं किये जा सकते तथा उनका विरोधी सत् भी प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता।[2]

मधुसूदन आगे कहते हैं कि अनुभव में 'साक्षी' की साक्ष्य केवल वर्तमान वस्तुओं को अभिव्यक्त करता है और इस प्रकार जगत के विषयों में सापेक्ष सत्यता है। किन्तु 'साक्षी' किसी प्रकार यह नहीं बता सकता कि उनका भविष्य में बाध होगा अथवा नहीं, अतः जब ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब 'साक्षी' जगदानुभव के भावी निषेध को चुनौती देने में असमर्थ होता है।

व्यासतीर्थ ने वेदान्त की इस मान्यता पर आपत्ति की थी कि शुद्ध चैतन्य से एकरूप एक सत्ता है जिस पर समस्त तथा-कथित विषयों के आकार एवं ज्ञान की सामग्री आरोपित रहती है और इस सम्बन्ध में यह निर्देश किया था कि केवल इस तथ्य से कि एक घट अस्तित्व रखता है यह सिद्ध नहीं हो जाता कि वह घट शुद्ध सत् पर अध्यारोपित है, क्योंकि शुद्ध सत्ता का कभी प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता और मिथ्या आभासों के सहित समस्त लक्षणों को सत् के समान ही सत्तात्मक धर्म से सम्पन्न माना जा सकता है।

मधुसूदन का सरल उत्तर यह है कि अनेक व्यष्टिगत सत्ताओं को मानने से यह कहीं अच्छा है कि एक स्थायी सत्ता मान ली जाय जिस पर विषयों के विविध रूपों का आरोपण होता है। व्यासतीर्थ के इस कथन पर मधुसूदन आपत्ति उठाते हैं कि प्रत्यक्ष

लक्षणं विनैव, नावतैव अनुमिति-सिद्धैः,--प्रतियोगितावच्छेदक-प्रकारक-ज्ञानादेव तत्सम्भवेन तदर्थं सकल-प्रतियोगि-ज्ञान-जनिकायाः सामान्य-प्रत्यासत्य-नुपयोगात्।

—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ३३८, ३४१।

[1] 'तरंगिणी', पृ० ६१।

[2] वही, पृ० ६३।

प्रमाण स्वरूपतः अनुमान से प्रबल होता है क्योंकि अनुमान जिन अनेक अवस्थाओं पर निर्भर करता है उनके कारण स्वयं को स्थापित करने में भेद होता है। मधुसूदन कहते हैं कि जब प्रत्यक्ष प्रमाण का अनुमान एवं शब्द द्वारा व्याघात होता है (यथा, ग्रहों के लघु आकार के प्रत्यक्षीकरण की अवस्था में), तब पूर्वोक्त का निषेध होता है। इसलिए प्रत्यक्ष को भी अपनी सत्यता के लिये अबाधित्व एवं अन्य प्रमाणों पर निर्भर करना पड़ता है तथा अन्य प्रमाणों को प्रत्यक्ष पर उससे अधिक निर्भर नहीं करना पड़ता जितना प्रत्यक्ष को अन्य प्रमाणों पर निर्भर करना पड़ता है। अतः यह सब प्रमाण सापेक्षतः आश्रित होने के कारण सत्यता में वैदिक शब्द से हीन हैं, जो मानव द्वारा निर्मित प्रलेख न होने के नाते स्वभावतः सत्यता का एक असंक्राम्य अधिकार रखता है। यह सुविदित ही है कि तथ्यों के सत्य अनुभव की प्राप्ति के लिये एक इन्द्रिय के द्वारा किए गए प्रत्यक्षीकरण के साथ सामंजस्य करना पड़ता है। जैसे, 'आग उष्ण है' प्रत्यक्षीकरण में चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण का स्पर्श प्रत्यक्षीकरण के साथ सामंजस्य करना पड़ता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण प्रत्यक्ष-योग्य होने के कारण उत्कृष्ट सत्यता का कोई अधिकार नहीं रखता, यद्यपि यह स्वीकार किया जा सकता है कि कई क्षेत्रों में प्रत्यक्षीकरण एक अज्ञान का निवारण कर सकता है जो अनुमान द्वारा निवृत्त नहीं होता।[1] यह आपत्ति गलत है कि एक अनुमान-जन्य प्रमाण स्वयं को स्थापित करने में शिथिल होने के कारण (चूंकि वह कई तथ्यों पर आश्रित होता है), प्रत्यक्ष से सत्यता में हीन है, क्योंकि प्रत्यक्ष अधिक द्रुतगामी होता है, इसलिए सत्यता उचित परीक्षण एवं निर्दोषिता के अनुसन्धान पर निर्भर करती है न कि केवल द्रुतगामिता पर। इसके अतिरिक्त, चूंकि अनेक श्रुति-पाठ ऐसे हैं जो सर्व वस्तुओं के एकत्व की घोषणा करते हैं जिनकी तर्क-संगतता को जगत के मिथ्यात्व को मान्यता के सिवा सिद्ध नहीं किया जा सकता और चूंकि ऐसी स्वीकृति के द्वारा सापेक्षता के क्षेत्र में प्रत्यक्षीकरण की सत्यता के स्वाभाविक अधिकार का अपहरण नहीं होता, इसलिए सापेक्षता के क्षेत्र में प्रत्यक्षज्ञानात्मक सत्यता का अनियंत्रित अधिकार स्वीकार करके तथा निरपेक्षता के क्षेत्र में एकत्व की श्रुति-ज्ञानात्मक सत्यता को स्वीकार करके एक समझौता प्राप्त किया जा सकता है।

पुनः, व्यासतीर्थ का आग्रह है कि चूंकि अनुमान और शब्द-प्रमाण दोनों चाक्षुष एवं श्रवण प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर करते हैं अतः यह सोचना गलत होगा कि पूर्वोक्त के द्वारा पश्चादुक्त का निष्फलीकरण हो सकता है। यदि प्रत्यक्षीकरण स्वतः सत्य

---

[1] नापि अनुमानाद्यनिवर्तितदिन्मोहनादि-निवर्तकत्वेन प्राबल्यमेतावता हि वैधर्म्य-मात्रं सिद्धं।

नहीं करता कि एक अवैध अनुमान प्रत्यक्ष से प्रबल होता है, लेकिन यह भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि अवैध प्रत्यक्ष के अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनका सत्य अनुमानों के द्वारा सही खण्डन किया जाता है।

व्यासतीर्थ आगे कहते हैं कि स्वयं 'मीमांसा'—विज्ञान अनेक स्थानों में प्रत्यक्ष की उत्कृष्ट सत्यता को स्वीकार करता है और उन श्रुति-पाठों की तोड़-मरोड़ कर व्याख्या करने की सिफारिश करता है जो प्रत्यक्ष से मेल नहीं खाते। श्रुति-पाठ 'तत् त्वमसि' का प्रत्यक्ष अनुभव से साक्षात् व्याघात होता है, अतएव उसकी इस ढंग से व्याख्या की जानी चाहिये कि वह प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध में न आये।

इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि यह वस्तुतः सत्य है कि साधारण व्यावहारिक कार्यों से सम्बन्धित कुछ श्रुति-पाठों का अनुभव से समन्वय किया जाता है और कभी-कभी उनकी प्रत्यक्ष के अनुसार व्याख्या की जाती है, किन्तु यह कोई कारण नहीं है कि जो श्रुति-पाठ चरम अनुभूति का उल्लेख करते हैं तथा जो यज्ञों के उपसाधनों का उल्लेख नहीं करते वे भी प्रत्यक्षीकरण के अधीन होने चाहिएं।

व्यासतीर्थ कहते हैं कि यह मानना गलत है कि प्रत्यक्षीकरण का अनुमान अथवा श्रुति-प्रमाण के द्वारा अमान्यकरण हो जाता है, प्रत्यक्षज्ञानात्मक भ्रमों की स्थिति में प्रत्यक्षीकरण अनेक प्रकार के दोषों से दूषित हो जाता है जिनकी उपस्थिति भी प्रत्यक्षीकरण के द्वारा ज्ञात की जाती है।

इसका मधुसूदन यह सरल उत्तर देते हैं कि दोषों की उपस्थिति स्वयं प्रत्यक्षीकरण द्वारा ज्ञात नहीं की जा सकती तथा भ्रामक प्रत्यक्षीकरण के अधिकांश उदाहरणों का प्रबलतर अनुमान के द्वारा अमान्यकरण होता है। जब यह कहा जाता है कि चन्द्रमा एक फुट से बड़ा नहीं है तब भ्रम निःसंदेह लम्बी दूरी के दोष के कारण होता है, किन्तु इसे केवल इस निरीक्षण पर आधारित अनुमान के द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है कि सुदूर गिरि-शिखरों पर स्थित वृक्षों के आकार छोटे हो जाते हैं। इस प्रकार, यद्यपि ऐसे उदाहरण हैं जिनमें एक प्रत्यक्ष अन्य प्रत्यक्ष का अमान्यकरण कर देता है तथापि ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें एक अनुमान एक प्रत्यक्ष का अमान्यकरण करता है।

एक प्रश्न यह उठता है कि क्या जगत-प्रपंच का वर्तमान प्रत्यक्ष अन्ततोगत्वा बाधित हो जाता है, किन्तु इसके प्रति व्यासतीर्थ यह कहते हैं कि ऐसे भावी व्याघात का भय तो उस ज्ञान का भी अमान्यकरण कर सकता है जो उक्त प्रत्यक्ष का बाध करता है। साधारणतः जाग्रत अनुभव स्वप्न के अनुभव को बाधित करता है और यदि जाग्रत अनुभव बाधित हो जाता है तो स्वप्न के अनुभव का बाध करने में लिए कोई अनुभव शेष न रहेगा। इस प्रकार मिथ्या अनुभव के उदाहरण को ढूंढना कठिन हो

जायगा। भ्रामक प्रत्यक्ष को वाधित करने वाले ज्ञान में उन वस्तुओं का समावेश होता है जो भ्रामक प्रत्यक्षीकरण के समय ज्ञात नहीं होती (यथा, शुक्ति का ज्ञान जो भ्रामक-शुक्ति-रजत के प्रत्यक्षीकरण के समय विद्यमान नहीं था)। पर यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि जिस ज्ञान से जगदानुभव का बाध होगा उसमें जगदानुभव के ज्ञान के अन्तर्गत समाविष्ट न होने का विशिष्ट लक्षण विद्यमान होगा। पुनः, वह ज्ञान जो किसी अन्य ज्ञान का बाध करता है सविषय होना चाहिए, निर्विषय ज्ञान का मिथ्या ज्ञान से कोई विरोध नहीं होता और फिर भी ब्रह्म-ज्ञान को निर्विषय माना जाता है। इसके अतिरिक्त, व्याघात केवल वहीं सम्भव होता है जहाँ एक दोष होता है और वह दोष शंकरवादियों में ही पाया जाता है जो श्रुति-पाठों की अद्वैतवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। पुनः यदि अद्वैतवादी अनुभव अद्वैतवादी पाठों द्वारा प्रमाणित होता है तो द्वैतवादी अनुभव द्वैतवादी पाठों द्वारा प्रमाणित होता है तथा जो ज्ञान जगदानुभव का बाध एवं निषेध करेगा उसमें इस निषेध के कारण ही द्वैत का समावेश हो जायगा। इसके अतिरिक्त जो अन्तिम अनुभव जगदानुभव का बाध करेगा वह स्वयं अनुभव होने के कारण समान रूप से बाध-योग्य होगा और यदि अवाधित अनुभव के प्रति भी बाध-योग्य होने का संशय किया जायगा तो ऐसे संशयों का कोई अन्त न होगा।

व्यासतीर्थ की उपर्युक्त आपत्ति के उत्तर में मधुसूदन इस बात पर बल देते हैं कि अन्य ज्ञान का बोध करने वाले ज्ञान का यह कोई अनिवार्य लक्षण नहीं होता कि वह सविषय हो, यहाँ अनिवार्यता इस बात की है कि सत्य ज्ञान परम-सत्ता की अनुभूति पर आधारित होना चाहिए और उसके फलस्वरूप उसे मिथ्या ज्ञान का निषेध करना चाहिए। यह सोचना भी गलत है कि जब ब्रह्म-ज्ञान जगत-प्रपंच का निषेध करता है तो द्वैत की स्वीकृति का समावेश होता है, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान परम सत्ता के स्वरूप का ही होता है जिसके समक्ष मिथ्यात्व, जिसका आभास-मात्र होता है एवं कोई अस्तित्व नहीं होता, स्वभावतः विलीन हो जाता है। वे आगे कहते हैं कि सत्यता के सम्बंध में संशय तभी उत्पन्न हो सकते हैं जब यह ज्ञात हो कि दोष विद्यमान हैं, पर, चूँकि ब्रह्मज्ञान में कोई दोष नहीं होते अतः कोई संशय उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। व्यासतीर्थ का यह अभिवचन अनधिकृत है कि यदि जगत-प्रपंच मिथ्या है तो इस आधार पर आत्मन् को विशुद्ध आनन्द-स्वरूप कहना गलत है कि सुषुप्ति के अनुभव में उक्त आनन्द-मय अवस्था अभिव्यक्त होती है, क्योंकि आत्मन् का आनन्दमय स्वरूप श्रुति-प्रमाण द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है और सुषुप्ति का अनुभव उससे संगत है।

ज्ञान का स्वरूप

व्यासतीर्थ की युक्ति है कि यदि यह मान लिया जाय कि तर्क, दृश्यत्व आदि जगत-प्रपंच के मिथ्यात्व का निर्देश करते हैं और यदि उनका अनुप्रयोग अनुमान के

उपकरणों पर किया जाय तो फिर वे भी मिथ्या हो जाते हैं और यदि वे मिथ्या नहीं हैं तो समस्त जगदाभास मिथ्या है तथा जगत के मिथ्यात्व की युक्ति दोपपूर्ण है। व्यासतीर्थ आगे कहते हैं कि यदि शंकरवादी से यथार्थ सत्ता के स्वरूप की व्याख्या करने को कहा जाय तो वह स्वभावतः संभ्रान्ति में पड़ जायगा। उसे चेतना का विषय नहीं माना जा सकता क्योंकि काल्पनिक वस्तुएं भी चेतना का विषय होती हैं, उसका साक्षात् चेतना के रूप में भी वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि फिर वह अप्रत्यक्ष नित्य एवं अनुभवातीत सत्ताओं में नहीं पाई जायगी और जगदाभास जो साक्षात् प्रत्यक्ष किया जाता है मिथ्या नहीं होगा और अनुमान, यथा, हेतु के भ्रामक प्रत्यक्षीकरण (यथा, एक झील में जल-वाष्प) के आधार पर अग्नि का अनुमान भी सत्य हो जायगा। ज्ञान वस्तुओं के अस्तित्व को उनके सर्व धर्मों को प्रदान नहीं करता, यदि अग्नि अग्नि के रूप में ज्ञात न भी की जाय तो भी वह जलाने की क्षमता रखती है। इस प्रकार अस्तित्व किसी प्रकार की चेतना पर निर्भर नहीं करता। सत्ता की व्यावहारिक आचरण के रूप में परिभापा देना भी गलत है, क्योंकि जबतक जगत-प्रपंच के स्वरूप को ज्ञात नहीं कर लिया जाता तबतक व्यावहारिक आचरण ज्ञात नहीं होता। जगत् या तो सत् होना चाहिये या असत् अस्तित्व का कोई तीसरा प्रकार सम्भव नहीं है, जगत की असत्ता किसी सत् प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती क्योंकि सत् और असत् परस्पर विरोधी हैं, असत्ता प्रमाणों के द्वारा भी सिद्ध नहीं की जा सकती क्योंकि वे असत् ही हैं। कोई ऐसी सत्ता नहीं हो सकती जो असत् एवं चरम सत् में सामान्य हो।[1]

मधुसूदन कहते हैं कि असत्य का सत्य से विभेदीकरण ठीक उसी प्रकार के विचारों से किया जा सकता है जो प्रतिपक्षी को आकाश के नीलत्व तथा एक घट, एक रज्जु आदि साधारण अनुभव के विपयों के प्रत्यक्षीकरण में विभेद करने की प्रेरणा देते हैं। जगत-प्रपंच को जिस प्रकार की सत्ता की स्वीकृति दी गई है वह ऐसी है कि उसका ब्रह्म-ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से बाध नहीं होता। -

व्यासतीर्थ का निर्देश है कि शंकरवादियों का यह तर्क कि ज्ञान और उसके अन्तर्विपय में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता बौद्धों से लिया गया है, जिनके अनुसार चेतना और उसके विषय एक ही होते हैं। शंकरवादी मानते हैं कि यदि विपयों को सत्य माना जाय तो यह बताना कठिन होता है कि ज्ञान और ज्ञान के द्वारा प्रकाशित विपयों में कोई सम्बन्ध कैसे हो सकता है, क्योंकि 'संयोग' एवं 'समवाय' के दो मान्य सम्बन्ध उनके मध्य नहीं पाये जा सकते। वस्तुगतता का सम्बन्ध भी इतना अस्पष्ट

---

[1] नापि सत्-त्रयानुगतं सत् द्वयानुगतं वा सत्वसामान्यं तन्त्रम्।

—न्यायामृत, पृ० १७४।

होता है उसकी व्याख्या करनी पड़ती है। इस मत का वस्तुवादियों के मत से केवल यही अन्तर है कि जहाँ शंकरवादी वस्तुओं को अन्ततः मिथ्या मानता है वहाँ वस्तुवादी उनको सत्य मानता है, जिन कारणों से शंकरवादी उनकी सत्ता को निरी प्रातिभासिक सत्ता से उत्कृष्ट स्तर की सत्ता मानते हैं उन्हीं कारणों से वस्तुवादी उनको चरम सत्य मानते हैं।[1] एक अर्थ में ब्रह्मन् भी उतने ही अवर्णनीय हैं जितने कि जागतिक विषय।[2] जहाँ तक वस्तुएँ ज्ञात होती हैं और जहाँ तक उनके कुछ सामान्य लक्षण हैं उनका वर्णन किया जा सकता है, यद्यपि अपने विलक्षण स्वरूप में उनमें से प्रत्येक में ऐसी विशेषताएँ हैं कि उनकी उचित परिभाषा एवं निरूपण नहीं किया जा सकता। प्रत्येक पुरुष का मुख हमारी ज्ञानेन्द्रियों के अबाधित साक्ष्य के द्वारा स्पष्ट ज्ञात किया जा सकता है, किन्तु फिर भी उसके विशिष्ट एवं अद्भुत लक्षणों का वर्णन नहीं किया जा सकता।[3] इसलिए शुद्ध सत्, चित् एवं आनन्द के तादात्म्य के रूप में ब्रह्मन् के विशिष्ट स्वरूप का वर्णन करना कठिन है, फिर भी उसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जाता। ऐसी ही दशा जागतिक विषयों की है, और यद्यपि वे अपने विशिष्ट स्वरूप में अवर्णनीय हैं तथापि उनकी सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता।[4]

मधुसूदन व्यासतीर्थ द्वारा उठाई गई कई आपत्तियों की प्रायः उपेक्षा कर देते हैं, इनमें से एक यह है सम्बन्धों को साक्षात् ग्रहण किया जाता है तथा यह सोचने में कोई विषमता नहीं है कि यद्यपि सम्बन्ध अव्यवहित होते हैं तथापि उनको ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा साक्षात् ग्रहण किया जा सकता है। मधुसूदन की युक्ति है कि यदि सम्बन्धों को आत्म-स्थित कहा जाय तो उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती अतएव वे मिथ्या माने जाने चाहिएँ। व्यासतीर्थ अब प्रत्यक्षीकरण के शंकरवादी निरूपण का उल्लेख करते

---

[1] तव स आकारः सद्विलक्षणः मम तु सन्निति,
अनिरुच्यमानोऽपि स तव येन मानेन
अप्रातिभासिकः तेनैव मम तात्विकोऽस्तु। —वही, पृ० २०५।

[2] कीदृक् तत् प्रत्यगिति चेत्तादृशी दृगिति द्वयं
यत्र न प्रसरत्येतत् प्रत्यगित्यवधारय
इति ब्रह्मण्यपि दुर्निरूपत्वस्य उक्त त्वाच्च। —वही, पृ० २०६ अ।

[3] तस्मात्प्रमितस्य इत्थमिति निर्वक्तुमशक्यत्वं प्रतिपुरुष-मुखं स्पष्टाबाधित-दृष्टिदृष्टम् विलक्षण-संस्थान-विशेषस्य वा सत्वेऽप्यद्भुतत्वादेव युक्तम्।
—वही, पृ० २०६।

[4] तस्मात् निर्वचनायोग्यस्यापि विश्वस्य इक्षु-क्षीरादि-माधुर्यवद् ब्रह्मवच्च प्रामाणिकत्वादेव सत्व-सिद्धेः। —वही, पृ० २०६।

(जैसा भारतीतीर्थ का कथन है) अथवा उस शुद्ध चैतन्य के रूप में जो 'अन्तःकरण-वृत्ति' में प्रतिबिम्बित चैतन्य द्वारा अभिव्यक्त किए गए विषयों के आभास का अधिष्ठान है (वृत्ति-प्रतिबिम्ब-चैतन्याभिव्यक्तं विषयाधिष्ठानं चैतन्यम्), जैसा सुरेश्वर मानते है, कल्पित करना कठिन है। प्रश्न यह है कि क्या 'अतः-करण' में प्रतिबिम्बित चैतन्य विषय को अभिव्यक्त करता है अथवा विषयों में अधः-स्थित अधिष्ठान-चैतन्य विषयों को अभिव्यक्त करता है। दोनों में से कोई भी मत मान्य नहीं है। प्रथम मत सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य मिथ्या होने के कारण यह सम्भव नहीं है कि जगत के विषय ऐसी मिथ्या सत्ता पर आरोपित हों, द्वितीय मत भी असंभव है, क्योंकि यह माना जाय कि 'अन्तःकरण वृत्ति' में प्रतिबिम्बित चैतन्य विषय का आवरण दूर करता है, तो यह भी माना जा सकता है कि वह उनको अभिव्यक्त करता है।

पुनः, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि 'वृत्ति' स्थूल भौतिक विषयों के आकार को ग्रहण करती है, क्योंकि फिर वह उतनी ही स्थूल और जड़ हो जाएगी जितने भौतिक पदार्थ हैं। इसके अतिरिक्त, यह मानना पड़ता है कि एक विषय के अस्तित्व के साथ ही अन्य वस्तुओं के अभाव का भी अस्तित्व है, और यदि यह माना जाय कि 'अन्तःकरण' एक विषय के आकार को ग्रहण करता है, तो उसे अभावात्मक आकारों को भी ग्रहण करना चाहिये, किन्तु यह कल्पना करना कठिन है कि 'अन्तःकरण' कैसे एक ही काल में भावात्मक एवं अभावात्मक आकारों को ग्रहण कर सकता है। पुनः, चरम ज्ञान की दशा में इसी मान्यता का अनुसरण करते हुए यह मानना पड़ता है कि 'अन्तःकरण-वृत्ति' ब्रह्मन् के आकार को ग्रहण करती है, किन्तु ब्रह्मन् का कोई आकार नहीं होता, अतः यह मानना पड़ेगा कि 'अन्तःकरण-वृत्ति' यहाँ आकार-रहित एवं आकार-सहित दोनों होती है–जो अयुक्त है।

इसके अतिरिक्त, यह मानना अवैध है कि 'जीव-चैतन्य' में अधःस्थित चैतन्य ही विषय को अभिव्यक्त करता है, क्योंकि इस मान्यता पर शंकरवादी सिद्धान्त खण्डित हो जाता है कि विषय शुद्ध चैतन्य पर अथवा विषयों में अधःस्थित चैतन्य पर मिथ्या अध्यारोपण हैं, क्योंकि इस दशा में प्रत्यक्ष करने वाला चैतन्य 'जीव' में अधःस्थित चैतन्य होने के कारण या तो शुद्ध चैतन्य से भिन्न होगा अथवा विषयों में अधःस्थित चैतन्य से भिन्न होगा जो मिथ्या सृष्टियों का आधार माना जाता है। इसके अतिरिक्त, स्वयं 'जीव' सृष्टि का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह स्वयं एक मिथ्या सृष्टि है। इन्हीं कारणों से तह भी नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म-चैतन्य ही विषय को अभिव्यक्त करता है। अतः ब्रह्मन् स्वयं विषयों में अधःस्थित होने से एक मिथ्या सृष्टि होने के कारण विषयों को अभिव्यक्त करता हुआ नहीं माना जा सकता। विषयों में अधः-स्थित शुद्ध चैतन्य स्वयं 'अज्ञान' से आवृत्त होने के

कारण स्वयं को अभिव्यक्त करने योग्य नहीं होना चाहिए, और इस प्रकार विषयों का समस्त ज्ञान असम्भव हो जायगा। यदि यह युक्ति दी जाय कि यद्यपि शुद्ध चैतन्य आवृत्त होता है तथापि विषयाकृतियों से सीमित चैतन्य 'अन्तःकरण' की 'वृत्ति' से अभिव्यक्त हो सकता है, तो यह सही नहीं है, क्योंकि यह नहीं माना जा सकता कि विषयाकृतियों से सीमित चैतन्य स्वयं ही उन विषयाकृतियों का आधार है, क्योंकि इसका यह अर्थ होगा कि विषयाकृतियाँ अपनी ही आधार हैं, जो आत्माश्रय दोष होगा, और शंकरवादियों का यह मौलिक तर्क खण्डित हो जाता है कि विषय मिथ्या ढंग से शुद्ध चैतन्य पर आरोपित है। इसके अतिरिक्त यदि ज्ञान की प्रक्रिया इस प्रकार की मानी जाय कि विषयाकृतियों से सीमित शुद्ध चैतन्य को 'अन्तःकरण वृत्ति' अभिव्यक्त करती है, तो चरम ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) की अवस्था जिसमें वैषयिक लक्षण अनुपस्थित होते हैं, अव्याख्येय हो जायगी। पुनः, शंकरवादी यह मानते हैं कि सुषुप्ति में 'अन्तः-करण' का विलय हो जाता है, और, यदि ऐसा ही होता तो, 'जीव', जो कि एक विशेष 'अन्तःकरण' द्वारा सीमित चैतन्य होता है, प्रत्येक सुषुप्ति के पश्चात् पुनर्नवीन हो जायगा, और इस प्रकार एक 'जीव' के कर्म-फलों का उपभोग नवीन 'जीव' के द्वारा नहीं किया जाना चाहिए। यह मत भी अमान्य है कि शुद्ध चैतन्य एक वृत्ति में से प्रतिबिम्बित होता है, क्योंकि प्रतिबिम्ब केवल दो दृश्य विषयों के मध्य ही हो सकते हैं। यह मत भी अमान्य है कि चैतन्य एक विशेष अवस्था में रूपान्तरित हो जाता है क्योंकि मान्यता के अनुसार चैतन्य अपरिवर्तनशील है। चैतन्य किसी अन्य वस्तु पर सर्वथा 'अनाश्रित' होने के कारण (अनाश्रितत्वात्) चैतन्य के उपाधीयन की व्याख्या करने के लिए सामान्य एवं विशेष के सम्बन्ध का सादृश्य भी अमान्य है। इसके अति-रिक्त, यदि जीव में अधः-स्थित चैतन्य को विषयों को अभिव्यक्त करने वाला माना जाय तो चूँकि, ऐसा चैतन्य एक अनावृत रूप में नित्य विद्यमान होता है, इसलिए यह कहने में कोई अर्थ नहीं है कि उसकी स्वजात अभिव्यक्ति को उत्पन्न करने के लिए 'वृत्ति' की प्रक्रिया आवश्यक है। शुद्ध चैतन्य को घट द्वारा सीमित आकाश की भाँति वृत्ति से परिसीमित भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि शुद्ध चैतन्य सर्व-व्यापी है, अतएव उसे 'वृत्ति' को भी व्याप्त करना चाहिए और इसलिए वह उसके अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। शुद्ध चैतन्य की रंग को अभिव्यक्त करने वाली प्रकाश-किरण से भी तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रकाश-किरण ऐसा केवल उपसाधनों की सहायता से ही करती है, जबकि शुद्ध चैतन्य स्वयं ही वस्तुओं को अभिव्यक्त करता है। पुनः, यदि वस्तुएँ अनावृत्त चैतन्य के द्वारा स्वतः अभिव्यक्त हो जाती हैं (अना-वृत-चित् यदि विषय प्रकाशिका), तो चूंकि ऐसा चैतन्य न केवल वस्तुओं की आकृतियों एवं रंगों से बल्कि भार आदि अन्य लक्षणों से भी सम्पर्क में हो जाता है, इसलिए रंग इत्यादि गुणों के साथ इनकी भी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, चैतन्य का विषय से सम्बन्ध नित्य संयोग के रूप का नहीं हो सकता, किन्तु वह चतन्य पर

मिथ्या आरोपण के रूप का होना चाहिए, ऐसा होने के कारण, चैतन्य का विषय से संबंध पहले ही से होता है, क्योंकि जगत् में सकल वस्तुएं चैतन्य पर आरोपित होती हैं। अतः एक मध्यस्थ के रूप में 'वृत्ति' की मान्यता अनावश्यक है।[1] पुनः यदि ब्रह्म-चैतन्य को वस्तुओं की अभिव्यक्ति के लिए एक 'वृत्ति' की सहायता की आवश्यकता होती है, तो उसे कोई अधिकार नहीं है कि वह स्वयं में सर्वज्ञ कहलाए। यदि यह सुझाव दिया जाय कि ब्रह्मन् सबका उपादान कारण होने से अन्य उपाधियों की सहायता के बिना ऐसे जगत् को प्रकाशित करने की क्षमता रखता है जिसका उससे तादात्म्य है, तो इसका यह उत्तर होगा कि यदि ब्रह्मन् को विषयाकृतियों की परिसीमा में स्वयं का रूपान्तरण करते हुए माना जाय तो परिसीमित ब्रह्मन् के ऐसे रूपान्तरण से शंकरवादियों की इस स्वीकृत मान्यता की न्यायोचितता स्थापित नहीं होती कि सर्व विषय शुद्ध चैतन्य पर मिथ्या ढंग से आरोपित हैं।[2] यह कहना भी सम्भव नहीं है कि किसी भी विषयाकृति से उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य की अधिष्ठान कारण है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि सर्वज्ञता का कथन केवल विषयाकृतियों के सम्बंध में ही किया जा सकता है।[3]

यह मान्यता गलत है कि आवरण को हटाने के लिए 'वृत्ति' की धारणा आवश्यक है, क्योंकि ऐसा आवरण या तो शुद्ध चैतन्य से संलग्न होना चाहिए या परिसीमित चैतन्य से। पूर्वोक्त असम्भव है, क्योंकि सकल आभासों का आधार शुद्ध चैतन्य समस्त 'अज्ञान' एवं उसके रूपों का साक्षात् द्रष्टा होता है, अतएव स्वयं-प्रकाश होने के कारण उससे कोई आवरण संलग्न नहीं हो सकता। दूसरा विकल्प भी असम्भव है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य की सहायता के बिना स्वयं 'अज्ञान' भी आश्रयरहित होगा, और 'अज्ञान' के बिना कोई परिसीमित चैतन्य एवं कोई 'अज्ञान' का आवरण नहीं होगा। पुनः यदि तर्क के लिए यह मान भी लिया जाय कि विषयों पर 'अज्ञान' एक आवरण होता है, तो एक 'वृति' के द्वारा उसके हटने की संकल्पना असम्भव है,

---

[1] चितो विषयोपरागस्तावत्संयोगादि-रूपो नास्त्येव।
तस्य दृश्यत्वा-प्रयोजकत्वात् किन्तु तत्राध्यस्तत्व-रूपैवेति वाच्यम्।
स च वृत्यपेक्षया पूर्वमप्यस्तीति किं चितो विषयोपरागार्थया वृत्त्या।
—'न्यायामृत' पर श्री निवास का 'न्यायामृत-प्रकाश' पृ० २२६।

[2] विशिष्ट-निष्टेन परिणामित्व-रूपेण सर्वोपादानत्वेन विशिष्ट-ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वे तस्य कल्पितत्वेनाधिष्ठानत्वायोगेन तत्र जगदध्यासासम्भवाताध्यासिक-सम्बन्धेन प्रकाशत इति भवदभिमतनियमभंग-प्रसंगः। —वही, पृ० २२७ (अ)

[3] नापि शुद्ध-निष्ठमधिष्ठानत्वं सार्वज्ञ्यादेर्विशिष्ट-निष्ठत्वात्।
—वही, पृ० २२६ (ब)

क्योंकि यदि 'अज्ञान' विशेष द्रष्टा में होता है, तो, यदि वह एक व्यक्ति के लिये नष्ट होता है तो अन्य के लिये वैसा ही बना रहता है, यदि वह विषय में है, जैसाकि माना गया है, तो जब वह एक व्यक्ति की 'वृत्ति' के द्वारा नष्ट होता है तो विषम अन्य व्यक्तियों के प्रति अभिव्यक्त होना चाहिए, अतः जब एक व्यक्ति एक विषय को देखता है तो वह विषय अन्य व्यक्तियों को अन्य स्थानों में दृष्टिगोचर होना चाहिए। पुनः क्या 'अज्ञान' 'विवरण' के लेखक के कथनानुसार एक माना जाय, अथवा 'इष्ट-सिद्धि' के लेखक के कथनानुसार अनेक माना जाय? पूर्वोक्त दशा में, जब एक सम्यक् ज्ञान के द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाता है तब तत्काल मोक्ष हो जाना चाहिए। यदि 'अज्ञान' नष्ट नहीं होता है तो शुक्ति का रजताभास बाधित नहीं होना चाहिए था, तथा शुक्ति का आकार अभिव्यक्त नहीं हो सकता था। यह नहीं कहा जा सकता कि रजताभास के निषेध के द्वारा शुक्ति के प्रत्यक्षीकरण की दशा में 'अज्ञान' का विलय-मात्र होता है (जैसे लाठी के प्रहार से घट मृत्तिका में परिणत हो जाता है, किन्तु नष्ट नहीं होता है), तो केवल ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा ही किया जा सकता है, क्योंकि 'अज्ञान' ज्ञान से प्रत्यक्ष विरोध में होता है तथा अज्ञान का नाश किये बिना ज्ञान स्वयं को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। यदि 'अज्ञान' शुक्ति के ज्ञान द्वारा नष्ट नहीं होता, जो व्यक्त चैतन्य का शुक्ति से कोई सम्बंध नहीं होता तथा उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी, और बाध के बावजूद भी भ्रम बना रहता। न यह निर्देश किया जा सकता है कि यद्यपि 'अज्ञान' कुछ भागों में नष्ट हो सकता है, तथापि वह अन्य भागों में बना रह सकता है, क्योंकि 'अज्ञान' एवं चैतन्य दोनों निरवयव हैं। यह सुझाव भी नहीं दिया जा सकता कि जिस प्रकार कुछ हीरों के प्रभाव से अग्नि की दहन-शक्ति को रोक दिया जाता है, उसी प्रकार शुक्ति के ज्ञान से 'अविद्या' की आवरण-शक्ति निलम्बित हो जाती है, क्योंकि शुक्ति के आकार की 'अन्तःकरण-वृत्ति' दृश्येन्द्रिय व अन्य उपसाधनों की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होने के कारण उस विशुद्ध आत्मन् के सम्पर्क में नहीं हो सकती जो सकल लक्षणों से रहित है, अतएव वह आवरण-शक्ति का नाश नहीं कर सकती। यदि वह सुझाव दिया जाय कि शुक्ति के आकार की 'वृत्ति' शुक्ति की आकृति से परिसीमित शुद्ध चैतन्य के साहचर्य में रहती है अतएव आवरण को हटा सकती है, तो अधःस्थित चैतन्य का अपरोक्ष ज्ञान होना चाहिए। 'अविद्या' जड़ विषयों पर आश्रित नहीं हो सकती, क्योंकि वे स्वयं 'अविद्या' की उत्पत्ति हैं। अतः अविद्या की आवरण-शक्ति का जड़ विषयों के प्रति कोई उल्लेख नहीं हो सकता, क्योंकि आवरण केवल प्रकाशमय वस्तु को आवृत्त कर सकता है, जड़ विषय प्रकाशमय न होने के कारण आवृत्त नहीं हो सकते। इसलिए यह कहने में कोई अर्थ नहीं है कि प्रत्यक्षीकरण में विषयों का आवरण हट जाता है। यदि पुनः, यह कहा जाय कि आवरण का उल्लेख जड़ लक्षण से रूपान्तरित विशुद्ध-आत्मन् के प्रति है और जड़ लक्षण के प्रति नहीं, तो शुक्ति के ज्ञान से शुक्ति में अधः-स्थित आवरण हट सकता

है, तथा इससे तत्काल मोक्ष हो जाना चाहिए। यदि यह सुझाव दिया जाय कि यह 'अज्ञान' जो कि मिथ्या रजत का अधिष्ठान होता है, केवल उस मूल 'अज्ञान' का रूपान्तरण होता है जो शुक्ति का उपादान होता है, तो इससे एक दूसरे से स्वतंत्र कई 'अज्ञानों' की मान्यता फलित होती है, तथा ऐसा होने के कारण यह अनिवार्यतः फलित नहीं होगा कि शुक्ति का ज्ञान रजत के मिथ्या आभास को नष्ट कर सकता है।

'इष्ट-सिद्धि' के लेखक के मतानुसार यदि अनेक 'अज्ञानों' के अस्तित्व को स्वीकार किया जाय तो प्रश्न यह है कि क्या एक वृत्ति की प्रक्रिया से केवल एक 'अज्ञान' हटता है अथवा सर्व अज्ञान। पूर्वोक्त मत के अनुसार भ्रम की दशा में भी शुक्ति कदापि अव्यक्त नही रह सकती थी, क्योंकि मिथ्या रजत को अभिव्यक्त करने वाली 'वृत्ति' शुक्ति को भी अभिव्यक्त करेगी, द्वितीय मत के अनुसार ऐसे अनन्त 'अज्ञान' होने के कारण कि जिन सबको हटाया नहीं जा सकता, शुक्ति कदापि अभिव्यक्त नहीं होगी। यह आलोचना पूर्वोक्त मत पर भी समान रूप से लागू होगी जिसके अनुसार केवल एक ही मूल 'अज्ञान' होता है जिसकी कई अवस्थाएँ होती हैं। पुनः यह समझना कठिन है कि कैसे काल में आरम्भ होने वाली शुक्ति का अनादि अविद्या से साहचर्य हो सकता है। आगे, यदि उत्तर में यह आग्रह किया जाय कि अनादि 'अविद्या' अनादि शुद्ध चैतन्य को परिसीमित करती है, और तत्पश्चात् जब विषय उत्पन्न हो जाते हैं तब उन विषयाकृतियों से परिसीमित शुद्ध चैतन्य के आवरण के रूप में 'अज्ञान' व्यक्त होता है, तो उत्तर यह है कि यदि शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित आवरण वही है जो परिसीमित विषयाकृतियों में स्थित चैतन्य से संबंधित होता है, तो उनमें से किसी भी विषय के ज्ञान से शुद्ध चैतन्य का आवरण हट जायगा और तत्काल मोक्ष फलित हो जायगा।

'वेदान्त-कौमुदी' के लेखक रामाद्वय सुझाव देते हैं कि जैसे असंख्य 'प्राग्-अभाव' होते हैं, फिर भी जब कोई वस्तु उत्पन्न होती है तो उनमें से केवल एक ही का नाश होता है, अथवा जैसे जब एक भीड़ पर एक वज्र गिरता है तब उनमें से एक ही मारा जाता है तथा अन्य लोग तितर-बितर हो जाते हैं, वैसे ही ज्ञान के उदय से केवल एक 'अज्ञान' ही नष्ट हो सकता है और अन्य बने रह सकते हैं। व्यासतीर्थ उत्तर देते हैं कि यह सादृश्य मिथ्या है, क्योंकि (उनके अनुसार) ज्ञान का प्रादुर्भाव एक आवरण नहीं होता वरन् ज्ञान के कारणों का अभाव मात्र होता है। इसके अतिरिक्त ज्ञान उक्त अभाव के नष्ट होने का कारण नहीं होता, किन्तु एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में क्रियान्वित होता है जिससे एक ज्ञान अपने कार्यों को उत्पन्न कर सकता है, जबकि उस वर्ग के अन्य संज्ञानों के प्राग्-अभाव बने रह सकते हैं। एक कारण की उपस्थिति कार्य को उत्पन्न करती है, किन्तु उसमें इस शर्त का समावेश नहीं होता कि कार्य की उत्पत्ति के

क्रियान्वित होती है, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि चैतन्य को अनुकूलित करने में वह उसका अनिवार्य व्यापार होता है। इस प्रकार प्रकाशन में प्रकाश किरण का व्यापार यह है कि वह अंधकार का निवारण करती है, उसका विषय पर फैलना तो एक संयोग मात्र है।[1] केवल इस तथ्य का कि 'वृत्ति' एक विषय के सम्पर्क में आ सकती है, यह अर्थ नहीं होता कि वह तदाकार हो जाती है, इस प्रकार, यद्यपि 'अन्तःकरण-वृत्ति' ध्रुव तारे तक गमन कर सकती है, अथवा परमाणवीय रचना के विषयों के सम्पर्क में आ सकती है, तथापि उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि चक्षु एवं तारे अथवा परमाणुओं के मध्य में स्थित सकल विषयों का प्रत्यक्षीकरण होना चाहिए, ऐसे प्रत्यक्षीकरण उन सहायक कारणों के अभाव से निष्फल हो जाते हैं जिनके कारण 'वृत्ति' उनसे तदाकार हो सकती थी। स्पर्श-प्रत्यक्ष की दशा को 'अन्तःकरण-वृत्ति' स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा विषय के सम्पर्क में आती है, ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि 'अन्तःकरण' केवल चक्षु के द्वारा ही निर्गमन करे तथा अन्य इन्द्रियों के द्वारा नहीं।[2] यह तर्क कि इच्छा, द्वेष आदि अन्य मानसिक व्यापारों की दशा में 'अन्तःकरण' के वाह्य प्रवासन की कोई कल्पना नहीं की गई है, अर्थ हीन है, क्योंकि इन दशाओं में प्रत्यक्ष ज्ञान की दशा के समान आवरण को दूर नहीं किया जाता।

मधुसूदन का आग्रह है कि सकल वस्तुओं को अभिव्यक्त करने वाला आधार अथवा 'अधिष्ठान चैतन्य' विषयों से मिथ्या आरोपण के द्वारा सम्बंधित होता है। यह स्वयं-प्रकाशक सत्ता वस्तुतः उससे सम्बंधित सर्व विषयों को अभिव्यक्त कर सकती है, किन्तु अपने स्वरूप में एक आवृत्त दीपक की भाँति अव्यक्त अवस्था में होती है तथा उसकी अभिव्यक्ति के लिये 'वृत्ति' की प्रक्रिया अनिवार्य मानी जाती है। परोक्ष ज्ञान की दशा में यह अव्यक्त चैतन्य स्वयं को 'वृत्ति' के आकार में अभिव्यक्त करता है, और अपरोक्ष प्रत्यक्ष की दशा में 'वृत्ति' के सम्पर्क से 'अज्ञान' का आवरण दूर हो जाता है, क्योंकि विषयों तक पहुँचने के लिए 'वृत्ति' का विस्तार होता है। अतः एक परोक्ष ज्ञान की दशा में एक मानसिक अवस्था का ज्ञान होता है न कि एक विषय का, जबकि अपरोक्ष प्रत्यक्ष में 'वृत्ति' के साहचर्य से विषय की अभिव्यक्ति होती है। परोक्ष ज्ञान की दशा में 'अन्तःकरण' के बाह्य गमन का कोई रास्ता नहीं होता।

---

[1] विषयेषु अभिव्यक्त-चिदुपरागे न तदाकारत्व-मात्रं तन्त्रम्।

—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ४८२।

[2] न च स्पार्शन-प्रत्यक्षे चक्षुरादिवत् नियत-गोलकद्वारा-भावेन अन्तःकरण-निर्गत्य योगादावरणाभिभवानुपपत्तिरिति वाच्यम्। सर्वत्र तत्तदिन्द्रियाधिष्ठानस्यैव द्वारत्व-सम्भवात्। —वही, पृ० ४८२।

व्यासतीर्थ की इस आपत्ति का कि 'अन्तःकरण' का स्थूल भौतिक विषयों से तदाकार बनने का विचार करना अयुक्त है, मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि 'एक विषय से तदाकार बनने' का अर्थ 'वृत्ति' की उस 'अज्ञान' के आवरण को दूर करने की योग्यता मात्र है जो विषय के अस्तित्व की स्वीकृति के मार्ग में बाधक थी,[1] इस प्रकार 'वृत्ति' का व्यापार केवल 'अज्ञान' के आवरण को हटाने में निहित होता है।

यदि शुद्ध चैतन्य ज्ञान से आवृत्त है, तो कोई ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता। इस आपत्ति का मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि ज्ञान अपनी व्यापक संपूर्णता में बना रह सकता है, तथापि वृत्ति के साहचर्य से उसका एक अंश निराकृत हो सकता है, और इस प्रकार विषय प्रकाशित हो सकता है।

व्यासतीर्थ की इस आपत्ति का कि अंतिम मोक्ष-प्रदायक ज्ञान में हम यह आशा करेंगे कि 'अन्तःकरण' को विषय के रूप में ब्रह्मन् का आकार ग्रहण करना चाहिए (जो निरर्थक है, क्योंकि ब्रह्मन् निराकार है), मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि ब्रह्मन् जो अन्तिम अपरोक्ष ज्ञान का विषय होता है, पूर्णतः निरुपाधिक होने के कारण, किसी विशेष आकार के साहचर्य में प्रकाशित नहीं होता। सांसारिक अनुभव में विषयों की अभिव्यक्ति सदा विशिष्ट उपाधि-सहित होती है, जबकि उक्त अन्तिम अभिव्यक्ति का विषय उपाधि-रहित होने के कारण किसी भी आकार का अभाव उसके प्रति कोई आपत्ति नहीं हो सकता, उसका 'अज्ञान' पूर्ण निवृत्ति में फलित होता है और इस प्रकार मोक्ष को उत्पन्न करता है। पुनः, यह आपत्ति अवैध है कि यदि सुषुप्ति-अवस्था में 'अन्तःकरण' का विलय हो जाता है तो पुनर्जागरण होने पर वह नवीन 'अन्तःकरण' हो जायगा और इस प्रकार पूर्वोक्त 'अन्तःकरण' से सम्बंधित कर्मों की नवीन 'अन्तःकरण' से अविच्छिन्नता नहीं रहेगी, क्योंकि सुषुप्ति में भी कारण 'अन्तः-करण' शेष रहता है तथा जिसका विलय होता है वह 'अन्तःकरण' का व्यक्त रूप होता है।

पुनः, यह आपत्ति अवैध है कि 'अन्तःकरण' में कोई प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता क्योंकि उसका न तो व्यक्त रूप होता है (उद्‌भूतारूपत्वात्) और न दृश्यता होती है, क्योंकि प्रतिबिम्ब के लिये जो अनिवार्य अवस्था मानी जा सकती है वह दृश्यता अथवा रूप का होना नहीं है, वरन् पारदर्शित्व का होना है, और ऐसा पारदर्शित्व 'अन्तःकरण' अथवा उसकी 'वृत्ति' में है, यह स्वीकार किया जाता है। 'अज्ञान' भी जो तीन 'गुणों' से निर्मित कहा गया है, प्रतिबिम्ब के योग्य माना जाता है क्योंकि उसके तत्वों में 'सत्व' का समावेश होता है।

---

[1] अस्तित्वादि तद्विषयक-व्यवहार-प्रतिबन्धक-ज्ञान-निवर्तन-योग्यत्वस्य तदाकारत्व-रूपत्वात्। —वही, पृ० ४८३।

यह आपत्ति अवैध है कि जैसे एक प्रकाश-किरण न केवल रंगों को अभिव्यक्त करती है वरन् अन्य वस्तुओं को भी, वैसे शुद्ध चैतन्य को भी न केवल विषय के रूप को बल्कि भार जैसे उसके अन्य गुणों को भी अभिव्यक्त करना चाहिए, क्योंकि शुद्ध चैतन्य, किसी भी गुण अथवा लक्षण के सम्पर्क में नहीं होता, अतएव केवल उन्हीं लक्षणों को अभिव्यक्त कर सकता है जो उसके समक्ष पारदर्शी 'वृत्ति' के माध्यम से प्रस्तुत किये जाते हैं, इसीलिए, 'यह रजत है' भ्रम के उदाहरण में 'यह' के संज्ञान में निहित वृत्ति मिथ्या रजत को अभिव्यक्त नहीं करती, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए 'अविद्या' की एक पृथक् 'वृत्ति' को स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु 'अन्तःकरण-वृत्ति' शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्ब को अपरोक्ष रूप से प्राप्त कर सकती है, अतएव उसे उक्त प्रतिबिम्ब के लिए एक अन्य 'वृत्ति' की अपेक्षा नहीं रहती तथा इस प्रकार अनवस्था दोष नहीं होता। 'वृत्ति' का व्यापार 'जीव' चैतन्य एवं विषय में अधः-स्थित (अधिष्ठान) चैतन्य के तादात्म्य को अभिव्यक्त करना है, जिसके बिना ज्ञाता और ज्ञान का 'यह मेरे द्वारा ज्ञात किया जाता है' के रूप में सम्बन्ध अभिव्यक्त नहीं हो सकता था।[1]

यद्यपि ब्रह्मन् किसी भी वस्तु से पूर्णतः अस्पर्श्य होता है, तथापि सकल वस्तुओं का उस पर मिथ्या आरोपण होता है, वह 'माया' की सहायता के बिना उन सबको अभिव्यक्त कर सकता है, इस प्रकार ब्रह्मन् की सर्वज्ञता तर्क-संगत है और यह आलोचना अवैध है कि शुद्ध ब्रह्मन् सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

'अज्ञान' के आवरण के नष्ट होने के सम्बंध में यह निर्देश किया जा सकता है कि एक व्यक्ति के 'अज्ञान' की आवरण-शक्ति का नाश उसकी वृत्ति की प्रक्रिया से नष्ट हो जाती है, अतएव केवल वही प्रत्यक्ष कर सकता है, तथा ऐसा कोई अन्य व्यक्ति नहीं, जिसके लिए आवरण-शक्ति का नाश नहीं हो पाया है। आवरण-शक्ति और अंधकार में यह अन्तर है कि आवरण-शक्ति का विषय एवं प्रत्यक्ष-कर्त्ता दोनों से सम्बन्ध होता है, जबकि अंधकार केवल विषय से सम्बंधित होता है, अतएव जब अंधकार का नाश होता है, तब सभी देख सकते हैं, किन्तु आवरण-शक्ति की दशा में ऐसा नहीं होता। इससे इस आलोचना का खण्डन हो जाता है कि यदि एक ही 'अज्ञान' है तो एक विषय के प्रत्यक्ष से तत्काल मोक्ष की प्राप्ति हो जानी चाहिए।

यह आलोचना अवैध है कि चूंकि ज्ञान से अनिवार्यतः अज्ञान का नाश होना चाहिए, अतः रजत के भ्रम का नाश नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान अज्ञान का नाश केवल अन्त में जाकर करता है, अर्थात् केवल मोक्ष से पूर्व। शुक्ति का ज्ञान असीम

---

[1] जीव चैतन्यस्याधिष्ठान-चैतन्यस्य वाभेदाभिव्यक्तार्थत्वाद् वृत्तेः।
अन्यथा मयेदं विदितमिति सम्बन्धावभासो न स्यात्।
—'अद्वैत-सिद्धि' पृ० ४८५।

चैतन्य को आवृत्त करने वाले मूल 'अज्ञान' की आवरण-शक्ति को नष्ट नहीं कर सकता, किन्तु केवल ससीम चैतन्य को आवृत्त करने वाले सापेक्ष 'अज्ञान' को नष्ट कर सकता और इस प्रकार सीमित विषयाकृतियों में अध:स्थित चैतन्य का आवरण करता है तथा मिथ्या रजत एवं शुक्ति के ज्ञान के व्याघात को उत्पन्न करता है।

यह आपत्ति सर्वथा निरर्थक है कि 'अज्ञान' जड़ पदार्थों को आवृत नहीं कर सकता क्योंकि वे प्रकाशमय नहीं होते, क्योंकि शंकरवादि सिद्धान्त यह मानकर नहीं चलता कि 'अज्ञान' जड़ पदार्थों को आवृत्त करता है। उनका मत है कि आवरण शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित होता है जिस पर सर्व जड विषय मिथ्या ढंग से आरोपित होते हैं। अधिष्ठान-चैतन्य को आवृत्त करने वाला 'अज्ञान' जड़ विषयों को भी आवृत्त करता है जिनका अस्तित्व उस पर आरोपित होने के कारण उसी पर निर्भर होता है।

यह आपत्ति सर्वथा निरर्थक है कि 'अज्ञान' जड़ पदार्थों को आवृत्त नहीं कर सकता क्योंकि वे प्रकाशमय नहीं होता एवं शंकरवादी सिद्धान्त यह मानकर नहीं चलता कि 'अज्ञान' जड़ पदार्थों को आवृत्त करता है। उनका मत है कि आवरण शुद्ध चैतन्य से सम्बन्धित होता है जिस पर सर्व जड़ विषय मिथ्या ढंग से आरोपित होते हैं। अधिष्ठान-चैतन्य को आवृत्त करने वाला 'अज्ञान' जड़ विषयों को भी आवृत्त करता है जिसका अस्तित्व उस पर आरोपित होने के कारण उसी पर निर्भर करता है। जब 'वृत्ति' के द्वारा अधिष्ठान-चैतन्य अभिव्यक्त होता है, तब उसका फल स्वयं शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होता, वरन् परिसीमित चैतन्य की केवल उस सीमा तक अभिव्यक्ति होती है जहाँ तक 'वृत्ति' से सम्पर्क में आये हुए उसके सीमित आकार का सम्बन्ध है। इस प्रकार यह आपत्ति अवैध है कि या तो आवरण का निवारण अनावश्यक है अथवा किसी विशेष संज्ञान में अनिवार्यत: मोक्ष का समावेश होता है।

पुन:, अज्ञान की अवस्थाओं को उससे एक-रूप समझना चाहिये तथा जो ज्ञान अज्ञान से विरुद्ध होता है वह उन अवस्थाओं से भी विरुद्ध होता है, अत: 'अज्ञान' की अवस्थाएं ज्ञान के द्वारा भली प्रकार अपरोक्षत: दूर की जा सकती हैं। यह आपत्ति अवैध है कि 'अज्ञान' अनेक होते हैं, और यदि एक 'अज्ञान' दूर भी हो जाय तो ज्ञान की अभिव्यक्ति में वाधक अन्य 'अज्ञान' शेष रहेंगे, क्योंकि जब एक 'अज्ञान' दूर होता है तो उसका दूर होना ही अभिव्यक्ति को आवृत्त करने के लिये अन्य 'अज्ञानों' के विस्तार में वाधक वन जाता है, अतएव जबतक प्रथम अज्ञान निवृत्त रहता तवतक विषय की अभिव्यक्ति भी वनी रहती है।

एक यह आपत्ति प्रस्तुत की जाती है कि चैतन्य स्वयं निरवयव होने के कारण उसकी कुछ विषयानुकृतियों के सम्बंध में ही आंशिक अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यदि यह माना जाय कि ऐसी सोपाधिक अभिव्यक्ति विषयाकृतियों के उपाधिकरण के

तथ्य के सम्बन्ध में सम्भव है, तो निश्चित विषयाकृतियों के अस्तित्व से पूर्व कोई 'अज्ञान' नहीं हो सकता, अर्थात् अज्ञान निश्चित विषयाकृतियों से सहावसानी होने के कारण एक पूर्व अवस्था के रूप में अस्तित्व नहीं रख सकता। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि विषयाकृतियाँ शुद्ध चैतन्य पर आरोपित होने के कारण एवं पश्चादुक्त उनका अधिष्ठान होने के कारण किसी भी विषयाकृति के सम्बन्ध में चैतन्य की अभिव्यक्ति अधिष्ठान-चैतन्य पर आरोपित उक्त विषयाकृति की मिथ्या सृष्टि के सम्बन्ध में 'अज्ञान' के निवारण पर निर्भर करती है। 'अज्ञान' स्वयं विषयाकृति को निर्मित नहीं करता, इसलिये 'अज्ञान' का निवारण पृथक् एवं स्वतंत्र सत्ताओं के रूप में विषयाकृतियों से सम्बन्ध नहीं रखता, किन्तु अधिष्ठान-चैतन्य पर आरोपित उक्त विषयाकृतियों की सृष्टि से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार कोई आपत्ति नहीं हो सकती, एक पूर्व-अवस्था के रूप में 'अज्ञान' का अस्तित्व ऐसा है कि जब सहित विषयाकृतियों की सृष्टि होती है, तब इनके ऊपर का आवरण उनके ज्ञान को उत्पन्न करने वाले 'वृत्ति' सम्पर्क से दूर कर दिया जाता है। स्थिति यह है कि यद्यपि अधिष्ठान-चैतन्य उस पर आरोपित विषयाकृतियों को अभिव्यक्त करता है, तथापि यह अभिव्यक्ति केवल उस प्रत्यक्ष-कर्ता के लिये होती है जिसकी 'वृत्ति' विषय के सम्पर्क में आती है न कि अन्य व्यक्तियों के लिये। अभिव्यक्ति की शर्त यह है कि प्रत्यक्षकर्त्ता में अधःस्थित चैतन्य, 'वृत्ति' एवं विषयाकृति का मानो विषय पर आरोपित 'वृत्ति' के द्वारा तादात्म्य हो जाता है। एक विशेष प्रत्यक्षकर्त्ता के लिये किसी विषय की अभिव्यक्ति का त्रिपक्षीय एकत्व एक अनिवार्य शर्त होने के कारण अधिष्ठान-चैतन्य द्वारा प्रकाशित किया गया विषय अन्य प्रत्यक्षकर्त्ताओं के लिये अभिव्यक्त नहीं होता।

माया के रूप में जगत्

व्यासतीर्थ ने इस शंकरवादी सिद्धान्त का खण्डन करने का प्रयत्न किया कि जगत् एक मिथ्या आरोपण है। उनका तर्क है कि यदि जगत् एक मिथ्या सृष्टि है तो उसका एक ऐसा अधिष्ठान होना चाहिये जो सामान्यतः ज्ञात होना चाहिये, किन्तु फिर भी जहाँ तक उसके विशेष लक्षणों का सम्बन्ध है वह अज्ञात होना चाहिये। लेकिन ब्रह्मन् के कोई सामान्य लक्षण नहीं होते, और चूँकि वह विशिष्ट विशेषताओं से रहित होता है, अतः ऐसा कोई भी कथन अंगीकार नहीं किया जा सकता कि वह एक ऐसी सत्ता है जिसकी विशिष्ट विशेषताएं अज्ञात होती हैं।[1] इसके प्रति मधुसूदन

---

[1] अधिष्ठानत्व सामान्यत्वे ज्ञाते सत्यज्ञान-विशेषवावस्य प्रयोजकत्वात्। ब्रह्मणः सामान्य धर्मोपेतत्वादिना तावत् ज्ञातत्वं न सम्भवति। निस्सामान्यत्वात्। अज्ञात-विशेषवावं च न सम्भवति निर्विशेषत्वांगीकारात्।

'न्यायामृत' पृ० २३४ पर श्रीनिवास का 'न्यायामृत-प्रकाश'।

का उत्तर यह है कि भ्रम के अधिष्ठान के सामान्य लक्षण का ज्ञान अपरिहार्य नहीं होता, आवश्यक केवल इतना ही है कि विषय के विशिष्ट ब्यौरे के बिना उसका यथार्थ स्वरूप ज्ञात होना चाहिये। ब्रह्मन् के उदाहरण में उसका स्वरूप स्वयं-प्रकाश आनन्द है, किन्तु उस आनन्द के न्यूनाधिक विशेष लक्षण तथा उसके गुण में परिवर्तन अज्ञात है। किन्तु एक अन्य प्रत्युत्तर भी दिया जा सकता है, क्योंकि मधुसूदन कहते हैं कि यदि हम ब्रह्मन् के कल्पित लक्षणों के अनादि स्वरूप को मान लें तो 'अन्योन्याश्रय' दोष में फंसे बिना ब्रह्मन् के एक कल्पित सामान्य लक्षण एवं विशेष लक्षणों की संकल्पना की जा सकती है। सत् एवं आनन्द के रूप में ब्रह्मन् के लक्षणों को सामान्य माना जा सकता है, आनन्द की पूर्णता को विशेष माना जा सकता है। अतः सकल वस्तुओं में पाया जाने वाला अस्तित्व अथवा सत् का लक्षण ब्रह्मन् का एक सामान्य लक्षण माना जा सकता है जिसके आधार पर आनन्द के पूर्णत्व के रूप में ब्रह्मन् के विशेष लक्षण के अभाव में भ्रमों की सृष्टि होती है। इस उत्तर की अपर्याप्तता स्पष्ट है, क्योंकि आपत्ति इस आधार पर उठाई गई थी कि सर्व भ्रम अपने स्वरूप में मानसिक होते हैं, और केवल उन विशेष वस्तुओं की सम्भ्रान्ति के द्वारा उत्पन्न होते हैं जिनमें सामान्य एवं विशेष दोनों लक्षण पाये जाते हैं, जबकि निरपेक्ष होने के कारण ब्रह्मन् उन सर्व लक्षणों से रहित होता है जिनके आधार पर भ्रम सम्भव हो सके।

इस प्रसंग में व्यासतीर्थ आगे निर्देश करते हैं कि यदि यह सुझाव दिया जाय कि जब एक भ्रामक प्रत्यक्ष के विपरीत कोई ज्ञान नहीं होता तब भ्रम बना रह सकता है, तथा 'अज्ञान' स्वयं में जगत-प्रपंच के भ्रम के विरोध में नहीं होता बल्कि 'वृत्ति' के रूप में उसके आकार के विरोध में होता है, तो उत्तर है कि चूंकि 'अज्ञान' की यह परिभाषा है,—'वह जो चैतन्य के विरोध में हो'—इसलिये 'अज्ञान' को चैतन्य के विरुद्ध न मानने वाले उपरोक्त मत के अनुसार हमारा 'अज्ञान' का 'अज्ञान' के रूप में कथन करना न्याय-संगत नहीं होगा, क्योंकि यदि वह ज्ञान के विरोध में नहीं है, तो उसे 'अज्ञान' कहलाने का कोई अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त, आत्मन् और अनात्मन्, प्रत्यक्ष-कर्त्ता और प्रत्यक्ष विषय, एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि उनमें सम्भ्रान्ति की कोई गुंजायश नहीं होती। इस प्रकार वेदान्ती स्वयं यह कथन करते हैं कि उन सत्ताओं को पहचानने में संशय की कोई सम्भावना नहीं हो सकती जिनमें अवकाशिक पृथकता हो अथवा जिनके सार-तत्व सर्वथा भिन्न हों। यथा, वक्ता एवं श्रोता की पृथकता को सरलता से पहचाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, जबतक भ्रम का अधिष्ठान दृष्टि से ओझल न हो, तबतक भ्रम नहीं हो सकता, और शुद्ध चैतन्य सदा स्व-अभिव्यक्त होने के कारण उसका स्वरूप कभी छिप नहीं सकता, अतएव यह कल्पना करना कठिन है कि भ्रम कैसे उत्पन्न हो सकता है। पुनः, आत्मन् जो ब्रह्मन्-स्वरूप है, जगत्-प्रपंच के उन विषयों से कदापि सम्बंधित नहीं होता, जो हमारे लिए अनात्मन् के

रूप में सदा स्पष्ट होते हैं, और ऐसा होने के कारण उक्त विषयों को आत्मन् पर आरोपित कैसे माना जा सकता है, जैसा हम रजत के भ्रम के उदाहरण में मानते हैं, जो सदा 'इदं' के रूप में अपने अधिष्ठान से सम्बंधित होती है ? इस स्थिति की न्यायोचितता यह कहकर सिद्ध नहीं की जा सकती कि जगत-प्रपंच के सर्व विषयों का सत् से साहचर्य होता है जो ब्रह्मन् का स्वरूप होता है, क्योंकि इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि ये विषय अपने अधिष्ठान के रूप में सत् पर आरोपित नहीं होते, क्योंकि इन उदाहरणों में रंग की भाँति सत् विषयों के गुण के रूप में प्रतीत होता है, किन्तु विषय सत् पर आरोपित मिथ्या गुणों के रूप में प्रतीत नहीं होते। यदि विषयों को सत् पर एक मिथ्या आरोपण माना जाय तो वे सत् पर आरोपित मिथ्या गुणों के रूप में ही भासित होते। न यह कहा जा सकता है कि 'सत्' जागतिक विषयों में अधःस्थित एक स्वयं-प्रकाश सत्ता है, क्योंकि, यदि ऐसा होता, तो इन जागतिक विषयों को शुद्ध चैतन्य के साथ अपने साहचर्य के द्वारा स्वयं को अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त कर देना चाहिये था, ऐसी स्थिति में 'वृत्ति' को मानना सर्वथा अनावश्यक होता। यह कहना भी गलत है कि किसी विषय की अभिव्यक्ति से यह लक्षित होता है कि वह विषय अभिव्यक्ति के तथ्य पर एक आरोपण है, क्योंकि पश्चादुक्त उस विषय के सम्बन्ध में केवल गुणात्मक रूप में प्रतीत होता है।[1] कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि व्याख्या के लिये यथार्थ अधिष्ठान का ज्ञान आवश्यक नहीं होता, क्योंकि भ्रम की व्याख्या के लिये उक्त अधिष्ठान का एक मिथ्या प्रत्यय भी यथेष्ठ होता है, अतएव यदि प्रत्यक्षीकरण में यथार्थ अधिष्ठान (ब्रह्मन्) स्पष्ट न भी हो तो यह भ्रम की सम्भावना के प्रति कोई वैध आपत्ति नहीं है। किन्तु इस मत का उत्तर यह है कि फिर तो पूर्व भ्रम की अनन्त घटनाएं वर्तमान भ्रम की व्याख्या करने में समर्थ होंगी, तथा सर्व भ्रामक आभास के आधार-सत्य के रूप में ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करने में कोई अर्थ न होगा, इस प्रकार हम बौद्धों के शून्यवाद में प्रविष्ट हो जाएंगे।[2]

यदि जगत-प्रपंच, जिसे मिथ्या माना जाता है, कारणता-जन्य सामर्थ्य का प्रयोग कर सकता है और सत् की भाँति आचरण कर सकता है, जैसा उन श्रुति-पाठों से सुप्रमाणित होता है जो आत्मन् से आकाश की उत्पत्ति का कथन करते हैं, तो वह स्पष्टतः साधारण भ्रमों से भिन्न है, जिनमें ऐसी कारणता-जन्य सामर्थ्य (अर्थ-क्रिया-कारित्व) नहीं होती। इसके अतिरिक्त, शुक्ति-रजत के सादृश्य का अनुसरण करते हुए—जो रजतकार की रजत के सम्बन्ध में मिथ्या मानी जाती है—हम यह आशा कर

---

[1] घटः स्फुरति तस्य च स्फुरणानुभवत्वेन घटानुभवत्वायोगात्।

—न्यायामृत, पृ० २३६।

[2] वही, पृ० २३७ अ।

अपरोक्ष रूप में प्राप्त किया जाना चाहिए, न कि इस प्रकार के तार्किक वाक्छल के द्वारा। यह भी निर्देश किया जा सकता है कि यदि शुक्ति-रजत के सादृश्य का अनुसरण किया जाय, तो चूंकि वहां दोषों का वही स्तर होता है जो भ्रम के अधिष्ठान, अर्थात् शुक्ति के 'इदं' का, इसलिये जगत-भ्रम में भी दोषों का वही स्तर होना चाहिए जो अधिष्ठान का है।

पुनः, यदि दोषों को परम सत्य न मान कर केवल मिथ्या माना जाय, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जगत में यथार्थ दोष नहीं हैं, जिसका तात्पर्य यह होगा कि हमारा जगत-ज्ञान सत्य है। यह मान्यता कि दोष शरीर, इन्द्रियों आदि सब मिथ्या हैं, यह अपेक्षा रखती है कि यह अन्य दोषों की उपस्थिति के कारण हैं, ये दोष अन्य दोषों पर निर्भर करने चाहिए, और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। यदि दोषों की कल्पना मनस् में स्वतः स्फूर्त होती है तो ज्ञान की स्वतः-प्रामाण्यता का बलिदान करना पड़ता है। यदि यह आग्रह किया जाय कि 'अविद्या' या तो अनादि है अथवा भेद के प्रत्यय के समान आत्म-निर्भर एवं अपरोक्ष है इसलिये कोई अनवस्था दोष नहीं होता, तो उत्तर यह है कि यदि अविद्या आत्म-निर्भर एवं अनादि है तो वह किसी आश्रय अथवा जगत-भ्रम के आधार ब्रह्मन् पर अपने 'अधिष्ठान' के रूप में निर्भर नहीं करनी चाहिए। पुनः, यदि 'अविद्या' का अनुभव किन्हीं दोषों के कारण उत्पन्न न माना जाय तो वह असत्य नहीं माना जा सकता। किन्तु यह कल्पना करना कठिन होगा कि कैसे 'अविद्या' कुछ दोषों के कारण हो सकती है, क्योंकि फिर वह स्वयं को उत्पन्न करने के लिये स्वयं से पूर्व अस्तित्व में होगी। पुनः, यह धारणा गलत है कि जगत एक भ्रम है चूंकि उसका बाध हो जाता है, क्योंकि बाध स्वयं फिर बाधित हो जाता है, इससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि जो ज्ञान बाध करता है वह स्वयं बाधित हो जाता है।

जिस प्रकार रजत-भ्रम में भ्रम के अधिष्ठान की उसी प्रकार की सत्ता होती है जैसी दोष की, उसी प्रकार जगत-भ्रम में भी भ्रम के अधिष्ठान की उसी प्रकार की सापेक्ष सत्ता होनी चाहिये जैसी दोषों की, जिसका अर्थ यह होगा कि ब्रह्मन् भी सापेक्ष है। इसके अतिरिक्त, यह कहना गलत है कि जगत-भ्रम के 'अधिष्ठान का ज्ञान परम सत्य है, जबकि दोषों का केवल सापेक्ष अस्तित्व होता है, क्योंकि ऐसा भिन्न बर्ताव तबतक न्याय-संगत नहीं होगा जबतक दोषों का बाध नहीं हो जाता, जबकि ऊपर बताया जा चुका है कि बाध का प्रत्यय स्वयं अवैध है। यह नहीं कहा जा सकता कि दोषों के मिथ्यात्व में उनका बाध निहित है, क्योंकि दोष का प्रत्यय मिथ्यात्व के प्रत्यय के अर्थग्रहण के बिना दुर्बोध होता है, इसके अतिरिक्त, सर्व भ्रमों में अधिष्ठान के ज्ञान का भ्रम को उत्पन्न करने वाले दोषों से कोई विरोध प्रतीत नहीं

होता। इसलिये कोई कारण नहीं है कि यदि जगत-प्रपंच को भ्रम माना भी जाय तो भ्रम के अधिष्ठान के रूप में ब्रह्मन् का ज्ञान उक्त भ्रम को उत्पन्न करने वाले दोष का निवारण करने में समर्थ हो। अतः, जैसे ब्रह्मन् सत्य है वैसे दोष भी सत्य हैं, यदि बन्धन पूर्णतः मिथ्या होता तो कोई भी उनसे मुक्त होने का प्रयास नहीं करता, क्योंकि जो असत् है वह सत् नहीं हो सकता। पुनः, यदि बन्धन स्वयं ब्रह्मन् पर एक मिथ्या आरोपण होता, तो यह आशा नहीं की जा सकती थी कि ब्रह्मन् का अन्तः-प्रज्ञात्मक ज्ञान उसका निवारण करने में समर्थ होगा। इसके अतिरिक्त, यह मान्यता कि जगत-प्रपंच भ्रम है 'ब्रह्म-सूत्रों' के अधिकांश सूत्रों द्वारा प्रत्यक्ष बाधित हो जाती है, यथा, ब्रह्मन् की यह परिभाषा कि 'वह जो जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है।' अतः, हम जिस दृष्टिकोण से भी देखें, यह मान्यता सर्वथा तर्कहीन पाई जाती है कि जगत का व्यापार मिथ्या है।

मधुसूदन का यह तर्क जगत-भ्रम के उदाहरण के सम्बन्ध में भी सही है कि एक भ्रम तभी सम्भव होता है जब अधिष्ठान अपने विशेष लक्षणों के प्रति ही आवृत्त होता है, क्योंकि, यद्यपि ब्रह्मन् अपने शुद्ध सत् स्वरूप में अभिव्यक्त रहता है तथापि वह अपने आनन्द के पूर्णतत्व के स्वरूप में आवृत्त रहता है। यह शर्त भी जगत-भ्रम के सम्बन्ध में लागू होती है कि भ्रम तभी सम्भव होता है जब भ्रम का बाध करने के लिए कोई ज्ञान विद्यमान नहीं होता, क्योंकि जगत-भ्रम को निर्मित करने वाले 'अज्ञान' को बाधित करने वाला ज्ञान एक 'वृत्ति-ज्ञान' के स्वरूप का होना चाहिये। इस प्रकार जबतक ब्रह्मन् के शुद्ध स्वरूप का 'वृत्ति'-ज्ञान नहीं होता, तबतक जगत के ज्ञान को बाधित करने वाला भी कोई ज्ञान नहीं होता, क्योंकि शुद्ध चैतन्य स्वरूपतः 'अज्ञान' के विरुद्ध नहीं होता। इस आपत्ति का कि प्रत्यक्षकर्त्ता एवं प्रत्यक्ष वस्तु, आत्मन् एवं अनात्मन्, का भेद इतना स्पष्ट है कि एक को गलती से दूसरा नहीं समझा जा सकता, मधुसूदन द्वारा इस मान्यता पर उत्तर दिया जाता है कि रजत-भ्रम के उदाहरण में भी प्रस्तुत 'यह' एवं अप्रस्तुत 'वह (रजत) का भेद ज्ञात होता है और फिर भी भ्रम हो जाता है। इसके अतिरिक्त, एक विशेष रूप में संकल्पित भेद किन्हीं दो सत्ताओं के अन्य रूपों में तादात्म्य के आरोपण का खण्डन नहीं कर सकता, इस प्रकार, यद्यपि प्रत्यक्षकर्त्ता एवं प्रत्यक्ष वस्तु, आत्मन एवं अनात्मन्, का विरोध इस विशेष रूप में बिल्कुल स्पष्ट है, तथापि 'सत्' एवं 'घट' का भेद तनिक भी स्पष्ट नहीं हैं, क्योंकि 'घट' का प्रत्यय 'सत्' के प्रत्यय से पूर्णतः परिव्याप्त है, इसलिये 'सत्' एवं 'घट' के मिथ्या तादात्म्य को संकल्पित करने में कोई कठिनाई नहीं है।[1] इसके अतिरिक्त,

---

[1] नहि रूपान्तरेण भेद-ग्रहो रूपान्तरेणाध्यास-विरोधी। संघट इत्यादि-प्रत्यये च सद्-रूपस्यात्मनो घटाद्यनुविधायतया भावान्न तस्य घटाद्यध्यासाधिष्ठाना-नुपपत्तिः।
—'अद्वैत-सिद्धि' पृ० ४६५।

सत्-रूप सर्व ज्ञान का विषय होता है, अतएव यद्यपि वह काल की भाँति रूप-हीन होता है तथापि काल की भाँति उसकी चक्षु-प्रत्यक्ष के विषय के रूप में संकल्पना की जा सकती है।[1]

जगत-भ्रम एक क्रमिक श्रेणी में घटित होते हैं जिसमें उत्तरवर्ती श्रेणी पूर्ववर्ती श्रेणी के समान होती है। केवल यही शर्त अनिवार्य है, यह तनिक भी आवश्यक नहीं कि जो मिथ्या आकार आरोपित होते हैं, वे भी सत्य होने चाहिए। यही यथेष्ट है कि कुछ आकारों के स्थान पर कुछ अन्य आकारों के प्रस्तुत होने का ज्ञान हो। एक रजत-भ्रम के लिये आवश्यक बात यह है कि रजत का ज्ञान हो, रजत सत्य भी हो यह सर्वथा महत्वहीन एवं सांयोगिक है। इसलिये एक सत्ता के रूप में जगत-प्रपंच की सत्यता उक्त भ्रम की शर्त कदापि नहीं है। यह आपत्ति अवैध है कि उक्त सादृश्य का अनुसरण करते हुए यह तर्क भी किया जा सकता है कि भ्रम के अधिष्ठान की सत्यता अनावश्यक है तथा भ्रम की व्याख्या के लिये केवल उक्त अधिष्ठान का ज्ञान ही आवश्यक है, क्योंकि भ्रम का अधिष्ठान उसके ज्ञान के द्वारा भ्रम का कारण नहीं होता, वरन् उसके अज्ञान के कारण। इसके अतिरिक्त, यदि सत् के अधिष्ठान की सत्यता की भ्रम की एक पूर्व-अवस्था के रूप में माँग नहीं की जाती है, तो भ्रम का बाध निरर्थक हो जायगा, क्योंकि पश्चादुक्त केवल एक सत्य सत्ता के सम्बंध में भ्रामक धारणा का निवारण करता है।

यह आपत्ति अमान्य है कि यदि जगत-भ्रम व्यावहारिक कार्य-कुशलता एवं आचरण की क्षमता रखता है तो उसे असत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्वप्नों में इस प्रकार की व्यावहारिक कार्य-कुशलता होती है। आत्मन् से आकाश की सृष्टि की श्रुति-पाठों में कथा के आधार पर हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि उक्त श्रुति-पाठ सत्य हैं, क्योंकि श्रुतियां स्वप्न-सृष्टियों का कथन भी करती है। यह आपत्ति अवैध है कि यदि सृष्टि के आरम्भ में भ्रम के मूल संस्कार अन्य सृष्टि-चक्रों के मूल संस्कारों के कारण उत्पन्न होते हैं तो पूर्व-जन्म के मूल-संस्कार इस जीवन के प्रत्येक एवं सर्व अनुभवों में प्रकट होने चाहिए, क्योंकि पूर्व-जन्म के सर्व मूल संस्कार इस जीवन में अभिव्यक्त नहीं होते तथा ऐसे मूल-संस्कारों का इस जीवन के अनुभवों को प्रभावित करने का कर्तृत्व जैसे एक शिशु में अपनी मां के स्तन-पान की मूलप्रवृत्यात्मक इच्छा के उदाहरण में, केवल उन्हीं उदाहरणों में स्वीकार किया जाना चाहिए जहाँ वस्तुतः वे घटित होते हैं। इसी प्रकार यह आपत्ति भी वैध नहीं मानी जा सकती कि भ्रम स्वयं हमारी गलत कल्पना के मूल-संस्कारों के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि त्रुटिपूर्ण

---

[1] सद्-रूपेण च सर्व-ज्ञान-विषयतोपहत्तेर्न रूपादि-हीनस्यात्मनः कालस्येव चाक्षुत्वाद्यनुपपत्तिः। —वही, पृ० ४६५।

प्रत्यक्ष के घटित होने से पूर्व भ्रामक प्रत्यक्षों के मूल संस्कार नही हो सकते, अतएव एक पूर्वस्थित तथ्य एवं हमारे भ्रामक प्रत्यक्षों की पूर्व-अवस्था के रूप में मिथ्या जगत् का अस्तित्व भी नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तुओं का स्वरूप ही दो प्रकार के भ्रमों के लिये इस प्रकार उत्तरदायी होता है कि, यद्यपि रजतकार की दुकान में पाई जाने वाली भ्रामक रजत से चूड़ियाँ बनाई जा सकती हैं तथापि शुक्ति में पाई जाने वाली मिथ्या रजत से कुछ भी नहीं किया जा सकता। इसलिए स्वयं हमारे भ्रम के मूल संस्कार जगत्-प्रपंच के भ्रम के निर्माणकारी सामग्री के रूप में कार्य कर सकते हैं तथा जगत-प्रपच के भ्रामक अनुभव के घटित होने से पूर्व ही स्वयं हमारे भ्रम के मूल-संस्कारों से व्युत्पन्न जगत्-प्रपंच की सामग्री भ्रामक प्रत्यक्ष की एक पूर्व-अवस्था के रूप में पहले ही से वस्तु-निष्ठ रूप से विद्यमान हो सकती है। यह आपत्ति अवैध है कि चूंकि भ्रामक प्रत्यक्षों की पूर्व-अवस्था के रूप में मिथ्या ढंग से तादात्म्यीकरण की गई सत्ताओं की समरूपता होनी चाहिए और चूंकि ब्रह्मन् एवं जगत् के मध्य ऐसी कोई समरूपता नहीं पाई जाती, इसलिए उनमें कोई मिथ्या तादात्म्यीकरण नहीं किया जा सकता, प्रथमतः, क्योंकि 'अविद्या' अनादि होने के कारण किसी समरूपता की अपेक्षा नहीं रखती। द्वितीयतः, यह मान्यता भी असत्य है कि समरूपता भ्रम की एक अनिवार्य पूर्व अवस्था है, क्योंकि जिन उदाहरणों में ऐसा प्रतीत होता है कि समरूपता भ्रम को प्रेरित करती है उनमें भी ऐसा भ्रम की उत्पत्ति के अनुकूल एक मानसिक वृत्ति की उत्पत्ति के कारण होता है और यदि ऐसी मानसिक वृत्ति 'कर्म' अथवा 'अदृष्ट' आदि अन्य कारणों से उत्पन्न होती है, तो समरूपता भ्रम की पूर्व-अवस्था के रूप में अनिवार्य नहीं रहती, अतएव भ्रम की पूर्व-अवस्था के रूप में समरूपता को अपरिहार्य नहीं माना जा सकता। यह आपत्ति भी अवैध है कि यदि दोष के बिना एक भ्रम हो सकता है, तो उसका अर्थ यह है कि सकल ज्ञान स्वयं में असत्य है और यदि भ्रमों को दोषों से उत्पन्न माना जाय तो दोष भी मिथ्या आरोपण के फल हैं और इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायगा, क्योंकि अनादि 'अविद्या'-जन्य भ्रम दोषों से नहीं होता और यद्यपि जिन भ्रमों का काल में आरम्भ होता है वे अनादि 'अविद्या'–दोष के कारण होते हैं, तथापि इससे सकल ज्ञान असत्य नहीं हो जाता, क्योंकि केवल वे ही भ्रम 'अविद्या' के दोष के कारण होते हैं जिनका कालिक आरम्भ होता है और, चूंकि 'अविद्या' स्वयं अनादि है इसलिए उसे किन्हीं दोषों की अपेक्षा नहीं रहती, अतएव कोई अनवस्था दोष नहीं हो सकता। यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि काल में उत्पन्न भ्रम दोषों अथवा 'अविद्या' के अनादि 'दोष' के कारण होता है, तथापि वह अनिवार्यतः उक्त दोष के कारण नहीं होता, अतएव साक्षात् व स्वतः-स्फूर्त रूप में एक मिथ्या सृजनात्मक अभिकर्त्ता के रूप में स्थित रहता है और वह भ्रम इसलिए नहीं कहलाता कि वह दोषों से उत्पन्न होता है, बल्कि इसलिए कि वह ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा बाधित होता है। इस प्रकार यह आपत्ति अवैध है कि 'अविद्या' दोष के कारण होती है और दोष 'अविद्या' के

कारण होता है, जो दोषों की उपज है उसका बाध होकर रहता है, किन्तु इसका विलोम अनिवार्यतः सत्य नहीं होता।

यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि यदि 'अविद्या' 'दोष' से स्वतंत्र है, तो जगत्-भ्रम को भ्रम के अधिष्ठान अथवा आधार, अर्थात् ब्रह्मन् से स्वतंत्र माना जा सकता है, क्योंकि यद्यपि भ्रम का अधिष्ठान-भ्रम को उत्पन्न करता हुआ नहीं माना जा सकता है, तथापि उसे उसका आश्रय एवं आधार तथा उसका प्रकाशक भी मानना पड़ेगा।[1]

पुनः यह आपत्ति अवैध है कि भ्रम इन्द्रिय-व्यापार पर, शरीर के अस्तित्व पर निर्भर करता है, क्योंकि ये केवल अन्तः-प्रज्ञात्मक प्रत्यक्ष के लिये आवश्यक हैं। किन्तु भ्रम के उदाहरणों में, शुद्ध चैतन्य पर 'अविद्या' के आरोपण में, पूर्वोक्त 'अविद्या' की सृष्टियों का स्वतः-स्फूर्त प्रतिबिम्ब-कर्त्ता होता है, अतएव उसके लिये इन्द्रिय-व्यापार की आवश्यकता नहीं है।

पुनः, यह आग्रह किया जाता है कि, चूंकि दोष काल्पनिक आरोपण होते हैं, अतः दोषों का निषेध सत्य हो जाता है, अतएव दोष असत्य होने के कारण जगत्-प्रपंच के ज्ञान को असत्य नहीं बना सकते, और यदि ऐसा है तो जगत्-प्रपंच सत्य होने के कारण, यह हमारे द्वारा सत्यता की स्वीकृति होगी (इसके उदाहरण के रूप में यह आग्रह किया जाता है कि बौद्धों की वेदों के विरुद्ध आलोचना अवैध एवं मिथ्या होने के कारण वेदों की सत्यता का खण्डन नहीं कर सकती)। इसका उत्तर यह है कि वेदों के विरुद्ध बौद्धों द्वारा निर्देशित दोषों की आलोचना मिथ्या है क्योंकि उनके द्वारा दोष केवल कल्पित किये गए हैं, वेद इससे प्रभावित नहीं होते हैं क्योंकि उनकी सत्यता हमारे व्यावहारिक अनुभव द्वारा स्वीकृत की जाती है। इसलिए कल्पित किए गए दोष वेदों की सत्यता से सहावसानी नहीं हैं, 'अविद्या' के दोष एवं अनेकात्मक जगत्-प्रपंच की सत्ता एक ही प्रकार की है—एक दूसरे का कार्य है और इस प्रकार यदि दोष मिथ्या हैं तो उनकी उपज (जगत्) भी मिथ्या हो जाती है, अतएव दोषों का मिथ्या स्वरूप जगत् की सत्यता को सिद्ध नहीं करता। जगत्-प्रपंच इसीलिए सापेक्षतः सत्य कहा जाता है कि वह ब्रह्म-ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से बाधित नहीं होता। अतः उसका सापेक्ष लक्षण मिथ्यात्व के स्वरूप के निर्धारण पर निर्भर नहीं करता, जिसका पुनः जगत् के सापेक्ष स्वरूप के द्वारा निर्धारित संकल्पित किया जाय, और इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष का समावेश हो जाय।[2] यह आग्रह किया जाता है कि दोषों की सत्यता का ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ग्रहण किया जाता है और इसलिए वे त्रुटि के कारण के रूप में तभी आचरण कर सकते हैं यदि वे अन्ततोगत्वा सत्य हों,

---

[1] 'अद्वैत-सिद्धि' पृ० ४६८।

[2] वही, पृ० ४६६।

इसका उत्तर यह है कि दोषों का अस्तित्व केवल ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु उनका किसी भी काल में बाध नहीं हो सकता (त्रैकालिका-बाध्यत्व)। यह बात किसी अन्तःप्रज्ञात्मक आधार पर कभी निश्चित नहीं की जा सकती, अतएव दोषों की सत्यता की कदापि स्वीकृति नहीं की जा सकती। यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि दोषों का वही स्तर नहीं होता जो शुद्ध चैतन्य का होता है, जिस पर मिथ्या शुक्ति का आरोपण होता है। न यह कहा जा सकता है कि जो ज्ञान जगत्-प्रपंच का बाध करता है वह इस आधार पर सत्य होना चाहिए कि यदि वह सत्य न होगा तो उसके बाध के लिये एक अन्य ज्ञान की अपेक्षा होगी और इस प्रकार हम अनवस्था दोष के भागी होंगे, क्योंकि जगत्-प्रपंच का यह अन्तिम बाध स्वयं का बाध करता हुआ भी इस कारण से माना जा सकता है कि इस बाध की सामग्री ज्ञातव्यता के सम्पूर्ण क्षेत्र पर लागू होती है और यह अन्तिम बाध स्वयं ज्ञातव्यता के क्षेत्र के अन्तर्गत होने के कारण बाध में समाविष्ट होता है। यह आग्रह किया जाता है कि यदि बंधन इस अर्थ में मिथ्या है कि वह सर्व कालों में असत् होता है, तो कोई कारण नहीं है कि कोई भी उस वस्तु के निवारण के लिये चिंतित हो जो पहले ही से असत् है, इसका उत्तर यह है कि सत्य (ब्रह्मन्) के अस्तित्व की कदापि समाप्ति नहीं हो सकती—बंधन के मिथ्यात्व का अर्थ यह है कि वह एक ऐसी सत्ता है जो आधारभूत सत्य के साक्षात् ज्ञान मे तत्काल समाप्त होने योग्य होती है। यह ठीक उस मनुष्य के उदाहरण के सदृश है जो यह भूल गया है कि उसका हार उसके गले में है और वह उसकी व्यग्रता से खोज कर रहा है और जो स्मरण दिलाने के क्षण में ही अपनी खोज का परित्याग कर देता है। यह मानना गलत है कि चूंकि सर्व कालों में असत् काल्पनिक सत्ता के संबंध में कोई प्रयास नहीं किया जा सकता, इसलिए भ्रामक सत्ता के निवारण के लिए भी कोई प्रयास नही किया जा सकता; क्योंकि, यद्यपि भ्रामक काल्पनिक सत्ताएं अपने त्रैकालिक असत्व के सम्बन्ध में सहमत हो सकती हैं, तथापि कोई कारण नहीं है कि वे अन्य रूपों में भी सहमत हों। यह सम्भव है कि बन्धन की समाप्ति के प्रत्यय के सत्य के ज्ञान के अतिरिक्त कोई सामग्री नहीं होती, अथवा उसको अनिर्वचनीय अथवा सर्वथा विलक्षण स्वरूप का माना जा सकता है। भ्रामक बंधन एवं जगत्-प्रपंच तभी समाप्त हो सकते हैं—जब आधार-भूत सत्य ब्रह्मन् का ज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे रजत-भ्रम उस शुक्ति के ज्ञान से समाप्त हो जाता है जिस पर वह आरोपित होता है। यदि यह स्मरण रक्खा जाय कि बादरायण के सूत्रों का आशय केवल वस्तुओं के सापेक्ष अस्तित्व का निर्देश करता है जो उस आधारभूत सत्य का ज्ञान होते ही सम्पूर्णतः समाप्त हो जाता है जिस पर वे आरोपित होते हैं, तो यह आपत्ति अवैध हो जाती है कि उन 'सूत्रों' द्वारा एक वस्तुवादी जगत् का अस्तित्व लक्षित होता है।

'दृष्टि-सृष्टि' मत की मान्यता है कि सकल वस्तुओं का अस्तित्व उनके प्रत्यक्षीकरण में निहित होता है। व्यासतीर्थ कहते हैं कि यदि वस्तुएं केवल तभी तक

अस्तित्व रखती जबतक उनका प्रत्यक्षीकरण होता है, तो वे केवल क्षणिक हो जाएंगी, अतएव बौद्ध क्षणिकवाद के विरोध में इस आधार पर उठाई गई सभी आपत्तियाँ कि, वे प्रत्यभिज्ञा द्वारा प्रमाणित वस्तुओं के स्थायित्व को स्वीकार नहीं करते स्वय शंकरवादियों के विरोध में भी समान औचित्य से उठाई जा सकती हैं। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि परम सत्ताओं के रूप में वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता है, तथापि उक्त मत में 'अज्ञान' के रूप में कारणावस्था में उनका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जाता है, यह उसका बौद्ध-मत-से अन्तर होगा जो वस्तुओं के ऐसे कारणात्मक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता।

यदि जागतिक-विषयों का उनके प्रत्यक्षीकरण से बाहर कोई अस्तित्व नहीं हैं तो वे स्पष्टतः निश्चित कारणों से स्वतंत्र होते हैं और यदि ऐसा है तो यज्ञों एवं उनके फलों के मध्य निश्चित कारण-कार्य का संबंध तथा निश्चित कारण एवं कार्य के संबंध में समस्त वैदिक पाठों का आशय, अर्थहीन हो जाता है। इसके प्रति मधुसूदन का यह उत्तर है कि श्रुतियों में कारण-कार्य संबंध का विनिर्देश एवं सांसारिक जीवन में उनकी अनुभूति स्वप्नों में कारण-कार्य के सदृश हैं, स्वप्नों के अन्तर्गत इन कारणों एवं उनके कार्यों का भी परस्पर एक निश्चित क्रम होता है जो अनुभवों के बाध्यत्व से ज्ञात होता है।

यह आपत्ति की जाती है कि 'दृष्टि-सृष्टि' मत (वस्तुएं उनके प्रत्यक्षीकरण से पूर्व कोई अस्तित्व नहीं रखती) के आधार पर जगदानुभव अव्याख्येय है। यह व्याख्या करनी भी कठिन होगी कि यदि भ्रम के अधिष्ठान के रूप में 'इदं' का हमारे बाहर पूर्व-अस्तित्व नहीं है तो कैसे उससे तथा मिथ्या प्रतिमा के अधिष्ठान से कोई इन्द्रिय सम्बन्ध हो सकता है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि इन्द्रिय संबंध एवं अन्य अवस्थाओं पर आधारित भ्रम की सामान्य व्याख्या केवल निम्नतर श्रेणी के मनुष्यों के लिए की गई व्याख्या होती है। उच्चतर श्रेणी के मनुष्यों के लिए भ्रम की परिभाषा होगी 'एक मिथ्या सत्ता के साहचर्य में एक सत्य सत्ता की अभिव्यक्ति तथा ऐसी परिभाषा 'दृष्टि-सृष्टि' मत के अनुसार होगी। 'इदं' में अधः-स्थित चैतन्य एक द्रव्य होता है तथा मिथ्या रजत उसके साहचर्य में अभिव्यक्त होती है।

आगे यह आपत्ति की जाती है कि भ्रामक प्रत्यक्ष के समय (यह रजत है), यदि एक वस्तुगत तथ्य के रूप में शुक्ति नहीं होती है तो शुक्ति के प्रति अज्ञान के कार्य के रूप में भ्रम की व्याख्या नहीं की जा सकती, जैसा साधारणतः किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि, यदि शुक्ति का अभाव भी होता है तो उसकी सामग्री को निर्मित करने वाला 'अज्ञान' विद्यमान रहता है। इस आपत्ति का कि 'यह रजत है' एवं 'यह रजत नहीं है' नामक दो प्रत्यक्षीकरण दो भिन्न प्रत्यक्षों की ओर निर्देशित होते हैं तथा एक सामान्य वस्तुगत तथ्य का उल्लेख नहीं करते और इसलिए उनमें से

एक को दूसरे का बाध नही माना जा सकता क्योंकि ऐसा बाध तभी सम्भव हो सकता है जब दो अभिवचन एक ही वस्तुगत तथ्य का उल्लेख करते है, यह उत्तर है कि स्वप्नानुभवों के सादृश्य के आधार पर यहां भी बाध सम्भव है। व्यासतीर्थ आगे कहते हैं कि चूंकि भ्रम का बाध एक वस्तुगत तथ्य न होकर एक प्रत्यक्षीकरण मात्र होता है, इसलिए उसका भ्रामक प्रत्यक्ष से उत्कृष्ट स्तर नही हो सकता अतएव यह अनिवार्यतः उस भ्रम से अधिक सत्य नहीं माना जा सकता जिसका यह बाध करता हुआ माना जाता है। वे आगे कहते है कि सुषुप्ति एवं प्रलय में चूंकि ब्रह्मन् और 'जीव' का पृथक् प्रत्यक्ष नहीं होता अतः ब्रह्मन् एवं जीव का उक्त भेद प्रत्येक सुषुप्ति एवं प्रत्येक चक्रिक प्रलय में समाप्त हो जाना है। इस प्रकार ब्रह्मन् और 'जीव' के भेद के अभाव में प्रत्येक सुषुप्ति एव प्रलय के अंत में जागतिक अनुभवों की कोई पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। ऐसे व्यक्ति के उदाहरण मे जो निद्रामग्न है तथा उसके कारण जिसके मूल संस्कार प्रत्यक्ष-योग्य नहीं है (अतएव असत् है), कोई व्याख्या सम्भव नहीं है कि जागतिक अनुभव कैसे पुनः आरम्भ होते हैं। मोक्ष का भी एक प्रत्यक्षीकरण मात्र होने के नाते जागतिक अनुभवों से उत्कृष्ट स्तर नहीं हो सकता, इसके अतिरिक्त, यदि शुद्ध चैतन्य सकल जागतिक विषयों के रूप में अभिव्यक्त होता तो ऐसा कोई समय नहीं होता जब उक्त विषय अव्यक्त रह सकते थे।

. इसका मधुसूदन यह उत्तर देते है कि 'जीव' एवं 'ब्रह्मन्' का संबंध अनादि होने के कारण प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर नहीं करता, सुषुप्ति में यद्यपि मूल संस्कार कार्य के रूप में विलीन हो जाते हैं तथापि वे अपने कारण स्वरूप में फिर भी शेष रहते हैं, मोक्ष भी ब्रह्मन् के स्वरूप का होने के कारण प्रत्यक्षीकरण का विशुद्ध अन्तः-प्रज्ञात्मक स्वरूप का होता है।

एक यह आपत्ति की जाती है कि यदि शुद्ध चैतन्य विषयों का ज्ञान होता है तो उनकी नित्य अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसका उत्तर यह है कि यहाँ प्रत्यक्षीकरण का अर्थ है एक ऐसी 'वृत्ति' के माध्यम से शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति जो शुद्ध चैतन्य से अपने संबंध के लिए एक अन्य 'वृत्ति' की अपेक्षा नहीं रखती, शरीरों के विना भ्रमों की सम्भावना की स्वप्नों के सादृश्य पर व्याख्या की जा सकती है। पुनः, यह आपत्ति अवैध है कि चूंकि प्रत्यक्षीकरण भी उस विषय के समान एक भ्रामक ज्ञान होता है जिसके सार-तत्व के रूप में वह संकल्पित किया जाता है, अतः स्वयं उस विषय का भी केवल ज्ञान मात्र के रूप में सार-तत्व समाप्त हो जाता है, क्योंकि, यद्यपि प्रत्यक्षीकरण का स्वयं ज्ञान के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं होता, तथापि इससे यह संकल्पना करने में कोई बाधा नहीं हो सकती कि विषय का सार-तत्व प्रत्यक्षीकरण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। पुनः एक यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि प्रत्यभिज्ञा विषयों के स्थायी अस्तित्व को प्रकट करती है, किन्तु इसका उत्तर सहज ही स्वप्नानुभवों के

उदाहरण में तथा विभिन्न प्रत्यक्षकर्त्ताओं के कुप्रत्ययों की सांसारिक सहमति की सम्भावना में मिल सकता है। यह आपत्ति अवैध है कि ब्रह्मन् एवं 'जीव' का तादात्म्य का प्रत्यय स्वयं मानसिक होने के कारण द्वैत का बाध नहीं कर सकता, क्योंकि उक्त तादात्म्य का प्रत्यय आत्मन् से एकरूप होता है अतएव वह मानसिक नहीं कहा जा सकता। पुनः चरम सत्य का ज्ञान मानसिक होने के कारण स्वयं असत्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी सत्यता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि उसका कदापि बाध नहीं होता।

अध्याय ३

द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों के मध्य विवाद (क्रमशः)

अविद्या की परिभाषा का खण्डन

अविद्या की इस रूप में परिभाषा दी जाती है कि वह एक अनादि भाव-रूप सत्ता है जिसका ज्ञान के द्वारा निवारण हो सकता है। व्यासतीर्थ द्वारा प्रस्तुत की गई इसके प्रति आपत्ति प्रथमतः यह है कि जगत् के विषय-काल में होने के कारण उनके अधिष्ठान चैतन्य को परिसीमित करने वाली अविद्या अनादि नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, चूंकि एक वेदांती के अनुसार कोई संघटक जड़ पदार्थ अभाव का उपादान कारण नहीं होता, इसलिए 'अज्ञान' उसके अभाव का कारण नहीं माना जा सकता। मिथ्या अभाव की मान्यता के आधार पर भी 'अज्ञान' उसका कारण नहीं माना जा सकता, चूंकि 'अज्ञान' को भाव-रूप माना गया है, क्योंकि यदि अभाव का कारण एक भाव-रूप सत्ता होती है, तो असत् का कारण सत् हो सकता है। पुनः, यदि 'अज्ञान' अभाव का कारण नहीं है तो ज्ञान उसका निवारण करने में समर्थ नहीं होना चाहिए और एक घट का अभाव उसके निषेध होने पर भी समाप्त नहीं होना चाहिए। पुनः शंकरवादी मत के अनुसार 'अज्ञान' विषय का आवरण माना जाता है, हम ब्रह्मन् का कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि वह 'अज्ञान' से आवृत्त रहता है। वे यह भी मानते हैं कि 'वृत्ति-ज्ञान' ब्रह्मन् का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। यदि ऐसा है, तो 'वृत्ति' द्वारा उपलब्ध अंतिम मोक्ष-ज्ञान में ब्रह्मन् का कोई अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता, इसके बिना ब्रह्मन् को आवृत्त करने वाला 'अज्ञान' हटाया नहीं जा सकता, अतएव मोक्ष असम्भव है। पुनः यदि यह माना जाय कि 'अज्ञान' का निवारण होता है, तो 'जीवन्मुक्त' अवस्था में एक संत को सांसारिक वस्तुओं का कोई अनुभव नहीं होना चाहिए।

पुनः, यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान किसी सहकारी कारण की सहायता की प्रतीक्षा किये बिना प्रत्यक्ष एवं स्वतः स्फूर्त रीति से 'अज्ञान' का निवारण करता है, क्योंकि किसी वस्तु को ज्ञात करने के साथ ही उसका अज्ञान स्वतः लुप्त नहीं हो सकता। किन्तु, यदि ऐसा होता है, तो उन उदाहरणों में जहाँ 'अज्ञान' का कुछ उपाधियों से साहचर्य होता है वहाँ 'अज्ञान' के निवारण के लिए उसके साथ ही उपाधियों के

निवारण की भी अपेक्षा नहीं रहती तथा उस दशा में आशा यह की जाती है कि उपाधियों के निवारण का विचार किए बिना ही 'अज्ञान' का निवारण हो जाना चाहिए, परन्तु यह स्वीकार नहीं किया जाता है। पुनः, यदि यह माना जाय कि उपाधियों के निवारण की प्रतीक्षा की जाती है, तो शुद्ध चैतन्य अपरोक्ष रूप से 'अविद्या' का निवारण करने में समर्थ नहीं माना जा सकता। पुनः, यदि ज्ञान प्रत्यक्ष एवं स्वतः स्फूर्त रीति से 'अज्ञान' का निवारण कर सकता है, तो यह कहकर उसके क्षेत्र को प्रतिबंधित करना निरर्थक है कि वह केवल अनादि 'अज्ञान' का ही निवारण करता है। यह प्रतिबन्ध ब्रह्माण्डीय 'अविद्या' का रजत-भ्रम की व्यावहारिक 'अविद्या' से विभेद करने के लिये लगाया गया है और यदि दोनों उदाहरणों में 'अज्ञान' का स्वतः-स्फूर्त निवारण उपयोगी हो जाता है तो क्षेत्र को प्रतिबन्धित करने का कोई लाभ नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि 'अज्ञान' को 'अनादि' का विशेष नाम इसलिए दिया जाता है कि वह दोषों के द्वारा अनादि मिथ्या आरोपण से उत्पन्न होता है, क्योंकि यह पहले ही निर्देश किया जा चुका है कि उक्त मत अनवस्था दोष को उत्पन्न करता है, क्योंकि 'अविद्या' के बिना कोई दोष नहीं हो सकता। पुनः, 'अज्ञान' अनादि नहीं हो सकता, क्योंकि जो कुछ भी ज्ञान तथा अभाव से भी भिन्न होता है वह मिथ्या रजत की भाँति अनादि नहीं हो सकता। पुनः, अज्ञान को भावरूप कहना गलत है, क्योंकि शंकरवादी मत के अनुसार 'अज्ञान' भावात्मक एवं अभावात्मकता दोनों से भिन्न होता है, अतएव अभावात्मक नहीं हो सकता। यदि एक सत्ता भावात्मक नहीं होती है तो वह अभावात्मक होनी चाहिए क्योंकि भावात्मकता से भिन्न होने के कारण वह अभावात्मकता से भी भिन्न नहीं हो सकती। पुनः, यदि एक सत्ता ऐसी है जो भावात्मक है और अनादि है तो उसका निषेध नहीं हो सकता, बल्कि उसका आत्मन् के सदृश एक अनिषेधात्मक अस्तित्व होता है। आत्मन् का भी यह कहने के अतिरिक्त कि उसका निषेध नहीं होता, उसकी भावात्मकता की व्याख्या करने वाले किसी विधेय के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। 'विवरण' में यह निर्देश किया गया है कि यह बात कोई महत्व नहीं रखती है कि एक सत्ता अनादि है अथवा उसका आरम्भ होता है, क्योंकि प्रत्येक दशा में वह विनाशात्मक हो सकती है, यदि उसके विनाश का यथेष्ट कारण हो। एक अनादि सत्ता समाप्त नहीं हो सकती इस सामान्यानुमान का 'अज्ञान' के विशेष उदाहरण में एक अपवाद होता है, जो 'ज्ञान' के उदय होने पर समाप्त हो जायगा। यदि यह आग्रह किया जाय कि, चूँकि 'अज्ञान' अनादि एवं अभाव से भिन्न दोनों है, अतः वह आत्मन् के सदृश नित्य बना रहना चाहिए, तो विरोधी पक्ष से यह आग्रह भी किया जा सकता है कि चूँकि 'अज्ञान' भाव-रूप से भी भिन्न है, अतः वह प्राग-अभाव के सदृश विनाशात्मक होना चाहिए। इसका उत्तर है कि, 'अनुमान यह है कि कोई भी अनादि भावरूप सत्ता का किसी ऐसी वस्तु द्वारा सामना नहीं किया जाता जो उसका विरोध अथवा विनाश कर सके। उक्त युक्ति का खण्डन केवल

एक प्रतिरोध कथन के द्वारा नहीं, वरन् एक ऐसे उदाहरण के उल्लेख द्वारा किया जाना चाहिए जहाँ व्याप्ति असफल रहती है। इस कथन का कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता कि अनादि 'अज्ञान' का 'ज्ञान' के द्वारा निवारण हो सकता है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा निवारण सदा ऐसे अज्ञान का होता है जिसका काल में आरम्भ होता है, यथा रजत-भ्रम के उदाहरण में। इसलिए केवल यही कहा जा सकता है कि जो कुछ भी अज्ञान का प्रतिरोध करता है वह उसे नष्ट कर देता है तथा ऐसे सामान्य कथन का कल्पित अनादि 'अज्ञान' के उदाहरण में कोई विशेष अनुप्रयोग नहीं होता। पुनः, यदि 'अज्ञान' को भावात्मक सत्ता से भिन्न माना जाय तो वह अभाव के समान है और उसकी समाप्ति का अर्थ होगा पुनः स्वीकृति। पुनः, 'अज्ञान' का उसके प्रत्यक्षीकरण से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं हो सकता, और, चूंकि 'अज्ञान' का अधिष्ठान सदा शुद्ध चैतन्य होता है, अतः उसका प्रत्यक्षीकरण कदापि निषेधात्मक नहीं हो सकता, अतएव उसकी कदापि निवृत्ति नहीं हो सकती।[1] इसके अतिरिक्त, यदि 'अज्ञान' इस अर्थ में मिथ्या है कि वह जिस आश्रय में अभिव्यक्त होता है उसमें असत् होता है, तो उसका ज्ञान द्वारा विनाश नहीं हो सकता। कोई भी यह नहीं सोचता कि मिथ्या रजत का शुक्ति के प्रत्यक्ष द्वारा विनाश होता है।

'अज्ञान' की द्वितीय वैकल्पिक परिभाषा यह है कि वह भ्रम का उपादान कारण होता है। किन्तु इस शंकरवादी सिद्धान्त के अनुसार कि विभिन्न 'ज्ञानों' के अनुरूप विभिन्न 'अज्ञान' होते हैं, शुक्ति का ज्ञान उसके अज्ञान का निवारण करेगा तथा एक अभाव का ज्ञान उसके अज्ञान का निवारण करेगा, किन्तु इनमें से किसी भी उदाहरण में अज्ञान की भ्रम के संघटक के रूप में परिभाषा नहीं दी जा सकती। अभाव का स्वयं में कोई संघटक उपादान कारण नहीं होता, अतः 'अज्ञान' उसका एक संघटक उपादान कारण नहीं होता और इस प्रकार 'अज्ञान' अभाव का एक संघटक नहीं हो सकता।

एक शंकरवादी मत यह है कि 'माया' जगत् का उपादान कारण है और ब्रह्मन् उसका आश्रय है। इस मत के अनुसार 'माया' अथवा 'अज्ञान' जगत् का उपादान कारण होने से तथा 'भ्रम' जगत् का भाग होने से, 'अज्ञान' भ्रम का एक संघटक कारण हो जाता है, किन्तु इसका विलोम सत्य नहीं होता। इस अन्य मत के अनुसार कि ब्रह्म और 'माया' दोनों जगत्-प्रपंच के कारण हैं, 'माया' स्वयं में भ्रम का कारण नहीं बन सकती। इसके अतिरिक्त, एक भ्रम स्वयं एक भावात्मक सत्ता से भिन्न होने के कारण और भी अधिक एक अभाव के सदृश होता है तथा स्वयं उसकी कोई संघटक

---

[1] प्रतीति-मात्र-शरीरस्याज्ञानस्य यावत् स्व-विषय-धी-रूप-साक्षि-सावमनुवृत्ति-नियमेन निवृत्त्ययोगाच्च। —'न्यायामृत,' पृ० ३०४।

सामग्री नहीं हो सकती, अतएव वह स्वयं 'अज्ञान' की संघटक सामग्री नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, शंकरवादी मत के अनुसार भ्रामक विषय 'सत् से विलक्षण' होने के कारण (सद्-विलक्षणत्वेन) कोई संघटक नहीं रखता, अतएव भ्रामक विषय 'अज्ञान' का एक संघटक नहीं हो सकता। यदि कोई वस्तु किसी वस्तु का संघटक होती है, तो वह भाव-रूप होनी चाहिए, न कि केवल अभावों से भिन्न होनी चाहिए। पुनः, जब कभी कोई वस्तु अन्य वस्तुओं की उपादान सामग्री होती है, तब पूर्वोक्त पश्चादुक्त के संघटक तत्व के रूप में प्रतीत होती है, किन्तु न तो भ्रामक रजत और न उसका ज्ञान 'अज्ञान' के रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार 'अज्ञान' की दोनों परिभाषाएँ खण्डित हो जाती हैं।

इसके उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि जो 'अज्ञान' भ्रामक रजत की सामग्री होता है वह अनादि 'अज्ञान' है। 'अज्ञान' भाव-रूप इस अर्थ में कहा जाता है कि वह अभाव से भिन्न होता है। इसी कारण से वह 'अज्ञान' जो भ्रामक अभाव की उपादान सामग्री माना जाता है अभाव से भिन्न माना जा सकता है, अतएव वह भ्रामक अभाव का संघटक माना जा सकता है। यह सत्य नहीं है कि कार्य ठीक उसी प्रकार की सामग्री से निर्मित होना चाहिए जिस सामग्री के कारण निर्मित होता है। जो वस्तुएँ स्वरूप में पूर्णतः समान अथवा पूर्णतः असमान होती हैं वे परस्पर कारण व कार्य के रूप में संबंधित नहीं हो सकतीं, इसी कारण से सत्य असत्य की उपादान सामग्री नहीं बन सकता। क्योंकि उस दशा में, चूँकि सत्य स्वयं की अभिव्यक्ति कदापि समाप्त नहीं करता तथा कदापि परिवर्तित नहीं होता, इसलिए असत्य भी स्वयं की अभिव्यक्ति कदापि समाप्त नहीं करेगा। किन्तु सत्य असत्य के कारण के रूप में इस अर्थ में आचरण कर सकता है कि वह असत्य के भ्रामक परिवर्तनों का अधिष्ठान बना रहता है। यह मानना गलत है कि, चूँकि ब्रह्मन् का 'अज्ञान' उस 'वृत्ति' के द्वारा निवृत्त नहीं हो सकता, जो स्वयं 'अज्ञान' की एक अभिव्यक्ति है, अतः ब्रह्म-ज्ञान स्वयं असम्भव हो जाता है, क्योंकि, जहाँ तक ब्रह्मन् एक अन्तर्वस्तु होता है, यह 'अज्ञान' (अन्तर्वस्तु के रूप में) एक 'वृत्ति' द्वारा निवृत्त हो सकता है। जीवन्मुक्ति की दशा में यद्यपि अतीत के सत् कर्मों के अवरोधक तत्वों के अभाव एवं अन्य अवस्थाओं के द्वारा अन्तिम निवृत्ति में विलम्ब हो सकता है, तथापि यह माना जा सकता है कि ज्ञान के द्वारा इनकी निवृत्ति सम्भव है। कुछ कारण कुछ कार्यों को उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु यदि ऐसी उत्पत्ति में किसी कारण से विलम्ब हो जाय तो इससे कारण का कारणत्व अवैध नहीं हो जाता। शंकरवादियों द्वारा यह स्वीकार करना उचित ही है कि ज्ञान अपरोक्ष रूप से 'अज्ञान' का निवारण करता है तथा वह निवारण स्वयं 'अज्ञान' का एक भाग होता है।

यह मानना गलत है कि जो कुछ काल्पनिक है वह दोषों के कारण उत्पन्न एक

विचार है अथवा उसका कालगत आरम्भ होना चाहिए, किन्तु वह एक ऐसी सृष्टि होनी चाहिए जो उसको उत्पन्न करने वाली कल्पना के समकालीन होती है।[1]

यह मानना भी गलत है कि, यदि कोई सत्ता भावरूप नहीं है, तो वह अभावात्मक होनी चाहिए, अथवा यदि वह अभावात्मक नहीं है तो वह भावात्मक होनी चाहिए, क्योंकि सदैव एक तीसरे विकल्प की संभावना रहती है, जो न भावात्मक है और न अभावात्मक। शंकरवादियों के अनुसार विमध्य नियम तर्कशास्त्र की एक असत्य मान्यता है और इस प्रकार वे एक तर्क-बाह्य पदार्थ की सम्भावना को स्वीकार करते हैं, जो न भावात्मक होता है न अभावात्मक। यह कल्पित अनुमान ठीक नहीं है कि एक अनादि भावरूप सत्ता अनिवार्यतः आत्मन् के सदृश नित्य होनी चाहिए, क्योंकि केवल आत्मन् ही एक भावरूप सत्ता के नित्य बने रहने के उदाहरण है।

यह मानना भी ठीक नहीं है कि, 'अज्ञान' सदा शुद्ध चैतन्य के द्वारा अभिव्यक्त होता है, इसलिए उसके अस्तित्व का कभी अन्त नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो कुछ भी साक्षी-चैतन्य द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है वह 'साक्षी' के सम्पूर्ण अस्तित्व-काल में बना रहना चाहिए, अतः यह मानने में कोई असंगति नहीं है कि 'अज्ञान' समाप्त हो जाता है, जबकि साक्षी-चैतन्य बना रहता है। इसके अतिरिक्त, जो 'अविद्या' अभिव्यक्त होती है वह केवल उसके द्वारा विरूपित अथवा परिसीमित साक्षी-चैतन्य के द्वारा ही अभिव्यक्त होती है, ऐसा परिसीमित चैतन्य 'अविद्या' की समाप्ति के साथ ही अपना अस्तित्व समाप्त कर सकता है। यह मानना भी गलत है कि 'वृत्ति' की प्रक्रिया द्वारा 'अविद्या' का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, क्योंकि ऐसी दशाओं में भी वह अपने सूक्ष्म कारण-रूप में बनी रहती है।

जब 'अविद्या' की यह परिभाषा दी जाती है कि वह भ्रम के उपादान (भ्रमोपादान) से निर्मित होती है, तब तात्पर्य यह होता है कि वह परिवर्तनशील एवं जड़ होती है। यह मानना भी आवश्यक नहीं है कि एक कारण व कार्य अनिवार्यतः भावात्मक होने चाहिए, क्योंकि आत्मन्, जो एक भावात्मक सत्ता है, न तो एक कारण है और न कार्य। एक उपादान कारण का पारिभाषिक लक्षण यह है कि उसका अपने समस्त कार्यों से अन्वय होता है (अन्वयि-कारणत्वमुपादानत्वे तन्त्रम्), तथा जो एक कार्य होता है उसका अनिवार्यतः काल में आरम्भ होना चाहिए। ज्ञान का प्रागभाव भ्रम का उपादान-कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा अभाव केवल स्वयं से सह-संबंधित भावात्मक सत्ता ही को उत्पन्न कर सकता है। अतः वह भ्रम

---

[1] कल्पितत्व-मात्रं हि न दोष-जन्य-धी-मात्र-शरीरत्वे सादित्वे वा तन्त्रम्। किन्तु प्रातिभास-कल्पक-समानकालीन-कल्पकात्वम्।

—'अद्वैत-सिद्धि' पृ० ५४४।

की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता, इसलिए यह मानने में कोई असंगति नहीं है कि 'अज्ञान' अथवा भ्रम, जिनमें से कोई भी सत्य नहीं है, परस्पर कारण एवं कार्य के रूप में संबंधित होते हैं। यह युक्ति देना भी सही नहीं है कि एक उपादान कारण सदा अपने सकल कार्यों में एक प्रत्यक्ष निरन्तर संघटक के रूप में स्थित रहना चाहिए, एक घट के उपादान कारण का रंग घट में नहीं पाया जाता। यह तथ्य कि, जब शुक्ति के ज्ञान से 'अज्ञान' की निवृत्ति हो जाती है तब भ्रम की अनुभूति नहीं होती, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि 'अज्ञान' भ्रम का एक संघटक नहीं है। कारण एवं कार्य के रूप में संबंधित सभी वस्तुएं सदा उसी रूप में अनुभव नहीं की जाती। इस प्रकार 'अनादि-भावरूपत्वे सति ज्ञान-निवर्त्यत्वम्' अथवा 'भ्रमोपादानत्वम्' के रूप में 'अज्ञान' की परिभाषाएं सही हैं।

'अज्ञान' का प्रत्यक्ष

शंकरवादियों का आग्रह है कि 'अज्ञान' का प्रत्यक्ष द्वारा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, अतएव उसका अस्तित्व प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित होता है। इस संबंध में व्यासतीर्थ कहते हैं कि जो अज्ञान का भावात्मक सत्ता के रूप में प्रत्यक्षीकरण माना जाता है वह ज्ञान के अभाव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस प्रकार अहं के अधिष्ठान (अहम-अर्थ) को अज्ञान की भावात्मक सत्ता का एक आधार नहीं माना जाता। अतः भावात्मक अज्ञान की अनुभूति के रूप में न होकर 'मैं अज्ञ हूँ' नामक संप्रत्यक्ष की व्याख्या ज्ञान के अभाव की अनुभूति के रूप में की जानी चाहिए। पुनः, चूंकि न तो सुख-दुःख और न भ्रम में ज्ञात की गई मिथ्या वस्तुएं प्रत्यक्ष रीति से 'साक्षी' चैतन्य द्वारा अभिव्यक्त की जाती हैं, अतः उक्त ज्ञान के अभाव की व्याख्या (यथा, 'मैं सुख को नहीं जानता,' 'मैं दुःख को नहीं जानता,' 'मैं शुक्ति-रजत को नहीं जानता') ज्ञान के निषेध के रूप में की जानी चाहिए, न कि भावात्मक अज्ञान के अनुभव के रूप में। इसी प्रकार, जब कोई कहता है कि 'जो कुछ आप कहते हैं उसे मैं नहीं जानता,' तब केवल ज्ञान के निषेध का अनुभव होता है, भावात्मक अज्ञान का नहीं। परोक्ष ज्ञान में भी, चूंकि विषय के पार्श्व से 'अज्ञान' के आवरण के प्रत्यक्ष निवारण से प्रकाश उत्पन्न नहीं होता, इसलिए यह सिद्धान्त, कि ऐसा सकल ज्ञान जिसमें 'अज्ञान' के निवारण का समावेश नहीं होता उसमें भावात्मक अज्ञान का समाविष्ट रहता है, हमें इस स्थिति में प्रविष्ट करा देगा कि जब परोक्ष ज्ञान में कुछ ज्ञात किया जाता है, तब एक व्यक्ति को ऐसा प्रतीत होना चाहिए मानों उसने उसे ज्ञात नहीं किया, क्योंकि यहाँ किसी 'अज्ञान' का प्रत्यक्ष निवारण नहीं होता।

शंकरवादी मत के अनुसार यह स्वीकार नहीं किया जाता है कि जड़ पदार्थों को आवृत्त करने वाला कोई आवरण होता है, फलतः 'आप जो कहते हैं उसे मैं नहीं

जानता' जैसे उदाहरणों में अज्ञान के अनुभव की व्याख्या एक भावात्मक अज्ञान की मान्यता में नहीं वल्कि ज्ञान के अभाव की मान्यता में पाई जाती है। यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि विषयों को आवृत करने वाला कोई आवरण नहीं होता, तथापि यही जड़ वृत्तियां 'अज्ञान' के 'विक्षेप'–पक्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं अतएव अज्ञात विषयों का अनुभव भावात्मक 'अज्ञान' के अनुभव का प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि 'अज्ञान' वृत्तियां सदा ज्ञान को अवरुद्ध नहीं करतीं। जैसे उदाहरण के लिए, जब एक घट, घट के रूप में ज्ञात होता है, तब यदि कोई कहे कि यह एक पट है न कि घट, तो उससे घट के प्रत्यक्षकर्त्ता में सम्भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होती, यद्यपि यह मानना चाहिए कि वक्ता के भ्रामक शब्द एक मिथ्या संस्कार–'अज्ञान' के एक 'विक्षेप'–को उत्पन्न करते हैं। आगे यह बताया जायगा कि किसी जड़ विषय के संबंध में 'मैं नहीं जानता हूँ' अनुभव जड़ गुणों से अवच्छिन्न शुद्ध चैतन्य का उल्लेख नहीं करता।[1] शुद्ध चैतन्य के प्रतिविम्ब की व्याख्या के लिये जो मत 'वृत्ति' को स्वीकार करता है, उसके अनुसार जड़ उपाधियों में चैतन्य को आवृत्त करने वाले 'अज्ञान' को स्वीकृत नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, यदि 'मैं अज्ञ हूँ' (अहमज्ञः) अनुभव की व्याख्या 'अज्ञान' के अपरोक्ष ज्ञान के रूप में की जाती है तथा 'मुझ में ज्ञान नहीं है' (मयि ज्ञानं नास्ति) अनुभव से भिन्न की जाती है, तो दो तर्क-वाक्य 'घट-रहित भूमि' एवं 'भूमि पर कोई घट नहीं है' अर्थ में भिन्न हो जाते हैं–जो अनर्गल है, क्योंकि निश्चय ही ये दो तर्क-वाक्य अन्य दो तर्क-वाक्यों की भाँति, यथा 'मुझ में इच्छा है' एवं 'मुझ में अनिच्छा नहीं है,' अर्थ में भिन्न नहीं है। ज्ञान के अभाव एवं अज्ञान के दो प्रत्ययों में कोई भेद नहीं है। पुनः, जब एक व्यक्ति ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदांत के अनुशासन से नियंत्रित होता है, उस समय ब्रह्म-ज्ञान का प्रागभाव होता है, क्योंकि, यदि ऐसा न होता तो ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो जायगा और वेदांत के अनुशासन की कोई आवश्यकता नहीं होगी। अब एक प्रागभाव उस सत्ता के ज्ञान के विना ज्ञात नहीं किया जा सकता जिसका वह उल्लेख करता है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय तो ब्रह्मन् के ज्ञान के विना उसके प्रागभाव का कोई ज्ञान नहीं हो सकता, और, यदि उक्त ज्ञान होता है, तो ब्रह्मन् ज्ञात हो जाता है, और, यदि यह माना जाय कि ब्रह्म-ज्ञान का उक्त अभाव एक भावात्मक सत्ता के रूप में अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ज्ञात किया जाता है (जैसा कि अज्ञान के अपरोक्ष ज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार होगा), तो ब्रह्मन् भी अपने प्रागभाव की अवस्था में अपरोक्ष रूप से ज्ञात होगा, जो आत्म-विरोधी है।

---

[1] जड़े न जानामीत्यनुभवस्य जड़ावच्छिन्नं
चैतन्यं विषय इति चेन्न निरसिष्यमाणत्वात्।

–'न्यायामृत' पृ० ३०९ (स)।

इसके अतिरिक्त 'अज्ञान' का प्रत्यय स्पष्टतः ज्ञान के अभाव का प्रत्यय है, जैसाकि 'मैं नहीं जानता' वाक्य में है। 'मैं अज्ञ हूँ' जैसे उदाहरणों में भी अभाव का अर्थ स्पष्ट होता है, यद्यपि यहाँ कोई निषेधात्मक क्रिया-चिह्न नहीं है। 'विवरण' भी 'अज्ञान' का ज्ञान से विरोध स्वीकार करता है, और यदि यह मान लिया जाय, तो उक्त विरोध का ज्ञान होते हुए 'अज्ञान' का एक भावात्मक सत्ता के रूप में ज्ञान नहीं होगा, और ऐसे विरोध के ज्ञान के बिना 'अज्ञान' का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि वह 'अज्ञान' का अनिवार्य प्रत्यय होता है। ऐसे ज्ञान का अभाव जो उस विषय का उल्लेख करता है जिसका निषेध किया गया है यदि स्वयं ज्ञान की पृच्छा के विषय के रूप में ग्रहण किया जाय तो वह भी उक्त उल्लेख कदाचित् न करेगा। इस प्रकार ऐसी कोई विधि नहीं है जिसके अनुसार 'अज्ञान' ज्ञान के अभाव के अतिरिक्त कुछ अन्य माना जा सके, और यह मान्यता गलत है कि यद्यपि अज्ञान के विश्लेषणात्मक प्रत्यय में दो संघटक—ज्ञान एवं उसका निषेध—होते हैं तथापि वह एक ऐसे भावात्मक प्रत्यय का नाम है जिसमें इन संघटकों का समावेश नहीं होता।[1] यदि 'अज्ञान' 'वृत्ति-ज्ञान' से निवृत्त हो सकता है तो यह मानना अनावश्यक है कि उसका उस अर्थ से भिन्न कोई अर्थ हो सकता है जो ज्ञान के विशेषण के रूप में उसके संघटक निषेधात्मक अंश के द्वारा लक्षित होता है। अनुभव भी यह बताता है कि 'अज्ञान' का ज्ञान के अभाव के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं होता, इसलिए, जबतक 'अज्ञान' द्वारा परिलक्षित प्रतियोगी सत्ता ज्ञात नहीं हो जाती तबतक 'अज्ञान' का कोई ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु चूंकि ऐसी प्रतियोगी सत्ता स्वयं यह ब्रह्म-ज्ञान है जिसका 'अज्ञान' से कोई साहचर्य नहीं होता, इसलिए परिलक्षित प्रतियोगी सत्ता के समावेश से उक्त प्रत्यय असम्भव हो जायगा, अतः 'अज्ञान' का कोई ज्ञान नहीं हो सकता।[2]

शंकरवादियों द्वारा दिया गया उत्तर यह है कि 'अज्ञान' द्वारा परिलक्षित प्रतियोगी ब्रह्म-ज्ञान होता है और यह ब्रह्म-ज्ञान साक्षी-चैतन्य के रूप में 'अज्ञान' का प्रकाशक होने के कारण उसका विरोधी नहीं होता, क्योंकि केवल 'वृत्ति' युक्त मनस् ही 'अज्ञान' के विरोध में होता है। इसलिए साक्षी-चैतन्य के रूप में ब्रह्म-ज्ञान एवं 'अज्ञान' में कोई विरोध न होने के कारण तथा इस तथ्य के होते हुए भी ब्रह्म-ज्ञान

---

१ ज्ञानाभावोऽपि हि प्रमेयत्वादिनाज्ञाने प्रतियोग्यदि-ज्ञानानपेक्षएतेन निपुणे कुशलादि शब्दवत् भाव-रूप-ज्ञाने अज्ञानशब्दो रूढ़ इति निरस्तम्।

—'न्यायामृत' पृ० ३१२।

२ अपि च भाव-रूपाज्ञानावच्छेदक-विषयस्याज्ञाने अज्ञान-ज्ञानायोगात् ज्ञाने च अज्ञान-सैवाभावात् कथं भाव-रूपाज्ञानज्ञानम्।

—वही, पृ० ३१३।

एक अर्थ में उसके द्वारा परिलक्षित प्रतियोगी के रूप में उसका संघटक होता है। 'अज्ञान' का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है। किन्तु उत्तर में यह निर्देश किया जा सकता है कि अज्ञ-ज्ञान की चेतना स्वयं साक्षी-चैतन्य होती है, 'मैं नहीं जानता 'अनुभव' 'वृत्ति-ज्ञान' का निषेध होता है, अतएव 'वृत्ति-ज्ञान' के न होने पर भी उसका साक्षी-चैतन्य के प्रति उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में प्रतिपादित यह हल कि 'अज्ञान' ज्ञान के अभाव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ठीक वही है जो 'अज्ञान' को एक भावात्मक सत्ता मानने वाले सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यदि यह तर्क दिया जाय कि यद्यपि ज्ञान का निषेध एक सामान्य रूप में परिलक्षित प्रतियोगी से किसी ऐसे व्यक्त सम्बन्ध के अन्तर्भाव से रहित एक भावात्मक अज्ञान के रूप में भासित हो सकता है—तो इसका उत्तर यह है कि यदि इस तर्क को मान भी लिया जाय तो भी उससे एक भावात्मक अज्ञान की स्वीकृति को कोई समर्थन प्राप्त नहीं होता, क्योंकि ज्ञान के निषेध के उदाहरण में भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि यद्यपि वह सामान्यतः एक परिलक्षित प्रतियोगी से सम्बन्धित हो, तथापि सम्भवतः किसी विशिष्ट दशा में उसमें सदा उक्त संबंध का समावेश न भी रहे। कुछ के द्वारा आगे यह आग्रह किया जाता है कि एक सत्ता अपरोक्ष रूप से ज्ञात की जा सकती है तथा उक्त ज्ञान में सदा उस सत्ता के द्वारा परिलक्षित विशिष्ट संबंधों का सदा समावेश नहीं होता है, केवल पश्चादुक्त प्रकार का ज्ञान ही संशय को असम्भव बनाता है। किन्तु यह तथ्य कि एक ज्ञात किये गए विषय के प्रति संशय हो सकता है, स्पष्टतः प्रकट करता है कि एक विषय अपने विशिष्ट एवं निषेधात्मक संबंधों की तात्कालिक अभिव्यक्ति के बिना भी ज्ञात किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त, यदि 'अज्ञान' को 'वृत्ति-ज्ञान' के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता तो 'अज्ञान' के सम्बन्ध में अनुमान की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। जब कोई यह कहता है 'आप इसका रहस्य नहीं जानते' तो जिस श्रोता के सम्मुख एक परोक्ष ज्ञानात्मक वृत्ति के द्वारा रहस्य का उद्घाटन किया जाता है, उसके सम्मुख यदि एक 'वृत्ति-ज्ञान' के माध्यम से 'अज्ञान' प्रस्तुत नहीं किया जाता तो उसे 'अज्ञान' की चेतना ही नहीं हो सकती थी। यह नहीं कहा जा सकता कि परोक्ष ज्ञानात्मक वृत्ति का 'अज्ञान' से विरोध नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो फिर एक परोक्ष ज्ञान के द्वारा किसी सत्ता का ज्ञान होने पर भी एक व्यक्ति को यह अनुभूति हो सकती है कि उसने उसे ज्ञात नहीं किया। शंकरवादियों द्वारा यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्यक्षीकरण के माध्यम से प्राप्त अपरोक्ष ज्ञान की 'वृत्ति' 'अज्ञान' से विरोध में होती है, और यदि परोक्ष ज्ञान की वृत्ति भी 'अज्ञान' से विरोध में होती है तो ऐसी कोई मानसिक 'वृत्ति' शेष नहीं रह जाती, जिसके द्वारा 'अज्ञान' ज्ञात किया जा सके।

सुषुप्ति का यह अनुभव (मैं अबतक कुछ भी नहीं जानता था) भी ज्ञान के अभाव का उल्लेख करता है, न कि किसी भावात्मक अज्ञान का। यह नहीं कहा जा सकता कि चूंकि उस काल में (प्रत्यक्षकर्त्ता अथवा किसी अन्य सामग्री की चेतना न होने के कारण) अन्य सर्व ज्ञान समाप्त हो जाता है, अतः ज्ञान के अभाव की भी कोई चेतना नहीं हो सकती, क्योंकि भावात्मक अज्ञान के अनुभव के प्रति भी यही आपत्ति होगी। यदि यह आग्रह किया जाय कि उक्त अवस्था में 'अज्ञान' एक भावात्मक सत्ता के रूप में साक्षात् अनुभूत होता है किन्तु अपने विशिष्ट परिलक्षित प्रतियोगी से उसका संबंधीकरण केवल जाग्रत अवस्था ही में प्रकट होता है, तो यही व्याख्या समान औचित्य से उस दशा में भी दी जा सकती है जबकि सुषुप्ति का अनुभव ज्ञान के अभाव का अनुभव माना जाय, क्योंकि ज्ञान के अभाव का अनुभव भी अपने परिलक्षित प्रतियोगी से किसी संबंध के बिना एक ज्ञातव्य सत्ता के रूप में किया जा सकता है, अथवा सुषुप्ति में अज्ञान के तथा-कथित अनुभव की व्याख्या जाग्रत अवस्था की भौतिक एवं शारीरिक अवस्थाओं से ज्ञान के अभाव के अनुमान के रूप में की जा सकती है। शंकरवादी मत में भी चूंकि उक्त अवस्था में ब्रह्म अहम् की अनुभूति नहीं की जा सकती, इसलिए 'मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं था' का अनुभव एक अर्थ में मिथ्या माना जाना चाहिए। यदि यह आग्रह किया जाय कि सुषुप्ति में 'अज्ञान' एक 'अविद्या-वृत्ति' के माध्यम से प्रतिबिम्बित होने के कारण 'साक्षि-चैतन्य' के द्वारा ज्ञात किया जाता है तो वह समान औचित्य से जाग्रतावस्था में भी उसी ढंग से ज्ञात किया जा सकता है। यदि उसे साक्षि-चैतन्य द्वारा अपरोक्ष रूप में ज्ञात किया गया माना जाय तो वह एक नित्य सज्ञान होने के कारण उसका कोई मूल संस्कार नहीं होगा और उसका स्मरण नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त, यदि यह स्वीकार न किया जाय कि सुषुप्ति में अज्ञान का अभाव जाग्रतावस्था की अवस्थाओं से अनुमान के रूप में फलित होता है, तो सुषुप्ति-अवस्था में अज्ञान के अभाव को किसी अन्य प्रकार से सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसको एक भावात्मक 'अज्ञान' से अनुमित नहीं किया जा सकता, चूंकि ज्ञान का अभाव 'जड़' होने के कारण अपने साहचर्य में एक आवरण-तत्व के रूप में किसी 'अज्ञान' को नहीं रखता। इसके अतिरिक्त, यदि एक भावात्मक सत्ता के रूप में 'अज्ञान' से सदा ज्ञान के अभाव को अनुमित किया जा सकता है, तो सुषुप्ति-अवस्था में राग के अभाव से भावात्मक द्वेष को अनुमित करना पड़ेगा। इस प्रकार 'अज्ञान' को कदापि अपरोक्ष ज्ञान का विषय नहीं माना जा सकता।

मधुसूदन का उत्तर यह है कि यद्यपि प्रत्यक्ष अहम् 'अज्ञान' का अधिष्ठान नहीं हो सकता, तथापि चूंकि अन्तःकरण का अपनी कारणावस्था में 'अज्ञान' के अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य से मिथ्या तादात्म्य होता है, अतः 'अज्ञान' प्रत्यक्ष अहम् के साहचर्य में

भासित होता है। इसके द्वारा ही सुषुप्ति के 'मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं था' अनुभव की व्याख्या की जाती है। 'मैं घट को जानता हूँ' अनुभव की दशा में भी यद्यपि घट पर कोई आवरण नहीं हो सकता, फिर भी, चूँकि 'अज्ञान' का अधिष्ठान घटाकृति से परिच्छिन्न चैतन्य होता है, इसलिए यह आभास होता है कि घटाकृति स्वयं 'अज्ञान' के आवरण का विषय होती है। यह आपत्ति भी अवैध है कि परोक्ष ज्ञान में विषय पर 'अज्ञान' का आवरण होने के कारण चेतना का अभाव होना चाहिए, क्योंकि ज्ञाता के 'अज्ञान' का निवारण हो जाता है तब ज्ञान का प्रकाश विषय में स्थित 'अज्ञान' के द्वारा अवरुद्ध नहीं किया जा सकता।

व्यासतीर्थ की यह आपत्ति अवैध है कि 'अज्ञान' केवल ज्ञान का आभास है अतएव 'अज्ञान' को एक भावात्मक सत्ता के रूप में प्रत्यक्षकर्त्ता में स्थित मानने के स्थान पर केवल ज्ञान के अभाव को स्वीकार करना अधिक सम्यक् है, क्योंकि उक्त रूप में ज्ञान के अभाव का अनुभव अवैध होता है, चूँकि अभाव में एक संघटक के रूप में परिलक्षित प्रतियोगी का समावेश होता है। यह ज्ञात करने के लिए कि 'मुझ में कोई ज्ञान नहीं है' मुझ में ज्ञान का ज्ञान होना चाहिए जो आत्म-विरोधी है। किसी परिलक्षित प्रतियोगी से किसी संबंध के समावेश के बिना प्रत्यक्षकर्त्ता में ज्ञान के अभाव का अनुभव केवल भावात्मक 'अज्ञान' की दशा में वैध हो सकता है। एक विशिष्ट अभाव एक सामान्य अभाव के रूप में कभी भासित नहीं हो सकता, क्योंकि यदि यह मान लिया जाय, तो मेज़ पर एक पुस्तक के होने पर भी मेज़ पर कोई भी पुस्तक के न होने का अनुभव हो सकता है, क्योंकि प्रतिपक्षी के प्रस्तावित सिद्धांत के अनुसार इस अथवा उस पुस्तक का विशिष्ट अभाव एक सामान्य अभाव के रूप में भासित होना चाहिए। मधुसूदन का आग्रह है कि अभावों में भेद विशुद्ध अभावों के भेद पर निर्भर नहीं करता, वरन् उनके संघटक परिलक्षित प्रतियोगियों के भेदों पर निर्भर करता है। इस प्रकार यह असम्भव है कि स्वयं के अज्ञान के अनुभव की व्याख्या इस मान्यता के आधार पर की जा सकती है कि उक्त अनुभव अभाव के अनुसार उल्लेख करता है, क्योंकि यह पहले ही बताया जा चुका है कि ऐसा आभास न तो विशिष्ट हो सकता है और न सामान्य। अतः अज्ञान का अनुभव इस भावात्मक सत्ता का अनुभव माना जाना चाहिए।

किन्तु यह तर्क किया जा सकता है कि 'अज्ञान' के प्रत्यय में भी विरोध के द्वारा ज्ञान के प्रति उल्लेख समाविष्ट रहता है अतएव यह लक्षित होता है कि ज्ञान उसका एक संघटक है, इसलिए अभाव के प्रत्यय के विरोध में उठाई गई सभी आपत्तियाँ समान औचित्य से 'अज्ञान' के प्रत्यय पर भी लागू होती हैं। इसका उत्तर यह है कि शंकर-वादी मत के अनुसार विशुद्ध 'साक्षि' चैतन्य एक ही समय में 'अज्ञान' एवं उससे आवृत्त विषय को उनमें से किसी के भी विनाश व संकोचन के बिना ग्रहण कर लेता है।

अतः किसी भी आत्म-विरोध की कोई सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि 'अज्ञान' की चेतना में उसका निषेध करने वाली किसी भी प्रक्रिया का समावेश नहीं होता।[1] यदि प्रतिपक्षी के द्वारा यह तर्क किया जाय कि अभाव की चेतना के उदाहरण में भी इसी प्रकार का उत्तर सम्भव है (इस मान्यता पर कि अभाव का विषय 'साक्षि'–चैतन्य के द्वारा अपरोक्ष ज्ञात किया जाता है), तो मधुसूदन का उत्तर यह है कि चूंकि 'अज्ञान' 'साक्षि'–चैतन्य के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है, अतः उसी प्रकार से उसका परिलक्षित प्रतियोगी भी ज्ञात कर लिया जाता है, किन्तु, चूंकि अभाव 'साक्षि'–चैतन्य द्वारा अपरोक्ष ज्ञात नहीं किए जाते, परन्तु केवल 'अनुपलब्धि' नामक प्रमाण के द्वारा ज्ञात किए जाते हैं, इसलिए 'अज्ञान' का परिलक्षित प्रतियोगी भी 'साक्षि' द्वारा ज्ञात नहीं किया जा सकता। यह तर्क नहीं किया जा सकता कि ज्ञान की भाँति अभाव भी 'साक्षि' चैतन्य के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि ज्ञान में अभाव का अनस्तित्व अन्तर्निहित होता है, अतएव दोनों एक ही काल में 'साक्षि-चैतन्य' द्वारा अभिव्यक्त नहीं किए जा सकते, किन्तु अनुत्पन्न ज्ञान 'अज्ञान' के प्रति एक गुणात्मक संबंध में प्रकट हो जाता है, क्योंकि संबंध गुणात्मक होने के कारण दोनों में कोई व्याघात नहीं होता तथा इस प्रकार 'अज्ञान' के ज्ञान की सम्भावना की व्याख्या हो जाती है। शंकरवादी यह स्वीकार नहीं करते कि एक विशिष्ट सत्ता के ज्ञान में विशेषण के ज्ञान की पूर्वकल्पना होती है, अतएव यह आपत्ति अवैध है कि 'अज्ञान' की परिलक्षित प्रतियोगी सत्ता का पूर्व ज्ञान न होने के कारण उक्त परिलक्षित प्रतियोगी 'अज्ञान' के विशिष्ट संघटक के रूप में विद्यमान नहीं हो सकता।[2]

एक यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि, चूंकि ब्रह्म-ज्ञान एक निश्चित अनुशासन-प्रणाली द्वारा प्राप्त किया जाता है, इसलिए जबतक उसे पूरा नहीं कर लिया जाता तब तक ब्रह्म-ज्ञान का प्रागभाव होता है तथा इस प्रकार के अभाव की स्वीकृति से शंकरवादी उसी आलोचना के लक्ष्य बन जाते हैं जिससे वे बचना चाहते हैं। इसका उत्तर इस मत में पाया जाता है कि यहाँ प्रागभाव को मानने के स्थान पर शंकरवादी यह मानते हैं कि या तो ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है या उसके सम्बन्ध में 'अज्ञान' हो

---

[1] प्रमाण-वृत्ति-निवर्त्यस्यापि भाव-रूपाज्ञानस्य साक्षि-वेद्यस्य विरोधि-निरूपक-ज्ञान-तद्-व्यावर्तक-विषय-ग्राहकेण-साक्षिणा तत्साधकेन तदनाशाद् व्याहत्यनुपपत्तेः।

—'अद्वैत-सिद्धि' पृ० ५५०।

[2] न च अवच्छेदकस्य विषयादेः प्रागज्ञाने कथं तद्विशिष्टाज्ञान-ज्ञानम्। विशेषण-ज्ञानाधीनत्वाद्विशिष्ट-ज्ञानस्येति वाच्यं विशेषण-ज्ञानस्य विशिष्ट-ज्ञान-ज्ञानत्वे मानाभावत्।

—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ५५०।

सकता है, अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान के संबंध में वे एक भाव-रूप 'अज्ञान' को मानते हैं, और इस प्रकार कोई विरोध नहीं होता।

व्यासतीर्थ का तर्क है कि किसी सत्ता के अभाव में अनिवार्यतः उसके ज्ञान के संघटक के रूप में अपने विशिष्ट संबंधों सहित किसी विशेष सत्ता का ज्ञान अन्तर्निहित नहीं होता तथा ऐसा ज्ञान परिलक्षित प्रतियोगी की विशेपताओं के प्रति किसी विशिष्ट उल्लेख के विना भी उत्पन्न हो सकता है। 'मैं अज्ञ हूँ' नामक अनुभव में मनस् के समक्ष कोई परिलक्षित प्रतियोगी उपस्थित नहीं रहता है, तथा केवल सामान्य रूप में सत्ताओं का उल्लेख होता है। उक्त मत के अनुसार, चूंकि परिलक्षित प्रतियोगी का ज्ञान अभाव के ज्ञान का एक संघटक नहीं होता, इसलिए इस आधार पर कोई विरोध नहीं होता कि चूंकि अभाव की स्वीकृति परिलक्षित प्रतियोगी के संबंध में की जाती है, अतः एक संघटक के रूप में उसकी उपस्थिति असम्भव है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि किसी भी विशेष सत्ता का अभाव उस सत्ता के विशिष्ट सम्बन्धों के विना केवल एक सामान्य प्रसंग में प्रकट नहीं हो सकता। यदि यह आग्रह किया जाय कि कोई प्रागभाव एक संघटक के रूप में परिलक्षित प्रतियोगी की विशिष्ट विशेपताओं के साहचर्य में प्रकट नहीं हो सकता और सकल प्रागभाव केवल एक सामान्य प्रसंग में ही प्रकट हो सकते हैं, तो इस आलोचना का मधुसूदन द्वारा यह उत्तर दिया जाता है कि ऐसे प्रागभाव, जो अपने परिलक्षित प्रतियोगी से केवल एक सामान्य प्रसंग में साहचर्य रखते हैं, असिद्ध होते हैं।[1] मधुसूदन के प्रतिपक्षी को यह तर्क करते हुए कल्पित किया गया है कि एक अभाव में परिलक्षित प्रतियोगी के स्वरूप में केवल उस विशेष सामग्री का समावेश होता है जो निषेध की गई वस्तु अथवा वस्तुओं में अंतर्निहित लक्षण होता है। ऐसे लक्षण वस्तुतः अभाव के ज्ञान की सामग्री होने के नाते, निषेध की गई वस्तु अथवा वस्तुओं की परिलक्षित सीमा का निर्माण करते हैं, किन्तु ऐसा वस्तुगत उल्लेख किसी अभाव के ज्ञान के लिए सर्वथा अप्रासंगिक होता है। अभाव के ज्ञान में अनिवार्य तो निषेध की गई वह सामग्री होती है जिसमें वस्तुओं से सम्बंधित लक्षण का समावेश होता है, अतएव अभाव के ज्ञान में अन्तर्निहित परिलक्षित प्रतियोगी केवल उन्हीं लक्षणों का उल्लेख करता है जो अनुभव में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्यक्ष होते हैं तथा उनसे यह लक्षित नहीं होता कि वे निषेध की गई वस्तुओं के वस्तुगत दृष्टि से पारिभाषिक लक्षण होते हैं। इस प्रकार, चूंकि ऐसे मत के अनुसार अभाव के ज्ञान में निषेध की गई वस्तुओं का ज्ञान एक संघटक के रूप में अन्तर्निहित नहीं होता इसलिए शंकरवादियों द्वारा बताया गया कोई विरोध उत्पन्न

---

[1] प्रतियोगितावच्छेदक प्रकारक-ज्ञानाभावेन प्रागभाव-प्रतीतिरसिद्धैव।

—वही, पृ० ५५२।

नहीं होता। इसके प्रति मधुसूदन कहते हैं कि ऐसा उत्तर उनके द्वारा पहले ही से लगाये गये आरोपों से कोई रक्षा प्रदान नहीं करता, क्योंकि प्रतिपक्षी यह सोचते हुए प्रतीत होते हैं कि यह यथेष्ट होगा यदि एक अभाव में समाविष्ट परिलक्षित प्रतियोगी अभाव के ज्ञान का एक पारिभाषिक लक्षण माना जाय तथा उसमें इस मान्यता का समावेश न हो कि साथ ही वह निषेध किये गये विषयों का पारिभाषिक लक्षण होता है तथा वे यह मानते हैं कि अभाव के ज्ञान में जिस विशेष वस्तु का निषेध किया जाता है वह अपने विशिष्ट स्वरूप में प्रकट न होकर केवल सामान्य रूप में प्रकट होती है, और यदि ऐसा होता तो एक विषय के एक विशिष्ट रूप में एक स्थान में विद्यमान होने पर भी उसके अभाव का एक सामान्य रूप में अनुभव हो सकता है क्योंकि प्रतिपक्षियों की मान्यता के अनुसार अभाव सदा केवल सामान्य रूप में ही प्रकट होते हैं। इस प्रकार, जब कोई कहता है 'मुझमें ज्ञान नहीं है,' तब यदि यहाँ ज्ञान का केवल एक सामान्य उल्लेख होता है, तो यह वाक्य अर्थहीन हो जाता है, क्योंकि ज्ञान के न होने का ज्ञान भी स्वयं एक ज्ञान है, और उक्त वाक्य में ज्ञान के अभाव का एक सामान्य उल्लेख होने के कारण वह स्वयं ज्ञान के न होने की मान्यता का ही विरोध करता है।

यह आग्रह किया जा सकता है कि यदि अभाव के ज्ञान की उपर्युक्त आलोचना सत्य है, तो वह प्रागभाव पर भी लागू होगी। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि 'प्रागभाव' को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि तथाकथित प्रागभाव का वास्तविक अर्थ भावी उत्पत्ति होता है, जिसका, पुनः, उस काल-वस्तु के अतिरिक्त कोई अन्य तात्पर्य नहीं होता जो किसी विषय अथवा उसके विनाश से सीमित नहीं होती–ऐसा विषय वह होता है जो तथाकथित प्रागभाव का परिलक्षित प्रतियोगी माना जाता है। भविष्यत्व का भी यही अर्थ होता है।[1] इस प्रसंग में यह ध्यान रखने की बात है कि उत्पत्ति की परिभाषा एक ऐसे विशिष्ट संबंध के रूप में दी जानी चाहिए जो आत्मनिर्भर होता है, क्योंकि उसकी परिभाषा प्रागभाव के माध्यम से नहीं दी जा सकती, चूंकि प्रागभाव को केवल उत्पत्ति के माध्यम से परिभाषित किया जा सकता है, अतएव यदि प्रागभाव को उत्पत्ति की परिभाषा का संघटक बना दिया जाय तो इसमें एक दुष्ट-चक्र का समावेश हो जाता है। अतः, यदि प्रागभाव को माना भी जाय, तो यह बताना कठिन होगा कि उसका ज्ञान कैसे हो सकता है, और दूसरी ओर, यदि हम प्रागभाव को एक पृथक् पदार्थ के रूप में न मानें तो हमारी कोई हानि नहीं होती। एक प्रागभाव में अन्तर्निहित अभाव, जहाँ तक अभाव-मात्र का संबंध

---

[1] भविष्यत्वं च प्रतियोगि-तद् ध्वंसानाधार-काल-सम्बन्धित्वम्।

–'अद्वैत-सिद्धि' पृ० ५५२।

है, निषेध किये गये विषय के एक काल-विशेष में अभाव के समतुल्य होता है, जिसकी अन्तर्वस्तु के रूप में एक विशेष काल से परिच्छिन्न एक विशेषाभाव होता है, जहाँ विशिष्ट विषय केवल एक सामान्य संबंध में प्रकट होता है। इसका विश्लेषण यह बताता है कि प्रागभाव में वर्तमान से परिच्छिन्न एक विशिष्ट विषय का अभाव होता है, फिर भी वह विशिष्ट विषय अपने विशिष्ट एवं विशेष स्वरूप में प्रकट नहीं होता, बल्कि केवल एक सामान्य रूप में प्रकट होता है।[1] यहाँ यह द्विविधा उत्पन्न होती है कि एक विशिष्ट विषय का अभाव (विशेषाभाव) अपने परिलक्षित प्रतियोगी की अन्तर्वस्तु के रूप में निषेध की गई वस्तु की विशेषताओं का समावेश किये बिना, केवल उसके सामान्य धर्म को नहीं रख सकता, और यदि ऐसा है, तो उक्त शर्त को समाविष्ट करने वाला कोई प्रागभाव नहीं हो सकता। पुनः, यदि उसकी सम्भावना को स्वीकार किया जाय, तो 'सामान्याभाव' असम्भव होता है, क्योंकि काल अथवा विषय की किसी प्रकार की विशेषता द्वारा परिच्छिन्न कोई भी अभाव एक 'सामान्याभाव' कहलाने का अधिकारी नहीं होगा। इस प्रकार प्रागभाव और सामान्याभाव दोनों के प्रत्यय अन्योन्याश्रित प्रतीत होते हैं तथा एक दूसरे को इस प्रकार अवरुद्ध करते हैं कि उनमें से किसी को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इन सब उदाहरणों में मधुसूदन का मुख्य तर्क यह है कि किसी भी अभाव के परिलक्षित प्रतियोगी के रूप में कोई भी विशिष्ट विषय विशेषता से संबंधित हुए बिना केवल एक सामान्य रूप में प्रकट नहीं हो सकता। इस प्रकार, जब कोई कहता है 'मैं अज्ञ हूँ' तब उक्त तर्क वाक्य को समाविष्ट करने वाला अनुभव केवल एक सामान्य पक्ष में प्रकट होने वाले एक विशेष विषय के अभाव का अनुभव नहीं होता। यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाय, तो 'मैं अज्ञ हूँ' में समाविष्ट अनुभव की व्याख्या एक सामान्याभाव के अनुभव के रूप में नहीं की जा सकती।

पुनः, यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि अभाव का अधिष्ठान-मात्र ही स्वयं अभाव की चेतना को उत्पन्न कर सकता है, इस प्रकार रिक्त स्थान भी उस पर घट के अभाव का सूचक होता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर, भावात्मक सत्ताएं भी अभाव के बोध को उत्पन्न कर सकती हैं। यह सुझाव देना गलत है कि परिलक्षित प्रतियोगी का स्वरूप अभाव के स्वरूप की परिभाषा देता है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो यह असम्भव होता कि विभिन्न अभाव, यथा, प्रागभाव, ध्वंसाभाव इत्यादि भिन्न-भिन्न अभावों के रूप में वर्गीकृत किये जाते, चूंकि उन सबका एक ही परिलक्षित प्रतियोगी होता है। मधुसूदन के मत के अनुसार अभाव के भेद भावात्मक सत्ताओं के भेदों की भांति मिथ्या आरोपणों के कारण होते हैं।

---

[1] इहैदानीं घटो नास्तीति प्रतीतिस्तु सामान्य-धर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताकतत्-कालावच्छिन्न-यावद्विशेषाभाव-विषया। —वही, पृ० ५५३।

यदि यह भी मान लिया जाय कि केवल एक ही अभाव होता है, जो विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, तो शंकरवादी कोई भी आपत्ति नहीं उठा सकेंगे, क्योंकि उनके अनुसार अभाव और भाव दोनों मिथ्या आरोपण-मात्र हैं। किन्तु मधुसूदन निर्देश करते हैं कि चूंकि 'मैं अज्ञ हूँ' अनुभव (उपरोक्त मर्मभेदी विश्लेषण के पश्चात् भी) अपने उद्‌गम के रूप में किसी अभाव को प्रकट नहीं करता, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि वह 'अज्ञान' की भाव-रूप सत्ता के अनुभव के कारण होता है।

इसलिए मधुसूदन आगे यह आग्रह करते हैं कि सुषुप्ति के अनुभव, अर्थात् 'मैंने इतने समय तक कुछ भी ज्ञान नहीं किया,' का जाग्रतावस्था में संप्रत्यक्ष एक भावरूप 'अज्ञान' का उल्लेख करता है। अब, यदि यह संप्रत्यक्ष एक अनुमान है, तो प्रतिपक्षी निर्देश करता है कि वह ज्ञान के अभाव का अनुमान हो सकता है, न कि भावात्मक अज्ञान का अज्ञान। क्योंकि एक व्यक्ति यह अनुमान कर सकता है कि, चूंकि उसका अस्तित्व था और दो जाग्रत अवस्थाओं के मध्यान्तर में उसकी मानसिक वृत्ति थी, इसलिए वह वृत्ति-ज्ञान के अभाव की वृत्ति होनी चाहिए थी। संप्रत्यक्ष स्मृति-मात्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्मृति केवल मूल-संस्कारों के माध्यम से हो सकती है। 'साक्षि-चैतन्य' का ज्ञान नित्य होने के कारण, उक्त ज्ञान से कोई मूल-संस्कार उत्पन्न नहीं किये जा सकते, क्योंकि मूल-संस्कारों का तन्त्र केवल ऐसे संज्ञानों से स्मृति को उत्पन्न करने का एक मनोवैज्ञानिक उपाय मात्र है जो अस्थायी होते हैं। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि विचाराधीन संप्रत्यक्ष एक अनुमान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान इस आधार पर आश्रित है कि सोने वाले व्यक्ति के सुषुप्ति में एक मानसिक वृत्ति थी। किन्तु, यदि उस समय उसमें कोई ज्ञान नहीं होता, तो उसके लिए यह कहना असंभव है कि उस समय वह किसी विशिष्ट मानसिक वृत्ति से सम्पन्न था। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सुषुप्ति में अभाव का ज्ञान इस तथ्य से अनुमित किया जा सकता है कि उस समय ज्ञान की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं था, क्योंकि उक्त कारण का अभाव केवल ज्ञान के अभाव से ही ज्ञात किया जा सकता है (और इसका विलोम भी सत्य है) तथा इसमें एक दुष्ट चक्र का समावेश हो जाता है। न यह कहा जा सकता है कि ज्ञान के अभाव को इन्द्रियों की आनन्दमय अवस्था से अनुमित किया जा सकता है, जो केवल उनके कार्य-व्यापार की समाप्ति के फलस्वरूप ही घटित हो सकता है, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि एन्द्रियों के कार्य-व्यापार की समाप्ति आनन्दमय अवस्था को उत्पन्न करेगी। इस संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि 'अज्ञान' का ज्ञान सदा ज्ञान के अभाव के साहचर्य में होता है, इसलिए प्रत्येक ऐसे उदाहरण में जहाँ 'अज्ञान' का ज्ञान होता है वहाँ ज्ञान के अभाव का अनुमान सही होगा। तथाकथित अनुपलधि वस्तुतः भाव-रूप 'अज्ञान' से एक अनुमान द्वारा फलित होती है, इस प्रकार, जब एक व्यक्ति प्रातःकाल में एक रिक्त प्रांगण का प्रत्यक्ष करता है, तब वह उसमें एक हाथी के जाना-

भाव से हाथी के प्रति अपने भावात्मक अज्ञान के तथ्य का अनुमान कर सकता है। इस प्रकार, ज्ञान के अभाव के संप्रत्यक्ष की व्याख्या अनुमान के रूप में की जा सकती है। उसकी एक स्मृति के उदाहरण के रूप में भी व्याख्या की जा सकती है। यह आपत्ति भी अवैध है कि 'अज्ञान' का कोई मूल-संस्कार नहीं हो सकता, क्योंकि जो 'अज्ञान' सुषुप्ति में 'साक्षि-चैतन्य' का विषय होता है वह स्वयं 'अज्ञान' की एक 'वृत्ति' में से प्रतिबिम्ब होता है, चूंकि केवल उक्त अवस्थाओं में ही 'अाज्ञान' साक्षि-चैतन्य का एक विषय बन सकता है। चूंकि 'अज्ञान' के ज्ञान में एक 'वृत्ति' को स्वीकार किया जाता है, अतः 'वृत्ति' की समाप्ति के साथ एक मूल-संस्कार होना चाहिए और उसके द्वारा स्मृति की 'वृत्ति' हो सकती है; जैसाकि किसी भी अन्य संज्ञान की स्मृति के उदाहरण में होता है।[1] यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि, 'अज्ञान' अपने संज्ञान के लिए एक 'वृत्ति-अवस्था' की अपेक्षा रखता है, यदि ऐसी कोई वृत्ति नहीं है तो 'अज्ञान' के सम्बन्ध में संशय हो सकता है, क्योंकि 'अज्ञान' के प्रति कोई :अज्ञान' के समान ही क्षेत्र रखता है। यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि 'अज्ञान' की भाँति अभाव का भी 'साक्षि-चैतन्य द्वारा प्रत्यक्षीकरण हो सकता है, क्योंकि, चूंकि अभाव सदा अपने परिलक्षित प्रतियोगी से संवंवित होता है इसलिए वह निर्विकल्पक अन्त-:प्रज्ञात्मक 'साक्षि-चैतन्य' के द्वारा अन्तःप्रज्ञात्मक रूप में प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। 'अज्ञान' में यद्यपि ज्ञान के प्रति विरोध समाविष्ट रहता है, तथापि सुषुप्ति अवस्था में स्वयं उस विरोध का ज्ञान नहीं होता है। मधुसूदन कहते हैं कि यह तर्क दिया जाता है कि चूंकि 'अज्ञान' की अवस्थाओं का सुषुप्ति अवस्था से जाग्रतावस्था तक एक निरन्तर अनुक्रम होता है (क्योंकि जाग्रतावस्था में भी सकल संज्ञान 'अज्ञान' की अवस्थाओं में से प्रतिबिम्ब के द्वारा घटित होते हैं), इसलिए 'अज्ञान' के सुषुप्तिजन्य ज्ञान की स्मृति का कोई अवसर नहीं होता है, क्योंकि संज्ञान की एक वृत्ति अवस्था के नाश होने पर 'संस्कारों' के द्वारा स्मृति सम्भव होती है। इसका यह उत्तर है कि सुषुप्ति-अवस्था की 'अज्ञान-अवस्था' एक विशिष्ट 'तामसी' स्वरूप की अवस्था होती है जिसका निद्रा के साथ ही अन्त हो जाता है, अतएव इसके एवं जाग्रतावस्था को साधारण अवस्था के मध्य में कोई अनुक्रम की निरन्तरता नहीं होती। किन्तु एक दृष्टिकोण से यह तर्क सही है, क्योंकि यह माना जा सकता है कि सुषुप्ति अवस्था में 'अज्ञान' अपनी कारणावस्था में अस्तित्व रखता है, और इस प्रकार चूंकि 'अज्ञान' सुषुप्ति एवं जाग्रतावस्था दोनों के अनुभव का उपादान होता है, इसलिए वस्तुतः 'अज्ञान' के अनुक्रम की निरंतरता होती है, और इस प्रकार 'अज्ञान' के सुषुप्ति-जन्य अनुभव की कोई स्मृति नहीं हो सकती। इसी कारण से सुरेश्वर ने उक्त मत का परित्याग किया है। 'विवरण'

---

[1] अज्ञानस्याज्ञान-वृत्ति-प्रतिबिम्बित-साक्षि-भास्यत्वेन वृत्ति-नाशादेव संस्कारोपपत्तेः।
—अद्वैत-सिद्धि, पृ० ५५७।

का लेखक 'योग-सूत्रों' में दिए गए निद्रा के प्रत्यय का अनुसरण करता है, यहाँ सुषुप्ति-अवस्था में एक पृथक् वृत्ति को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था के अनुभव का भाव-रूप 'अज्ञान' के अनुभव के रूप में वर्णन किया जा सकता है।

अज्ञान का अनुमान

अपने 'विवरण' में प्रकाशानन्द द्वारा यह माना जाता है कि 'अज्ञान' का अनुमान सम्भव है, वे उक्त अनुमान के आकार का इस प्रकार निर्देश करते हैं : 'एक प्रमाण-ज्ञान अपने विषय के आवरण से संबंधित होता है, वह आवरण स्वयं उस ज्ञान से निवृत्त हो सकता है तथा ऐसा आवरण स्व-प्रागभाव से व्यतिरिक्त होता है।'[1] इस अनुमान का खण्डन करते व्यासतीर्थ 'पक्ष' (अर्थात्, 'प्रमाण-ज्ञान') के प्रत्यय की आलोचना से प्रारम्भ करते हैं। वे कहते हैं कि उक्त आकार के अनुमान के अनुसार सुख भी, जो एक प्रमाण-ज्ञान है, स्व-आवरण की निवृत्ति के पश्चात् प्रकट होना चाहिए, किन्तु सुख की चेतना 'साक्षी-चैतन्य' के स्वरूप की होने के कारण (स्वयं शंकरवादियों के सिद्धान्त के अनुसार) 'अज्ञान' का निवारण करने में असमर्थ रहती है। यदि 'पक्ष-पद' के प्रत्यय को 'वृत्ति-ज्ञान' अथवा सामान्य ज्ञानात्मक अवस्थाओं में संकुचित कर दिया जाय, तो भी वह सम्भव नहीं होता है, क्योंकि, यदि एक परोक्ष ज्ञान की अवस्था स्व-विष-आवरण को निवृत्त करती हुई मानी जाय, तो उसका अर्थ यह होगा कि विषय के द्वारा अन्त:-प्रज्ञात्मक चैतन्य की एक अपरोक्ष अभिव्यक्ति होती है, जो यह कहने के समान होगा कि परोक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष होता। यदि 'पक्ष' का प्रत्यय अपरोक्ष प्रत्यक्ष में संकुचित कर दिया जाय, तो उक्त परिभाषा परोक्ष ज्ञान पर लागू नहीं होगी, जो एक प्रमाण-ज्ञान होता है। त्रुटि के अपरोक्ष ज्ञान के उदाहरण में भी 'सत्' के ज्ञान का एक अंश होता है जिस पर भी उक्त परिभाषा लागू होगी, क्योंकि निश्चय ही वह असत् के आवरण को निवृत्त करके अभिव्यक्त नहीं होती, चूँकि सत् का ज्ञान सार्वलौकिक होता है। इसके अतिरिक्त, यदि उससे 'अज्ञान' का निवारण हो जाता, तो 'अज्ञान' की कोई सत्ता नहीं होती, अतएव वह भ्रम का उपादान कारण नहीं बन पाता। 'अज्ञान' जिसका 'सत्' अधिष्ठान होता है, भ्रम का उपादान कारण माना जाता है, किन्तु वह स्वयं भ्रम का विषय कदापि नहीं होता,

---

[1] विवादगोचरापन्नं प्रमाण-ज्ञानं स्व-प्रागभाव-व्यतिरिक्त-स्व-विषयावरण स्व-निवर्त्य-स्व-देश-गत-वस्त्वन्तर-पूर्वकं भवितं अर्हति अप्राकशितार्थ-प्रकाशकत्वादन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीप-प्रभावदिति ।

—'पंच-पादिका-विवरण,' पृ० १३ ।

यदि 'पक्ष' के प्रत्यक्ष को और भी संकुचित कर दिया जाय जिससे कि उसका अर्थ, अधिष्ठान 'सत्' को छोड़कर, केवल ज्ञानात्मक अवस्थाएं हों, तो एक ही सत्ता की क्रमिक चेतना के उदाहरण में दूसरे व तीसरे क्षणों की चेतना स्वयं आवरण को निवृत्त करती हुई नहीं मानी जा सकती, चूंकि उसका प्रथम क्षण की चेतना द्वारा निवारण हो गया था। यदि 'पक्ष' के प्रत्यय को और भी संकुचित कर दिया जाय जिससे कि उसका अर्थ केवल जड़ विषय का अपरोक्ष ज्ञान हो, तो भी, चूंकि शंकरवादी यह नहीं मानते हैं कि विषय पर आवरण होते हैं, इसलिए विषय-ज्ञान उक्त आवरण को निवृत्त करता हुआ नहीं माना जा सकता। यदि इसके उत्तर में यह माना जाय कि मानसिक वृत्ति में–यथा, घट का ज्ञान–घट की आकृति के द्वारा शुद्ध चैतन्य की परिच्छिन्नता का समावेश होता है, और चूंकि 'अज्ञान' का उक्त परिच्छिन्नता के समान ही क्षेत्र होता है, इसलिए घटाकृति की परिच्छिन्नता के आवरण की निवृत्ति का अर्थ उसी सीमा तक 'अज्ञान' के आवरण का निवारण होता है, तो उत्तर यह है कि प्रथमतः 'अज्ञान' को एक ही मानने वाले मत के अनुसार उक्त व्याख्या समीचीन नहीं होती, दूसरे, चूंकि किसी भी आकार के द्वारा परिच्छिन्न शुद्ध चैतन्य स्वयं प्रकाश नहीं होता, इसलिए शंकरवादियों के अनुसार उसे एक आवरण से संबंधित नहीं किया जा सकता, जो केवल शुद्ध स्वयं प्रकाश चैतन्य ही से संबंधित हो सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि यह कहा जाय कि आवरण की निवृत्ति का उल्लेख केवल जड़ विषयों के प्रति ही किया गया है, तो, चूंकि शाब्दिक तर्क-वाक्य–'यह एक घट है'–की स्वयं घट के समान ही सामग्री होती है, इसलिए उस जड़ विषय (घट) के संबंध में आवरण का निवारण कभी घटित नहीं होना चाहिए जिसकी परोक्ष सामग्री शाब्दिक तर्क-वाक्य के समान ही होती है।

पुनः, चूंकि शंकरवादी मत के अनुसार 'वृत्ति-ज्ञान' स्वयं मिथ्या होता है, इसलिए ऐसी कोई सम्भावना नहीं हो सकती कि उस पर मिथ्या विषयों का आरोपण हो। दूसरी ओर, यदि 'वृत्ति' द्वारा अभिव्यक्त शुद्ध चैतन्य ज्ञान का समानार्थी हो तो चूंकि ऐसा 'अज्ञान' का अधिष्ठान होता है, इसलिए उसे 'अज्ञान' का निवारक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार, अनुमान की यह शर्त कि ज्ञान 'अज्ञान' के निवारण के द्वारा स्वयं को स्थापित करता है, पूर्ण नहीं होती तथा परिभाषा की यह शर्त भी पूरी नहीं होती कि निवृत्त किये गये आवरण की ज्ञान के समान ही स्थिति होनी चाहिए, चूंकि 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य में स्थित होता है, जबकि ज्ञान सदा सोपाधिक चैतन्य का होता है।

अनुमान यह मानकर चलता है कि अव्यक्त को अभिव्यक्ति के कारण आवरण का निवारण होता है, किन्तु यह यहाँ लागू नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त किसी भी वस्तु द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, और सकल

भ्रमों का अधिष्ठान स्वयं-प्रकाश नित्य स्व-अभिव्यक्त होता है, अतएव यहाँ अव्यक्त की अभिव्यक्ति की कोई सम्भावना नहीं है। इसके अतिरिक्त, यदि 'अज्ञान' अनादि काल से विद्यमान एक भाव-रूप सत्ता है, तो उसकी निवृत्ति असम्भव होगी। यह भी असम्भव है कि जो सत्ता एक आवरण है वह अनादि होनी चाहिए। अतः ऐसी विरोधी युक्तियां देना सम्भव है कि आवरणों के साथ अनादित्व का साहचर्य कदापि नहीं हो सकता, चूंकि प्रागभाव की भाँति यह केवल अनादि के रूप में अस्तित्व रखता है, अथवा यह कि एक प्रमाण-ज्ञान अभाव के अतिरिक्त किसी वस्तु का निवारण नहीं कर सकता, क्योंकि वह ज्ञान होता है। अव्यक्त की अभिव्यक्ति में अनभिव्यक्ति के किसी भावात्मक तथ्य का समावेश नहीं होता, बल्कि वह केवल अभिव्यक्ति के अभाव का संकेत कर सकता है। इसके अतिरिक्त, प्रकाश घट आदि को अंधेरे की निवृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त करता है, क्योंकि प्रकाश अन्धकार के विपरीत होता है, किन्तु ज्ञान की अभिव्यक्ति का 'अज्ञान' से विरोध नहीं किया जा सकता, क्योंकि विषयों का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य 'अज्ञान' के विरोध में नहीं होता। 'वृत्ति' का 'अज्ञान' से विरोध यहाँ अप्रासंगिक है, क्योंकि 'वृत्ति' ज्ञान नहीं है। एक नवीन संज्ञान के उदय के संबंध में यही कहा जा सकता है कि वह किसी विशेष व्यक्ति के किसी विषय के ज्ञान के अनादि अभाव का निवारण करता है।

उत्तर में, मधुसूदन कहते हैं कि 'प्रमाण-ज्ञान' जो कि पक्ष-पद है उसका अर्थ में इस सीमा तक संकुचन करना है कि वह केवल 'वृत्ति-ज्ञान' पर लागू हो, न कि 'साक्षि-चैतन्य' पर जो सुख अथवा आनन्द को अभिव्यक्त करता है, 'वृत्ति'-ज्ञान को भी अर्थ में और संकुचित करना पड़ेगा· जिससे कि सर्व संज्ञानों के 'धर्म्यांश'-'इदं' अथवा 'सत्' जो सकल ज्ञानात्मक धर्मों का विशेष्य होता है-का अपवर्जन हो जाय। अतः 'प्रमाण-ज्ञान' जिसे एक आवरण को निवृत्त करने वाले के रूप में अनुमित किया जाता है, केवल 'वृत्ति' में अभिव्यक्त ज्ञानात्मक धर्मों से अर्थ रखता है। 'परोक्ष' ज्ञान के उदाहरण में भी ज्ञाता के प्रति उसके अभाव से निर्मित उसके आवरण का निवारण होता है, जिस आवरण के निवृत्त होने पर परोक्ष ज्ञान का विषय ज्ञाता के प्रति अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार 'प्रमाण-ज्ञान' परोक्ष एवं 'अपरोक्ष' दोनों 'वृत्तियों' में प्रकट ज्ञानात्मक धर्मों को समाविष्ट करता है। विवादगत 'प्रमाण-ज्ञान' से 'धर्म्यांश' अथवा 'छंद' के अपवर्जन का कारण इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि 'इदं' के प्रति कोई दोष अथवा भ्रम नहीं होता, सर्व दोष अथवा भ्रम केवल ज्ञानात्मक धर्मों के सम्बन्ध में घटित हो सकते हैं। 'इदं' उतना ही आत्म-स्थित होता है जितना सुख का अनुभव। इसलिए ऐसी कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि उनके सम्बन्ध में भी अज्ञात की अभिव्यक्ति होती है अतएव आवरण का निवारण होता है। पर यदि यह आग्रह किया जाय कि यद्यपि 'इदं' के सम्बन्ध में कोई दोष अथवा संशय नहीं

हो, तथापि, चूंकि यह तथ्य शेष रह जाता है कि वह पहले अज्ञात था और फिर ज्ञात हुआ, अतएव उसमें एक आवरण के निवारण का समावेश होता है, तो शंकरवादियों की ओर से इस प्रकार के निवारण को स्वीकार करने में आपत्ति होगी जो ज्ञानात्मक अवस्था अथवा 'प्रमाण-वृत्ति' के द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। किन्तु ऐसे उदाहरण में आवरण का निवारण साधारण रूप का नहीं होता, क्योंकि यह 'अज्ञान' जो केवल इसी तथ्य में निहित है कि एक सत्ता अज्ञात है, उस 'अज्ञान' से भिन्न है जिसके विस्तार एवं सीमा को एक ऐसा भावात्मक अज्ञान माना जा सकता है जिसका परिलक्षित प्रतियोगी वही होता है जो ज्ञान के विषय का होता है। इस मत में इसलिए 'अज्ञान' की इस रूप में परिभाषा दी जानी चाहिए कि उसमें दोषों को उत्पन्न करने की क्षमता होती है, चूंकि धर्म्यांश, 'इदं', के संबंध में कोई दोष नहीं हो सकता। हमारी परिभाषा के अनुसार इस तथ्य में 'अज्ञान' का कोई समावेश नहीं होता कि जबतक वह (धर्म्यांश) ज्ञात नहीं हो जाता तबतक वह अज्ञात रहता है। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि 'इदं' के संज्ञान के उदाहरण में, विवाद-गत 'अज्ञान' के अनुमान की योजना में अपेक्षित परिभाषा के अनुसार 'अज्ञान' का कोई निवारण नहीं होता।

धारावाही प्रत्यक्षीकरण की दशा में यद्यपि विषय वही बना रह सकता है, तथापि प्रत्येक क्षण में एक नवीन काल-तत्व का समावेश होगा तथा आवरण का निवारण इस नवीन तत्व के प्रति उल्लेख करता है–ऐसा माना जा सकता है। यह सुविदित है कि शंकरवादियों के अनुसार काल का प्रत्यक्षीकरण सभी 'प्रमाणों' के द्वारा किया जा सकता है। पुनः, यह आपत्ति सत्य नहीं है कि चूंकि जड़ विषयों के कोई आवरण नहीं हो सकता और चूंकि 'अज्ञान' अपने अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य को आवृत्त करता है ऐसा नहीं कहा जा सकता, इसलिए यह कहना कठिन है कि इनमें से 'अज्ञान' द्वारा कौन आवृत्त किया जाता है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य अपने स्व-प्रकाशक स्वरूप में अस्तित्व रखता है, तथापि अपनी परिच्छिन्न अभिव्यक्ति की दृष्टि से जैसे 'वह अस्तित्व रखता है' वैसे ही 'वह प्रकाशित होता है', इसलिए यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'अज्ञान' एक परिच्छिन्नता अथवा आवरण को थोपता है तथा उस सीमा तक उसे शुद्ध चैतन्य पर एक आवरण के रूप में माना जा सकता है। मधुसूदन इस मत के पक्ष में कि 'अज्ञान' को अनुमित किया जा सकता है आगे और युक्तियां देते हैं, वे औपचारिक स्वरूप की हैं, अतएव उनको यहाँ छोड़ दिया गया है।

अविद्या के सिद्धान्त का खण्डन

व्यासतीर्थ कहते हैं कि यह मान्यता स्वीकार नहीं की जा सकती कि 'अविद्या' जसी सत्ता का भ्रम के अधिष्ठान के रूप में अस्तित्व होना चाहिए, अन्यथा भ्रम

असम्भव हो जाएंगे, क्योंकि यह पहले ही बताया जा चुका है कि भ्रम के उपादान-कारण के रूप में 'अविद्या' की परिभाषा अवैध है। इसके अतिरिक्त, यदि यह माना जाय कि शुक्ति-रजत जैसे भ्रम किसी सामग्री से निर्मित हैं, तो एक ऐसा उत्पादक भी होना चाहिए जो भ्रमों को निर्मित करने के लिये उक्त सामग्री पर कार्य करे। न तो ईश्वर को और न जीव को ऐसा उत्पादक माना जा सकता है, न ही अपरिवर्तनशील ब्रह्मन् को उक्त उत्पादक माना जा सकता है। पुनः, 'अविद्या' अनादि होने के कारण वैसी ही अपरिवर्तनशील होनी चाहिए, जैसा ब्रह्मन् है। इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्मन् को जगत का उपादान कारण मान लिया जाय तो 'अविद्या' के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि शंकरवादी मान्यता के अन्तर्गत ब्रह्मन् अपरिवर्तित रह कर भी उस पर आरोपित भ्रमों का अधिष्ठान हो सकता है। यदि ऐसा नहीं होता तो 'अविद्या', जिसे एक आधार की आवश्यकता होती है, उक्त प्रयोजन के लिये ब्रह्मन् के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता की अपेक्षा रखेगी। यह सुझाव दिया जा सकता है कि 'अविद्या' की मान्यता भ्रम के परिवर्तनशील आश्रय की व्याख्या करने के लिये आवश्यक है, क्योंकि ब्रह्मन् पूर्णतः सत्य होने के कारण मिथ्या भ्रम का उपादान कारण नहीं माना जा सकता, चूंकि एक कार्य के कारण के रूप में उसके समान ही कोई सत्ता होनी चाहिए। किन्तु, यदि ऐसा है, तो ब्रह्मन् आकाश अथवा अन्य भौतिक तत्वों का कारण नहीं माना जा सकता, जो ब्रह्मन् की तुलना में मिथ्या हैं। यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि चूंकि जीव एवं ब्रह्मन् का तत्वतः तादात्म्य होता है, इसलिए 'अविद्या' की मान्यता के बिना जीव में आनन्द की सीमित अभिव्यक्ति अव्याख्येय हो जायगी, क्योंकि स्वयं यह मान्यता अवैध है कि ब्रह्मन् एवं जीव का तादात्म्य है, अतएव ब्रह्म एवं जीव में आनन्द की असीम एवं ससीम अभिव्यक्ति की व्याख्या करने में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि उनके भेद है।

उपर्युक्त के उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि 'अन्तःकरण' (अथवा मनस्) को भ्रम का उपादान कारण नहीं माना जा सकता, प्रथमतः इसलिए कि जहाँ 'अन्तःकरण' तो एक कालगत सत्ता है, वहां भ्रम एक श्रेणी-क्रम में जारी रहते हैं तथा उनका काल में कोई आरम्भ नहीं होता, दूसरे, 'अन्तःकरण' अपनी प्रक्रियाओं में सदा जगत के यथार्थ विषयों से साहचर्य रखता है, अतएव मिथ्या शुक्ति-रजत के संबंध में क्रियाशील नहीं होगा—और यदि ऐसा है तो 'अविद्या' की मान्यता के बिना 'अविद्या' के उपादान-कारण के रूप में कोई आश्रय नहीं होगा। ब्रह्मन् भी अपरिवर्तनशील होने के कारण उक्त भ्रम का कारण नहीं हो सकता। यह सुझाव नहीं दिया जा सकता कि ब्रह्मन् भ्रम के अधिष्ठान अथवा आश्रय के रूप में भ्रम का कारण होता है, क्योंकि जब तक कार्य में स्वयं को रूपान्तरित करने वाले कारण को स्वीकार नहीं कर लिया जाता, तब तक वह अपरिवर्तनशील कारण स्वयं स्थापित नहीं किया जा सकता जिस पर उक्त कार्य

आरोपित किए जाते हैं,[1] क्योंकि जब कुछ रूपान्तरण उत्पन्न कर दिये जाते हैं तभी उनका किसी अधिष्ठान अथवा आधार के प्रति उल्लेख किया जाता है।

पुनः, यदि, जैसाकि शकरवादी कहते हैं, 'अज्ञान' स्वयं असत्य है, तो यह असम्भव है कि वह विभिन्न प्रमाणों के अधिकृत हो। यदि यह तर्क दिया जाय कि 'अज्ञान' का केवल व्यावहारिक अस्तित्व होता है, तो वह साधारण मिथ्या अनुभव का उपादान नहीं हो सकता था, क्योंकि व्यावहारिक सामग्री प्रातिभासिक का कारण नहीं बन सकती तथा ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि 'अविद्या' मिथ्या है। यदि तर्क किया जाय कि प्रमाण केवल 'अविद्या' के अनस्तित्व का निषेध करने में सहायक होते हैं, तो उत्तर यह है कि, चूँकि 'अज्ञान' का ग्रहण दोषरहित साक्षि-चैतन्य के द्वारा किया जाता है, अतः उसे सत्य मानना चाहिए। यह मानना गलत है कि प्रमाण केवल 'अज्ञान' के अनस्तित्व का निषेध करते हैं, क्योंकि, जबतक 'अज्ञान' का स्वरूप अनुमान के द्वारा ज्ञात नहीं हो जाता, तबतक उसके अनस्तित्व के निषेध को भी ज्ञात नहीं किया जा सकता। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब प्रमाण 'अज्ञान' को अभिव्यक्त करते हैं, तब वे ऐसा इस प्रकार करते हैं मानों वह साक्षि-चैतन्य द्वारा ज्ञात की गई मिथ्या शुक्ति-रजत नहीं है, बल्कि ज्ञान का एक सत्य विषय है; तथा वे 'अज्ञान' के अनस्तित्व को उसके आभास के अधिष्ठान में अभिव्यक्त नही करते। इस प्रकार जिन प्रमाणों के द्वारा 'अज्ञान' ज्ञात किया जाता है वे एक सत्य विषय के रूप में उसके अस्तित्व का निर्देश करते हैं। इसलिए 'अविद्या' अनित्य मानी जा सकती है (क्योंकि वह ज्ञान के द्वारा निवृत्त हो सकती है), किन्तु उसे मिथ्या अथवा असत्य नहीं माना जा सकता। अतः शंकरवादियों का यह कथन अवैध है कि 'अविद्या' स्वरूपतः असत्य होकर भी प्रमाणों द्वारा ज्ञात की जाती है।

यदि 'अविद्या' विशुद्ध दोषरहित चैतन्य के द्वारा प्रत्यक्ष की जाती है तो वह चरम रूप से सत्य होनी चाहिए तथा वह मोक्ष के पश्चात् भी बनी रहनी चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि वह मोक्ष के पश्चात् बनी नहीं रह सकती, क्योंकि, उसका अस्तित्व उसके प्रत्यक्ष में निहित होने के कारण जब तक उसका प्रत्यक्षीकरण बना रहता है (जैसाकि होना चाहिए, क्योंकि वह नित्य शुद्ध चैतन्य के द्वारा प्रत्यक्ष की जाती है), तब तक उसका भी अस्तित्व होना चाहिए। यदि यह माना जाय कि 'अविद्या' एक 'वृत्ति' के माध्यम से ज्ञात की जाती है, तो स्पष्ट कठिनाई यह है कि जिन दो अवस्थाओं के द्वारा एक 'वृत्ति' उत्पन्न की जा सकती है, वे हैं 'प्रमाण' अथवा 'दोष' तथा 'अविद्या' के प्रत्यक्ष के उदाहरण में इन दो में से कोई भी अवस्था एक

---

[1] न च विवर्ताधिष्ठानत्वेन शुक्त्यादेरिवोपादानत्वमविद्यामन्तरेणातात्विकान्यथाभाव-लक्षणस्य विवर्तस्य सम्भवात्। —अद्वैत-सिद्धि, पृ० ५७३।

उपयुक्त 'वृत्ति' को प्रेरित नहीं कर सकती। इस प्रकार एक 'वृत्ति' की कोई सम्भावना न होने के कारण, उसमें चेतना के प्रतिबिम्ब के माध्यम से 'अविद्या' का कोई प्रत्यक्ष नहीं होगा। पुनः, 'वृत्ति' स्वयं एक 'अविद्या' की दशा होने के कारण अपने ग्रहण के लिए किसी अन्य 'वृत्ति' में से प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य की सहायता की अपेक्षा रखेगी, तथा वह अन्य की, इत्यादि, और यदि यह आग्रह किया जाय कि 'वृत्ति' के ग्रहण के लिए किसी अन्य 'वृत्ति' में से प्रतिबिम्ब की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु वह साक्षि-चैतन्य द्वारा अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त हो जाती है, तो ऐसी 'वृत्ति' का मोक्ष के पश्चात् भी अनुभव होगा। इसके अतिरिक्त यह संकल्पना करना कठिन है कि कैसे 'अविद्या' के समान एक सत्ता जिसका अस्तित्व उसके प्रत्यक्ष में निहित होता है चैतन्य के प्रतिबिम्ब के द्वारा उस 'वृत्ति' को प्रभावित करने के योग्य मानी जा सकती है जिसके द्वारा वह ज्ञात की जा सके। क्योंकि उस सत्ता का उसके प्रत्यक्ष से पूर्व कोई अस्तित्व नहीं होता तथा मान्यता के अनुसार जब तक उसका पूर्व अस्तित्व नहीं होता तब तक उसका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता।

मधुसूदन का उत्तर यह है कि उपर्युक्त आपत्तियाँ अवैध हैं, क्योंकि प्रत्यक्षकर्त्ता से सदा संबंधित रहने वाले 'साक्षि-चैतन्य' के द्वारा 'अज्ञान' का प्रत्यक्षीकरण होने के कारण, उसका कोई तात्विक आभास तथा अभिव्यक्ति नहीं होती। कुछ अन्य आलोचनाओं के उत्तर में मधुसूदन निर्देश करते हैं कि 'अविद्या' एक दोष होने के कारण तथा स्वयं अपनी 'वृत्ति' की एक शर्त होने के कारण उक्त आधार पर की गई आपत्तियाँ अपना अधिकांश बल खो बैठती हैं।

व्यासतीर्थ कहते हैं कि शंकरवादी यह सोचते हैं कि चूंकि शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त सभी वस्तुएं अविद्या की काल्पनिक सृष्टि होती है, इसलिए 'अविद्या' का अधिष्ठान केवल ब्रह्मन् ही हो सकता है, अन्य कोई सत्ता नहीं। वे यह निर्देश करते हैं कि यह असम्भव है कि अज्ञान, जो ज्ञान के सर्वथा विपरीत होता है, पश्चादुक्त को अपना अधिष्ठान बनाए। यह स्मरण रखना उचित होगा कि अज्ञान की यह परिभाषा दी जाती है कि ज्ञान के द्वारा निवृत्त किया जा सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि विरोध 'वृत्ति-ज्ञान' एवं 'अज्ञान' के मध्य में होता है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो 'अज्ञान' की यह परिभाषा दी जानी चाहिए कि वह एक संकुचित अर्थ में ज्ञान के विरोध में होता है, चूँकि 'वृत्ति-ज्ञान' एक संकुचित अर्थ ही में ज्ञान होता है (क्योंकि यथार्थ ज्ञान शुद्ध चैतन्य का प्रकाश होता है)। यदि चैतन्य का अज्ञान से विरोध नहीं होता तो विषयों का कोई प्रकाशन नहीं हो सकता था। शंकरवादियों के अनुसार भी अज्ञान के ज्ञान से विरोध की प्रतीति 'मैं अज्ञ हूँ' अनुभव में की जाती है। यह भी सुविदित है कि सुख अथवा दुःख जो साक्षी द्वारा अपरोक्ष रूप से प्रत्यक्ष किए जाते हैं—के संबंध में कोई अज्ञान नहीं होता। ऐसा निश्चय ही इस तथ्य के कारण

होता है कि शुद्ध चैतन्य अज्ञान का उन्मूलन कर देता है, इसलिए जो कोई वस्तु उसके द्वारा अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त होती है उसमें कोई 'अज्ञान' नहीं होता। यह तर्क किया जाता है कि ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ दो सर्वथा परस्पर विरोधी वस्तुओं में से एक की दूसरी अधिष्ठान होती है। दीप्ति-भीति से पीड़ित व्यक्ति धूप पर अंधकार का आरोपण कर सकते हैं, और उस दशा में अंधकार धूप पर आधारित होता है, उसी प्रकार, यद्यपि ज्ञान एवं अज्ञान इतने विपरीत होते हैं तथापि पश्चादुक्त को पूर्वोक्त पर आधारित माना जाता है। इसका उत्तर यह है कि ऐसे सादृश्य का अनुसरण करते हुए जहाँ एक मिथ्या अंधकार का धूप पर आरोपण किया जाता है, हमारा यह सोचना तर्क-संगत होगा कि विवादगत 'अज्ञान' से भिन्न एक मिथ्या 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य पर आधारित हो सकता है। इसके अतिरिक्त 'मैं अज्ञ हूँ' अनुभव बताता है कि 'अविद्या' का अंधकार के साथ साहचर्य होता है न कि शुद्ध चैतन्य के साथ। यह सुझाव नहीं दिया जा सकता कि अंधकार एवं अज्ञान दोनों एक ही काल में शुद्ध चैतन्य पर मिथ्या रूप से आरोपित होने के कारण परस्पर सम्बन्धित प्रतीत होते हैं, और इस प्रकार 'मैं अज्ञ हूँ' अनुभव की व्याख्या हो जाती है, क्योंकि यह पहले सिद्ध किए बिना कि 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य में अस्तित्व रखता है भ्रामक अनुभव की व्याख्या नहीं की जा सकती तथा पहले भ्रामक अनुभव के हुए बिना शुद्ध चैतन्य के साथ 'अज्ञान' के साहचर्य की स्थापना नहीं की जा सकती, और इस प्रकार एक दुष्ट चक्र का दोप हो जायगा। यह मानना गलत है कि 'मैं अज्ञ हूँ' अनुभव भ्रामक है। इसके अतिरिक्त, स्वयं यह अनुभव कि 'मैं अज्ञ हूँ' इस सिद्धान्त का विरोध करता है कि 'अज्ञान' का शुद्ध चैतन्य से साहचर्य होता है तथा ऐसा कोई साधन नहीं है जिसके द्वारा उक्त व्याघात का आगे व्याघात हो सके और इस सिद्धान्त का समर्थन हो सके कि 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य पर आधारित होता है। कर्ता, ज्ञाता अथवा भोक्ता के प्रत्यय सदा ज्ञानात्मक वृत्तियों से संबंधित होते हैं, अतएव वे शुद्ध चैतन्य में होते हैं। यदि ये प्रत्यय शुद्ध चैतन्य पर आरोपित होते हैं, तो अज्ञान उसमें होगा (जो एक मिथ्या ज्ञाता होने के कारण 'जीव' ही होता है), अतएव 'जीव' में होगा, इस प्रकार उस पुरानी मान्यता का समर्पण करना पड़ेगा कि 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य में होता है। यह कहना भी सही नहीं है कि शुक्ति-रजत का 'अज्ञान' उससे परिच्छिन्न चैतन्य में होता है, सदा यह अनुभव किया जाता है कि ज्ञान एवं अज्ञान दोनों ज्ञाता में होते हैं। यदि यह तर्क दिया जाय कि जो अधिष्ठान में अस्तित्व रखता है वह स्वयं को तब भी अभिव्यक्त कर सकता है जब वह अधिष्ठान किसी विशेष प्रकार से परिच्छिन्न हो, अतएव शुद्ध चैतन्य का 'अज्ञान' स्वयं को 'जीव' में भी अभिव्यक्त कर सकता है, जो शुद्ध चैतन्य ही का एक उपाधि-ग्रस्त आभास होता है, तो उसका उत्तर यह है कि यदि उक्त तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो 'अज्ञान' से अपने साहचर्य के कारण शुद्ध चैतन्य भी दुःख एवं पुनर्जन्म के सृष्टि-चक्र से पीड़ित माना जा सकता है।

के द्वारा उत्पन्न दुष्ट चक्र संबंधी आलोचना असफल रहती है, क्योंकि यदि वे एक दूसरे पर आश्रित नहीं हैं तो वे एक दूसरे को निर्धारित नहीं कर सकते। यदि 'अज्ञान' और 'जीव' अपनी किसी भी प्रक्रिया में एक दूसरे से संबंधित नहीं पाये जाते हैं, तो वे एक दूसरे पर आश्रित भी नहीं हो सकते जो वस्तु अन्य वस्तु से सर्वथा असंबंधित होती है वह उस पर आश्रित भी नहीं मानी जा सकती। यह माना जाता है कि 'जीव' एवं ब्रह्मन् का भेद इस तथ्य में निहित है कि पूर्वोक्त 'अविद्या' की उपज होता है, और यह भी माना जाता है कि 'अविद्या' का आश्रय जीव है, इसलिए 'जीव' के ज्ञान के बिना 'अविद्या' नहीं हो सकती, और 'अविद्या' के ज्ञान के बिना कोई 'जीव' नहीं हो सकता।

इसका मधुसूदन यह उत्तर देते है कि अन्योन्याश्रयत्व का दुष्ट चक्र विवादगत उदाहरण में लागू नहीं होता, क्योंकि ऐसा अन्योन्याश्रयत्व उत्पत्ति को दूषित नहीं करता, चूँकि ऐसी उत्पत्ति एक अनादि क्रम में होती है। एक दूसरे को बुद्धिगम्य बनाने के लिये परस्पर कर्त्ताधिन का भी यहाँ अभाव होता है, क्योंकि यद्यपि 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य द्वारा बुद्धिगम्य बनाया जाता है, तथापि पश्चादुक्त पूर्वोक्त के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जाता है। अस्तित्व का भी यहाँ अन्योन्याश्रयत्व नहीं होता, क्योंकि, यद्यपि अज्ञान अपने अस्तित्व के लिए शुद्ध चैतन्य पर आश्रित रहता है, तथापि पश्चादुक्त पूर्वोक्त पर आश्रित नहीं रहता। मधुसूदन आगे यह निर्देश करते हैं कि वाचस्पति के अनुसार 'जीव' का 'अज्ञान' ही 'ईश्वर' एवं 'जीव' दोनों की सृष्टि करता है।

होता है। 'उपाधेः प्रतिबिम्ब-पक्षपातित्वम्' (उपाधियाँ स्वयं को प्रतिबिम्बों में प्रकट करती हैं) वाक्यांश का यही अर्थ होता है। यही कारण है कि 'अज्ञान' की अशुद्धताएं शुद्ध चैतन्य के स्वरूप को प्रमाणित किये विना स्वयं को परावर्तित 'जीवों' में अभिव्यक्त करती हैं।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'माया' का ब्रह्मन् से साहचर्य होता है, क्योंकि, यदि 'माया' 'अज्ञान' हो तो ब्रह्मन् के साथ उसके साहचर्य की सम्भावना का पहले ही खण्डन हो चुका है। 'माया' 'अज्ञान' होने के नाते एक ऐसी ऐन्द्रजालिक शक्ति भी नहीं मानी जा सकती जिसके कारण अविद्यमान वस्तुओं का प्रदर्शन सम्भव हो सके (ऐन्द्रजालिकस्येवाविद्यमान प्रदर्शन-शक्तिः), क्योंकि 'अज्ञान' का सामान्य रूप में खण्डन किया जा चुका है, अतः इन्द्रजाल के रूप में उसकी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति स्वीकार नहीं की जा सकती, यह भी कभी देखा नहीं गया है कि एक मायावी अपने ऐन्द्रजालिक कौशल को 'अज्ञान' के माध्यम से प्रदर्शित करता है। यदि 'माया' ब्रह्मन् की एक ऐसी विशेष शक्ति मानी जाय जिसके द्वारा वह जगत के विविध यथार्थ विषयों की सृष्टि करता है, तो ऐसे मत के प्रति हमें कोई आपत्ति नहीं है और हम उसे स्वीकार करने को विल्कुल तत्पर हैं। यदि यह माना जाय कि 'माया' अन्य प्राणियों को भ्रान्त करने की शक्ति है तो चूँकि उसके अस्तित्व से पूर्व कोई प्राणी नहीं होते हैं इसलिए 'माया' का अस्तित्व न्याय-संगत नहीं है। पुनः, यदि ऐसी शक्ति एक यथार्थ अस्तित्व से युक्त मानी जाय, तो वह अद्वैतवाद को खण्डित कर देगी। यदि वह 'जीवों' की मिथ्या कल्पना के कारण उत्पन्न मानी जाय तो यह नहीं माना जा सकता कि वह उनको भ्रान्त कर सकती है। यदि वह ब्रह्मन् की मिथ्या कल्पना के कारण उत्पन्न मानी जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्रह्मन् में 'अज्ञान' होता है, क्योंकि 'अज्ञान' के विना कोई मिथ्या कल्पना नहीं हो सकती।

वाचस्पति का यह मत भी गलत है कि अविद्या 'जीव' में स्थित रहती है—क्योंकि यदि 'जीव' का अर्थ शुद्ध चैतन्य है तो पूर्व आपत्तियाँ लागू होती हैं, यदि 'जीव' का अर्थ 'अज्ञान' अथवा 'अज्ञान जन्य बुद्धि' के परावर्तन से परिच्छिन्न शुद्ध चैतन्य होता है तो इसमें दुष्ट चक्र का समावेश हो जाता है, क्योंकि 'अविद्या' की व्याख्या करने से पूर्व उसकी परिच्छिन्नता के संवंध में चर्चा करना सम्भव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि 'अविद्या' स्वयं पर अवलम्बित रह कर किसी आधार के बिना शुद्ध चैतन्य के प्रति अपने उल्लेख के द्वारा 'जीवों' को उत्पन्न करती है और 'जीव' के उत्पन्न होने के पश्चात् उसमें निवास करती है, तो यह मानना गलत होगा कि 'अविद्या' 'जीव' में निवास करती है, 'जीव' की उत्पत्ति भी अव्याख्येय हो जाएगी तथा दुष्ट चक्र की पहले वाली आपत्ति वैसी ही बनी रहेगी। न यह माना जा सकता है कि, 'जीव' और 'अविद्या' परस्पर एक अनादि सम्बन्ध द्वारा संवंधित होने के कारण अन्योन्याश्रयत्व

के द्वारा उत्पन्न दुष्ट चक्र संबंधी आलोचना असफल रहती है, क्योंकि यदि वे एक दूसरे पर आश्रित नहीं हैं तो वे एक दूसरे को निर्धारित नहीं कर सकते। यदि 'अज्ञान' और 'जीव' अपनी किसी भी प्रक्रिया में एक दूसरे से संबंधित नहीं पाये जाते हैं, तो वे एक दूसरे पर आश्रित भी नहीं हो सकते जो वस्तु अन्य वस्तु से सर्वथा असंबंधित होती है वह उस पर आश्रित भी नहीं मानी जा सकती। यह माना जाता है कि 'जीव' एवं ब्रह्मन् का भेद इस तथ्य में निहित है कि पूर्वोक्त 'अविद्या' की उपज होता है, और यह भी माना जाता है कि 'अविद्या' का आश्रय जीव है, इसलिए 'जीव' के ज्ञान के बिना 'अविद्या' नहीं हो सकती, और 'अविद्या' के ज्ञान के बिना कोई 'जीव' नहीं हो सकता।

इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि अन्योन्याश्रयत्व का दुष्ट चक्र विवादगत उदाहरण में लागू नहीं होता, क्योंकि ऐसा अन्योन्याश्रयत्व उत्पत्ति को दूषित नहीं करता, चूँकि ऐसी उत्पत्ति एक अनादि क्रम में होती है। एक दूसरे को बुद्धिगम्य बनाने के लिये परस्पर कर्त्तापन का भी यहाँ अभाव होता है, क्योंकि यद्यपि 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य द्वारा बुद्धिगम्य बनाया जाता है, तथापि पश्चादुक्त पूर्वोक्त के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जाता है। अस्तित्व का भी यहाँ अन्योन्याश्रयत्व नहीं होता, क्योंकि, यद्यपि अज्ञान अपने अस्तित्व के लिए शुद्ध चैतन्य पर आश्रित रहता है, तथापि पश्चादुक्त पूर्वोक्त पर आश्रित नहीं रहता। मधुसूदन आगे यह निर्देश करते हैं कि वाचस्पति के अनुसार 'जीव' का 'अज्ञान' हा 'ईश्वर' एवं 'जीव' दोनों की सृष्टि करता है।

यह माना जाता है कि 'अज्ञान' शुद्ध चैतन्य को आवृत्त करता है, किन्तु पुनः शुद्ध चैतन्य सदा स्वयं-प्रकाशक माना गया है, और यदि ऐसा है तो वह आवृत्त कैसे हो सकता है? आवरण 'जीव' का नहीं हो सकता, क्योंकि 'जीव' 'अज्ञान' की उपज होता है, वह जड़ विषयों का नहीं हो सकता, क्योंकि वे स्वयं अ-प्रकाशक होते हैं, इसलिए उनको आवृत्त करने के लिए किसी आवरण की आवश्यकता नहीं है। शुद्ध चैतन्य का आवरण स्वयं-प्रकाशक के प्रकाशत्व का लोप नहीं माना जा सकता (सिद्ध-प्रकाशलोपः), न वह उस वस्तु की उत्पत्ति में बाधक माना जा सकता है जो उत्पन्न होने के पश्चात् स्वयं को स्व-प्रकाशक सिद्ध करती, क्योंकि जिस वस्तु का स्वरूप स्व-प्रकाशक होता है वह किसी भी काल में अपना स्वरूप नहीं छोड़ती। इसके अतिरिक्त चूंकि स्व-प्रकाशत्व नित्य होता है, इसलिए उसकी उत्पत्ति के संबंध में ऐसा कोई प्रश्न नहीं हो सकता कि 'अज्ञान' उसको आवृत्त कर सके। पुनः, चूंकि ज्ञान का यह स्वरूप होता है कि वह स्वयं को विषयों के संबंध में अभिव्यक्त करे, इसलिए विषयों के साथ उसके संबंधीकरण की स्थापना के लिए उसे किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती तथा ऐसा कोई काल नहीं हो सकता जब ज्ञान स्वयं को विषयों से संबंधित किये बिना

अस्तित्व रख सकेगा। इसके अतिरिक्त शंकरवादी मत के अनुसार शुद्ध चैतन्य अपने स्व-प्रकाशत्व में एक रस होने के कारण, किन्हीं ऐसे विषयों से जो आवरण के द्वारा अवरुद्ध हो सकें, न यह कहा जा सकता है कि आवरण विषयों के 'प्राकट्य' के प्रतिबंध के रूप में कार्य करता है (प्राकट्य-प्रतिवन्ध), अपितु स्वयं शंकरवादियों के अनुसार विषयों का 'प्राकट्य' शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। यह नहीं कहा जा सकता कि 'यह अस्तित्व रखता है' 'यह चमकता नहीं है' नामक चेतना शुद्ध चैतन्य के अन्तर्गत है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चैतन्य के अस्तित्व के निषेध में भी चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। उपर्युक्त प्रकार के त्रुटिपूर्ण प्रत्यय भी 'अज्ञान' के आवरण नहीं कहे जा सकते, क्योंकि त्रुटि केवल अधिष्ठान के आवरण के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती है (यथा, शुक्ति के स्वरूप के आवृत्त होने पर ही रजत का एक मिथ्या प्रत्यय उत्पन्न हो सकता है) अतएव उसका स्वयं आवरण के साथ तादात्म्यीकरण नहीं किया जा सकता। चित्सुख स्व-प्रकाशत्व की इस रूप में परिभाषा देते हैं कि वह चेतना का विषय न होने के कारण अपरोक्ष कहलाने की योग्यता रखता है (अवेद्यते सति अप-रोक्ष–व्यावहार–योग्यत्वम्)। यह मत गलत है कि स्वप्रकाशत्व स्वयं में स्थित 'अज्ञान' के आवरण की व्याख्या-हेतु अपरोक्ष अथवा स्वयं-ज्योति न होने की योग्यता को कहा जाता है, क्योंकि वह आत्म-विरोधी है, चूंकि परिभाषा के अनुसार उसमें अप-रोक्ष कहलाने की योग्यता होती है।

पुनः, एक आवरण उसे कहते हैं जो उसके द्वारा आवृत्त वस्तु की अभिव्यक्ति का अवरोध करता है, किन्तु, यदि एक स्व-प्रकाशक सत्ता 'अज्ञान' के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति कर सकती है तो उसे एक आवरण कहना अनुचित है।

पुनः, यदि एक आवरण किसी प्रकार को आवृत्त करता है तो वह आवरण स्वयं प्रकाश को अवरुद्ध नहीं करता, किन्तु प्रकाश को आवरण से परे स्थित विषयों तक जाने से रोकता है। इस प्रकार घट में स्थित एक ज्योति घट के अन्तर को प्रकाशित करती है तथा घट का आवरण केवल ज्योति को घट से बाहर स्थित विषयों को प्रकाशित करने से रोकता है। शुद्ध चैतन्य के प्रकाश के कल्पित अवरोध के उदाहरण से ऐसा ही प्रश्न खड़ा हो सकता है; तथा पूछा जा सकता है कि 'आवरण शुद्ध चैतन्य के प्रकाश को किसके लिये अवरुद्ध करता है? उक्त अवरोध विविध 'जीवों' के सम्बन्ध में नहीं हो सकता, क्योंकि 'जीवों' की विविधता आवरण की क्रिया की उपज मानी जाती है, तथा वे पहले ही से अस्तित्व में नहीं होते, जिससे यह कहा जा सके कि शुद्ध चैतन्य आवरण की क्रिया से जीवों से अवरुद्ध हो जाता है। यह भी मानना गलत है कि ब्रह्मन् का प्रकाश साधारण प्रकाश से यहाँ तक भिन्न होता है कि वह स्वयं को स्वयं के प्रति अभिव्यक्त नहीं करता, क्योंकि, यदि ऐसा होता तो वह समान रूप से मोक्ष की अवस्था में भी अभिव्यक्त रह सकता था तथा आवरण के तथ्य के रूप में

किया जा सकता। पुनः, यदि यह माना जाय कि 'वृत्ति' 'अज्ञान' के विरुद्ध है तो चूंकि 'जीव' को निर्मित करने वाली 'अह्-वृत्ति' और जड़ विषयों का प्रतिनिधित्व करने वाली विषयाकार 'वृत्ति' का अस्तित्व होता है, इसलिए यह आशा की जा सकती है कि ये 'वृत्तियां' 'अज्ञान' के अस्तित्व का विरोध करेंगी तथा तत्काल मोक्ष हो जायगा।

इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि 'अज्ञान' एक आवरण इस अर्थ में कहा जाता है कि उसमें एक 'योग्यता' होती है जिसके कारण वह वस्तुओं को असत् अथवा अनभिव्यक्त के रूप में भासित करवाने के योग्य होता है, यद्यपि वह सदा उक्त योग्यता का प्रयोग नही करता, जिसके फलस्वरूप सुपुप्ति में आवरण की प्रक्रिया का अस्तित्व होता है, परन्तु मोक्ष में वह स्थगित रहती है। साधारणतया, ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति न होने तक आवरण बना रहता है। यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि एक आवरण का प्रत्यय शुद्ध चैतन्य के प्रत्यय से भिन्न होने के कारण स्वयं मिथ्या कल्पना की उपज होता है (कल्पित) अतएव उसमें एक दुष्ट चक्र का समावेश हो जाता है, इसका उत्तर यह होगा कि 'अविद्या' अनादि है, और इसलिए यदि मिथ्या कल्पना किसी विशेष अवस्था में एवं पूर्व अवस्था का फल हो तथा वह अवस्था पुनः किसी अन्य पूर्व अवस्था का फल हो, तो भी कोई कठिनाई नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, 'आवरण' की अभिव्यक्ति अनन्त श्रेणी के पूर्ण होने पर निर्भर नहीं करती वरन् शुद्ध चैतन्य द्वारा अपरोक्ष रूप से उत्पन्न की जाती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि शुद्ध चैतन्य अपनी पूर्णता में आवरण से रहित होता है (यथा मोक्ष की अवस्था में) तथापि अन्य अवसरों पर वह आवरण की प्रक्रिया के कारण एक परिच्छिन्न रूप में अभिव्यक्त हो सकता है। व्यासतीर्थ की इस आपत्ति के विरुद्ध कि शुद्ध चैतन्य एक रस होने के कारण एक आवरण से कोई साहचर्य रखने के अयोग्य होता है, मधुसूदन इस कथन की पुनरावृत्ति करते हैं कि आवरण सम्भव है—किन्तु इसके लिए कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया जाता है। इस आपत्ति के प्रति कि आवरण, एक घट की भाँति, उसके भीतर स्थित दीपक के प्रकाश को नहीं रोक सकता तथा केवल घट के बाहर स्थित वस्तुओं के संबंध में ही अवरोध कर सकता है, किन्तु शुद्ध चैतन्य के अवरोध की अवस्था में ऐसी कोई बाह्य सत्ता का प्रत्यक्ष नहीं होता है, मधुसूदन का उत्तर यह है कि शुद्ध चैतन्य का अवरोध 'जीव' के संबंध में होता है। आवरण एवं 'जीव' दोनों एक अनादि श्रेणी में एक दूसरे से संबंधित होने के कारण, उनकी प्राथमिकता के संबंध में प्रश्न उठाना अवैध है। मधुसूदन संकेत करते हैं कि जैसे 'तुम, जो कहते हो, वह मैं नहीं जानता' अनुभव में अज्ञान का ज्ञान से साहचर्य होता है, उसी प्रकार सुख की अभिव्यक्ति में सुख एक विशेष विषय के प्रसंग में एक सीमित पक्ष में अभिव्यक्त होता है और ऐसी परिसीमा 'अज्ञान' के साहचर्य के कारण उत्पन्न मानी

जा सकती है, जो अपनी अभिव्यक्ति में प्रतिबन्धित होता है। मधुसूदन तर्क करते हैं कि 'तुम, जो कहते हो, वह मैं नहीं जानता' जैसे अनुभवों में यह व्याख्या गलत है कि वक्ता के अभिप्राय का सामान्य ज्ञान होता है, किन्तु ब्यौरे का विशिष्ट ज्ञान अभी विकसित नहीं हुई है, क्योंकि एक दृष्टिकोण से यहाँ 'अज्ञान' का अनुभव विशेष ब्यौरे से संबंधित माना जा सकता है। यदि विशिष्ट ब्यौरा ज्ञात नहीं हो तो उनके संबंध में कोई अज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु, जैसे एक वस्तु का एक सामान्य ढंग से ज्ञान होने पर भी, उसके विशिष्ट स्वरूप के प्रति संशय हो सकता है, वैसे एक सामान्य ढंग से ज्ञान हो सकता है और विशिष्ट ब्यौरे के प्रति अज्ञान हो सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि अज्ञान अपने विशिष्ट ब्यौरे के बिना एक सामान्य ढंग से अपरोक्ष रूप में ज्ञात किया जाता है। व्यासतीर्थ ने तर्क दिया था कि अज्ञान का ज्ञान केवल तब भी हो सकता है जब विशेषों का ज्ञान नहीं हो, इस प्रकार, ईश्वर में कोई भ्रम नहीं होता, किन्तु उसे भ्रम का सामान्य ज्ञान होता है। इसके विरोध में मधुसूदन यह तर्क देते हैं कि प्रतिपक्षियों द्वारा जो उदाहरण दिये जा सकते हैं उन सब में एक सामान्य अज्ञान संघटक विशेषों के ज्ञान के साथ-साथ स्थित रह सकता है। पुनः, यह तर्क दिया जाता है कि, चूंकि 'अज्ञान' एक ज्ञान का विषय होता है, इसलिए यह आवश्यक होगा कि 'अज्ञान' का आवरण दूर किया जाय, यह आत्म-विरोधी है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि जिस प्रकार विशिष्ट दिक्-सम्बन्धों के ज्ञान के उदाहरण में एक विषय की उपस्थिति अनिवार्य होती है, किन्तु फिर भी उसके अभाव के ज्ञान के बिना विषय की उपस्थिति असम्भव होगी, ठीक उसी प्रकार 'अज्ञान' से संबोधित ज्ञान के उदाहरण में एक अन्य आवरण का निवारण अनावश्यक होता है, क्योंकि ऐसा मानना आत्म-विरोधी होगा।

यह आग्रह किया जा सकता है कि 'अज्ञान' तभी ज्ञात हो सकता है जब वह विषय ज्ञात नहीं होता जिसके सम्बन्ध में उक्त 'अज्ञान' अस्तित्व रखता है, बाद में, जब एक विषय ज्ञात हो जाता है, तब ज्ञाता को स्मरण होता है कि उसमें उक्त विषय के प्रति अज्ञान था तथा ऐसे अज्ञान एवं अज्ञानाभाव में अन्तर इस तथ्य में निहित होता है कि अभाव अपने परिलक्षित प्रतियोगी से सम्बन्धीकरण को समाविष्ट किये बिना ज्ञात नहीं किया जा सकता, जबकि 'अज्ञान' ऐसे किसी भी परिलक्षित प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं रखता। व्यासतीर्थ द्वारा दी गई 'अज्ञान' की इस कल्पित व्याख्या के प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि शंकरवादी 'अज्ञान' एवं 'अभाव' के भेद को लगभग स्वीकार करते हैं, जिसके विरोध में वे अबतक तर्क देते आये हैं। इसके अतिरिक्त, जब कोई कहता है 'तुम, जो कहते हो, वह मैं नहीं जानता,' तब वक्ता के वक्तव्य के सम्बन्ध में 'अज्ञान' वर्तमान काल में प्रत्यक्ष ज्ञात किया जाता है तथा यह अव्याख्येय हो जायगा यदि 'अज्ञान' के ज्ञान में परिलक्षित प्रतियोगी का ज्ञान समाविष्ट नहीं

होता। अतः, चूंकि 'अज्ञान' का उसके विषय के साथ-साथ ज्ञान होता है, इसलिए विषय के उस पक्ष में अभिव्यक्त होने में कोई असंगति नहीं है जो 'साक्षि-चैतन्य' द्वारा ज्ञात 'अज्ञान' के प्रभाव में होता है। मधुसूदन आग्रह करते हैं कि शुद्ध चैतन्य 'प्रमाण-वृत्ति' में से प्रतिबिम्बित होकर ही 'अज्ञान' का निवारण कर सकता है न कि अपने स्व-प्रकाशक स्वरूप के द्वारा अथवा स्वयं एक नैसर्गिक 'अज्ञान' विरोधी जाति-विशेषण होने के कारण।[1] 'अज्ञान' के सम्बन्ध में वृत्ति एवं 'साक्षि-चैतन्य' का भेद इस तथ्य में निहित है कि पूर्वोक्त तो 'अज्ञान' के विरुद्ध होता है, जबकि पश्चादुक्त का 'अज्ञान' से कोई सम्पर्क नहीं होता। पश्चादुक्त अर्थात् 'साक्षि-चैतन्य' सुख-दुख आदि की अभिव्यक्ति उनको आवृत्त 'करने वाले' 'अज्ञान' के निवारण के द्वारा नही करता बल्कि स्वतः-स्फूर्ति से करता है, क्योंकि 'अज्ञान' का आवरण 'साक्षि' द्वारा अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्ति किये जाने वाले विषयों पर क्रियाशील नही था।[2]

अज्ञान और अहंकार

शंकरवादी यह मानते हैं कि यद्यपि सुषुप्ति में स्वप्रकाशक आत्मन् उपस्थित होता है, तथापि उस काल में कोई अ-प्रकाशक अहम् न होने के कारण, जाग्रतावस्था में स्मृति सुषुप्ति-अवस्था के अनुभव को आत्मन् के रूप में अहम् से सम्बन्धित नहीं करती, तथा श्रुति-पाठ भी प्रायः अहम् के साथ आत्मन् के तादात्म्यीकरण के विरुद्ध कथन करते हैं, सुषुप्ति-अवस्था में अहम् की अभिव्यक्ति नहीं होती है, क्योंकि यदि वह अभिव्यक्ति होता तो उसका उस रूप में स्मरण होता।

इसके प्रति व्यासतीर्थ का उत्तर है कि यह नहीं कहा जा सकता कि सुषुप्ति-अवस्था में आत्मन् की अभिव्यक्ति होती है तथा अहम् की अभिव्यक्ति नहीं होती, क्योंकि प्रतिपक्षी यह सिद्ध नहीं कर पाये हैं कि अहम् स्व-प्रकाशक आत्मन् से भिन्न होता है। यह कहना भी गलत है कि सुषुप्ति की आगामी स्मृति अहम् का निर्देश नहीं करती, क्योंकि स्मृति आत्मन् का अहम् के रूप में निर्देश करती है, अन्य किसी का नहीं। जब कोई कहता है 'मैं सोया,' तब भी वह 'मैं,' अहम् का प्रयोग करता है जिसके साथ उसका आत्मन् सम्बन्धित होता है। 'विवरण' भी यह कहता है कि

---

[1] प्रमाण-वृायुपारूढ़-प्राकशत्वेन निवर्तकत्वं ब्रूमः, न तु जाति-विशेषेण, प्रकाशत्व-मात्रेण वा।
—'अद्वैत-सिद्धि' पृ० ५६०।

[2] साक्षिणि यदज्ञान विरोधित्वमनुभूयते तन्नाज्ञान—निवर्तकत्व—निबंधनं, किन्तु स्व-विषयेच्छादौ यावत्सावम् प्रकाशादज्ञानाप्रसक्ति निबंधनम्।
—वही, पृ० ५६०।

प्रत्यभिज्ञा का आरोपण भी 'अन्तःकरण' के साथ सम्बन्धित आत्मन् पर किया जाता है। यदि अहम् की सुषुप्ति-अवस्था के अनुभवकर्ता के रूप में अनुभूति नहीं की जाती, तो कोई भी समान औचित्य से उसके सम्बन्ध में संशय भी रख सकता था। यह मानना भी ग़लत है कि सकल प्रत्यक्षकर्ताओं में पाई जाने वाली अहम् सत्ता नहीं है, आत्मन् है, क्योंकि, चाहे उसकी किसी भी रूप में संकल्पना की जाय, अहम् ही ऐसे सर्व निर्देश का विषय होता है, और 'विवरण' भी यह कहता है कि आत्मन् पृथक् जीवों के सकल अनुभवों में एक ही होने के कारण अहम् के साथ अपने साहचर्य के द्वारा ही भिन्न होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि अहम् के प्रति निर्देश अहमांश के प्रति नहीं होता बल्कि उसमें अधिष्ठित स्व-प्रकाशक सत्ता के प्रति होता है, क्योंकि यदि यह स्वीकार किया जाय तो उस सत्ता के साथ अज्ञान का भी साहचर्य स्थापित करना पड़ेगा। अनुभवों में 'अज्ञान' भी अहम् के साथ सम्बन्धित प्रतीत होता है, और अहम् सोने वाले के रूप में प्रतीत नहीं होता, बल्कि जाग्रतावस्था के अनुभवकर्ता के रूप में प्रतीत होता है तथा वह सोने वाले के रूप में स्वयं को पहिचानता है। न यह अस्वीकृत किया जा सकता है कि जाग्रतावस्था में एक व्यक्ति यह स्मरण करता है कि नींद में अहम् ने सुख का अनुभव किया है, अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सुषुप्ति में अहम् ही निद्रा का अनुभव करता है। यह तथ्य कि, एक व्यक्ति अपने स्वप्न-अनुभव को उसी व्यक्ति के अनुभव के रूप में स्मरण करता है जिसने पहले कोई क्रिया की थी और जो अब स्मरण करता है, यह प्रदर्शित करता है कि स्वप्न-अनुभव के पूर्व की क्रिया तथा स्मरण की वर्तमान क्रिया एक ही अहम्, अनुभवकर्ता की क्रियाएं हैं, यदि अधः स्थित अनुभवकर्ता को शुद्ध चैतन्य भी मानें तो भी जहाँ तक दृश्य अनुभवकर्ता एवं स्मरण करने वाले व्यक्ति का सम्बन्ध है, सकल अनुभव अहम् ही के अनुभव कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि अहम् का सुषुप्ति में विलय मान लिया जाय, तो शरीर के जीव-प्रेरक व्यापार, जो अहम् के व्यापार माने गये हैं, असम्भव हो जाएगे। इसके अतिरिक्त, चूंकि हमारा आत्म-प्रेम एवं आत्म-रक्षा के लिए हमारे संवेग सदा अहम् के रूप में आत्मन् के प्रति निर्दिष्ट किये जाते हैं, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि स्थायी आत्मन् के अनुभव अहम् अर्थ का निर्देश करते हैं। यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि विशुद्ध आत्मन् पर अहम् के मिथ्या आरोपण के द्वारा ऐसा सम्भव होता है, क्योंकि इसमें दुष्ट चक्र का समावेश हो जायगा। चूंकि, जबतक प्रेम के उच्चतम विषय के रूप में आत्मन् को ज्ञात नहीं कर लिया जाता तबतक उस पर कोई आरोपण नहीं किया जा सकता, और जबतक उस पर अहम् का आरोपण नहीं होता तबतक प्रेम के उच्चतम विषय के रूप में आत्मन् को ज्ञात नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, ऐसा कोई आत्म-प्रेम का अनुभव नहीं होता जो दृश्य आत्मन् के प्रति नहीं बल्कि शुद्ध चैतन्य के प्रति निर्दिष्ट किया जा सके। 'मैं चरम आनन्द को प्राप्त करूंगा' जैसे अनुभव की विशुद्ध आत्मन् पर अहम् के आरोपण के

आधार से की गई व्याख्या के उदाहरण में भी इसी प्रकार की आलोचना की जा सकती है।[1] इसके अतिरिक्त, यदि मनस् अहम् के प्रत्यय का संघटक होता है, तो 'मेरा मनस्' जैसा अनुभव, जिसमें मनस् और अहम् भिन्न प्रतीत होते हैं, असम्भव होगा तथा मनस् एवं अहम् का अनुभव एक ही होगा। इसके अतिरिक्त सभी भ्रमों में दो संघटक होते हैं—अधिष्ठान एवं आभास, किन्तु अहम् में ऐसे किन्हीं दो अंशों की अनुभूति नहीं होती। यह मानना भी गलत है कि 'मैं स्वयं को भासित होता हूँ' (अहं स्फुरामि) जैसे अनुभवों में चेतना में 'स्फुरण' होना अधिष्ठान है, और 'स्वयं को भासित होना' मिथ्या आभास है।[2] क्योंकि, अहम् का 'स्फुरण' 'अहम्-अर्थ' से भिन्न होने के कारण उनमें तादात्म्यीकरण का कोई ऐसा आभास नहीं होता कि पूर्वोक्त को पश्चादुक्त का अधिष्ठान माना जा सके। इस प्रकार अहम् का अन्तः-प्रज्ञात्मक अनुभव के द्वारा आत्मन् के रूप में अपरोक्ष प्रत्यक्ष किया जाता है, तथा अनुमान भी इसी सत्य की ओर संकेत करता है, क्योंकि, यदि अहम् को नैतिक एवं अन्य शुद्धिकरण सम्बन्धी कर्त्तव्यों को करने का व्यादेश दिया जाता है, और यदि उसी के मुक्त होने का कथन किया जाता है, तो यह तर्क-सम्मत है कि अहमर्थ ही आत्मन् है। इस मत की पुष्टि में व्यासतीर्थ अनेक श्रुति-पाठों को प्रस्तुत करते हैं।

इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि, यदि 'अहमर्थ' निद्रा में उपस्थित होता, तो उसके गुण, यथा-इच्छा, आकांक्षा आदि का प्रत्यक्षीकरण होता। जिस द्रव्य में गुण होते हैं वह उन गुणों के द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है : अन्यथा गुणों सहित एक घट को उक्त गुणों के द्वारा जानने की आवश्यकता नहीं होती। निःसंदेह यह सत्य है कि हम एक स्तर के गुणों के विनाश और अन्य स्तर के गुणों की सृष्टि के मध्यान्तर में घट के अस्तित्व का कथन करते हैं। किन्तु यह हमारी प्रमुख मान्यता के विरुद्ध नहीं जाता, क्योंकि यद्यपि एक गुण-विशिष्ट वस्तु को उसके गुणों के द्वारा जानना आवश्यक होता है, तथापि इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि एक गुण-रहित वस्तु ज्ञेय नहीं होनी चाहिए। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, चूंकि सुषुप्ति में किन्हीं भी गुणों का प्रत्यक्षीकरण नहीं किया जाता है, इसलिए गुण-रहित आत्मन् ही सुषुप्ति में ज्ञात किया जाता है, यदि उसका प्रत्यक्षीकरण नहीं होता तो जाग्रतावस्था में उसकी कोई स्मृति नहीं होती। इसके अतिरिक्त, सुषुप्ति में आत्मन् 'अज्ञान' के आश्रय के रूप में प्रत्यक्ष किया जाता है (जैसाकि 'मुझे सुषुप्ति में कुछ भी ज्ञात नहीं था 'अनुभव से प्रमाणित होता है) और इसलिए वह अहम् से भिन्न

---

[1] 'न्यायामृत' पृ० २८३ (अ)।

[2] इह तु स्फुरणमात्रमधिष्ठानमिति स्फुरामीत्येव धीरिति चेन्न।

—वही, पृ० ३८ (अ)।

होता है। स्मृति 'अज्ञान' के आश्रय के रूप में शुद्ध चैतन्य का निर्देश करती हैं, अहम् का नहीं। यह सत्य है कि 'विवरण' यह मानता है कि 'प्रत्यभिज्ञा' 'अन्तःकरण' से सम्बन्धित शुद्ध चैतन्य ही की सम्भव होती है, किन्तु, यद्यपि ऐसा है, तथापि इससे यह फलित नहीं होता कि शुद्ध चैतन्य की 'अभिज्ञा' भी 'अन्तःकरण' से संबंधित होनी चाहिए। इसलिए सुषुप्ति अवस्था में हमें शुद्ध चैतन्य की कोई 'प्रत्यभिज्ञा' नहीं होती, वरन् उसकी 'अन्तःप्रज्ञा' होती है। जाग्रतावस्था में हमें शुद्ध चैतन्य की नहीं बल्कि 'अज्ञान' से संबंधित चैतन्य की प्रत्यभिज्ञा होती है। 'विवरण' के कथन का बल इस तथ्य पर नहीं है कि 'प्रत्यभिज्ञा' के लिए यह अपरिहार्य है कि शुद्ध चैतन्य का 'अन्तःकरण' से साहचर्य होना चाहिए, किन्तु इस तथ्य पर है कि वह किसी भी उपाधि तत्व के साहचर्य से पूर्णतः रहित नहीं होना चाहिए तथा ऐसा तत्व 'अज्ञान' के साथ उसके साहचर्य में पाया जाता है, जिसके फलस्वरूप प्रत्यभिज्ञा सम्भव होती है। स्वप्नों में अनुभवकर्ता के रूप में अहम् की स्मृति सुषुप्ति में आत्मन् की अन्तः-प्रज्ञा तथा उसके साथ अहम् के तादात्म्य के आरोपण के द्वारा घटित होती है। ऐसे मिथ्या आरोपण की स्मृति ही सुषुप्ति में अहम् के आभासी अनुभव के लिए उत्तरदायी होती है। यह सुझाव देना गलत है कि यहाँ एक दुष्ट चक्र का दोष हो जाता है, क्योंकि जब अहमर्थ आत्मन् से भिन्न ज्ञात किया जाता है [तभी एक मिथ्या तादात्म्यीकरण हो सकता है, तथा जब एक मिथ्या तादात्म्यीकरण होता है तभी, चूँकि अहम् सुषुप्ति अवस्था में अभिव्यक्त नहीं होता, इस धारणा का प्रवर्तन होता है कि वह भिन्न है। क्योंकि जब आत्मन् अहम् से भिन्न ज्ञात किया जाता है तभी अहम् के रूप में आत्मन् की स्मृति की सम्भावना का निषेध हो सकता है। व्यासतीर्थ कहते हैं कि 'अहमर्थ' तथा 'अहंकार' दो भिन्न सत्ताएं होने के कारण, पूर्वोक्त की अभिव्यक्ति में अनिवार्य फल के रूप में पश्चादुक्त की अभिव्यक्ति का समावेश नहीं होता, तथा इससे यह व्याख्या हो जाती है कि कैसे सुषुप्ति में यद्यपि 'अहमर्थ' अभिव्यक्त होता है तथापि 'अहंकार' का लोप होता है। इसके उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि अहं अर्थ और अहंकार का सह-अस्तित्व होता है और इस प्रकार जहाँ-जहाँ अहमर्थ विद्यमान होता है वहाँ अहंकार भी होना चाहिए, और, यदि सुषुप्ति-अवस्था में अहमर्थ की अभिव्यक्ति होती तो उसके साथ ही अहंकार की भी अभिव्यक्ति होनी चाहिए थी। वे आगे कहते हैं कि यही आपत्ति सुषुप्ति-अवस्था में आत्मन् की अभिव्यक्ति के संबंध में नहीं उठाई जा सकती, क्योंकि आत्मन् का अहंकार से साहचर्य नहीं होता। व्यासतीर्थ ने कहा है कि जैसे शंकरवादी सुषुप्ति-अवस्था में 'अज्ञान' की अभिव्यक्ति की यह व्याख्या करते हैं कि उसका निर्देश केवल वस्तुगत सत्ताओं के प्रति ही होता है, न कि विशुद्ध 'साक्षि-चैतन्य' के प्रति (क्योंकि यह सम्भव नहीं हो सकता कि वह विरोधग्रस्तता के बिना अभिव्यक्त भी होता एवं साथ ही 'अज्ञान' का विषय भी होता), ठीक वैसे ही अहमर्थ की अभिव्यक्ति का 'अज्ञान' के साहचर्य से व्याघात नहीं होता, बल्कि

यह माना जा सकता है कि उसका निर्देश बाह्य वस्तुगत सत्ताओं के प्रति होता है। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि 'साक्षि-चैतन्य' में 'अज्ञान' की अभिव्यक्ति में कोई व्याघात नहीं है, जैसाकि अहमर्थ के साथ उसके साहचर्य के उदाहरण में हो सकता है, अतएव व्यासतीर्थ की व्याख्या सर्वथा अनावश्यक है।

मधुसूदन कहते है कि अहमर्थ को आत्मन् से भिन्न सत्ता के रूप में अनुमित किया जा सकता है, क्योंकि, शरीर की भाँति उसकी हमारे अहं-प्रत्यक्ष अथवा 'मैं' के रूप में हमारे प्रत्यक्षीकरण के द्वारा संकल्पना की जाती है। यदि यह माना जाय कि आत्मन् भी अहं-प्रत्यक्ष के द्वारा संकल्पित किया जाता है, तो उत्तर यह है कि आत्मन्, जिस अर्थ में अहं-प्रत्यक्ष के द्वारा संकल्पित किया जाता है, उस अर्थ में वह वस्नुतः एक अनात्मन् होता है। अपने अनिवार्य स्वरूप में अहं-प्रत्यक्ष में अधिष्ठित आत्मन् को अह-प्रत्यक्ष के द्वारा संकल्पित नहीं किया जा सकता। पुनः व्यासतीर्थ के इस मत की कि, हमारे द्वारा स्वयं अपने आनन्द के चरम लक्ष्य के रूप में अनुभूत करना यह प्रदर्शित करता है कि चरम आनन्द अहमर्थ में होता है, शंकरवादियों द्वारा यह आलोचना की जाती है कि चरम आनन्द जो वस्तुतः आत्मन् में होता है एक त्रुटि-पूर्ण तादात्म्य के द्वारा मिथ्या ढंग से अहमर्थ पर आरोपित कर दिया जाता है। इस आलोचना की पुनः मध्वो द्वारा इस आधार पर आलोचना की जाती है कि उक्त व्याख्या में दुष्ट चक्र का समावेश हो जाता है, क्योंकि जब अहमर्थ के चरम आनन्दमय स्वरूप को ज्ञान कर लिया जाना है तभी तादात्म्य का मिथ्या प्रत्यय स्वयं को प्रस्तुत करता है, तथा जब तादात्म्य का मिथ्या प्रत्यय उपस्थित होता है तभी उस चरम आनन्दमय स्वरूप का भान होता है। इसके प्रति, पुनः, मधुसूदन का उत्तर यह कि सुपुप्ति अवस्था का अनुभव आत्मन् को शुद्ध चैतन्य के रूप में अभिव्यक्त करता है, जबकि अहमर्थ अनभिव्यक्त रहता है, इस प्रकार सुपुप्ति की साक्षि द्वारा अहमर्थ आत्मन् से भिन्न ज्ञाता होता है। अहमर्थ स्वयं अनभिव्यक्त होता है, और उसकी अभिव्यक्ति सदा विशुद्ध आत्मन् के साथ उसके तादात्म्य के मिथ्या आरोपण के द्वारा होती है। मधुसूदन यह अभिवचन देना चाहते हैं कि सुपुप्ति में चरम आनन्द का अनुभव विशुद्ध आत्मन् की अभिव्यक्ति होता है, अहमर्थ की अभिव्यक्ति नहीं, अहम् केवल उस विशुद्ध आत्मन् के साथ तादात्म्य के द्वारा आनन्दमय भासित होता है जिसमें सुपुप्ति अवस्था का आनन्द स्थित होता है।

व्यासतीर्थ की आपत्ति यह है मोक्ष में आत्मन् आनन्द के चरम लक्ष्य के रूप में अनुभूत नहीं होता, क्योंकि वहाँ कोई द्वैत नहीं होता, किन्तु, यदि ऐसा अनुभव आत्मन् का स्वरूप हो तो उसके विनाश के साथ ही मोक्ष में आत्मन् का विनाश हो जायगा। इसके प्रति मधुसूदन का यह उत्तर है कि आत्मन् का चरम आनन्द के लक्ष्य के रूप में अनुभव केवल एक सोपाधिक अभिव्यक्ति होती है, अतएव मोक्ष में इस उपाधि के निवारण से आत्मन् के विनाश का कोई भय नहीं हो सकता।

शंकरवादियों द्वारा यह आग्रह किया जाता है कि मनस् में स्थित 'कर्तृत्व' का आत्मन् पर मिथ्या आरोपण हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह मिथ्या ढंग से कर्त्ता के रूप में भासित होता है, यद्यपि उसके यथार्थ अपरिवर्तनशील स्वरूप का सुषुप्ति में प्रत्यक्षीकरण होता है। व्यासतीर्थ उत्तर देते हैं कि भ्रम के दो विशिष्ट उदाहरण होते हैं, अर्थात् (१) जहाँ जपा-पुष्प का लाल रंग एक स्फटिक पर प्रतिबिम्ब होता है, जिसके फलस्वरूप श्वेत स्फटिक लाल प्रतीत होता है तथा (२) जहाँ एक रज्जु एक भयानक सर्प के रूप में भासित होता है। अब, प्रथम उदाहरण में सादृश्य का अनुसरण करते हुए एक व्यक्ति यह आशा करेगा कि मनस् प्रथक् रूप से एक कर्त्ता के रूप में ज्ञात किया जायगा, ठीक उसी प्रकार जैसे जपा-पुष्प लाल ज्ञात किया जाता है, तथा शुद्ध चैतन्य भी एक कर्त्ता के रूप में भासित होना चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे स्फटिक लाल भासित होता है। यदि यह उत्तर दिया जाता है कि भ्रम प्रथम प्रकार का नहीं होता, चूँकि मनस् का गुण प्रतिबिम्बित नहीं होता वरन् अपने गुणों सहित मनस् स्वयं आरोपित किया जाता है, इसलिए यहाँ भ्रम द्वितीय प्रकार का होगा। किन्तु तब भी सर्प स्वयं भयानक प्रतीत होता है, तथा इस सादृश्य के अनुसार एक व्यक्ति यह आशा करेगा कि मनस् स्वतंत्र रूप से एक कर्त्ता प्रतीत होना चाहिए और शुद्ध चैतन्य भी ऐसा प्रतीत होना चाहिए।

उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि वे द्वितीय प्रकार के भ्रम को स्वीकार करते हैं, और यह मानते हैं कि मनस् के कर्तृत्व के समान्तर शुद्ध चैतन्य में कर्तृत्व भासित होता है, और फिर मनस् एवं शुद्ध चैतन्य के तादात्म्यीकरण के द्वारा उक्त दो संख्यात्मक दृष्टि से भिन्न सत्ताओं का मिथ्या तादात्म्य स्थापित हो जाता है। पर वस्तुतः, शुद्ध चैतन्य में मनस् के कर्तृत्व का भ्रम उक्त दोनों प्रकार का माना जा सकता है। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, निरुपाधिक के रूप में पश्चादुक्त प्रकार जिसमें वह जिसका आरोपण किया जाता है (अध्यासमान, यथा-भयानक सर्प), 'व्यावहारिक' सत्ता होने के कारण भ्रामक ज्ञान (रज्जु सर्प जिसकी केवल 'प्रातिभासिक' सत्ता होती है) से अधिक सत्य होता है। उसकी प्रथम प्रकार के 'सोपाधिक' भ्रम के रूप में भी व्याख्या की जा सकती है, क्योंकि वह जिसका आरोपण किया जाता है (मनस् का कर्तृत्व) और वह जो मिथ्या प्रतिभास होता है (शुद्ध चैतन्य का कर्तृत्व) दोनों एक ही स्तर की सत्ता, अर्थात्, 'व्यावहारिक' सत्ता रखते हैं, जिसे हम जपा-पुष्प एवं स्फटिक के मध्य एक 'सोपाधिक' भ्रम की शर्त के रूप में जानते हैं।

मधुसूदन निर्देश करते हैं कि अहंकार दो अंशों से निर्मित होता है, (१) अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य, और (२) कर्त्ता के रूप में जड़ अंश। द्वितीय अंश वस्तुतः मनस् में होता है, तथा शुद्ध चैतन्य के साथ उसके एक मिथ्या तादात्म्यीकरण के द्वारा ही 'मैं कर्त्ता हूँ' अनुभव सम्भव होता है, अतः कर्तृत्व की अनुभूति केवल ऐसे भ्रम के

द्वारा ही घटित होती है। अतः यह आपत्ति अवैध है कि, यदि मनस् का कर्तृत्व अहमर्थ पर स्थानान्तरित कर दिया जाय तो आत्मन् को बन्धन एवं मोक्ष के अधीन नहीं माना जा सकता, क्योंकि तथाकथित अहमर्थ स्वयं मनस् व उससे संबंधित कर्तृत्व के शुद्ध चैतन्य के साथ मिथ्या तादात्म्यीकरण का फल होता है। व्यासतीर्थ ने यह निर्देश किया था कि सांख्य वादियों के साथ तर्क करते समय शंकरवादियों ने 'शुद्धि' के कर्तृत्व का खण्डन किया था (ब्रह्म-सूत्र, ॥ ३,३३)। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि शंकरवादियों ने यह कथन किया था कि चैतन्य कर्त्ता एवं अनुभवों का भोक्ता दोनों होता है, न कि केवल भोक्ता जैसाकि सांख्यवादियों ने घोषित किया था, उन्होंने न तो 'बुद्धि' के कर्तृत्व का खण्डन किया था और न शुद्ध चैतन्य का कथन किया था।

व्यासतीर्थ कहते हैं कि 'मैं एक ब्राह्मण हूँ' जैसे अनुभवों में ब्राह्मण शरीर का 'मैं' तादात्म्यीकरण होता है, तथा यह 'मैं' शंकरवादियों के अनुसार आत्मन् से भिन्न होता है, क्योंकि शंकरवादियों द्वारा 'मैं' को आत्मन् नहीं माना जाता है। पुनः, यदि शरीर एवं आत्मन् के तादात्म्य का अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण किया जाता है, तथा उसका व्याघात करने के लिए कोई सत्य अनुमान उपलब्ध नहीं है तो यह कथन करना कठिन है कि वे भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त, शरीर और इन्द्रियाँ एक दूसरे से भिन्न ज्ञात की जाती हैं तथा दोनों का आत्मन् के साथ तादात्म्य नहीं माना जा सकता। पुनः, यदि सकल भेद भ्रम है, तो तादात्म्य का प्रत्यय, जो भेद का विरोधी है, अनिर्वाचित सत्य होगा। इसके अतिरिक्त, वास्तव में, शरीर और आत्मन् का ऐसा कोई मिथ्या-तादात्म्यीकरण कभी भी घटित नहीं होता, क्योंकि मानवों का कौन कहे, पशु भी यह जानते हैं कि वे अपने शरीरों से भिन्न होते हैं तथा, यद्यपि उनके शरीर जन्मान्तर में परिवर्तित होते हैं तथापि वे स्वयं निरन्तर वही बने रहते हैं।

मधुसूदन उत्तर में कहते हैं कि शरीर एवं अहम् का मिथ्या तादात्म्यीकरण सम्भव है क्योंकि अहम् का एक संघटन शुद्ध चैतन्य होता है, और इस प्रकार उसके साथ मिथ्या तादात्म्यीकरण का अर्थ होता है चैतन्य के साथ तादात्म्यीकरण। इसके अतिरिक्त, यह कहना गलत है कि, यदि प्रत्यक्षीकरण शरीर और आत्मन् के मध्य तादात्म्य को प्रकट करता है तो अनुमान के द्वारा उनके भेद को स्थापित करना सम्भव नहीं है। क्योंकि यह सुविदित है (यथा, प्रत्यक्षीकरण में चन्द्रमा के आभासी आकार के उदाहरण में) कि प्रत्यक्षीकरण द्वारा प्राप्त निष्कर्षों को सुप्रमाणित अनुमान एवं शब्द के द्वारा प्रायः संशोधित किया जाता है। पुनः, यह आपत्ति गलत है कि सकल भेद भ्रामक होने के कारण, भेद का विरोधी, अर्थात् मिथ्या तादात्म्यीकरण सत्य होना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व के स्वरूप से संबंधित विचार-विमर्श में यह बता दिया गया है कि भाव और अभाव दोनों एक ही काल में मिथ्या हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त

व्यावहारिक जीवन में आत्मन् के साथ शरीर के मिथ्या तादात्म्यीकरण का अनुमान एवं श्रुति-पाठों के साक्ष्य द्वारा निवारण किया जा सकता है, जबकि सकल भेद के भ्रम का निवारण केवल मोक्ष से पूर्व की अन्तिम ज्ञानात्मक अवस्था के द्वारा ही किया जा सकता है। मधुसूदन मानते हैं कि आत्मन् के साथ शरीर के संबंध की सकल व्याख्या व्यर्थ है, तथा जो एकमात्र व्याख्या समीचीन प्रतीत होती है वह यह है कि शरीर आत्मन् पर एक मिथ्या आरोपण होता है।

जगत-प्रपंच की अनिर्वचनीयता

व्यासतीर्थ द्वारा यह आग्रह किया जाता है कि शंकरवादियों के लिए यह सिद्ध करना कठिन है कि जगत्-प्रपंच 'अनिर्वचनीय' है, चाहे 'अनिर्वचनीय' पद को किसी भी अर्थ में लिया जाय। इस प्रकार, चूंकि उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है, अतः ऐसा कहना मात्र भी उसके स्वरूप का एक यथेष्ट वर्णन हो जाता है, न यह कहा जा सकता है कि जिस ज्ञान अथवा विषय की परिभाषा अथवा वर्णन किया जा सकता था उसका अभाव होता है, क्योंकि उनके अभाव में वर्णन के प्रति कोई उल्लेख सम्भव नहीं होगा। न यह कहा जा सकता है कि अनिर्वचनीयता का अर्थ यह है कि वह सत् एवं असत् दोनों से भिन्न है, क्योंकि उनसे भिन्न होते हुए भी वह दोनों का संयोजन हो सकता है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि अनिर्वचनीयता इस तथ्य में निहित है कि जगत-प्रपंच न तो सत् है, और न असत् है और न सदसद् है। अनिर्वचनीयता इस तथ्य में भी निहित कही जा सकती है कि 'जगत-प्रपंच जिस प्रसंग से भासित होता है उसमें उसका व्याघात हो सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि उपरोक्त स्थिति हमें किसी नवीन सत्य पर नहीं पहुँचाती, क्योंकि एक अस्तित्ववान सत्ता किसी भी अन्य अस्तित्ववान सत्ता से भिन्न ज्ञात की जा सकती है, क्योंकि यहाँ किसी विशेष अस्तित्व का नहीं वरन् स्वयं अस्तित्व का निषेध किया गया है। यदि यह कथन करना सम्भव है कि एक ऐसी सत्ता हो सकती है जो न सत् है और न असत् है, तो निश्चय ही वह एक नवीन तर्क वाक्य होगा। मधुसूदन आगे निर्देश करते हैं कि 'सत्' और 'असत्' यहाँ अपने मान्य अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, और दोनों मिथ्या होने के कारण उनमें से एक के निषेध में दूसरे की स्वीकृति का समावेश नहीं होता, अतएव विमध्य-नियम लागू नहीं होता। जब यह कहा जाता है कि अनिर्वचनीयता इस तथ्य में निहित है कि एक वस्तु न सत् है और न असत् है, तब उसका केवल यही अर्थ होता है कि चूंकि जो कुछ भी स्वीकृत अथवा अस्वीकृत किया जा सकता है वह मिथ्या है, इसलिए उनमें से कोई भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो स्वरूपतः अवर्णनीय है उसकी किसी मूर्त्त अथवा विशिष्ट रूप से स्वीकृति नहीं की जा सकती।'[1]

---

[1] न च तर्हि सदादि-वैलक्षण्योक्तिः कथं तत्-तत्प्रतियोगि-दुर्निरूपतामात्रे प्रकटनाय, न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किंचिदपि रूपं वास्तवं सम्भवति। —'अद्वैत-सिद्धि' पृ० ६२१।

व्यासतीर्थ तर्क देते हैं कि सत् और असत् का अव्याख्येय स्वरूप उनको अनिर्वचनीय कहने का आधार नहीं बनाया जाना चाहिए, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो 'अविद्या' की समाप्ति को भी जिसे न सत् और न असत् और न सदसद् माना जाता है, अनिर्वचनीय कहा जाना चाहिए था। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि 'अविद्या' की समाप्ति को विलक्षण कहा जाता है, क्योंकि उसका मोक्ष की अवस्था में अस्तित्व नहीं होता, वे आगे आग्रह करते हैं कि यह मानने में कोई असंगति नहीं है कि एक सत्ता और उसका अभाव (शर्त यह है कि वे दोनों मिथ्या हों) दोनों का किसी अन्य सत्ता में अभाव हो सकता है—यह तभी असम्भव होता है जब भाव और अभाव दोनों यथार्थ हों। मधुसूदन आगे कहते हैं कि सत् एवं असत् परस्पर निषेधात्मक नहीं हैं, वरन् वे परस्पर निषिध क्षेत्रों में अस्तित्व रखते हैं। इस अर्थ में सत् की यह परिभाषा दी जा सकती है कि वह असत् से विरोधी होने का धर्म है तथा असत् की यह परिभाषा दी जा सकती है कि वह सत् के रूप में अभिव्यक्त होने की अयोग्यता है। यह तर्क किया जा सकता है कि इस अर्थ में जगत-प्रपंच को सत् और असत् से भिन्न नहीं माना जा सकता। इसका उत्तर है कि—यह मत मानकर कि सत् और असत् अपने स्वरूप में इस रूप में ऐकान्तिक नहीं होते हैं कि—सत् के अभाव को असत् कहा जाय तथा असत् के अभाव को सत् कहा जाय, वलिक इस रूप में कि एक की अनुपस्थिति में अन्य की उपस्थिति होती है, एक ऐसी सम्भावना रक्खी गई है जिसके फलस्वरूप दोनों एक ही काल में अनुपस्थित रह सके। इस प्रकार, यदि नित्यता एवं अनित्यता की विनाश से संबंधित-सत् एवं विनाश से असंबंधित-सत् के रूप में परिभाषा दी जाय तो उन दोनों का सामान्यता में अभाव हो सकता है, जिसमें कोई सत् नहीं होता, और पुनः, यदि नित्यता की भविष्य में किसी परिसीमा के अभाव के रूप में परिभाषा दी जाय, और अनित्यता की परिभाषा सत् के अतिरिक्त सकल वस्तुओं के विनाशत्व के रूप में दी जाय तो 'प्रागभाव' की एक ऐसी सत्ता के रूप में परिभाषा दी जा सकती है जिसमें न सत्ता है और न असत्ता है, क्योंकि एक ध्वंसाभाव का एक भविष्य होता है तथा साथ ही एक भावात्मक सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु के द्वारा उसकी समाप्ति नहीं की जा सकती, अतएव उपर्युक्त अर्थों में उसमें न नित्यता होती है और न अनित्यता। इसलिए मिथ्या रजत मिथ्या होने के कारण न तो व्याघात-योग्य मानी जा सकती है और न व्याघात-रहित कही जा सकती है। किन्तु प्रतिपक्षी यह तर्क करता है कि यह उदाहरण सर्वथा अप्रासंगिक है, चूंकि 'सामान्य' का कोई विनाश नहीं होता अतएव वह अनित्य है, तथा प्रागभाव अनित्य है क्योंकि वह विनष्ट होता है। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि शंकरवादी अपनी वात केवल इस उदाहरण से ही सिद्ध नहीं करते, किन्तु अपनी मान्यता के समर्थन में अन्य प्रमाणों के पूरक के रूप में ही उक्त उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं। जगत्-प्रपंच में सत् एवं असत् के धर्म, बिना विरोध के इसलिए पाये जाते हैं कि कल्पित वस्तुओं (सत् एवं असत्) के धर्म होने के कारण

एक दूसरे का व्याघात नहीं करते।[1] यदि एक वस्तु एक यथार्थ अर्थ में अनित्य नहीं मानी जाती है, तो उसे तभी तक अनित्य मानने में कोई व्याघात नहीं है जब तक उसका अस्तित्व बना रहता है। व्यासतीर्थ की इस आलोचना के विरुद्ध कि यदि जगत्-प्रपंच किसी वस्तु द्वारा किन्हीं भी कारणों से अनिर्वचनीय कहा जाता है तो उसका वह कथन स्वयं एक स्वीकारोक्ति है, अतएव यहाँ एक व्याघात हो जाता है मधुसूदन उक्त युक्तियाँ देते हुए कहते हैं कि तात्विक धर्मों के अभाव को इस आधार पर स्वीकार करने में कोई व्याघात नहीं होता कि उक्त धर्म कल्पित है।[2] सत् एवं असत् दोनों के रूप में अनिर्वचनीय होने का अर्थ यह है कि विचाराधीन वस्तु में इन दोनों का व्याघात पाया जाता है। जब यह कहा जाता है कि कल्पित जगत्-प्रपंच दृश्य,अदृश्य, बाध अथवा अबाध योग्य नही होना चाहिए, तब एक भ्रान्ति हो जाती है, क्योंकि वह निश्चय ही किसी यथार्थ अर्थ में उक्त स्वीकारोक्तियों से परे हैं, किन्तु उक्त धर्मों को कल्पित आभासों के रूप में स्वीकार करने में कोई विसंगति नहीं है, चूँकि वे सकल अनुभव में उक्त रूपों में प्रस्तुत किये जाते हैं। सारांश यह है कि, जब विरोधी धर्म स्वयं काल्पनिक होते हैं, तब किसी एक विशेष वस्तु के संबंध में उनके पारस्परिक निषेध में कोई विसंगति नहीं होती, यदि पारस्परिक निषेध अतात्विक है तो उनकी पारस्परिक स्वीकृति भी अतात्विक है। व्यासतीर्थ तर्क करते हैं कि जगत्-प्रपंच के 'अनिर्वाच्यत्व' का यह अर्थ नहीं हो सकता कि वह सत् अथवा असत् का आश्रय नहीं है, क्योंकि असत् और ब्रह्मन् दोनों गुण-रहित होने के कारण जगत्-प्रपंच की उक्त अवस्थाओं को संतुष्ट करेंगे, और वे भी अनिर्वचनीय कहलाने के अधिकारी होंगे। यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्मन् को कल्पित सत्ता आश्रय माना जा सकता है, क्योंकि इसका उत्तर यह है कि जगत्-प्रपंच के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। पुःन चूँकि बह्मन् गुण-रहित है, अतः यदि उसके सम्बन्ध में सत् का निषेध किया जाय, तो सत् के अभाव का भी निषेध नहीं किया जा सकता, इसलिए, यदि सत् एवं सत् के अभाव का ब्रह्मन् के प्रति निषेध किया जाय तो ब्रह्मन् स्वयं अनिर्वचनीय हो जाता है। मधुसूदन का उत्तर यह है कि जगत्-प्रपंच में सत् और असत् दोनों का निषेध केवल इस अर्थ में अनिर्वचनीय है कि उक्त निषेध जगत्-प्रपंच पर तभी तक लागू होता है जब तक वह विद्यमान है, जबकि ब्रह्मन् में उक्त निषेध निरपेक्ष होता है। जहाँ व्यासतीर्थ की युक्ति का बल इस तथ्य पर है कि सत् और असत् दोनों का एक ही काल में निषेध

---

[1] धर्मिणैव कल्पितत्वेन विरुद्धयोरपि धर्मयोरभावात्।

—वही, पृ० ६२२।

[2] *अतात्त्विक हेतु-सद्भावेन तात्त्विक-धर्माभावस्य साधनेन व्याघाताभावत्।*

—वही, पृ० ६२३।

नहीं किया जा सकता, वहाँ मधुसूदन तर्क करते हैं कि, चूंकि सत् का निषेध और उसकी स्वीकृति एक ही स्तर के नहीं होते हैं (पश्चादुक्त 'व्यावहारिक' स्तर की होती है), अतः उसकी एक ही काल में स्वीकृति में कोई व्याघात नहीं होता। इसी प्रकार मधुसूदन यह तर्क करते हैं कि ब्रह्मन् में गुणों का निषेध (निर्विशेषत्व) स्वयं एक गुण नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि जिस गुण का निषेध किया जाता है वह कल्पित होता है अतएव उसका निषेध स्वयं एक गुण नहीं होता है। व्यासतीर्थ आगे आग्रह करते हैं कि शंकरवादियों की युक्ति की विचारधारा का अनुसरण करते हुए कोई यह भी कह सकता है कि प्रतिभासिक शुक्ति-रजत का व्यावहारिक शुक्ति के द्वारा कोई बाध नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों दो भिन्न स्तर की सत्ताएं हैं। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि प्रातिभासिक सत्ता एवं व्यावहारिक सत्ता दोनों 'साक्षि-चैतन्य' द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तथा इसी में उनकी एक रूपता एवं एक का दूसरे द्वारा व्याघात निहित होते हैं, प्रातिभासिक का व्यावहारिक के द्वारा कोई अपरोक्ष बाध नहीं होता, अतएव व्यासतीर्थ की आलोचना असफल हो जाती है।

ब्रह्मन् का स्वरूप

भ्रम के स्वरूप का वर्णन करते हुए व्यासतीर्थ कहते हैं कि जब रजत का अवचेतन संस्कार जाग्रत होता है, तब ज्ञानेन्द्रियाँ विशिष्ट दोषों से संबंधित होने के कारण शुक्ति 'इदं' को रजत के साहचर्य में ग्रहण करती हैं। इसलिए किसी काल्पनिक रजत की कोई उत्पत्ति नहीं होती, जैसाकि शंकरवादी अभिकथन करते हैं, रजत विद्यमान न होने के कारण, उत्तरवर्ती प्रत्यक्षीकरण यह प्रत्यक्ष बता देता है कि केवल मिथ्या रजत ही का भास हुआ था। यहाँ अनुमान का भी बहुत उपयुक्त स्थान है, क्योंकि जो भी मिथ्या ज्ञान है वह असत् वस्तुओं का निर्देश इसलिए करता है कि वे सत् नहीं होती। व्यासतीर्थ आगे यह निर्देश करते हैं कि उनका भ्रम-संबंधी मत (अन्यथा-ख्याति) बौद्धों के भ्रम-संबंधी मत (असत्-ख्याति) से इस बात में भिन्न है कि बौद्ध-मत में 'यह रजत है' प्रतिभास पूर्णतः मिथ्या होता है, जबकि व्यासतीर्थ के मत में 'यह' सत्य होता है; यद्यपि 'रजत' के साथ उसका साहचर्य मिथ्या है।

व्यासतीर्थ आगे निर्देश करते हैं कि यदि मिथ्या रजत को 'अज्ञान' की एक उपज मान लिया जाय तो यह मानना गलत होगा कि वह त्रिकाल-निषेध-योग्य है, क्योंकि यदि वह 'अज्ञान' की उपज होती, तो वह अस्तित्व में होती और निषेध योग्य नहीं होती। यह कहना भी गलत है कि मिथ्या आभास का निषेध उसके यथार्थ के संबंध में होता है, क्योंकि आभास के मिथ्या होने के लिए आवश्यक है कि निषेध उसे यथार्थ के रूप में नहीं एक मिथ्या आभास के रूप में अस्वीकृत करे, चूंकि उसकी यथार्थता का निषेध एक भिन्न स्तर का होगा और उक्त सत्ता को मिथ्या नहीं बना सकेगा।

व्यासतीर्थ ने तर्क किया था कि, चूंकि ब्रह्मन् विवाद का विषय है और चूंकि उसके स्वरूप के सम्बन्ध में संशय है, ऐसे संशयों के निवारण का अर्थ किसी भावात्मक स्वरूप की स्वीकारोक्ति है। इसके अतिरिक्त, तर्क-वाक्य शब्दों से निर्मित होते हैं, और यदि यह माना जाय कि कोई भी संघटक शब्द गौण अर्थ में ब्रह्मन् का निर्देश करता है, तो उक्त गौण अर्थ को मुख्य अर्थ से सम्बन्धित करना पड़ता है, क्योंकि नियमानुसार जब प्रसंग के द्वारा मुख्य अर्थ भ्रान्ति में पड़ जाता है तब गौण अर्थों की प्राप्ति एक मुख्य अर्थ के साहचर्य के द्वारा ही की जा सकती है। द्वितीय आपत्ति के उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि एक शब्द गौण अर्थ अपरोक्ष रूप में प्रदान कर सकता है, तथा उसमें अनिवार्यतः मुख्य अर्थ की भ्रान्ति का समावेश नहीं होता। प्रथम आपत्ति के प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि ब्रह्मन् का अभेदात्मक स्वरूप अनिवार्यतः किसी स्वीकारात्मक धर्म के द्वारा ज्ञात नहीं किया जा सकता, वरन् सर्व विरोधी प्रत्ययों के निषेध के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। यदि यह आपत्ति की जाय कि ऐसे विरोधात्मक प्रत्ययों के निषेध में अनिवार्यतः इस बात का समावेश हो जायगा कि वे प्रत्यय ब्रह्म-ज्ञान के संघटक हैं, तो मधुसूदन का उत्तर यह है कि विरोधात्मक प्रत्ययों का ऐसा निषेध ब्रह्मन् का स्वरूप होने के कारण, वह किसी विशेष सत्ता की अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा किये बिना अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त एवं ज्ञात होता है। विशेष अर्थों के साहचर्य को समाविष्ट करने वाले साधारण तर्क-वाक्यों के कार्य-व्यापार की व्याख्या इस रूप में की जानी चाहिए कि वे विशेष अर्थों के साहचर्य का उल्लेख करने वाले तर्क-वाक्य के संघटकों से परे एक अविभक्त एवं अविशिष्ट अंशी की अभिव्यक्ति को प्रेरित करते हैं।

व्यासतीर्थ तर्क करते हैं कि यदि ब्रह्मन् को भेद-रहित माना जाता है, तो वह ज्ञान अथवा विशुद्ध आनन्द से एक-रूप नहीं माना जा सकता, अथवा एक व नित्य, या 'साक्षि-चैतन्य' नहीं माना जा सकता। ब्रह्मन् शुद्ध चैतन्य नहीं हो सकता, क्योंकि चैतन्य का अर्थ विषयों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकता, चूंकि मोक्ष में अभिव्यक्त होने के लिये कोई विषय शेष नहीं रहते। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि, यद्यपि मोक्ष में कोई विषय नहीं होते, तथापि उस कारण से उसके प्रकाशक स्वरूप की कोई हानि नहीं होती। व्यासतीर्थ के इस सुझाव के प्रति कि ब्रह्मन् ऐसा विशुद्ध आनन्द नहीं माना जा सकता जिसकी व्याख्या 'अनुकूल-वेदनत्व' अथवा केवल 'अनुकूलत्व' के रूप में की जा सके, चूंकि इसमें इस आलोचना का समावेश हो जायगा कि उक्त अनुकूलत्व किसी बाह्य उपाधि के कारण होता है, मधुसूदन का उत्तर यह है कि ब्रह्मन् निरुपाधिक इष्टता (निरुपाधिकेष्टरूपत्वात्) के रूप में संकल्पित विशुद्ध आनन्द माना जाता है। मधुसूदन का आग्रह है कि इसका अर्थ दुःख का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि दुःख का अभाव आनन्द से भिन्न होता है तथा उक्त परिभाषा लागू

होने के लिए यह आवश्यक है कि दुःख का अभाव आनन्द की स्थापना को उत्पन्न करे। व्यासतीर्थ आगे तर्क करते हैं कि यदि यह निरुपाधिक इष्टता स्वयं सोपाधिक नहीं हो सकती, तो ब्रह्मन् का आनन्दमय स्वरूप कुछ उपाधियों का फल होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, यदि विशुद्ध आनन्द के रूप में ब्रह्मन् का स्वरूप विशुद्ध ज्ञान के रूप में उसके स्वरूप से भिन्न हो, तो दोनों दृष्टिकोण एकांगी हैं, और, यदि उनमें तादात्म्य है, तो ब्रह्मन् को विशुद्ध ज्ञान एवं विशुद्ध आनन्द दोनों प्रकार से संबोधित करना व्यर्थ है। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि, यद्यपि ज्ञान एवं आनन्द एक-रूप हैं, तथापि कल्पित शाब्दिक प्रयोग के द्वारा उनका भिन्न रूप में कथन किया जाता है। वे आगे आग्रह करते हैं कि विषय-रहित विशुद्ध ज्ञान की विशुद्ध आनन्द के रूप में परिभाषा दी जाती है;[1] विशुद्ध आनन्द विशुद्ध द्रष्टा (दृगनतिरेकात्) के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। इस मत के अनुसार पुनः आनन्द एवं उसकी चेतना में कोई भेद नहीं है। व्यासतीर्थ तर्क करते है कि, यदि ब्रह्मन् को अद्वैत माना जाता है, तो उसमें द्वैत के अभाव का समावेश हो जाता है। यदि ऐसा अभाव मिथ्या है, तो ब्रह्मन् द्वैतमय हो जाता है, और, यदि ऐसे अभाव की स्वीकृति की जाय तो भी ब्रह्मन् द्वैतमय हो जाता है, क्योंकि उसमें अभाव की स्वीकृति का समावेश हो जाता है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि अभाव की यथार्थता एक ऐसे आश्रय से अधिक कुछ भी नहीं है जिसमें अभाव की स्वीकृति की जाती है, उस दशा में अभाव का अर्थ ब्रह्मन् के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होगा, अतएव यह आलोचना अवैध है कि अभाव की स्वीकृति में द्वैत का समावेश हो जायगा।

''साक्षि-चैतन्य' के सम्बन्ध में व्यासतीर्थ तर्क करते हैं कि विशुद्ध सत् के रूप में 'साक्षि' की परिभाषा पाणिनि की परिभाषानुसार उक्त शब्द के पारिभाषिक अर्थ में अमान्य है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि 'साक्षि' को 'अविद्या' में अथवा उसके रूपान्तरण में प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, और इस प्रकार विशुद्ध सत् भी अपने प्रतिबिम्ब के द्वारा 'द्रष्टा' माना जा सकता है। इस आधार पर उठाई गई चक्रक हेत्वाभास सम्बन्धी आपत्ति प्रभावहीन रहती है कि परावर्तन की उपाधियों एवं द्रष्टा की योग्यता में अन्योन्याश्रय होता है, क्योंकि उक्त अन्योन्याश्रय अनादि होता है। मधुसूदन के अनुसार 'साक्षि-चैतन्य' न तो शुद्ध ब्रह्मन् होता है और न 'बुद्धि' से उपाधिकृत ब्रह्मन् होता है, बल्कि 'अविद्या' अथवा उसके रूपान्तरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य होता है, 'साक्षि-चैतन्य' यद्यपि सभी द्रष्टाओं में एक होता है, तथापि वह प्रत्येक विशेष द्रष्टा से एकरूप होकर व्यवहार करता है, और इस प्रकार एक विशेष द्रष्टा के अनुभव उक्त विशेष द्रष्टा से तादात्म्यीकृत 'साक्षि-

---

[1] एतेन विषयानुल्लेखि-ज्ञानमेवानन्दमित्यपि युक्तम्। —'अद्वैत-सिद्धि', पृ० ७५१।

चैतन्य' द्वारा प्रत्यक्ष किये जाते हैं, अतएव इस आधार पर विभिन्न जीवों के अनुभवों में सम्भ्रांति होने की कोई संभावना नहीं रहती कि 'साक्षि-चैतन्य' स्वयं सर्व-साधारण होता है।[1]

ब्रह्मन् का उपादान एवं निमित्त कारण के रूप में खण्डन

व्यासतीर्थ कहते हैं कि एक उपादान कारण कार्य को उत्पन्न करने में सदा रूपान्तरित होता है, किन्तु ब्रह्मन् अपरिवर्तनशील माना जाता है, अतएव वह उपादान कारण नहीं हो सकता। परन्तु, इस सम्बन्ध में तीन मत हैं—अर्थात्, ब्रह्मन् और 'माया' संयुक्त रूप से ठीक वैसे ही जगत के कारण हैं जैसे दो धागे मिलकर एक रस्सी को बनाते हैं, अथवा अपनी शक्ति 'माया' के सहित ब्रह्मन् कारण है, अथवा 'माया' के अधिष्ठान के रूप में ब्रह्मन् कारण है। यहाँ सामंजस्य इस प्रकार किया जाता है कि ब्रह्मन् अपरिवर्तनशील उसी सीमा तक कहा जाता है जहाँ तक वह संयुक्त कारण अथवा शक्ति अथवा निमित्त के रूप में माया से असंबंधित होता है। इसके प्रति व्यासतीर्थ कहते हैं कि, यदि स्थायी रूप से यथार्थ ब्रह्मन् जगत का उपादान कारण है, तो यह आशा की जा सकती है कि जगत् भी वैसा ही है। यदि यह कहा जाय कि उपादान कारण के लक्षण कार्य में अन्तर्निहित नहीं होते, वरन् उसका एक ज्ञान ही का उसके साथ किसी प्रकार से साहचर्य होता है, तो इस तथ्य के कारण कि जगत्-प्रपंच 'माया' से निर्मित होता है उसे 'अनिर्वचनीय' नहीं कहा जा सकता। यदि उक्त उपादान कारण को अपरिवर्तनशील पक्ष के अर्थ में लिया जाय तो 'माया' से संबंधित ब्रह्मन् जगत् का उपादान कारण नहीं कहा जा सकता, चूंकि केवल माया से असंबंधित ब्रह्म ही अपरिवर्तनशील कहा जा सकता है। यदि यह आग्रह किया जाय कि परिवर्तन विशेपण (माया) में होते हैं, तो चूंकि ऐसा विशेषण विशेष्य में अन्तर्निहित होता है अथवा उससे अपृथक् साहचर्य रखता है, इसलिए विशेषण के परिवर्तनों में विशेष्य के परिवर्तन का समावेश हो जाता है, और इस प्रकार 'विवर्त' मत का खण्डन हो जाता है। यदि अधिष्ठान, ब्रह्मन् को किसी यथार्थ परिवर्तन से रहित माना जाय, तो यह मानना अयुक्तियुक्त है कि ऐसा अधिष्ठान, अपनी शक्ति अथवा विशेषण के साहचर्य में, यथार्थ परिवर्तन का भागी होगा, यदि यह आग्रह किया जाय कि उपादान कारण की परिभाषा भ्रम के अधिष्ठान के रूप में दी जा सकती है, तो यह निर्देश किया जा सकता है कि पृथ्वी को कभी भी एक भ्रम का अधिष्ठान नहीं माना जाता, और न शुक्ति को शुक्ति रजत का उपादान कारण माना जा सकता है।

---

[1] सर्व-जीव-साधारण्येपि तत्-तज्जीव-चैतन्याभेदेनाभिव्यक्तस्य तत्-तद्-दुःखादि-भासकतया अतिप्रसंगाभावात्। —वही, पृ० ७५४।

मधुसूदन का उत्तर यह है कि ब्रह्मन् ऐसे अधिष्ठान के रूप में बना रहता है जो 'माया' के रूपान्तरणों को सम्भव बनाता है। ब्रह्मन् का 'माया' से अधिक व्यापक अस्तित्व होता है, अतएव वह 'माया' के परिवर्तनों में भाग नहीं ले सकता। आगे यह आपत्ति वैध नहीं है कि, यदि ब्रह्मन् यथार्थ है तो जगत् भी उसका कार्य होने के नाते यथार्थ होना चाहिए, क्योंकि केवल रूपान्तरित होने वाले कारण (यथा पृथ्वी अथवा स्वर्ण के) के धर्म ही कार्य में प्रविष्ट होते हुए पाये जाते हैं, जबकि ब्रह्मन् अधिष्ठान कारण होने के नाते हमें कोई ऐसा सादृश्य उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर हम यह आशा करें कि वह अपने कार्य में प्रविष्ट हो जाना चाहिए।

व्यासतीर्थ आगे कहते हैं कि जैसे कोई घटों के अस्तित्व का कथन करता है ठीक वैसे ही कोई काल्पनिक सत्ताओं के अनस्तित्व का कथन कर सकता है, किन्तु उसमें इस कथन की पूर्व-कल्पना नहीं होती कि अनस्तित्व काल्पनिक सत्ताओं का उपादान कारण होता है। पुनः, यदि ब्रह्मन् जगत् का उपादान कारण होता तो, चूंकि ब्रह्मन् विशुद्ध आनन्द है, इसलिए जगत से भी आनन्द-स्वरूप होने की आशा की जानी चाहिए, जो वह नहीं है। पुनः, कारणता के 'विवर्तवादी' मत के अनुसार एक उपादान कारण के कथन में कोई अर्थ नहीं होता। इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्मन् उपादान कारण है, तो 'अन्तःकरण' का दुःख एवं अन्य सांसारिक अनुभवों के उपादान एवं परिणामवादी कारण के रूप में कथन नहीं किया जा सकता।

शंकरवादियों के इस तर्क का परीक्षण करते हुए कि ब्रह्मन् स्व-प्रकाश है, व्यासतीर्थ कहते हैं कि 'स्व-प्रकाश' पद के अर्थ को पहले स्पष्ट करना चाहिए। यदि उसका अर्थ यह है कि ब्रह्मन् किसी भी मानसिक वृत्ति का विषय नहीं बन सकता, तो गुरु एवं शिष्य के मध्य ब्रह्मन् के स्वरूप के संबंध में कोई विचार-विमर्श नहीं हो सकता, क्योंकि विचार-विमर्श तभी हो सकता है यदि ब्रह्मन् एक मानसिक वृत्ति का विषय हो। यदि यह आग्रह किया जाय कि ब्रह्मन् इस अर्थ में स्वप्रकाश है कि, यद्यपि वह ज्ञान का विषय नहीं होता तथापि उसका सदा अपरोक्ष ज्ञान होता है तो यह निर्देश किया जा सकता है कि उक्त परिभाषा खण्डित हो जाती है, चूंकि सुषुप्ति तथा प्रलय में ब्रह्मन् का ऐसा कोई अपरोक्ष ज्ञान नहीं हुआ करता। यह नहीं कहा जा सकता कि, यद्यपि सुषुप्ति में ब्रह्मन् का अपरोक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता, तथापि उसमें उक्त रूप से ज्ञात होने की 'योग्यता' होती है, क्योंकि मोक्ष में, कोई धर्म अथवा गुण न होने के कारण यह असम्भव है कि ऐसी योग्यताओं का इस प्रकार अस्तित्व हो।

यदि उक्त योग्यता की निषेधात्मक परिभाषा दी जाय, तो निषेध जगत्-प्रपंच का एक पदार्थ होने के कारण ब्रह्मन् में उसका अस्तित्व नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्मन् किसी भी रूप में ज्ञानात्मक कर्म का फल नहीं माना जा सकता,

तो यह तथ्य अव्याख्येय रह जायगा कि वह ब्रह्मत्व को उत्पन्न करने वाले चरम ज्ञान के उत्कर्ष-काल में प्रकाशित हो उठता है। न यह तर्क किया जा सकता है कि शुद्ध चैतन्य स्व-प्रकाश अथवा अवेद्य है, क्योंकि वह शुद्ध चैतन्य है, चूंकि जो शुद्ध चैतन्य नहीं है वह स्वप्रकाश नहीं होता, क्योंकि एक गुण होने के कारण अवेद्यत्व का कहीं न कहीं अस्तित्व होना चाहिए, और यदि वह अन्य सर्व स्थानों में अनुपस्थित है, तो व्यतिरेक के द्वारा कम से कम शुद्ध चैतन्य में उपस्थित होना चाहिए। किन्तु यह आग्रह किया जा सकता है कि, यदि शुद्ध चैतन्य स्व-प्रकाश हो भी, तो उससे आत्मन् का स्वप्रकाशत्व सिद्ध नहीं होता। इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि आत्मन् का शुद्ध चैतन्य से तादात्म्य होता है। इसके प्रति व्यासतीर्थ की आपत्ति यह है कि चूंकि आत्मन् में किसी प्रकार का गुण नहीं हो सकता, इसलिए यह तर्क नहीं किया जा सकता कि उसमें स्वप्रकाशत्व का एक भावात्मक गुण के रूप में अथवा उसके अभाव के रूप में, अथवा योग्यता के रूप में अस्तित्व होता है। क्योंकि सर्व योग्यता स्वरूपतः ब्रह्मन् से बाह्य होने के कारण मिथ्या होती है तथा जो मिथ्या होता है उसका ब्रह्मन् से साहचर्य नहीं हो सकता। यदि अवेद्यत्व की यह परिभाषा दी जाती है कि वह एक मानसिक वृत्ति की प्रक्रिया की उपज नहीं होता (फल व्याप्यत्वं), और यदि उक्त अवेद्यत्व ब्रह्मन् का यथेष्ट विवरण माना जाय, तो, चूंकि एक घट अथवा मिथ्या रजत अथवा सुख-दुःख के प्रत्यक्ष में भी उक्त शर्त पूरी हो जाती है इसलिए उक्त परिभाषा अतिव्याप्त है, और चूंकि ब्रह्मन् का प्रकाशत्व स्वयं चरम मानसिक वृत्ति के विनाश की प्रक्रिया की उपज है, इसलिए उक्त परिभाषा अव्याप्त है।[1] यह नहीं कहा जा सकता कि 'फल-व्याप्यत्व' का अर्थ एक मानसिक वृत्ति में से प्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा उत्पन्न एक विशेषता है, तथा उक्त विशेषता एक आवरण के नष्ट होने के अवसर पर चैतन्य के बिना स्थापित संबंधीकरण है, तथा उक्त 'फल-व्याप्यत्व' घट में स्थित रहता है न कि आत्मन् में। न यह कहा जा सकता है कि 'फल-व्याप्यत्व' का अर्थ एक वृत्ति में से प्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा अभिव्यक्त अधिष्ठान के चिद् विषय का होना है। क्योंकि शंकरवादी यह नहीं मानते कि घट एक 'वृत्ति' में से प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य का एक विषय होता है, वरन् यह मानते हैं कि वह एक वृत्ति का प्रत्यक्ष विषय होता है। अतः यह सुझाव देना गलत है कि 'फल-व्याप्यत्व' की परिभाषा ऐसी होती है कि वह घट आदि पर लागू होती है और ब्रह्म पर नहीं। चित्सुख के द्वारा चैतन्य का विशुद्ध स्व-प्रकाशत्व चिद्-विषयता माना जाता है, और यदि ऐसा है तो, ब्रह्मन् सदा चिद्-विषय होना चाहिए

---

[1] नापि फलाव्याप्यत्वं दृश्यत्व-भंगे उक्त रीत्या प्रातिभासिके रूप्यादौ व्यावहारिके अविद्यांतःकरण-तद्-धर्म-सुखादौ घटादौ च लक्षणस्यातिव्याप्तेः। तत्रोक्तरीत्यैव ब्रह्मणोऽपि चरम-वृत्ति-प्रतिबिंबित-चिद्-रूपफलव्याप्यत्वेनासंभवाच्च।

—न्यायामृत, पृ० ५०७ (ब)।

तथा उसका चिद्-अविषयत्व, अथवा अवेद्यत्व के रूप में वर्णन असंभव होगा। पर चित्सुख कहते हैं कि ब्रह्मन् 'चिद्-विषय' है, किन्तु चिद्-क्रिया का विषय नहीं है (चिदकर्मत्व)। यदि, चित्सुख का अनुसरण करते हुए 'अवेद्यत्व' उस वस्तु का पद माना जाय जो एक ज्ञानात्मक प्रक्रिया का विषय नहीं है, और यदि ज्ञानात्मक प्रक्रिया का अर्थ कोई यह लेता है कि चैतन्य एक विशेष वस्तुगत आकार के द्वारा अभिव्यक्त होता है, यथा एक घट के उदाहरण में, तो चूंकि ब्रह्मन् भी चरम अवस्था में तदनुरूप मानसिक वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त होता है, इसलिए ब्रह्मन् को भी ज्ञानात्मक प्रक्रिया का विषय माना जाना चाहिए, अन्यथा, एक घट के प्रत्यक्ष के उदाहरण में और ब्रह्मन् के उदाहरण में कोई अन्तर न होने के कारण एक घट भी ज्ञानात्मक प्रक्रिया का विषय नहीं माना जा सकता। यदि यह आग्रह किया जाय कि वेद्यत्व का अर्थ ज्ञान की प्रक्रिया के कारण कुछ विशिष्ट परिवर्तनों की प्राप्ति होता है, तो भी ब्रह्मन् घट के समान ही एक विषय होगा, क्योंकि, जिस प्रकार एक घट के उदाहरण में ज्ञानात्मक प्रक्रिया उस आवरण के निवारण में फलित होती है, जो घट की अभिव्यक्ति को अवरुद्ध कर रहा था, ठीक उसी प्रकार चरम ब्रह्म-ज्ञान जो एक बौद्धिक प्रक्रिया है, ब्रह्मन् की अभिव्यक्ति के अवरोध की निवृत्ति में फलित होता है। ज्ञान की प्रक्रिया में सन्निहित विषयता को ज्ञानात्मक व्यापार में समाविष्ट क्रिया के द्वारा कुछ फलों की प्राप्ति के रूप में नहीं माना जा सकता, क्योंकि शुद्ध चैतन्य एक क्रिया नहीं है, इसलिए ज्ञानात्मक व्यापार की क्रिया के कारण उन विषयों में (यथा घट, आदि) भी किसी ऐसे फल की उत्पत्ति सम्भव नहीं है जो सर्व-सम्मति से ज्ञान के विषय माने जाते हैं। यदि एक मानसिक वृत्ति में से प्रतिबिम्बित होने को ज्ञानात्मक क्रिया माना जाय, तो वह ब्रह्मन् पर भी लागू होता है, क्योंकि ब्रह्मन् भी चरम अवस्था में ब्रह्मन् का प्रतिनिधित्व करने वाली एक मानसिक वृत्ति अथवा प्रत्यय में परावर्तित प्रतिबिम्ब का विषय होता है।

चित्सुख स्व-प्रकाशत्व की परिभाषा 'अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यत्व' अर्थात् अपरोक्ष माने जाने की योग्यता के रूप में देते हैं। अब इसके अर्थ के संबंध में एक विवाद खड़ा हो सकता है। यदि उसके द्वारा 'वह जो अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होता है' की सूचना मिलती है, तो सद्गुण एवं दुर्गुण को भी अपरोक्ष मानना पड़ेगा क्योंकि उनका योगियों और देवताओं के ज्ञान द्वारा अपरोक्ष अन्तर्ज्ञान हो सकता है, और जब कोई यह अनुमित करता है कि उसमें सद्गुण अथवा दुर्गुण है तथा वह अन्ततः उक्त अनुमान-जन्य ज्ञान का अपरोक्ष प्रत्यक्ष करता है, अथवा जब कोई आगमनात्मक तर्क-वाक्य (यथा, जो कुछ ज्ञेय है वह परिभाषा के योग्य है, जिसमें 'ज्ञेय' पद के अन्तर्गत सद्गुण एवं दुर्गुण का समावेश होता है) में सद्गुण अथवा दुर्गुण का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करता है, तब उसका यह कहना न्याय-संगत होगा कि सद्गुण एवं दुर्गुण भी

अपरोक्ष है, और इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण की अपरोक्षता ब्रह्मन् के वर्णन के रूप में अति-व्याप्त होगी। इस प्रकार, यद्यपि सद्गुण एवं दुर्गुण अपने स्वरूप में ज्ञेय नहीं हैं, तथापि योगियों एवं देवताओं के लिए उनका अपरोक्ष प्रत्यक्ष सम्भव होता है, तथा जहाँ तक उनके अनुमान के अपरोक्ष प्रत्यक्ष का संबंध है हमारे लिए भी यही सम्भव है।

यदि अपरोक्षता उसे सूचित करती है 'जो अपरोक्ष ज्ञान का विषय बन सके' और यदि इस अर्थ में आत्मन् को अपरोक्ष माना जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि घट की भाँति आत्मन् भी अपरोक्ष ज्ञान का विषय होता है।[1] न यह तर्क किया जा सकता है कि किसी विषय की अपरोक्षता उसके ज्ञान की अपरोक्षता पर निर्भर करती है, पुनः, व्यासतीर्थ तर्क करते हैं कि अपरोक्षता का यह अर्थ नहीं हो सकता कि अन्त-र्वस्तु अपरोक्षता के आकार की होती है (अपरोक्षित्याकार), क्योंकि यह स्वीकार किया जाता है कि वह विशुद्ध एवं निराकार है तथा वेदांत के उपदेशों के संबंधातीत अन्तर्ज्ञान द्वारा उत्पन्न होता है।

व्यासतीर्थ अपने 'न्यायामृत' में यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ब्रह्मन् गुण-सम्पन्न होता है, गुणों से रहित नहीं, जैसाकि शंकरवादियों का तर्क है, वे तर्क करते हैं कि अधिकांश श्रुति-पाठ ब्रह्मन् के गुण-सम्पन्न होने का कथन करते हैं। ईश्वर सर्व गुणों से सम्पन्न होता है, क्योंकि वह उनकी इच्छा करता है तथा उनको रखने की उसमें योग्यता होती है, और वह सकल दुर्गुणों से रहित होता है क्योंकि वह उनकी इच्छा नहीं करता तथा स्वयं को उनसे मुक्त करने की योग्यता रखता है। यह तर्क करना व्यर्थ है कि ब्रह्मन् के गुण-सम्पन्न होने का कथन केवल एक निम्न ब्रह्मन् का उल्लेख करता है, क्योंकि व्यासतीर्थ का आग्रह है कि श्रुति-पाठ सगुण के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रकार के ब्रह्मन् का कथन नहीं करते। यदि ब्रह्मन् वास्तव में गुणों से रहित होता तो वह केवल एक 'शून्य', एक अभाव मात्र होता, क्योंकि सर्व अस्तित्व-मय द्रव्यों में कुछ गुण होने चाहिए। व्यासतीर्थ आगे तर्क करते हैं कि चूंकि ब्रह्मन् जगत् का सृष्टा एवं भर्त्ता है और वेदों का अधिकार-प्रदाता है, इसलिए उसके शरीर एवं कर्मेन्द्रियां होनी चाहिए, यद्यपि वह शरीर प्राकृत जड़ शरीर नहीं होता (प्राकृता-वयवादिनिषेध-परत्वात्), और चूंकि उसका शरीर आध्यात्मिक है न कि भौतिक इसलिए शरीर के होते हुए भी वह अनन्त एवं नित्य दोनों हैं, तथा उसका निवास-स्थान भी आध्यात्मिक एवं नित्य है।[2]

---

[1] वस्तुना आपरोक्ष्यमपरोक्ष-ज्ञान-विषयत्वं चेदात्मापि घटादिवद् वेद्यःस्यात्।

—'न्यायामृत', पृ० ५११ (अ)।

[2] वही, पृ० ४९६-८।

पुनः, यह कहना गलत है कि ब्रह्मन् जगत् की उपादान सामग्री तथा जगत् के सृष्टा अथवा निर्माता के रूप में जगत का उपादान एवं निमित्त कारण दोनों है, क्योंकि उपादान कारण परिणामों एवं परिवर्तनों का भागी होता है, जबकि ब्रह्मन् अपरिवर्तनशील होता है। पुनः ब्रह्मन् सदा स्वामी होता है और जीव सदा उसके भृत्य होते हैं, अतः केवल ईश्वर ही 'नित्य मुक्त' होता है, जबकि जीव इससे नित्य संबंधित एवं बद्ध होते हैं।[1] 'गुण' 'प्रकृति' अथवा 'माया' में स्थित रहते हैं, न कि जीवों में, अतएव चूंकि 'प्रकृति' के गुण जीवों में नहीं होते हैं, इसलिए उनके द्वारा जीवों के बंधन अथवा उनसे उनकी मुक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए, जिस किसी भी बंधन से 'गुण' जीवों को बांधते हैं वह केवल 'अविद्या' के कारण होता है। पुनः, 'गुण' ईश्वर को प्रभावित नहीं कर सकते, क्योंकि वे उसके 'अधीन' होते हैं। सब जीव केवल ईश्वर के एक अंश से उत्पन्न हुए हैं, तथा वह अंश ईश्वर से इतना भिन्न होता है कि यद्यपि 'अविद्या' के कारण जीव, जो उक्त अंश से उत्पन्न हुए हैं, बंधन से पीड़ित हो सकते हैं, तथापि प्रभु स्वयं ऐसे सर्व अज्ञान एवं बंधन से नित्य मुक्त रहता है।[2] जो 'माया' अथवा 'प्रकृति' जगत् का उपादान कारण होती है,

---

[1] मुक्तावपि स्वामि-भृत्य-भाव-सद्भावेन भक्त्यादि-बन्ध-सद्भावात् नित्य-बद्धत्वं जीवस्य कृष्णस्य तु नित्य मुक्तत्वमेव।

—'युक्ति-मल्लिका 'पर' भाव विलासिनी' (पृ० १७९)।

[2] एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैवं महामते
बन्धस्याविद्ययानादि विद्यया च तथेतरः
स्व-भिन्नांशस्य जीवाख्या अजस्यैकस्य केवलम्
वन्धश्च वन्धान्मोक्षश्च न स्वस्येत्याह स प्रभुः। —युक्ति-मल्लिका, पृ० १७९।

भाव-विलासिनी (पृ० १८५) भी यह निर्देश करती है कि यद्यपि परमेश्वर के पत्नियां, शरीर एवं 'वैकुण्ठ' में स्वर्गीय निवास-स्थान होते हैं, तथापि वह इनसे बद्ध नहीं होता, क्योंकि ये 'प्रकृति' के उपादान से निर्मित नहीं होते हैं, और उसमें 'प्रकृति' के गुणों का लेश-मात्र भी न होने के कारण वह पूर्णतः स्वतंत्र होता है, केवल 'प्रकृति' के उपादान का वन्धन ही एक वन्धन हो सकता है। किन्तु उसको 'प्रकृति' प्रभावित नहीं कर सकती, क्योंकि वह उसका स्वामी होता है—'मम गुणा वस्तूनि च श्रुति–स्मृतिषु अप्राकृततया प्रसिद्धाः'। इस प्रसंग में यह ध्यान देने की वात है कि मध्व-सम्प्रदाय 'माया' पद का तीन भिन्न अर्थों में प्रयोग करता है: (१) ईश्वर की इच्छा के रूप में (हरेरिच्छा), (२) जड़ 'प्रकृति' के रूप में (मायाख्या प्रकृतिर्जड़ा), और (३) 'माया' 'महामाया' अथवा 'अविद्या' के रूप में जो भ्रम एवं त्रुटियों का कारण होती है (भ्रम हेतुश्च मायैका मायेयं

वह सूक्ष्म रेणुमयी अथवा सूक्ष्म तन्तुवत् होती है (सूक्ष्म-रेणुमयी सा च तन्तु-वायस्य' तन्तुवत), तथा ईश्वर उस उपादान से जगत् का निर्माण करता है।[१] यह 'प्रकृति' अष्टविध होती है; क्योंकि उसके पांच महाभूतों के रूप में पाँच तथा 'मनस्' 'बुद्धि,' 'और अहंकार' के रूप में तीन परिणाम होते हैं। वह 'माया' जिसकी सहायता से ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है, जगत् की जननी के समान होती है, और मध्व सम्प्रदाय की धर्मशास्त्रीय भाषा में 'लक्ष्मी' कहलाती है। सृजनात्मक 'माया' अथवा हरि की इच्छा 'स्वरूप-माया' भी कहलाती है, क्योंकि वह सदा प्रभु में स्थित रहती है। 'प्रकृति' के रूप में अथवा उसकी निर्देशक शक्ति (मयाश्रयिन्) के रूप में 'माया' ईश्वर के बाहर होती है, किन्तु पूर्णतः उसके नियन्त्रण में होती है।[२]

'गीता' एवं अन्य श्रुति-पाठों में ईश्वर का उल्लेख इस रूप में किया गया है कि उसके एक सार्वभौमि सर्वव्यापक शरीर होता है, किन्तु जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, उसका शरीर एक आध्यात्मिक शरीर होता है, एक ज्ञानमय एवं आनन्दमय शरीर (ज्ञानानन्दात्मको ह्य असौ)। उसका यह सार्वभौमि शरीर सर्व गुणों, 'माया' एवं उनके प्रभावों से अतीत होता है। प्रभु का यह सार्वभौम सर्वातीत आध्यात्मिक शरीर आद्योपान्त आनन्द, ज्ञान एवं लीला से पूर्ण होता है।[3] यथार्थ दर्शन में सर्वेश्वरवाद

त्रिविधा मता)। 'युक्ति-मल्लिका' पृ० १८८। एक अन्य मत भी है जो 'माया' को पांच प्रकार की मानता है, वह ईश्वर की 'शक्ति' एवं 'तेजस्' का समावेश करता है।

[१] यह उपादान नैयायिकों के परमाणुओं से भी अनन्तगुणा अधिक रेणुमय कहा जाता है (तार्किकाभिमत-परमाणुतोऽप्यनन्त गुणित सूक्ष्म-रेणुमयी) 'भाव-विलासिनी' पृ० १८९। श्रीमद्भागवत जो मध्व एवं उनके अनुयायियों द्वारा प्रामाणिक माना जाता है, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध की चार पत्नियों का 'माया' 'जया' 'कृति' एवं 'शान्ति के रूप में कथन करता है, जो वासदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, एवं अनिरुद्ध के रूप में हरि के चार रूपों के अनुरूप देवी 'श्री' के चार रूप मात्र हैं।
—'युक्ति-मल्लिका' पृ० १९१।

[२] ध्यान देने की विचित्र बात यह है कि जो 'माया' भ्रम को उत्पन्न करती है और जो केवल जीवों को प्रभावित करती है, तथा जो उल्लिखित एक स्थान में तृतीय 'माया' गिनी गई है, उसी की पुनः चतुर्थ 'माया' तथा 'प्रकृति' (अथवा 'जड़-माया' और 'माया-श्री) की द्वितीय एवं तृतीय 'मायाओं' में गणना की गई है।
—'युक्ति-मल्लिका,' पृ० १९२ अ, ब।

[3] ईश्वर के सम्बन्ध में 'शरीर' (जिसका साधारण तात्पर्य एक ऐसी धातु से निकलने के कारण 'शरीर' होता है कि जिसका अर्थ 'नष्ट होना' होता है) का अर्थ देने

के लिए कोई स्थान नहीं होता, अतएव उन वैदिक अवतरणों की, जो जगत् एवं ईश्वर के तादात्म्य को अनुलक्षित करते हुए प्रतीत होते हैं, इस रूप में व्याख्या की जानी चाहिए कि वे ईश्वर की सर्व-नियंत्रक शक्ति का वर्णन करते हैं।[1] पुनः, जब यह कहा जाता है कि जीव ईश्वर के अंश हैं, तब उसका यह तात्पर्य नहीं होता कि वे किसी दिक्कीय अर्थ में अथवा किसी ऐसे वास्तविक विभाजन के अर्थ में, जैसाकि भौतिक विषयों का किया जा सकता है, अंश होते हैं। उसका अर्थ केवल यही होता है कि जीव कुछ बातों में ईश्वर के सदृश होते हैं और साथ ही उससे बहुत न्यून होते हैं।[2]

इस संबंध में यह निर्देश किया जा सकता है कि जैसे ईश्वर सर्व-व्यापी है वैसे जीव स्वरूपतः परमाण्वीय होते हैं। यद्यपि सर्वव्यापी चैतन्य गुण से सम्पन्न होने के कारण वे एक ऐसे दीपक की भांति अपने शरीर के किसी भी भाग का सदा स्पर्शानुभव कर सकते हैं जो एक स्थान में रहकर भी अपनी किरणों के द्वारा चारों ओर के स्थानों को प्रकाशित कर सकता है।[3]

प्रलय के अन्त में ईश्वर सृष्टि की इच्छा करता है, और अपनी इच्छा के द्वारा 'प्रकृति' की साम्यावस्था को विक्षुब्ध करता है तथा उसके तीन 'गुणों' को पृथक् करता है और फिद 'महत्,' 'बुद्धि,' 'मनस्' के विभिन्न पदार्थ एवं पंच महाभूत तथा उनके अभिमानी देवताओं का सृजन करता है, फिर वह सम्पूर्ण सचराचर जगत में परिव्याप्त हो

हुए 'भाव-विलासिनी' (पृ० १९८) एक काल्पनिक व्युत्पत्यात्मक अर्थ देती है, वह कहती है कि प्रथम अक्षर 'श' का अर्थ है आनन्द, 'र' का अर्थ है 'क्रीड़ा' और 'ईर' का अर्थ है 'चैतन्य'। एक अन्य स्थान में 'वरदराज' परमेश्वर के 'केवलानुभवानन्द स्वरूपी' तथा 'सर्व-बुद्धि-दृक्' होने का कथन करते हैं : 'विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः केवलानुभवानन्दस्वरूपस् सर्व-बुद्धि-दृिक्।'

—'युक्ति-मल्लिका,' पृ० २०१।

[1] अतः पुरुषैवेति प्रथमा पंचमी यदा
सदा सर्व-निमित्तत्व-महिमा, पुंसि वर्ण्यते।
यदा तु सप्तमी सर्वाधारत्वं वर्णयेत्तदा
सूक्तस्यैकार्थता चैवं सत्येव स्यान्न चान्यथा। —वही, पृ० २११।

[2] 'तद्-सादृशत्वे सति ततो न्यूनत्वं जीवस्य अंशत्वं न तु एकदेशत्वं।'

—न्यायामृत, पृ० ६०६।

[3] 'न्यायामृत' पृ० ६१२, इस मत पर निश्चित रूप से आपत्ति की जाती है कि परमाण्वीय आत्मन् विभिन्न स्पर्शानुभवों के लिए विभिन्न क्रमागत क्षणों में शरीर के विभिन्न भागों का स्पर्श करता है।

जाता है।[1] अस्तित्व की सर्व अवस्थाओं में (यथा, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा एवं मोक्ष) ईश्वर ही अपनी अभिव्यक्ति के विविध रूपों द्वारा सर्व जीवोंका नियन्त्रण करता है, तथा इन अवस्थाओं के निर्माण से जगत की स्थिति को बनाए रखता है।[2] जगत् का 'प्रलय' भी उसी की इच्छा से होता है।[3] इसके अतिरिक्त सर्व जीवों में जो भी ज्ञान सांसारिक अनुभव अथवा मोक्ष के लिए उत्पन्न होता है, और उक्त ज्ञान जिस किसी भी साधन से उत्पन्न किया जाता है, उनका एक सामान्य चरम कारण ईश्वर होता है।[4]

मोक्ष

बंधन सांसारिक विषयों की आसक्ति के कारण होता है तथा मोक्ष ईश्वर के अपरोक्ष ज्ञान से उत्पन्न होता है (अपरोक्ष ज्ञानं विष्णोः)। यह अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है, अर्थात् सांसारिक जीवन के दुःखों का अनुभव, सज्जनों का समागम, इस जगत् अथवा स्वर्ग में सुखों के उपभोग की सर्व इच्छाओं का त्याग, आत्म-संयम एवं आत्म-विनिग्रह, स्वाध्याय, सत्गुरु के साथ संसर्ग, उसके उपदेशानुसार शास्त्रों का अध्ययन उन शास्त्रों के सत्य की अनुभूति, अपने विश्वास को दृढ़ करने के लिए सम्यक् अर्थ पर विचार-विमर्श, गुरु के प्रति समुचित श्रद्धा-भाव, अपने से हीन व्यक्तियों पर दया, समान व्यक्तियों से प्रेम, वरिष्ठ व्यक्तियों के प्रति आदर-भाव, सुख अथवा दुःख को उत्पन्न करने वाले कर्मो से निवृत्ति, निषिद्ध कर्मो से निवृत्ति, ईश्वर के प्रति पूर्ण शरणागति, पंच भेदों की अनुभूति (ईश्वर-जीव, जीव-जीव, जीव-जगत्, ईश्वर-जगत्,

---

[1] 'पदार्थ-संग्रह-व्याख्यान,' पृ० १०६–८।

[2] उपरोक्त पांच अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न आदि) को नियंत्रित करने वाली परमेश्वर की पाँच अभिव्यक्तियां क्रमशः 'प्राज्ञ,' 'विश्व,' 'तैजस्,' 'भगवान' और 'तुरीय भगवान्' कहलाती है।

[3] इस सम्प्रदाय में दो प्रकार के 'प्रलय' होते हैं : (अ) 'महाप्रलय' जिसमें 'प्रकृति' के अतिरिक्त समस्त वस्तुओं का नाश हो जाता है, केवल पूर्ण अंधकार शेष रहता है, और क्रम-बद्ध क्षणों के रूप में काल की उत्पत्ति के अतिरिक्त 'प्रकृति' अपनी सकल सृजनात्मक प्रक्रिया बन्द कर देती है।

(ब) गौण प्रलय, जिसे 'अवान्तर प्रलय' कहा जाता है, और जो दो प्रकार का होता है–एक तो वह जिसमें हमारे जगत् के साथ ही दोनों काल्पनिक जगत् नष्ट हो जाते हैं, और एक वह जिसमें केवल इस जगत् के प्राणी ही नष्ट होते हैं।

–वही, पृ० ११७–१९।

[4] वही, पृ० ११९।

जड़-जड़-भेद), 'प्रकृति' और 'पुरुष' के भेद की अनुभूति, विभिन्न प्रकार के मानवों एवं अन्य उच्च व निम्न प्राणियों के विकास स्तरों के भेद का परिबोध तथा सम्यक् 'उपासना'। यहाँ उल्लिखित गुरु, जिनसे उपदेश लेना चाहिए, दो भिन्न प्रकार के माने गए हैं-कुछ तो 'नित्य गुरु' होते हैं तथा अन्य केवल 'अनित्य गुरु' होते हैं। पूर्वोक्त तो वे होते हैं जो अपने शिष्यों के स्वभाव एवं आवश्यकताओं को समझ सकते हैं तथा उन्हें ऐसा उचित उपदेश देते हैं जिसके द्वारा वे विष्णु की उस विशेष अभिव्यक्ति का साक्षात्कार करने में समर्थ बन सकें जिसको प्राप्त करने की उनमें योग्यता हो, अनित्य गुरु वे होते हैं जो केवल हमें ईश्वर के संबंध में उपदेश देते हैं। एक अन्य अर्थ में वे सभी व्यक्ति हमारे गुरु होते हैं जो ज्ञान एवं धार्मिक अनुशासन में हमसे श्रेष्ठ होते हैं। 'उपासना' के संबंध में यह कहा गया है कि वह दो प्रकार की होती है-धर्म एवं दर्शन शास्त्रों के सतत अभ्यास के रूप में उपासना तथा 'ध्यान' के रूप में 'उपासना,'[1] क्योंकि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो शास्त्रों के सम्यक् अभ्यास द्वारा प्रभु की यथार्थ एवं अपरोक्ष अनुभूति को प्राप्त नहीं कर सकते, तथा अन्य ऐसे व्यक्ति होते हैं जो उसे ध्यान के द्वारा प्राप्त करते हैं। 'ध्यान' का अर्थ है अन्य सभी वस्तु का तिरस्कार करके भगवद् का अखण्ड स्मरण करना,[2] और आत्मन्, सत् एवं शुद्ध चैतन्य व आनन्द के स्वामी के रूप में ईश्वर पर ऐसा ध्यान तभी सम्भव होता है जब शास्त्रों के अध्ययन एवं विवेकपूर्ण चिन्तन व विचार-विमर्श के द्वारा एक पूर्ण विश्वास उत्पन्न हो जाता है, जिसके फलस्वरूप सर्व मिथ्या विचारों का निवारण हो जाता है और सर्व संशय दूर हो जाते हैं।

ईश्वर ही बंधन एवं मोक्ष का कारण होता है।[3] जब एक व्यक्ति ईश्वर के स्वरूप का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लेता है, तब उसमें 'भक्ति' का उदय होता है, क्योंकि

---

[1] उपासना च द्विविधा, सततं शास्त्राभ्यास रूपा-ध्यान-रूपा च।

—मध्व-सिद्धान्त-सार, पृ० ५००।

[2] ध्यानं च इतर तिरस्कार-पूर्वक-भगवद्विषयका खण्ड-स्मृतिः।
वही, पृ० ५०२। यह 'ध्यान' निदिध्यासन' के समरूप ही होता है।

[3] ईश्वर अन्य सकल वस्तुओं को स्थित रखता है, जो सभी पूर्णतः उस पर निर्भर करती हैं। वह केवल अनित्य एवं नित्य-अनित्य वस्तुओं की सृष्टि और विनाश करता है। पुनः, लक्ष्मी के अतिरिक्त सर्व प्राणियों के प्रति वही प्रथम 'अविद्या' सत्व, रजस् व तमस्, के रूप में, अथवा काम की द्वितीय 'अविद्या' के रूप में, अथवा 'प्रारब्धकर्म' की क्रियाओं की 'अविद्या' के रूप में, अथवा लिंग शरीर के रूप में, अथवा अन्ततः अपनी इच्छा के रूप में 'प्रकृति' की 'भाव-रूपा-अविद्या' के आवरण को खड़ा करता है। अन्तिम, हरि की शक्ति ही सर्व अविद्या का यथार्थ उपादान होती है, 'अविद्या'

उसके व्यक्तिगत, प्रत्यक्ष एवं अपरोक्ष ज्ञान के बिना कोई भक्ति नहीं हो सकती। 'भक्ति' परमेश्वर के प्रति एक ऐसे निरन्तर प्रेम-प्रवाह में निहित होती है जो सहस्रों बाधाओं में क्षत अथवा प्रभावित नहीं हो सकती, जो स्वात्म-प्रेम एवं आत्मीय वस्तुओं के प्रति प्रेम से अनेक गुणा अधिक होता है, और जो इस ज्ञान से उत्पन्न होता है कि परमेश्वर अनन्त शुभ एवं कल्याणकारी गुणों से सम्पन्न है।[1] और जब ऐसी भक्ति का उदय होता है तब परमेश्वर का 'अत्यर्थ-प्रसाद' होता है, और जब परमेश्वर का हम पर ऐसा प्रसाद होता है तब हम मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं।

यद्यपि जीव स्वरूप से स्व-प्रकाश होते हैं, तथापि ईश्वर की इच्छा से उनका स्व-प्रकाश चैतन्य 'अविद्या' से आवृत्त हो जाता है। जब, मनस् अथवा 'अन्तःकरण' की वृत्ति के रूप में ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, तब उक्त वृत्ति 'अविद्या' का निवारण करने में सहायक होती है, क्योंकि यद्यपि 'अविद्या' का मनस् से प्रत्यक्ष साहचर्य नहीं होता, तथापि उक्त मानसिक प्रगति उसको प्रभावित कर सकती है, चूंकि वे दोनों पृथक्-पृथक् जीव से संबंधित होते हैं। साधारणतः ज्ञान का उदय केवल अप्रारब्ध कर्मों का नाश करता है, जबकि 'प्रारब्धकर्म' शेष रहते हैं और सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान को उत्पन्न करते हैं। अतः साधारणतः ईश्वर-साक्षात्कार जीव के साथ 'प्रकृति' एवं 'गुणों' के साहचर्य को नष्ट करने में सहायक होता है, तथा जब तक पीड़ा एवं सुख के उपभोग के द्वारा प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति नहीं हो जाती तब तक उसके 'कर्मों,' और इन्द्रियों, पाँच प्राणों एवं मनस् से निर्मित 'लिंग-देह' को नष्ट करने में सहायक होता है।[2] प्रलय-काल में मुक्त आत्माएं परमेश्वर के गर्भ में प्रविष्ट हो जाती हैं तथा वे किसी आनन्द का उपभोग नहीं कर सकती, किन्तु पुनः सृष्टि के पश्चात् वे आनन्द का उपभोग करने लगती हैं। मुक्त आत्माओं का आनन्द चार प्रकार का होता है:

तो निमित्त-मात्र होती है (परमेश्वर शक्तिरेव स्वरूपावरण मुख्या, अविद्या तु निमित्त मात्रं), क्योंकि, 'अविद्या' नष्ट हो जाती है तो भी जब तक ईश्वर की इच्छा नहीं होती तब तक चरम आनन्द का उदय नही होता। पुनः, वही चेतन सत्ताओं को ज्ञान, स्वरूपतः सुख के अयोग्य असुरों के अतिरिक्त सबको सुख, स्वरूपतः दुःख के लेश-मात्र से रहित लक्ष्मी के अतिरिक्त सबको दुःख प्रदान करता है।

—'तत्व-सख्यान-विवरण' और 'तत्व-सख्यान-टीप्पण,' पृ० ४३–७।

[1] परमेश्वर भक्तिर्नाम निरवधिकानन्तावनद्य-कल्याण-गुणत्वा ज्ञानपूर्वकः स्वात्मात्मीय-समस्त-वस्तुभ्यः अनेक गुणाधिकः अन्तराय-सहस्रेणापि अप्रतिवद्धः निरन्तर-प्रेम-प्रवाहः।

—'अनुव्याख्यान' पर 'न्याय-सुधा'।

[2] 'भागवत-तात्पर्य' १. १३ जहां 'ब्रह्म-तर्क' का भी एक उल्लेख किया गया है।

'सालोक्य,' 'सामीप्य,' 'सारूप्य' एवं 'सायुज्य' (साऋष्टि की 'गणना सायुज्य') के एक प्रकार के रूप में की गई है, पाँचवें प्रकार के मोक्ष के रूप में नहीं। 'सायुज्य' का अर्थ है आत्माओं का ईश्वर के शरीर में प्रवेश तथा स्वयं ईश्वर के शरीर में ईश्वर के आनन्द के साथ उनका तादात्म्यीकरण, 'साऋष्टि-मोक्ष,' जो 'सायुज्य-मोक्ष' का एक प्रकार होता है–का अर्थ है उन्हीं शक्तियों का उपभोग करना जो ईश्वर में होती हैं तथा उक्त उपभोग केवल ईश्वर के शरीर में प्रविष्ट होकर ईश्वर की विशिष्ट शक्तियों से अपना एकाकार करने से सम्भव हो सकता है। इस प्रकार के मोक्ष के योग्य केवल देव-गण ही होते हैं, हाँ, वे अपनी इच्छानुसार ईश्वर से बाहर भी आ सकते हैं और उससे पृथक् भी रह सकते हैं, 'सालोक्य मोक्ष' का अर्थ है वैकुण्ठ में निवास करना तथा वहाँ ईश्वर के सहवास में रहकर उसके निरन्तर दर्शन से संतोष एवं आनन्द का अनुभव करना। 'सामीप्य-मोक्ष' का अर्थ है ईश्वर के समीप निरन्तर निवास, जिसका उपभोग संत-गण करते हैं। 'सारूप्य-मोक्ष' का उपभोग ईश्वर के परिचारक करते हैं जिनके ईश्वर के समान ही बाह्य रूप होते हैं।[1] मुक्त आत्माओं में आनन्द की अवस्थाओं एवं अन्य विशेषाधिकारों की दृष्टि से भेद को स्वीकार करना मध्व-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में से एक मुख्य सिद्धान्त है, क्योंकि, यदि उसे स्वीकार नहीं किया जाय तो यह प्रमुख द्वैतवादी सिद्धान्त खण्डित हो जायगा कि सर्व जीव सर्वदा एक दूसरे से भिन्न होते हैं।[2] यह पहले कहा जा चुका है कि मोक्ष केवल 'भक्ति' द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, जिसमें निरन्तर विशुद्ध 'स्नेह' का समावेश होता है।[3] केवल देव-गण एवं श्रेष्ठ मानव ही उसके योग्य होते हैं, जबकि साधारण मानव केवल पुनर्जन्म के योग्य होते हैं. और अधम मानव एवं असुर सदा नरक में दुःख भोगते हैं। देव-गण नरक में नहीं जा सकते, और न असुर कभी मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं तथा साधारण व्यक्ति न मोक्ष को प्राप्त करते हैं और न नरक में जाते हैं।[4]

आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष की आयु वाले सभी मानवों के लिए आज्ञात्मक कर्त्तव्य के रूप में मध्व 'एकादशी' के उपवास और ललाट पर खड़ी काली रेखा का तिलक

---

[1] कहा जाता है कि ईश्वर के दो द्वारपाल जय और विजय 'सारूप्य-मोक्ष' का उपभोग करते हैं।

[2] 'मुक्तानां च न हीयन्ते तारतम्यं च सर्वदा।'

'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय,' पृ० ४। देखिए 'न्यायामृत' भी।

[3] 'अच्छिद्रसेवा' और 'निष्कामत्व' का भी 'भक्ति' के लक्षणों की परिभाषा में उल्लेख किया गया है। दान, तीर्थ-यात्रा, तपस् आदि भी ईश्वर की 'सेवा' के गौण उपसाधन माने जाते हैं। –वही, पृ० ५।

[4] वही, पृ० ५।

लगाने पर अत्यधिक बल देते हैं जो आज दिन तक भी उनके अनुयायियों की विशेषता है। हमें बड़ी भक्ति से परमेश्वर कृष्ण की निरन्तर उपासना करनी चाहिए और जगत् के दुःखों से रक्षण करने के लिए उसकी प्रार्थना करनी चाहिए। हमें नरक के क्लेशों का विचार करना चाहिए और पापों से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए तथा सदा परमेश्वर हरि के नाम का संकीर्त्तन करना चाहिए और अपने सभी कर्मों को फल की इच्छा किए बिना परमेश्वर को समर्पित करना चाहिए।[1]

---

[1] कृष्णामृत-महार्णव।

अध्याय ३१

वल्लभ का दर्शन

वल्लभ द्वारा 'ब्रह्म-सूत्र' की व्याख्या

वेदान्त के अधिकांश सम्प्रदाय वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदों के मूल-पाठ में सन्निहित उपदेश के चरम अभिप्राय के संबंध में पृच्छा पर आधारित हैं। 'मीमांसा' शास्त्र इस मान्यता के आधार पर वैदिक पाठों के स्वरूप की पृच्छा में निरत रहता है कि सभी वैदिक पाठों की व्याख्या इस रूप में की जानी चाहिए कि वे लोगों को कुछ प्रकार के कार्यों को करने अथवा अन्य प्रकार के कार्यों को न करने का व्यादेश देते हैं। उसकी यह भी मान्यता है कि उक्त व्यादेशों का आज्ञा-पालन 'धर्म' को उत्पन्न करता है तथा उनकी अवज्ञा 'अधर्म' को उत्पन्न करती है। वेदों का स्वाध्याय भी इस व्यादेश की आज्ञानुसार किया जाना चाहिए कि वेदों का अध्ययन करना आवश्यक है, अथवा गुरु द्वारा वेदों का उपदेश दिया जाना चाहिए या हमें उपनयन संस्कार में दीक्षित होने के लिए एक ऐसे गुरु को अंगीकार करना चाहिए जो हमें सविस्तार वेदों का उपदेश देगा। मीमांसा एवं वेदान्त के सभी व्याख्याकार इस बात पर सहमत हैं कि वेदों के अध्ययन में विद्यार्थी द्वारा अर्थ के बोध का समावेश होता है, यद्यपि व्यादेश के यथातथ्य स्वरूप के संबंध में तथा जिस यथावत ढंग से उक्त आशय कथित होता है उसके संबंध में मतभेद हैं। यदि ब्रह्मचारिन को अपने घर ही में वेदों का अध्ययन करना है तथा एक गुरु से उनके अर्थ को समझना है तो सामान्यतः यह तर्क किया जा सकता है कि उपनिषद्-पाठों के संबंध में आगे विचार-विमर्श की कोई संभावना नहीं रह जाती, और यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है, तो समस्त 'ब्रह्म-सूत्र' जिसका उद्देश्य उक्त विचार-विमर्श में प्रवेश करना है, निरर्थक हो जाता है। यह युक्ति दी जा सकती है कि उपनिषद्-पाठों के गर्भ में साक्षात्कार-विद्या छिपी हुई है जो शब्दों के पाठगत अर्थ के भावबोध से प्रकट नहीं की जा सकती। किन्तु, यदि यह साक्षात्कार विद्या शब्द के पाठगत अर्थ के द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती, तो यह मानना युक्तियुक्त नहीं है कि हम उनके द्वारा मान्य गहन एवं रहस्यात्मक सत्यों का अवबोध कोरे बौद्धिक विचार-विमर्श द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। स्वयं उपनिषद् यह कहते हैं कि हम उपनिषदों के सम्यक् अर्थ का बोध तमस् एवं परमात्मा के प्रसाद के द्वारा ही कर सकते हैं।[1]

---

[1] अ-लौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते तपसा वेद-युक्त्या तु प्रसादात्परमात्मनः।
—'ब्रह्म-सूत्र' पर वल्लभ का 'भाष्य' (चौखम्भा संस्करण) पृ० १३।

इसके प्रति वल्लभ का उत्तर यह है कि, चूँकि विविध प्रकार के उपदेशों को प्रस्तुत करने वाले विविध प्रकार के 'शास्त्र' होते हैं, और चूँकि वैदिक पाठ स्वयं इतने जटिल हैं कि उनके सम्यक् बल को समझना सरल नहीं है, इसलिए जब तक कोई ऐसा 'शास्त्र' नहीं हो जो स्वयं इन कठिनाइयों का विवेचन करे और पाठगत तुलनाओं एवं विरोधों के द्वारा उनको सुलझाने का प्रयास करे, तब तक एक साधारण व्यक्ति को उनके समुचित अर्थ के सम्बन्ध में वैध संशय हो सकता है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि एक ऐसे विवेचन की एक वास्तविक आवश्यकता है, जैसाकि स्वयं व्यास द्वारा 'ब्रह्म-सूत्र' में किया गया था।[1]

रामानुज के अनुसार 'ब्रह्म-सूत्र' 'मीमांसा-सूत्र' का अनुवर्ती है, यद्यपि दोनों कृतियाँ विभिन्न विषयों का निरूपण करती हैं, तथापि उनमें उद्देश्य की अविच्छिन्नता है। इसलिए 'ब्रह्म-सूत्र' के अध्ययन के पूर्व 'मीमांसा-सूत्र' का अध्ययन किया जाना चाहिए। भास्कर के अनुसार 'मीमांसा-सूत्र' का अनुप्रयोग सार्वभौम है, सर्व द्विजों को अपने दैनिक कर्त्तव्यों के लिए 'मीमांसा' एवं 'धर्म' के स्वरूप का अध्ययन करना चाहिए। ब्रह्म-ज्ञान केवल कुछ व्यक्तियों के लिए होता है, इसलिए ब्रह्मन् के स्वरूप का विवेचन केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए अभिप्रेत हो सकता है जो अपने जीवन के चतुर्थ आश्रम में मोक्ष की खोज करते हैं। जो व्यक्ति मोक्ष का अन्वेषण करते हैं उन्हें भी 'धर्म' के दैनिक कार्यों को करना चाहिए, उस 'धर्म' का स्वरूप केवल 'मीमांसा' के अध्ययन से ज्ञात किया जा सकता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि ब्रह्मन् केवल उपनिषदों द्वारा निर्धारित दीर्घकालीन ध्यान की प्रक्रिया रूपी विधि से ज्ञात किया जा सकता है। उक्त ध्यान का ज्ञान केवल यज्ञों के समुचित स्वरूप के ज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। 'स्मृतियों' में भी यह कहा गया है कि यज्ञों के द्वारा ही ब्रह्मन् के पवित्र तन का निर्माण होता है (महा-यज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः),[2] अतः जब अड़तालीस 'संस्कारों' का पालन कर लिया जाता है, तब एक व्यक्ति ब्रह्मन् के स्वरूप के अध्ययन अथवा ध्यान के योग्य बनता है। 'स्मृतियों' में यह भी कहा गया है कि केवल तीन ऋणों-अध्ययन, विवाह एवं यज्ञों का अनुष्ठान'–को चुकाने के पश्चात् ही एक व्यक्ति मोक्ष के लिए ब्रह्मन् पर अपने मनस् को केन्द्रित करने का अधिकारी बनता है। अधिकांश लोगों के अनुसार यज्ञ संबंधी कर्त्तव्य ब्रह्म-ज्ञान के

[1] संदेह-वारकं शास्त्रं बुद्धि-दोषात्तदुद्भवः
विरुद्ध-शास्त्र-संभेदादंगैश चाशक्य-निश्चयः।
तस्मात् सूत्रानुसारेण 'कर्त्तव्यः' सर्व-निर्णयः
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थान् मध्यमश्च तथाविधः। –वही, पृ० २०।

[2] 'मनु' २.२८।

लिए उपयोगी होते हैं, अतः यह माना जा सकता है कि ब्रह्म-जिज्ञासा धर्म-जिज्ञासा के पश्चात् आनी चाहिए ।[1]

किन्तु, यदि यज्ञ एवं ब्रह्मन् के ध्यान के संयुक्त अनुपालन को स्वीकार भी कर लिया जाय, तो भी यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि ब्रह्म-जिज्ञासा धर्म जिज्ञासा के पश्चात् आनी चाहिए । उसका अर्थ केवल यही हो सकता है कि ब्रह्म-ज्ञान का स्वरूप 'धर्म' के उस स्वरूप से संबंधित माना जा सकता है जिसे समुचित रूप में 'मीमांसा-शास्त्र' से ज्ञात किया जाता है । ऐसी मान्यता के अनुसार आत्मन् के स्वरूप का ज्ञान 'ब्रह्म-सूत्र' के अध्ययन से प्राप्त किया जाना चाहिए, पर चूंकि आत्मन् का ज्ञान यज्ञ-संबंधी कर्मों के अनुपालन के लिए भी अनिवार्य होता है, इसलिए यह तर्क किया जा सकता है कि 'धर्म' के स्वरूप की जिज्ञासा के पूर्व 'ब्रह्म-सूत्र' से प्राप्त आत्म-स्वरूप की जिज्ञासा आनी चाहिए ।[2] न यह कहा जा सकता है कि जिन श्रुति-पाठों द्वारा एक व्यक्ति से आत्म-संयमी बनने की अपेक्षा की जाती है (शान्तो, दान्तो आदि) उनके आधार पर यह तर्क किया जा सकता है कि धर्म के स्वरूप की जिज्ञासा ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा से पूर्व आनी चाहिए, आत्म-संयम की आवश्यकता का अनिवार्यतः यह अर्थ नहीं होता है कि 'धर्म' के स्वरूप की जिज्ञासा को अग्रता दी जानी चाहिए, क्योंकि एक व्यक्ति 'मीमांसा' का अध्ययन किए बिना भी आत्म-संयमी बन सकता है ।

न यह कहा जा सकता है, जैसाकि शंकर कहते हैं कि ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व इहलौकिक एवं पारलौकिक सुखों के प्रति वैराग्य, चित्त-संयम, आत्म-संयम आदि उत्पन्न होने चाहिए । इस विषय पर भास्कर वल्लभ के मत के विरोध में तर्क करते हैं, और उसकी अस्वीकृति का कारण यह है कि उक्त गुणों की उपलब्धि अत्यधिक विरल होती है, दुर्वासा जैसे महर्षि एवं अन्य लोग भी उनको प्राप्त करने में असफल रहे । आत्म-ज्ञान के बिना भी एक व्यक्ति दुःखों के कारण विषयों के प्रति विरक्त हो सकता है, तथा एक व्यक्ति सांसारिक उद्देश्यों से भी चित्त-संयम एवं आत्म-संयम का अभ्यास कर सकता है । इसके अतिरिक्त उक्त गुणों की प्राप्ति तथा ब्रह्म-जिज्ञासा में कोई तार्किक संबंध नहीं हैं । न यह तर्क किया जा सकता है कि यदि ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व मीमांसा-जिज्ञासा आती है, तो हम उक्त समस्त गुणों को प्राप्त कर सकते हैं । इसके अतिरिक्त, ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा केवल ज्ञान के महत्व में विश्वास के द्वारा ही वे उत्पन्न हो सकती है, तथा उक्त महत्व के अवबोध के लिए ब्रह्म-जिज्ञासा अनिवार्य है, इस प्रकार

---

[1] वल्लभाचार्य के अनुभाष्य पर पुरुषोत्तम की टीका, पृ० २५–६ ।

[2] पूर्व वेदान्त-विचारेण तदवगन्तव्यं नानाबलैरात्म-स्वरूपे विप्रतिपन्न-वैदिकानां वेद-वाक्यैरेव तन्निरासस्यावश्यकत्वात् ज्ञाते तयोः स्व-रूपे कर्मणि सुखेन प्रवृत्ति-दर्शनम् ।
—वही, पृ० २७ ।

चक्रक न्याय हो जाता है। यदि यह माना जाय कि, जब वेदांत पाठों का ज्ञान वेदोपदेश के श्रवण द्वारा समुचित रूप से अर्जित कर लिया जाता है तब एक व्यक्ति ब्रह्म-जिज्ञासा की ओर प्रेरित हो सकता है तो यह भी आपत्तिजनक है, क्योंकि, यदि वेदांत-पाठों के अर्थ को उचित रूप से ग्रहण कर लिया गया है, तो ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा की आगे कोई आवश्यकता नहीं है। यदि यह माना जाय कि ब्रह्म-ज्ञान केवल 'तत्वमसि' अथवा 'त्वं सत्यं असि' जैसे पाठों के श्रुति-प्रमाण के द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है, तो यह भी आपत्तिजनक है; क्योंकि श्रुति-प्रमाण के द्वारा ब्रह्मन् के स्वरूप की कोई अपरोक्षानुभूति एक ऐसे अज्ञानी व्यक्ति को नहीं हो सकती जो उसकी व्याख्या इस रूप में कर सकता है कि आत्मन् एवं शरीर में तादात्म्य होता है। यदि श्रुति-पाठों के द्वारा ब्रह्मन् की अपरोक्षानुभूति सम्भव है, तो मनन एव निदिध्यासन के कर्त्तव्य का व्यादेश अनावश्यक है। इसलिए यह मानना गलत है कि ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व 'धर्म विचार' किया जाना चाहिए अथवा शकर द्वारा उल्लिखत अत्यधिक विरल गुणों की प्राप्ति की जानी चाहिए। पुनः शास्त्रों में यह कहा गया है कि जिन व्यक्तियों ने वेदांत के यथार्थ अर्थ की अनुभूति कर ली है उन्हें ससार को त्याग देना चाहिए, अतः वैराग्य वेदांत-पाठों के सम्यक् अवबोध के पश्चात् होना चाहिए, पहले नहीं। पुनः, ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व व्यक्ति यह नहीं जान सकता कि ब्रह्मन् उपलब्धि का चरम लक्ष्य है, पश्चादुक्त के ज्ञान के बिना व्यक्ति मन की अन्य उपलब्धियों की इच्छा नहीं करेगा और इस प्रकार ब्रह्मन् के संबध में विवेचन में आवृत्त होगा। पुनः, यदि कांक्षित गुणों वाला व्यक्ति वेदांत पाठों का श्रवण करता है, तो वह तत्काल मोक्ष प्राप्त कर लेगा और उसे उपदेश देने वाला कोई भी शेष न रहेगा।

ब्रह्म-जिज्ञासा की कोई शर्त नही हो सकती, द्विज-जाति में से कोई भी उसका अधिकारी है। मीमांसक कहते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान पर बल देने वाले सकल वेदान्त-पाठों की व्याख्या ऐसे व्यादेशों के रूप में की जानी चाहिए जिनके अनुपालन से 'धर्म' की उत्पत्ति होती है, किन्तु यह व्याख्या गलत है, यद्यपि किसी भी प्रकार की 'उपासना' 'धर्म' को उत्पन्न कर सकती है, तथापि ब्रह्मन् स्वयं धर्म के स्वरूप का नहीं होता। सर्व 'धर्म' क्रिया के स्वरूप के होते हैं (धर्मास्य च क्रिया-रूपत्वात्), किन्तु ब्रह्मन् उत्पन्न नहीं किया जा सकता, अतएव वह क्रिया-रूप नहीं होता है। ब्रह्मन् पर ध्यान करने के आभासी व्यादेश का अभिप्राय ब्रह्म-ज्ञान की महत्ता को बताना है, उक्त ध्यान ज्ञान से संबंधित मानसिक प्रक्रियाएं होते हैं तथा किसी प्रकार की क्रियाएं नहीं होते। यह ब्रह्म-ज्ञान अपने कर्त्तव्यों को समुचित रूप से करने में भी सहायक होता है, इसी कारण जनक जैसे लोगों ने उसे प्राप्त किया और वे अपने कर्त्तव्यों को सुचारू रूप से करने में समर्थ हुए हैं। यह मानना ठीक नहीं है कि वे व्यक्ति जिन्हें ऐसा मिथ्या प्रत्यय होता है कि आत्मन् शरीर है, 'कर्म' करने के अयोग्य होते हैं, क्योंकि 'गीता'

यह कहती है कि सच्चा तत्वज्ञानी यह जानता है कि वह कर्म नहीं करता और फिर भी सदा 'कर्म' से संबंधित रहता है, वह अपने सर्व 'कर्मों' को ब्रह्मन् को समर्पित कर देता है, और किसी भी आसक्ति से रहित होकर कर्म करता है, जैसे एक कमल-पत्र जल से कदापि गीला नहीं होता। इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि वही जिसे ब्रह्मन् ज्ञात है अपने कर्म से कांक्षित फल उत्पन्न कर सकता है, अतः जो 'धर्म' के स्वरूप के विवेचन में निरत रहते हैं उनको ब्रह्मन् के स्वरूप का भी विवेचन करना चाहिए। जो मनुष्य ब्रह्मन् एवं कर्म को जानता है उसमें अपने 'कर्म' के फलों की कोई इच्छा शेष नहीं रहती, क्योंकि उसने अपने सर्व कर्म ब्रह्मन् को समर्पित कर दिए हैं। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि केवल वे व्यक्ति ही 'कर्म' को करने के अधिकारी हैं जो कर्म-फलों की इच्छा रखते हैं, कर्म का चरम एवं अत्यधिक अभीप्सित उद्देश्य उसके फलों का समर्पण है।[1] वल्लभ का अभिप्राय यह है कि 'पूर्व-मीमांसा' और 'उत्तर-मीमांसा' (अथवा 'ब्रह्म-सूत्र') दोनों ब्रह्मन् के स्वरूप को प्रतिपादित करने वाले दो भिन्न प्रकार मात्र है, दोनों मिलकर एक ही शास्त्र का निर्माण करते हैं। यह एक प्रकार से शंकर के अतिरिक्त सभी वेदान्त के टीकाकारों का मत है, यद्यपि उनकी उपागम-विधि में कुछ भिन्नता है।[2] इस प्रकार रामानुज के अनुसार दोनों 'मीमांसाओं' से एक ही शास्त्र निर्मित होता है तथा यज्ञों का अनुष्ठान ब्रह्मन् के निरन्तर स्मरण के साथ-साथ किया जा सकता है, जो (उनके अनुसार) ब्रह्मन् की भक्ति, उपासना व अपरोक्षानुभूति में निहित होता है। भास्कर के अनुसार यद्यपि पूर्व मीमांसा का विषय उत्तर मीमांसा से भिन्न होता है, तथापि उनका लक्ष्य एक ही होता है और वे एक ही शास्त्र का निर्माण करते हैं, और दोनों का ही उद्देश्य ब्रह्मन् के स्वरूप को अनुभूति गम्य करना है। भिक्षु के अनुसार 'ब्रह्म-सूत्र' का उद्देश्य उन वेदान्त-पाठों के आभासी विरोध-ग्रस्त भागों का सामंजस्य करना है जिन पर 'पूर्व-मीमांसा' ने विचार नहीं किया है। 'ब्रह्म-सूत्र' का वही उद्देश्य है जो 'पूर्व-मीमांसा' का है, क्योंकि ब्रह्मन् के स्वरूप के संबंध में जिज्ञासा इस व्यादेश के कारण है कि ब्रह्मन् को ज्ञात करना चाहिए, तथा उसके फलस्वरूप चरम 'धर्म' की उत्पत्ति होती है। 'उत्तर-मीमांसा' 'पूर्व-मीमांसा' की पूरक है। मध्व के अनुसार वे व्यक्ति ही ब्रह्म-जिज्ञासा के अधिकारी हैं जिनमें भक्ति होती है।

---

[1] फल-कामाद्यनुपयोगातनेनैव तत्-समर्पणात् नित्यत्वादप्यर्थ-ज्ञानस्य न फल-प्रेप्सुर धिकारी।

—वल्लभाचार्य के अनुभाष्य, पृ० ४३ पर पुरुषोत्तम टीका।

[2] प्रकार-भेदेनापि काण्ड द्वयस्यापि ब्रह्म-प्रतिपादकतयैकवाक्यत्वं-समर्थन-मीमांसा-द्वयस्यैक-शास्त्रस्य सूचनेन वृत्तिका रविरोधतोऽपि बोधितः।

—वही, पृ० ४६।

वल्लभ 'ब्रह्म-सूत्र' के अध्याय १, पाद १ के द्वितीय एवं तृतीय 'सूत्रों' को संयुक्त कर लेते हैं और उनका 'जन्मादास्य यतः, शास्त्रयोनित्वात्' के रूप में पठन करते हैं। टीकाकार कहते हैं कि यही उचित क्रम है, क्योंकि सर्व 'अधिकरण' आपत्तियों, निष्कर्षों एवं हेतुओं को प्रकट करते हैं, यदि तृतीय 'सूत्र' (शास्त्रयोनित्वात्) को द्वितीय में समाविष्ट करके एक 'अधिकरण' नहीं बनाया जायगा तो हेतुओं का लोप हो जायगा। ब्रह्मन् जगत् की अभिव्यक्ति एवं लोप का कारण है, और यह केवल शास्त्रों की साक्षी से ही ज्ञात किया जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्मन् चरम व अन्तिम कर्ता है, किन्तु, यद्यपि उत्पत्ति, स्थिति, अव्यवस्था व विनाश सभी ब्रह्मन् के कर्तृत्व से सम्भव होते हैं, तथापि वे 'उसके' 'गुणों के रूप में' उससे' संबंधित नहीं होते हैं। 'सूत्र' का अर्थ यह भी माना जा सकता है कि ब्रह्मन् वह है जिससे प्रथम (अर्थात् आकाश) उत्पन्न हुआ है।[1]

पुरुषोत्तम शंकर के इस मत को अस्वीकृत करते हैं कि ब्रह्मन् वेदों का सृष्टा है तथा इस आधार पर 'उसे' सर्वज्ञ माना जाना चाहिए। यह कहना कि वेद ईश्वर के द्वारा उसकी इच्छा से उत्पन्न किए गए थे, न्याय एवं वैशेपिकों के मत को स्वीकार करना होगा; उस दशा में वेदों की नित्यता को त्यागना पड़ेगा। यदि मनुष्य के श्वास की भाँति वेद ब्रह्मन् से निकले होते तो, चूंकि सर्व निःश्वास अबुद्धिपूर्ण होता है इसलिए वेदों का उत्पादक ब्रह्मन् की सर्वज्ञता को प्रकट नहीं करेगा (निःश्वासात्मक-वेदोपादानत्वेन अबुद्धि-पूर्वक-निःश्वासोपादान-पुरुपदृष्टान्त-सनाथेन प्रतिसाधनेन अपास्तम्)।[2] इसके अतिरिक्त, यदि ब्रह्मन् ने वेदों की रचना उसी क्रम में की थी जिस क्रम में वे पूर्व 'कल्प' में स्थित थे, तो ऐसा करने में 'उसने' स्वयं को किसी अनिवार्यता अथवा नियम के आधीन बनाया होगा, अतएव वह स्वतन्त्र नहीं था।[3] पुनः, शंकर का यह मत केवल उनके प्रमाण पर ही स्वीकार किया जा सकता है कि 'अज्ञान' से संबंधित ब्रह्मन् को सर्वज्ञ ईश्वर माना जाय।

निःसंदेह यह सत्य है कि ब्रह्मन् का स्वरूप मुख्यतः उपनिषदों में ज्ञात होता है, और उस दृष्टिकोण से 'शास्त्र-योनि'–'वह जो उपनिपदों द्वारा ज्ञात किया जाता है–'शब्द का ब्रह्मन् पर अनुप्रयोग किया जा सकता है, फिर भी यह वैध आपत्ति हो सकती है कि वेदों के अन्य भागों का ब्रह्मन् से कोई सार्थक संबंध नहीं है। इसका उत्तर यह है कि वेदों के अन्य भागों के अनुसार किए गए कर्मों के द्वारा मनस् शुद्ध किया जा

---

[1] जन्म आद्यस्य आकाशस्य यतः। –अनुभाष्य, पृ० ६१।

[2] अनुभाष्य, पृ० ६४ पर टीका।

[3] तादृशानुपूर्वी-रचनया अस्वातन्त्र्ये राजाज्ञानुवादक-राज-दूतवदानुपूर्वी-रचना-मात्रेणेश्वर-सार्वज्ञासिद्धया व्याख्येय-ग्रंथ-विरोधाच्च। –वही, पृ० ६४।

सकता है, और इस प्रकार ईश्वर को अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए अपने प्रसाद के प्रयोग के लिये अनुप्रेरित किया जा सकता है। अतः एक अप्रत्यक्ष ढंग से वेदों के अन्य भाग वेदों से संबंधित किए जा सकते हैं। इसलिए वेदांत का ज्ञान वेदों के अन्य भागों के शास्त्रीय व्यादेशों के उचित अनुपालन में सहायक होता है। 'कर्म-काण्ड' और 'ज्ञान-काण्ड' लगभग एक-दूसरे के पूरक हैं तथा दोनों की आत्म-ज्ञान के लिए उपयोगिता है, यद्यपि उपनिषदों का महत्व उत्कृष्ट होना चाहिए।

हम पहले से ही जानते हैं कि रामानुज ने जगत् की उत्पत्ति से सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर के अस्तित्व को अनुमित करने के प्रत्यय का खण्डन किया, तथा इस सिद्धान्त को स्थापित किया कि ईश्वर प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा ज्ञात नहीं किया जा सकता, वरन् केवल श्रुति-पाठों की साक्षी से ज्ञात किया जा सकता है।

न्याय मत की प्रवृत्ति अनुमान के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने की रही है, इस प्रकार उदयन ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में जो युक्तियाँ देते हैं, इनमें से प्रथम यह है कि—जगत, कार्य-रूप होने के कारण, उसको उत्पन्न करने वाला कोई कारण चाहिए (कार्यानुमान)। दूसरा यह है कि कोई ऐसी सत्ता होना चाहिए जिसने सृष्टि के प्रारम्भ में अणुओं के निर्माण के लिए परमाणुओं को गतिशील बनाया (आयोजनानुमान)। तीसरा यह है कि यदि पृथ्वी ईश्वर के द्वारा धारण नहीं की गई होती तो वह आकाश में आलम्बित नहीं रह सकती थी। (धृत्वानुमान)। चौथा यह है कि जगत के विनाश के लिए भी एक कर्ता चाहिए, जो ईश्वर होना चाहिए (विनाशानुमान)। पाँचवा यह है कि शब्दों को दिए गए अर्थ ईश्वर की इच्छा के कारण होने चाहिए (पदानुमान)। छठा यह है कि पुण्य एवं पाप, जिन्हें वेदों के व्यादेश से ज्ञात किया जा सकता है, उनका वेदों के रचयिता को मौलिक परिचय होना चाहिए (प्रत्यानुमान)। सातवाँ यह है कि श्रुतियाँ ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करती हैं। आठवाँ (वाक्यानुमान) सातवें से एक-रूप ही है। नवां इस प्रकार है—परमाणुओं के संघात का निर्माण उनकी संख्या पर निर्भर करता है, क्योंकि वे निरवयव हैं, संख्यात्मक प्रत्यय प्रत्यक्षकर्ता की सापेक्षिक मानसिक तुलना पर आश्रित होता है, सृष्टि के समय कोई ऐसी सत्ता होनी चाहिए। जैसे संख्यात्मक प्रत्यय के कारण संघात का निर्माण सम्भव होता है। यह नवां अनुमान है (संख्यानुमान)। यद्यपि ईश्वर जगत् का कारण माना जाता है, तथापि उसके शरीर हो यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि उत्पादक के रूप में कारण के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि उसमें शरीर का होना आवश्यक हो, किन्तु अन्य विद्वान् ऐसे हैं जिनके विचार में ईश्वर विशेष शरीरों, राम, कृष्ण, आदि के 'अवतार' को उत्पन्न करता है जिनके द्वारा वह विशेष प्रकारों में कार्य करता है। किन्तु विज्ञान-भिक्षु का विचार है कि सांख्य के

'बुद्धि' आदि पदार्थ परिणाम होने के नाते अपने पूर्व कारणों को पूर्वगृहीत करते हैं, जिनके संबंध में कुछ प्राज्ञ ज्ञान होना चाहिए, और जिसका उद्देश्य उसके द्वारा पूर्ण हो, ऐसा व्यक्ति ईश्वर है। इस विधि में पहले पदार्थों के एक मौलिक कारण (प्रकृति) को अनुमित किया जाता है, और ईश्वर वह है जिसे 'प्रकृति' का अपरोक्ष ज्ञान होता है जिसके फलस्वरूप वह पदार्थों की उत्पत्ति के लिए उसका रूपान्तरण करता है, और इस प्रकार स्वयं अपने उद्देश्य के लिए उसका प्रयोग करता है।

कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि उपनिषद्-पाठों में भी ब्रह्मन् के स्वरूप को अनुमित करने के उदाहरण मिलते हैं, और यद्यपि बादरायण स्वयं किन्हीं अनुमानों का प्रयोग नहीं करते, तथापि वे ऐसे पाठों का विवेचन करते हैं जो अनुमानों के आधार हैं। नैयायिकों का दृष्टिकोण यह रहा है कि अनुमान सही हैं क्योंकि वे उपनिषद्-पाठों के अनुकूल हैं। किन्तु वल्लभ, रामानुज एवं भास्कर से सहमत हैं कि ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में कोई अनुमान सम्भव नहीं हैं, तथा उसका स्वरूप केवल उपनिषद् पाठों की साक्षी से ही ज्ञात किया जा सकता है।[1]

ब्रह्मन् का स्वरूप

ब्रह्मन् जगत् का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण हैं। ब्रह्मन् के निमित्त कारणत्व के संबंध में कोई मतभेद नहीं है, परन्तु यह मतभेद है कि क्या ब्रह्मन् उसका सृष्टा है अथवा क्या वह उसका उपादान कारण है, चूँकि वेदांत 'समवाय' संबंध अथवा इस मत को स्वीकार नहीं करता कि ब्रह्मन् जगत् का समवायिकारण है। ब्रह्मन् के 'समवायिकारण' होने के विरुद्ध आपत्ति इस मान्यता से और भी प्रबल हो जाती है कि यदि वह ऐसा होता तो वह विकारी होना चाहिए (समवायित्वे विकृतत्व-स्यापत्तेः)। वल्लभ मानते हैं कि 'तन्तु समन्वयात्' सूत्र इस मत को स्थापित करता है कि ब्रह्मन् 'समवायिकारण' है, क्योंकि वह सत्, चित् एवं आनन्द के रूप में अपने त्रिविध स्वरूप में सर्वत्र अस्तित्व रखता है। 'प्रपंच' नाम, रूप व कर्म से निर्मित होता है, और ब्रह्मन् उन सबका कारण है, क्योंकि वह सर्वत्र अपने त्रिविध स्वरूप में स्थित रहता है। सांख्य मतावलम्बी यह मानते हैं कि 'सत्व,' 'रजस्' और 'तमस्' ही सर्व वस्तुओं में व्याप्त हैं, तथा सर्व वस्तुएं इन गुणों को अभिव्यक्त करती हैं, एक कारण कार्यों के स्वरूप का होना चाहिए, चूँकि सकल कार्य 'सत्व,' 'रजस्' व 'तमस्' के स्वरूप के होते हैं। अतः उत्तर यह है कि इससे अधिक गम्भीर आपत्ति खड़ी होती है, क्योंकि 'प्रकृति' (सत, रजस् व तमस् से निर्मित) स्वयं ब्रह्मन् का एक अंश

---

[1] टीकाकार पुरुषोत्तम रामानुज की प्रणाली के अनुसार ईश्वरवादी युक्तियों की आलोचना करते हैं। —'अनुभाष्य' पर टीका, पृ० ७४।

है (प्रकृतेरपि स्वमते तदंशत्वात्) ।[१] किन्तु फिर भी सांख्य की उपागम-विधि को स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'प्रकृति' का सुख अज्ञान के स्वरूप का होता है, और देश एवं काल से परिच्छिन्न होता है, वस्तुएं कुछ के लिए सुखकर होती हैं और अन्य युक्तियों के लिए दुखदायी होती हैं, वे एक काल में सुखकर होती हैं और दूसरे में सुखकर नहीं होती हैं, वे कुछ स्थानों में सुखदायी होती हैं और अन्य स्थानों में दुखदायी होती हैं। किन्तु ब्रह्मन् का आनन्द उपाधियों से अपरिच्छिन्न होता है, इस प्रकार आनन्द एवं ज्ञान से संबंधित आत्मन् का संबंध 'प्रकृति' के सुख से भिन्न होता है (भालानन्दज्ञानेन प्राकृतिक प्रियत्वादी बाधदर्शनात्) ।[२] इस प्रकार ब्रह्मन् ज्ञान एवं आनन्द के अपने यथार्थ स्वरूप में जगत् में परिव्याप्त है। अपनी इच्छा से ही वह स्वयं को अनेकता में अभिव्यक्त करता है, यथा अपने तीन लक्षणों चित्, सत व आनन्द को 'अंतर्यामिन्' के जड़ जगत् में विभिन्न अनुपातों में अभिव्यक्त करता है। ब्रह्मन् की अनेक एवं सर्व के रूप में व्याप्ति का तत्संबंधी शंकरवादी निरूपण से विभेद करना चाहिए। शंकर एवं उनके अनुयायियों के अनुसार विषयों के प्रापंचिक जगत् का यथार्थ अधिष्ठान ब्रह्मन् है, स्थूल आभास उक्त अपरिवर्तनशील सत्ता पर आरोपण मात्र होते हैं। इस मत के अनुसार स्थूल आभास ब्रह्मन् के परिणाम नहीं माने जा सकते, अथवा, अन्य शब्दों में, ब्रह्मन् स्थूल विषयों का 'उपादान' कारण नहीं माना जा सकता। हमें ज्ञात है कि शंकरवादियों में भी जगत् के उपादान कारण के संबंध में विविध मत पाये जाते हैं। इस प्रकार 'पदार्थ-निर्णय' के लेखक के विचार में ब्रह्मन् और 'माया' संयुक्त रूप से जगत के कारण हैं, ब्रह्मन् तो अपरिवर्तनशील कारण है 'माया' परिणामी कारण है। 'संक्षेप-शारीरिक' के लेखक सर्वज्ञात्ममुनि का विचार है कि ब्रह्मन् 'माया' के उपकरण के माध्यम से उपादान कारण होता है। वाचस्पति मिश्र के मत में 'जीव' में स्थित 'माया' ब्रह्मन् के साहचर्य में संयुक्त रूप से जगत् को उत्पन्न करती है, 'माया' यहाँ 'सहकारि' कारण मानी जाती है। 'सिद्धांत-मुक्तावली' के लेखक के मत में 'माया-शक्ति' यथार्थ उपादान कारण है, न कि ब्रह्मन्, ब्रह्मन् कारण एवं कार्य से अतीत होता है।[३]

किन्तु वल्लभ उक्त मत से असहमत हैं क्योंकि इसके अनुसार ब्रह्मन् का कारणत्व केवल अप्रत्यक्ष होता है, और आभास जो शंकर के अनुसार मिथ्या आरोपण हैं उनका कोई कारण नहीं माना जाता है, अतः वे मानते हैं कि ब्रह्मन् ने अपनी इच्छा से सत्, चित् एवं आनन्द के तत्वों के प्रावल्य के द्वारा स्वयं को जड़-पदार्थ जीव एवं ब्रह्मन्

---

१ वल्लभ का 'अनुभाष्य' पृ० ८५।

२ पुरुषोत्तम की टीका, पृ० ८६।

३ देखिए 'सिद्धान्तलेश' (लैज़ारस का संस्करण, १८९०), पृ० १२–१३।

नामक अपने तीन रूपों में अभिव्यक्त किया है। इसलिए ब्रह्मन् जगत् का 'समनायि-कारण' माना जाता है।[1]

भास्कर भी यह मानते हैं कि ब्रह्मन् का एक साथ ही जगत से अभेद और भेद हैं, जैसे समुद्र का एक अर्थ में लहरों से अभेद होता है तथा अन्य अर्थ में भेद होता है। यह निर्देश अर्थ-हीन है कि एक वस्तु अपनी विरोधी नहीं हो सकती, क्योंकि उसका उस रूप में अनुभव किया जाता है। विषयों के रूप में सर्व वस्तुएं एक मानी जा सकती हैं, किन्तु इस कारण से उनके विशिष्ट लक्षणों एवं अस्तित्व का अपवर्जन नहीं हो जाता, वस्तुतः उष्ण एवं शीतल अथवा अग्नि एवं स्फुलिंग की भाँति ब्रह्मन् एवं जगत् में कोई विरोध अथवा व्याघात नहीं है, क्योंकि जगत का उससे स्फुरण हुआ है, उसमें पालन होता है तथा उसमें लय होता है। साधारण व्याघात के उदाहरण में ऐसा नहीं होता, जब घट मृत्तिका से उत्पन्न किया जाता है, तब यद्यपि मृत्तिका एवं घट भिन्न प्रतीत हो सकते हैं, तथापि घट का मृत्तिका के बिना कोई अस्तित्व नहीं होता है—पूर्वोक्त की पश्चादुक्त में स्थिति रहती है। इसलिए कार्य के रूप में जगत में नानात्व है और कारण के रूप में उसका ब्रह्मन् से अभेद है।[2]

उससे एक रूप न होते हुए भी वल्लभ का दृष्टिकोण भास्कर के दृष्टिकोण के अति निकट है, वे मानते हैं कि वही ब्रह्मन् अपनी पूर्णता में जगत् के सर्व विषयों में तथा जीवों में विद्यमान रहता है। उसने विभिन्न रूपों में केवल कुछ गुणों को उनके प्रबल रूप में अभिव्यक्त किया है, इसलिए नानात्व में किसी विकार का समावेश नहीं होता। इसी कारण से वे 'उपादानकारण' की तुलना में 'समवायिकारण' पद को अधिक पसन्द करते हैं, उनके अनुसार 'समवायिकारण' का प्रत्यय सार्वभौम एवं निरुपाधिक व्याप्ति में निहित होता है। 'उपादान' के प्रत्यय में विकार के प्रत्यय का समावेश होता है, यद्यपि विकार से उत्पन्न कार्य 'उपादान' (अथवा उपादान कारण) में स्थित रहते हैं, और यद्यपि उनका अन्ततः उसमें विलय हो जाता है।[3] जहां तक ब्रह्मन् का सर्व नानात्व से अभेद माना जाता है, वल्लभ भास्कर से सहमत हैं।

---

[1] अनारोपितानागन्तुक-रूपेणानुवृत्तिरेवं समवाय इति इदमवे च तादात्म्यम्।
—'अनुभाष्य' पर पुरुषोत्तम की टीका, पृ० ९०।

[2] कार्यरूपेण नानात्वम्, अभेदः कारणात्मना हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भेदः।
—'भास्कर-भाष्य' पृ० १८।

[3] नन्वत्रोपादान-पदं परित्यज्य समवायि-पदेन कुतो व्यवहार इति चेदुच्यते। लोके उपादानपदेनकर्तृ-क्रियया व्याप्तस्य परिच्छिन्नस्यैवाभिधानदर्शनात् प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमिति।
—पुरुषोत्तम की टीका, पृ० ११८।

पुनः वल्लभ अन्य वेदान्त के विचारकों की भाँति 'समवाय' संबंध को अस्वीकृत करते हैं, यद्यपि वे ब्रह्मन् को जगत् का 'समवायिकारण' मानते हैं। उनका 'समवाय' का खण्डन शंकर एवं रामानुज जैसे अन्य वेदान्त के व्याख्याकारों की ही पद्धति का अनुकरण करता है, और उसकी यहाँ पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं है। वल्लभ के अनुसार 'समवाय' समवाय का संबंध नहीं होता, जैसाकि न्याय लेखकों द्वारा स्वीकार किया जाता है, उनके अनुसार उसका अर्थ 'तादात्म्य' होता है। नैयायिकों के अनुसार 'समवाय' कार्य एवं 'कारण' गुणों एवं द्रव्यों तथा सामान्यों एवं द्रव्य के मध्य स्थित समवाय का संबंध होता है, किन्तु वल्लभ कहते हैं कि यहाँ इन युग्मों को संयुक्त करने के लिए कोई पृथक् समवाय का संबंध नहीं होता, स्वयं द्रव्य ही क्रिया, गुणों एवं कारण व कार्य के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार केवल तादात्म्य की विविध रूपों में अभिव्यक्ति ही हमें वैपरीत्य में नानात्व का प्रत्यय प्रदान करती है, वस्तुतः समवाय संबंध द्वारा एक साथ संबंधित माने जाने वाले विविध रूपों में कोई भेद नहीं होता।[1]

अपने 'प्रस्थान-रत्नाकर' में पुरुषोत्तम कहते हैं कि 'माया' ब्रह्मन् की एक शक्ति है, और इस प्रकार उससे अभिन्न है (मायाया अपि भगवच्छक्तित्वेन शक्तिमद-भिन्नत्वात्),[2] 'माया' और 'अविद्या' एक ही हैं। इस 'माया' के द्वारा ही ईश्वर नानात्व के रूप में स्वय को अभिव्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति न तो एक दोष होता है और न एक सम्भ्रान्ति, वह विकार अथवा परिणाम के प्रत्यय को समाविष्ट किए बिना ईश्वर की विविध रूपों में एक यथार्थ अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार जगत् यथार्थ है, क्योंकि वह ईश्वर की यथार्थ अभिव्यक्ति है। ब्रह्मन् स्वयं सत्, चित् व आनन्द स्वरूप होने के कारण स्वयं को किसी भी उपकरण की सहायता के बिना अपने आंशिक पक्षों में अभिव्यक्त कर सकता है। ब्रह्मन् को ज्ञान, आनन्द, क्रिया, काल, इच्छा, 'माया' एवं 'प्रकृति' नामक अपने यज्ञों अथवा लक्षणों में संकल्पित करना सम्भव है। 'काल' क्रियाशक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। 'काल' के द्वारा सृष्टि एवं प्रलय के निर्धारण का अर्थ उसकी क्रिया-शक्ति का परिसीमन होता है, इस क्रिया-शक्ति से निर्धारित होकर उसके अन्य पक्ष निरन्तर उसके साथ-साथ क्रिया करते हैं। अपनी इच्छा से वह अपनी आत्माओं को स्वयं से भिन्न संकल्पित करता

---

[1] ननु दूषिते समवाये अयुत सिद्धयोः कः सम्बन्धोऽङ्गीकर्त्तव्यः इति चेत्तादात्म्यमेवं इति ब्रूमः। कथमिति चेतित्थं प्रत्यक्षाद् यद्-द्रव्य यद्-द्रव्यं-समवेतं तद् तदात्मकमिति व्याप्तेः·········कारण-कार्य-तादात्म्यं द्रव्ययोर्निर्विवादम्।

—वही, पृ० ६२७।

[2] 'प्रस्थान-रत्नाकर' पृ० १५९।

है और इस प्रकार से संकल्पित विभिन्न रूपों के द्वारा वह स्वयं को अभिव्यक्त करता है, इस प्रकार ब्रह्मन् के विविध लक्षण उसको विविध रूपों में अभिव्यक्त करते हुए उसको भी विविध प्रकारों में भिन्न होते हुए अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार, यद्यपि वह ज्ञान एवं आनन्द से एक रूप हैं, तथापि वह इसके स्वामी के रूप में प्रतीत होना है। ईश्वर की शक्ति अपने स्वरूप को विशुद्ध सत के रूप में, क्रिया के रूप में एवं ज्ञान के रूप में अपने स्वरूप में सम्भ्रान्ति उत्पन्न करने में निहित होती है। यह सम्भ्रान्ति स्वयं को आनुभाविक अज्ञान (जो स्वयं को अहंता के रूप में प्रकट करता है) के रूप में अभिव्यक्त करते हुए उस 'माया' का अंश होती है जो जगत् की सृष्टि करती है, और जगत् के रूप में ईश्वर की अभिव्यक्ति में आनन्दरूप ईश्वर का उपकरण होती है। इस प्रकार 'माया' मूल कारण से परे एक गौण कारण के रूप में प्रतीत होती है, और कभी-कभी उसका रूपान्तरण कर सकती है, और फलतः ईश्वर की इच्छा के कारण के रूप में क्रियान्वित हो सकती है। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार से संकल्पित 'माया' मूल कारण नहीं मानी जा सकती। वह प्रथम तो अनेक होने की ईश्वर की मूल इच्छा को पूर्णरूप से क्रियान्वित होने में सहायता देती है, दूसरे, वह उच्च एवं निम्न के रूप में अस्तित्व की श्रेणियों की विविधता की सृष्टि में सहायक होती है। ईश्वर के ज्ञान एवं क्रिया की अभिव्यक्ति के संबंध में ही ईश्वर ज्ञान एवं क्रिया का स्वामी माना जा सकता है। सम्भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला 'माया' का पक्ष 'अविद्या' माना जाता है। यह सम्भ्रान्तिपूर्ण सप्रत्यक्ष भी हम में पाए जाने वाले अवबोध के स्वरूप का होता है, इस सम्भ्रान्तिपूर्ण अवबोध के द्वारा एक पृथक् सत्ता के रूप में संकल्पित आनन्द के स्वरूप से साहचर्य की इच्छा उत्पन्न होती है और उसके द्वारा प्राणियों में जीवन को निर्मित करने वाले विविध प्रयत्नों की उत्पत्ति होती है। इस जीवन के कारण ही व्यक्ति 'जीव' कहलाता है। सद्-अंश में स्वरूप का अभिधान अथवा क्रिया की उपज जड़ विषयों के रूप में प्रकट होती है, और बाद में वह पुनः क्रिया से संबंधित होती है तथा स्वयं को प्राणियों के शरीर के रूप में अभिव्यक्त करती है। इसलिए ईश्वर की द्विविध इच्छा से उसके विशुद्ध सद्-अंश से जड़ 'प्राणों' का स्फुरण होता है जो 'जीवों' के बन्धन के तत्वों के रूप में कार्य करते हैं और उसके सद्-अंश की अभिव्यक्ति मात्र होते हैं, उसके विशुद्ध चिद्-अंश से 'जीवों' का स्फुरण होता है जो बन्धन के अधीन होते हैं, और उसके आनन्दांश से विस्फुलिंग-न्याय से 'अन्तर्यामियों' का स्फुरण होता है जो जीवों के नियामक होते हैं।[1]

---

[1] एवं च उभाभ्यामिच्छाभ्यां सच्चिद् आनन्दरूपेभ्यो यथा-यथं प्राणाद्या जड़श्चिदंश जीव-बन्धन-परिकर-भूताः सदंशाः जीवश्चिदंशा बन्धनीया आनन्दांशास्त-न्नियामका अन्तर-यामिनश्च विस्फुलिंग-न्यायेन व्युच्चरन्ति।

—'अनुभाष्य' पर टीका, पृ० १६१–२।

अतः बद्ध 'जीवों' में कुछ ऐसे हो सकते हैं जिससे ईश्वर प्रसन्न हो सकता है और जिनको वह सम्पूर्ण ज्ञान-शक्ति प्रदान कर सकता है, ऐसे व्यक्तियों पर भ्रान्ति-पूर्ण 'माया' अपना प्रभुत्व त्याग देती है, इस प्रकार वे अपने विशुद्ध चिद् स्वरूप में एक मुक्त अवस्था में रहते हैं, किन्तु उन्हें जगत के व्यापारों को नियन्त्रित करने की शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

ब्रह्मन् का 'स्वरूप' दृष्टि से तथा 'कारण' दृष्टि से एक भिन्न प्रकार से वर्णन किया जा सकता है। 'स्वरूप' दृष्टि से ईश्वर कर्म, ज्ञान एवं ज्ञान व क्रिया के रूप में तीन पक्षों में देखा जा सकता है। वेदों के कर्म-काण्डीय क्षेत्र में विहित कारण द्वितीय पक्ष में उसके स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। तृतीय पक्ष का प्रतिनिधित्व 'भक्ति'-मार्ग में होता है जिसमें ईश्वर ज्ञान, क्रिया व आनन्द के रूप में माना जाता है। कारण पक्ष में 'अन्तर्यामिनों' का प्रत्यय आता है, जो यद्यपि वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप होते हैं, तथापि 'जीवों' के अधीक्षक बनकर उनके कार्यों में सहायता प्रदान करते हैं,[1] इस प्रकार 'अन्तर्यामिन्' 'जीवों' के समान ही असंख्य होते हैं। किन्तु उक्त 'अन्तर्यामिनों के अतिरिक्त ईश्वर एक 'अन्तर्यामिन' भी माना जाता है, और उसका 'अन्तर्यामि-ब्रह्मन्' में ऐसा ही वर्णन किया गया है।

तत्व

काल भी ईश्वर का एक रूप माना जाता है। 'काल' के प्रत्यय में कर्म एवं स्वभाव का समावेश होता है। काल का स्वरूप-लक्षण सत्, चित् व आनन्द है, यद्यपि व्यवहार में वह सत्वांश ही प्रकट होता है।[2] वह अतीन्द्रिय होता है तथा केवल कार्यों के स्वरूप से ही अनुमित किया जा सकता है (कार्यानुमेय)। उसकी परिभाषा नित्य व्यापक तथा सकल वस्तुओं के कारण एवं अधिष्ठान के रूप में दी जा सकती है। काल 'गुणों' की साम्यावस्था को विक्षुब्ध करने वाला प्रथम कारण होता है। सूर्य, चन्द्र आदि उसके 'आधिभौतिक' रूप हैं, परमाणु उसके 'आध्यात्मिक रूप हैं, और ईश्वर उसका 'आधिदैविक' रूप है। सूर्य एक परमाणु से गुजरने में जितना समय लगाता है उसे काल-परमाणु कहते हैं, इस प्रकार वह अत्यधिक लघु होने

---

[1] अन्तर्यामिणां स्व-रूप-भूतत्वेऽपि जीवेन सह कार्ये प्रवेशात् तद्-भेदानामानन्त्येऽपि कारनी-भूत-वक्ष्यमाण-तत्व-शरीरे प्रविश्य तत्-सहाय-करणात् कारण-कोटावेव निवेशो न तु स्व-रूप-कोटौ। —वही, पृ० १६४-५।

[2] एतस्यैव रूपान्तरं काल-कर्म-स्वभावाः कालस्यांश-भूतौ कर्म-स्वभावौ तत्र अन्तःसच्चिदानन्दो व्यवहारे ईशत्सत्वांशेन प्रकटः काल इति कालस्य स्वरूप-लक्षणं। —वही, पृ० १६५।

के कारण आगे विभाजित नहीं किया जा सकता। लघुतम काल की इकाइयों के संघात से ही काल के दीर्घ विस्तार की उत्पत्ति होती है, क्योंकि काल एक ऐसा सर्व-व्यापी स्वरूप का अंशी नहीं है, जिसका अंश लघुतर काल की इकाइयाँ होती हैं।

'कर्म' सार्वभौम माना जाता है, वह इस या उस व्यक्ति के विशिष्ट कर्मों के विविध रूपों एवं विशिष्ट अवस्थाओं के रूप में ही अपनी अभिव्यक्ति करता है। चूंकि यह सार्वभौम 'कर्म' ही विविध मानवों के विभिन्न कर्मों के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करता है, इसलिए आत्मन् में स्थित एक पृथक् पदार्थ के रूप में 'अदृष्ट' को मानना अनावश्यक है, जो एक 'कर्म' के विनष्ट होने पर शेष रहता है और एक दूरस्थ काल के पश्चात् उसके फल को प्रदान करता है, 'धर्म' एवं 'अधर्म' को भी महत्वपूर्ण पदार्थों के रूप में स्वीकार करना अनावश्यक है, क्योंकि वे सब इस सर्वभौम 'कर्म' के प्रत्यय में समाविष्ट हो जाते हैं जो स्वयं को विविध अवस्थाओं में विविध रूपों में प्रकट करता है। इस प्रकार 'धर्म' एवं 'अधर्म' पदों का अनुप्रयोग केवल तार्किक अभिव्यंजना की विधि है, इस प्रकार वह इस तथ्य की व्याख्या करता है कि एक विशिष्ट कर्म कैसे 'अदृष्ट' की मध्यस्थता के बिना 'स्वर्ग' की उत्पत्ति कर सकता है, अथवा कैसे एक व्यक्ति का 'कर्म' (पुत्रेष्टि 'यज्ञ') अन्य व्यक्ति अर्थात् पुत्र में फल उत्पन्न कर सकता है। यह शास्त्रों द्वारा की गई व्याख्या की अवस्थाओं के द्वारा निर्धारित होता है कि एक 'कर्म' को उसके कर्त्ता एवं अन्य व्यक्तियों के संबंध में अपने फलों की अभिव्यक्ति कैसे करनी चाहिए ? एक फल की विशिष्ट केन्द्रों में विशिष्ट रूपों में उत्पत्ति का अर्थ उसका विनाश न होकर उसका लोप होता है।[1]

'स्वभाव' को एक पृथक् तत्व माना जाता है। उसका भी ईश्वर से तादात्म्यीकरण किया जाता है, उसका व्यापार ईश्वर की इच्छा की अनुप्रेरणा में निहित होता है। इसलिए उसकी परिभाषा के परिणाम के हेतु के रूप में की जाती है (परिणाम-हेतुत्वं तल-लक्षणम्), वह सार्वभौम होता है और अन्य सभी वस्तुओं से पूर्व अपनी अभिव्यक्ति आप करता है। किन्तु, ऐसे सूक्ष्म परिणाम हो सकते हैं जो पहले दिखाई नहीं देते, किन्तु जब वे प्रकट होते हैं, तो वे 'स्वभाव' के व्यापार की पूर्वापेक्षा रखते हैं, जिसके बिना वे उत्पन्न नहीं हो सकते थे। इसी से अठाईस 'तत्व' विकसित हुए हैं—उनको 'तत्व' कहा जाता है क्योंकि वे 'तत्' अर्थात् ईश्वर के स्वरूप के होते हैं, इस

---

[1] तल्लक्षणं च विधि-निषेध-प्रकारेण लौकिक क्रियाभिः प्रदेशतोऽभिव्यंजन-योग्या व्यापिका क्रियेति········ एतेनैवादृष्टस्याप्यात्म-गुणत्वं निराकृतं वेदितव्यम्। एवंचापुर्वादृष्टधर्मादिपदे······रपीदमेवोच्यते। अतः साधारण्येऽपि फलव्यवस्थोपपत्तेर्न कर्म-नानात्वमित्यपि। दान-हिंसादौ तु धर्माधर्मादि-प्रयोगोऽभिव्यंजकत्वोपाधिना भाक्तः। —वही, पृ० १६८–६।

प्रकार सकल 'तत्व' ईश्वर की अभिव्यक्ति होते हैं। 'स्वभाव' की अभिव्यक्ति में समाविष्ट कारणता एक विशिष्टत कारणता होती है जो एक निश्चित कारण का अनुसरण करती है और 'तत्वों' के विकासात्मक क्रम को उत्पन्न करती है, इस अर्थ में वह ईश्वर की इच्छा की कारणता से भिन्न होती है, और केवल एक सामान्य रूप में कारण होती है। इन तत्वों में 'सत्व' वह है जो सुख एवं ज्ञान प्रकाशत्व-स्वरूप होने और सुख की अभिव्यक्ति में बाधक न होने के कारण जीवों में सुख एवं ज्ञान के प्रति असक्ति का कारण बनता है।[1] 'रजस्' वह है जो आसक्ति-स्वरूप होने के कारण जीवों में अभिनिवेश अथवा कर्मों की इच्छा उत्पन्न करता है। 'तमस्' वह है जो जीवों में त्रुटियां, आलस्य, निद्रा आदि की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। उक्त 'गुणों' का सांख्य-मत एवं वल्लभ के मत (जो 'पंचरात्र,' 'गीता' व 'भागवत' का अनुसरण करता है, ऐसा माना जाता है) में अन्तर है। इस प्रकार, सांख्य के अनुसार, 'गुण' स्वयं क्रियाशील होते हैं, किन्तु वे अमान्य हैं, क्योंकि इनसे स्वभाववाद और निरीश्वर-वाद की उत्पत्ति होगी। और न 'रजस्' की यह परिभाषा दी जा सकती है कि वह दुख स्वरूप है, क्योंकि प्रामाणिक शास्त्र उसके आसक्ति रूप होने का कथन करते हैं। जब इन गुणों की ईश्वर से उत्पन्न होने की संकल्पना की जाती है तब वे ईश्वर की चिच्छक्ति-रूप एवं आनन्द-रूप 'माया' के स्वरूप के माने जाते हैं।[2] इन्हें (सत्व, रजस् व तमस् को) 'माया' की उपज के रूप में 'माया' से एक-रूप मानना चाहिए। और न ये 'गुण' पदार्थ होते हैं, जैसाकि सांख्य द्वारा संकल्पित किया गया है, और न ये परस्पर समस्यात्मक रूप में मिश्रित होते हैं, वरन् उनका सहयोग केवल 'पुरुष' के निर्माण के हेतु होता है। इस प्रकार, जैसे रुई अपना विस्तार तंतुओं के रूप में करती है वैसे ही ईश्वर 'माया' के रूप में अपनी अभिव्यक्ति करता है। निर्गुण के रूप में ईश्वर स्वयं ही अपने सर्व गुणों को उत्पन्न करता है, अपने सत्-अंश में वह 'सत्व' को उत्पन्न करता है, अपने आनन्दांश में वह 'तमस्' को उत्पन्न करता है और अपने चिद्-अंश में वह 'रजस्' को उत्पन्न करता है।[3]

'पुरुष' अथवा 'आत्मन्' की परिभाषा तीन दृष्टिकोणों से दी जा सकती है—उसकी अनादि, गुण-रहित, 'प्रकृति' के नियन्त्रक, एवं अहमर्थ के विषय के रूप में

---

[1] सुखानावरकत्वे प्रकाशकत्वे सुखात्मकत्वे च सति सुखासक्त्या ज्ञानासक्त्या च देहिनो-देहाद्यासक्ति-जनकं सत्त्वम्।

—'अनुभाष्य' पर टीका, पृ० १७०।

[2] एते च गुणा यदा भगवतः सकाशादेव उत्पद्यन्ते तदा माया चिच्छक्ति-रूपा आनन्द-रूपा विज्ञेया। —वही, पृ० १७१।

[3] सदंशात् सावम्, आनन्दांशात् तमः चिदंशात् रजस्।

—वही, पृ० १७२।

व संप्रत्यक्षनीय के रूप में परिभाषा की जा सकती है, उसकी केवल स्व-प्रकाशक के रूप में भी परिभाषा की जा सकती है, और, पुनः, उसकी इस रूप में भी परिभाषा की जा सकती है कि वह यद्यपि जगत् के गुणों अथवा दोषों से वस्तुतः प्रभावित नहीं होता है, तथापि उनसे साहचर्य रखता है। एक स्व-प्रकाश व आनन्दमय स्वरूप की आत्म-सत्ता सर्व-प्रकार के विषयों के अभाव में भी एक प्रकार की चेतना एवं आनन्द होते हैं, जैसाकि सुषुप्ति अवस्था में होते हैं। इस प्रकार चैतन्य ही आत्मन् के यथार्थ स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है, जो हमारे साधारण अनुभव में विविध प्रकार के अज्ञान से सम्बन्धित होता है और स्वयं को ज्ञान के विषयों से परिसीमित करता है। 'पुरुष' एक है, यद्यपि वह भगवद् की इच्छा के कारण 'माया' की भ्रान्ति-जनक शक्ति के द्वारा अनेक के रूप में भासित होता है। इस प्रकार कर्त्ता एवं भोक्ता का प्रत्यय भ्रान्ति के कारण उत्पन्न होता है। इसी कारण से मोक्ष सम्भव होता है, क्योंकि यदि 'पुरुष' स्वभावतः स्वतन्त्र व मुक्त नहीं होता तो उसे किसी भी साधन से मुक्त करना सम्भव नहीं होगा। चूंकि 'पुरुष' स्वभावतः स्वतन्त्र होता है, इसीलिए जब वह एक बार मुक्त हो जाता है तब उसका फिर कोई बन्धन नहीं हो सकता। यदि बन्धन बाह्य अशुद्धताओं से साहचर्य के रूप का होता तो मोक्ष में भी किसी भी समय उक्त अशुद्धताओं से साहचर्य का फिर अवसर बना रहता, चूंकि सर्व बन्धन व अशुद्धताएं भ्रान्ति के कारण होते हैं इसलिए जब एक बार वह टूट जाता है तब फिर से किसी बंधन की कोई संभावना नहीं रहती।[1] परन्तु 'प्रकृति' दो प्रकार की होती है–(अ) 'अज्ञान' से संबंधित प्रकृति–जो विकासात्मक क्रम का कारण होती है, और (ब) ईश्वर में स्थित–'प्रकृति' जो ईश्वर अथवा ब्रह्मन् में सर्व वस्तुओं को धारण करती है। 'जीव' अथवा प्रापंचिक व्यक्ति 'पुरुष' का एक अंश माना जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि 'पुरुष' के प्रत्यय का ब्रह्मन् के प्रत्यय से तादात्म्य होता है, इस कारण से 'जीव' एक ओर तो 'पुरुष' का अंश माना जा सकता है, और दूसरी ओर अविकारी ब्रह्मन् का अंश माना जा सकता है। 'जीव' के विभिन्न प्रकार के अनुभव यद्यपि 'कर्म' से उत्पन्न प्रतीत होते हैं, तथापि वस्तुतः वे भगवद्-इच्छा से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि जिस किसी का भी ईश्वर उत्थान चाहता है, उससे वह सत्कर्म करवाता है, और जिस किसी का भी वह पतन चाहता है उससे वह असत्कर्म करवाता है। 'प्रकृति' अपने प्रमुख अर्थ में ब्रह्मन् से एक-रूप होती है, वह ब्रह्मन् का ऐसा

---

[1] एवं तस्य केवलत्वे सिद्धे यस्तस्मिन् कर्तृत्वादिना सगुणत्वप्रत्ययः स सृष्ट्यनुकूल भगवदिच्छया प्रकृत्याद्यविवेक कृतः······अतैव च मुक्ति-योग्यत्वम्। अन्यथा बन्धस्य स्वाभाविकत्वापत्तौ मोक्ष-शास्त्र-वैयर्थ्यापत्तेः स्वाभाविकस्य नाशायोगात् प्रवृत्ति-विधौ तु अनुष्ठान-लक्षणाप्रामाण्यापत्तेश्च ········सोऽयं न नाना, किन्त्वेकैव सर्वत्र।
–वही, पृ० १७५–६।

स्वरूप है जिससे वह जगत् की सृष्टि करता है। जिस प्रकार ब्रह्मन् एक ओर सत्, चित् व आनन्द से एक-रूप होता है, तथा दूसरी ओर वह उनसे संबंधित माना जाता है, उसी प्रकार 'प्रकृति' 'गुणों' का तादात्म्य तथा उनकी स्वामिनि मानी जा सकती है। यही वल्लभ-मत की 'प्रकृति' का सांख्य-मत की 'प्रकृति' से विभेद है। 'महत्' आदि अन्य तत्व न्यूनाधिक सांख्य-प्रणाली के अनुसार ही 'प्रकृति' से विकसित होते हुए माने जाते हैं, परन्तु 'मनस्' को एक 'इन्द्रिय' नहीं माना जाता।

प्रमाण

पुरुषोत्तम कहते हैं कि 'ज्ञान' अनेक प्रकार का होता है। इनमें से 'नित्य-ज्ञान' चार प्रकार का होता है–ईश्वर का स्वरूप जिसमें उसका सर्व सत्ताओं से तादात्म्य होता है और वह 'मोक्ष-स्वरूप' होता है, उसके महान् व भद्र गुणों की अभिव्यक्ति, सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों के रूप में उसकी अभिव्यक्ति, ईश्वर के सकल ज्ञेय रूपों में शाब्दिक ज्ञान के रूप में उसकी अभिव्यक्ति। शाब्दिक ज्ञान में उसका रूप स्वयं को व्यक्तियों में अभिव्यक्त करता है, इसी कारण से शब्दों के साहचर्य के बिना कोई ज्ञान नहीं हो सकता–गूंगों में भी, जिनके वाणी नहीं होती, संकेत होते हैं जो भाषा का स्थान लेते हैं। यह पाँचवें प्रकार का ज्ञान है। फिर, एक प्रकार का इन्द्रिय-ज्ञान होता है और चार प्रकार का मानसिक ज्ञान होता है। मानसिक···ज्ञान में वह ज्ञान जो 'मनस्' द्वारा उत्पन्न होता है 'संशय' कहलाता है, मनस् का व्यापार 'संकल्प' एवं 'विकल्प' होता है। 'बुद्धि' का व्यापार संशय का अतिक्रमण करके निश्चय के रूप में ज्ञान को उत्पन्न करता है जो एक दोलायमान स्वरूप का होता है। स्वप्नों का ज्ञान ज्ञान से संबंधित 'अहंकार' से उत्पन्न होता है। 'चित्त' सुषुप्ति की अवस्था में आत्मन् का प्रत्यक्षीकरण करता है। इस प्रकार 'अन्तःकरण' का चतुर्विध ज्ञान होता है, यह एवं इन्द्रिय-ज्ञान तथा पूर्व-कथित पाँच प्रकार के ज्ञान दस प्रकार के ज्ञान को निर्मित करते हैं। एक अन्य दृष्टिकोण से 'काम,' 'संकल्प,' 'विचिकित्सा,' 'श्रद्धा,' 'अश्रद्धा,' 'धृति,' 'अधृति,' 'ही,' 'धी,' 'भी' सभी मनस् होते हैं। सुख एवं दुःख भी उसी में स्थित रहते हैं क्योंकि वे इन्द्रियों से संबंधित नहीं होते। ज्ञान केवल तीन क्षणों तक ही नहीं रुकता, किन्तु तबतक बना रहता है जबतक कि उसका ज्ञान के अन्य विषयों के द्वारा अतिक्रमण नहीं हो जाता, और तब भी वह 'संस्कार' के रूप में शेष रहता है। यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि 'मनस्' तब उसकी ओर अपना ध्यान निर्दिष्ट करता है तब वह उसे स्मृति में खोज सकता है, चूंकि मनस् अन्य विषयों में व्यस्त रहता है इसलिए उक्त ज्ञान की खोज नहीं की जा सकती। 'स्मृति' को उचित अभ्यास से दृढ़ बनाया जा सकता है, तथा वस्तुओं का विस्मरण अथवा त्रुटिपूर्ण स्मरण विविध प्रकार के दोषों के कारण हो सकता है, इन उदाहरणों में भी ज्ञान का विनाश नहीं होता, बल्कि 'माया' के प्रभाव से वह आवृत्त रहता है।

'प्रमाणों' से संबंधित ज्ञान 'सात्विक' ज्ञान होता है, 'सत्व' का 'प्रमा' से साहचर्य होता है, और जब वह विलीन हो जाता है तब त्रुटि उत्पन्न होती है। 'प्रमा' की परिभाषा अबाधित-ज्ञान अथवा ऐसे ज्ञान के रूप में दी जाती है जो बाध-योग्य नहीं हो।[1] जिस 'सत्व' के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है उसकी वृद्धि अनेक कारणों से हो सकती है, अर्थात् शास्त्रों, विषयों, जनता, देश, काल, जन्म, कर्म, ध्यान, मंत्रों, शुद्धीकरण एवं संस्कारों से। 'सत्व' में जो ज्ञान प्रमुखतः प्रबल होता है वह यह प्रत्यय होता है कि एक सामान्य तत्व सर्वत्र विद्यमान है, केवल यही ज्ञान पूर्ण रूप से सत्य होता है। जो ज्ञान 'रजस्' से सम्बन्धित होता है वह पूर्णतः सत्य नहीं होता, यह वह ज्ञान होता है जो हम अपने साधारण अथवा प्रत्यक्षात्मक वैज्ञानिक ज्ञान में प्राप्त करते हैं, जो त्रुटियों एवं संशोधन के योग्य होता है। यह 'रजस' ज्ञान अपनी प्रथम अभिव्यक्ति के समय अपने स्वरूप में निर्विकल्पक होता है, जो हमें केवल वस्तुओं के अस्तित्व का ज्ञान प्रदान करता है। पर, इस अवस्था में इन्द्रियों का विषयों पर प्रथम अनुप्रयोग होता है जो 'सत्व' गुण उत्पन्न करते हैं, तथा 'रजस' से कोई साहचर्य नहीं होता, इस कारण से उक्त निर्विकल्पक ज्ञान यद्यपि 'रजस्' ज्ञान का प्रारम्भ होता है तथापि वह 'सात्विक' माना जा सकता है। विशुद्ध इन्द्रिय-ज्ञान अथवा संवेदन इन्द्रियों में अन्तर्निहित नहीं माना जाता। प्रथम तो इन्द्रिय-प्रक्रिया 'सत्व' को उत्पन्न करती है, अतएव इन्द्रियों के अनुप्रयोग से उत्पन्न प्राथमिक ज्ञान इन्द्रियों के विशिष्ट गुणों,–दृष्टिक, श्रवणीय आदि का प्रवहन नहीं करता, बल्कि केवल अस्तित्व का प्रवहन करता है जो किसी इन्द्रिय का विशिष्ट गुण न होकर केवल 'सत्व' के स्वरूप को अभिव्यक्ति होता है। ऐसा ज्ञान यद्यपि इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होता है तथापि उनमें स्थित नहीं होता। 'मनस्' के विकल्प के द्वारा ही शुद्ध सत् के रूप में यह ज्ञान इन्द्रिय-लक्षणों के साहचर्य में विशिष्ट रूपों को ग्रहण करता है। उक्त व्यापार का अनुप्रयोग इतना द्रुत होता है कि हमें उसका सरलता से बोध नहीं होता, और इस कारण से हम प्रायः 'निर्विकल्पक' ज्ञान के पूर्वअस्तित्व का पता लगाने में असमर्थ रहते हैं।

सविकल्पक ज्ञान की दशा में, चाहे वह घट के ज्ञान की भाँति सरल हो, अथवा भूमि पर घट के ज्ञान की भाँति जटिल हो, वही क्रियाविधि होती है जिसमें पहले इन्द्रियों के द्वारा सत् का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष किया जाता है, जो 'रजस्' के बाद के प्रभाव से नाम-रूप से सम्बन्धित हो जाता है, इन्द्रियों द्वारा प्रदत्त सत् ही इन्द्रियों के साहचर्य में 'रजस्' द्वारा अनुप्रेरित 'अन्तःकरण' के प्रभाव से नाम-रूप में अभिव्यक्त

---

[1] अबाधित–'ज्ञानत्व' बाध–योग्य-व्यतिरिक्तत्वं वा तल्लक्षणम्।

–'प्रस्थानरत्नाकर' पृ० ६।

होता है। प्रत्यक्ष में जिस सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता है वह नानात्व के रूप में ब्रह्मन् की ब्रह्माण्डीय अभिव्यक्ति के अनुरूप होता है, जिसमें विशुद्ध ब्रह्मन् अपनी इच्छा एवं विचार के द्वारा स्वयं को अनेकता के रूप में प्रकट करता है, यद्यपि वह सर्व काल में स्वयं में एक बना रहता है, प्रत्यक्षीकरण की दशा में इन्द्रियां अपने प्राथमिक अनुप्रयोग से 'सत्व' को प्रवाहित करती हैं जिसके फलस्वरूप विशुद्ध सत् का संप्रत्यक्ष होता है, जो बाद में इन्द्रियों के साहचर्य में क्रियाशील 'अन्तःकरण' के 'रजस' तत्व के द्वारा नाम रूप से सम्बन्धित हो जाता है। सविकल्पक ज्ञान दो प्रकार का होता है,– विशिष्ट–बुद्धि 'और' 'समूहालम्बन-बुद्धि', पूर्वोक्त का अर्थ है सम्बन्धित ज्ञान ('लाठी लिए हुए एक मनुष्य'), तथा पश्चादुक्त का अर्थ है वस्तुओं के समूह के रूप में ज्ञान ('एक लाठी और एक पुस्तक') सरल विषयों (यथा घट) का ज्ञान एक सम्बन्धित ज्ञान माना जाता है। ये सभी विविध प्रकार के सविकल्पक ज्ञान वस्तुतः एक ही प्रकार के होते हैं, क्योंकि वे सब इन्द्रियों द्वारा सत् की अभिव्यक्ति एवं 'अन्तःकरण' द्वारा नाम-रूप के आरोपण के सरल व्यापार में निहित होते हैं।

एक अन्य दृष्टिकोण से सविकल्पक ज्ञान पांच प्रकार का हो सकता है,–(१) संशय, (२) विपर्यास, (३) निश्चय, (४) स्मृति और (५) स्वरूप।

'संशय' की परिभाषा एक ही विषय में दो या अनेक विरोधी धर्मों के ज्ञान के पैर रूप में की जाती है (एकस्मिन धर्मिणि विरुद्ध-नाना-कोट्य-अवगाहि ज्ञानं संशयम्)। 'विपर्यय' की परिभाषा इन्द्रियों के सम्पर्क में जो विषय हैं उनसे भिन्न बाह्य विषयों के ज्ञान-रूप में की जाती है। 'निश्चय' का अर्थ है विषयों का सम्यक् ज्ञान, उक्त ज्ञान का स्मृति से विभेद करना आवश्यक है, क्योंकि ज्ञान (अनुभव) का अर्थ सदा एक विषय का प्रत्यक्षीकरण होता है जबकि स्मृति केवल आभ्यंतरिक होती है यद्यपि वह एक पूर्व अनुभव के द्वारा उत्पन्न होती है। उक्त सम्यक् ज्ञान प्रत्यक्षीकरण, अनुमान, शब्द और सादृश्य ('उपमिति' जो सादृश्य के ज्ञान से सम्बन्धित इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होती है (सादृश्यादि सदृकृतेन्द्रियार्थ-संसर्गज्ञान) हो सकता है।

यह सम्यक् ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है–प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष इन्द्रिय और उसके विषय के सत् सम्पर्क से उत्पन्न होता है (इन्द्रियार्थ-सत्-सम्प्रयोग-जन्यं-ज्ञानम्)।[१] स्मृति की परिभाषा एक ऐसे ज्ञान के रूप में की जाती है जो न निद्रा से और न बाह्य विषयों से उत्पन्न होता है, बल्कि पूर्व संस्कारों से उत्पन्न होता है, जो पूर्व ज्ञान के सूक्ष्म अस्तित्व में निहित होते हैं। स्वप्नानुभव विशिष्ट सृष्टि होते हैं, अतएव साधारण अनुभव के वस्तु जगत से उनका विभेद किया जाना चाहिए, वे ईश्वर द्वारा 'माया' से निर्मित किये जाते हैं। वस्तुतः यह मध्व के मत से भिन्न है, क्योंकि उसके अनुसार स्वप्नानुभव किसी भी सामग्री से रहित होते हैं और सृष्टि नहीं

---

[१] प्रस्थानरत्नाकर, पृ० २०।

माने जाने चाहिए, वे विचार द्वारा उत्पन्न भ्रम-मात्र होते हैं। वल्लभ के अनुसार स्वप्नानुभव सृष्टि होने के कारण उनके ज्ञान को भी यथार्थ मानना चाहिए। सुषुप्ति स्वप्नानुभवों की एक जाति-विशेष होती है जिसमें आत्मन् स्वयं को अभिव्यक्त करता है (तत्र आत्म-स्फुरणंतु स्वत स्व)। चिन्तन (संकल्प या विकल्प के रूप में, अथवा अन्वय व्यक्तिरेक विधि के द्वारा, अथवा मानसिक संशय अथवा ध्यान के रूप में) का स्मृति के अन्तर्गत समावेश किया जाता है। लज्जा, भय (ह्री, भी) आदि अहंकार के व्यापार हैं ज्ञानात्मक वृत्तियों के नहीं। प्रत्यभिज्ञा को सम्यक् ज्ञान (निश्चय) माना जाता है। अभ्यास-जन्य दृढ़ ज्ञान की दशा में तो पूर्वानुभव-संस्कार 'सहकारी' के रूप में कार्य करते हैं और प्रत्यभिज्ञा की दशा में स्मृति 'सहकारिणी' के रूप में कार्य करती है।[1] इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा स्मृति के कारण उत्पन्न मानी जाती है, पूर्वानुभव-संस्कार के कारण नहीं। इस अधिमान्यता का कारण यह है कि यद्यपि प्रत्यभिज्ञा में पूर्वानुभव-संस्कार की प्रक्रिया होती है तथापि स्मृति का व्यापार उसमें प्रत्यक्ष सहायता प्रदान करता है। प्रत्यभिज्ञा का स्मृति से यह अन्तर है कि जहाँ पश्चादुक्त पूर्वानुभव-संस्कारों से अपरोक्ष रूप में उत्पन्न होती है, वहाँ पूर्वोक्त वर्तमान प्रत्यक्षीकरण के साहचर्य में स्मृति की प्रक्रिया से अपरोक्ष रूप में तथा पूर्वानुभव-संस्कारों की प्रक्रिया से परोक्ष रूप में उत्पन्न होती है।

प्रमा एवं भ्रम में विभेद इस तथ्य में निहित है कि पश्चादुक्त में पूर्वोक्त से कुछ अधिक होता है, इस प्रकार शुक्ति-रजत के उदाहरण में प्रमा शुक्ति के प्रत्यक्षीकरण में निहित होती है, किन्तु मिथ्या ज्ञान उस पर आगे रजत के आरोपण में निहित होता है, इस अतिरिक्त तत्व ही में भ्रम निहित होता है।[2] कुछ ऐसे उदाहरण हो सकते हैं जो अंशतः सत्य होते हैं और अंशतः मिथ्या होते हैं तथा इनमें प्रमा की प्रबलता होने अथवा न होने के अनुसार ज्ञान को सत्य अथवा मिथ्या कहा जा सकता है। पुरुषोत्तम की इस कसौटी के अनुसार चित्रकला, कला-सृष्टि एवं नाटकीय प्रतिरूपणों में प्रत्यक्षीकरण में प्रमा की प्रबलता होती है क्योंकि वे अनुकरण के द्वारा ऐसे आनन्द

---

[1] अभ्यास-जन्ये दृढ़-प्रतीति-रूपे ज्ञाने यथा पूर्वानुभव-संस्कारः सहकारी तथा प्रत्यभिज्ञायां स्मृतिः सहकारिणी, विशेषणतावच्छेदक-प्रकारक निश्चयार्थं तस्या अवश्यम-पेक्षणात्। अतो यथाऽनुग्राहकांतर-प्रवेशेऽपि यथार्थानुभवत्वानपायादभ्यासज्ञानं निश्चय-रूपं तथा स्मृत्या विषयेण च पूर्व-स्थित-ज्ञानस्योद्दीपनात् प्रत्यभिज्ञाऽपि इति ज्ञेयम्। —वही, पृ० २५।

[2] भ्रम-प्रमा-समूहालम्बनं तु, एक-देश-विकृतमनन्यवद् भवतीति न्यायेन भ्रमाधिक्ये विपर्यासेव। प्रमाधिक्ये च निश्चयः।

—'प्रस्थानरत्नाकर,' पृ० २५-२६।

को उत्पन्न करते हैं जो उन वास्तविक विषयों द्वारा उत्पन्न किया जा सकता था—जिनका उन्होंने अनुकरण किया है।

पुरुषोत्तम 'करण' एवं 'कारण' में विभेद करते हैं। 'करण' उत्पन्न किए जाने वाले कार्यों के गतिशील कर्ता से सम्बन्धित एक असाधारण कर्ता होता है (व्यापार-वदसाधारणम्), 'कारण' शक्ति का वह आधार होता है जो आकृतियों के आविर्भाव एवं तिरोभाव को उत्पन्न कर सके (आविर्भाव-शक्त्याधारत्वं कारणत्वम्)। वह जो विशेष आकृतियों को उत्पन्न करता है, अथवा कुछ आकृतियों के तिरोभाव के लिए कार्य करता है, उसे क्रमशः उनका कारण माना जाता है, इसलिए वह शक्ति जो एक उपादान कारण के कार्यों को हमारे व्यवहार के लिये अभिव्यक्त कर सकती है, उसे उक्त कार्य का 'आविर्भाव-कारण' माना जाता है। 'आविर्भाव' वस्तुओं का वह पक्ष होता है जिसके द्वारा अथवा जिसके कारण उनका अनुभव किया जा सके अथवा वे व्यवहार योग्य बन सकें, और उसका अभाव 'तिरोभाव' कहलाता है।[1] उक्त आविर्भाव एवं तिरोभाव की शक्तियां प्रधान रूप से ईश्वर में होती हैं, तथा गौण रूप से उन विषयों में होती हैं जिनके साथ उसने उन्हें विशिष्ट रूपों में सम्बन्धित किया है। 'कार्य-नियत-पूर्व-वृत्ति' के रूप में कारण की नैयायिक परिभाषा को अवैध माना जाता है क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय-दोष का समावेश होता है। कार्य के सम्बन्ध में नियत पूर्वता में कारणता के प्रत्यय का समावेश होता है और कारणता में निरुपाधिकता का समावेश होता है।

कारण दो प्रकार का होता है—तादात्म्य (इसे 'समवायि' भी कहा जाता है) और निमित्त। पर इस तादात्म्य में भेदाभेद के प्रत्यय का समावेश होता है, जिसमें भेद अभेद के एक प्रकार के रूप में प्रतीत होता है, और अभेद को कारणता का सार-तत्व माना जाना चाहिए। पुरुषोत्तम द्रव्य एवं गुण के प्रत्यय का परित्याग करते हैं, जिसकी 'समवाय' के सम्बन्ध के आधार पर व्याख्या की जाती है, और जिसमें द्रव्य को गुण का कारण माना जाता है, एक गुण द्रव्य के समकालीन अभिव्यक्ति मात्र होता है, और पश्चादुक्त को पूर्वोक्त का कारण नहीं माना जा सकता। 'उपादान कारण' का प्रत्यय दो प्रकार का होता है—अपरिवर्तनशील (यथा, घट आदि में मृत्तिका की अपरिवर्तनशीलता), और परिवर्तनशील (यथा, निमित्त कारण मनस् के व्यापार के रूप में ज्ञान की अभिव्यक्ति। उपादान कारण में समाविष्ट अवयवों का संयोग

---

[1] उपादानस्य कार्यं या व्यवहार-गोचरं करोति सा शक्तिराविर्भाविका।
आविर्भावश्च व्यवहार-योग्यत्वम्। तिरोभावश्च तदयोग्यत्वम्।
—वही, पृ० २६।

अथवा उनकी गति को एक पृथक् कारण नहीं माना जाता है, जैसाकि नैयायिकों द्वारा माना जाता है, वरन् उसे उपादान कारण का एक भाग माना जाता है।

एक 'हेतु' के स्वरूप को निर्धारित करने वाली व्याप्ति का स्वरूप दो प्रकार का होता है–'अन्वय' और 'व्यतिरेक'। 'अन्वय' का अर्थ है एक तत्व का ऐसा भावान्वय कि केवल उसके सत्व से ही (उसके साथ उपस्थित अनेक निरर्थक तत्वों अथवा उपाधियों के मध्य में) कार्य उत्पन्न होता है।[1] 'व्यतिरेक' का अर्थ है उस तत्व का अभाव जिसमें कार्याभाव का समावेश होता है, अर्थात् वह तत्व जो कार्य के अभाव में अनुपस्थित रहता है (कार्यातिरेकेणानवस्थानम्)। कारणता का व्यापार वह व्यापार होता है जो कारण एवं कार्य के मध्य एक कड़ी के रूप में अस्तित्व रखता है, इस प्रकार इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष का गतिशील कारण इन्द्रियों का व्यापार होता है। ईश्वर की इच्छा के उदाहरण में जगत् की उत्पत्ति के लिए किसी गत्यात्मक व्यापार को अनिवार्य नहीं माना जाता।

'प्रत्यक्ष-प्रमाण' की परिभाषा विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्षीकरणों के अनुभव इन्द्रिय-शक्तियों के अनुसार की जाती है। इस प्रकार छः 'प्रमाण' होते हैं, अर्थात् दृष्टि-संबंधी, स्पर्श-संबंधी, रस-संबंधी, श्रवण-संबंधी, घ्राण-संबंधी, एवं मानसिक; शंकर के अद्वैत-मत के विपरीत यहाँ मनस् को एक इन्द्रिय-शक्ति माना गया है। सर्व शक्तियाँ परमाण्वीय स्वरूप की मानी जाती हैं। दृश्येन्द्रिय रूप का प्रत्यक्ष तभी कर सकती है जब एक 'अभिव्यक्ति रूप' (उद्भूत-रूपवत्व) होता है, प्रेतों के परमाणु दृष्टि-गोचर नहीं होते क्योंकि उनका कोई उद्भूत रूप नहीं होता। इसलिए विभिन्न इन्द्रियों द्वारा सर्व इन्द्रिय गुणों के प्रत्यक्षीकरण के लिए हमें यह मानना पड़ता है कि स्पर्श गन्ध आदि इन्द्रिय-गुणों के प्रत्यक्षीकरण के लिए उक्त गुण उद्भूत होने चाहिए।

शंकर के अद्वैतवादी वेदांत के समान यहाँ तमस् (अंधकार) को एक पृथक् तत्व माना जाता है न कि प्रकाश का अभाव मात्र माना जाता है। स्वयं अभाव को उस आश्रय के भावात्मक अस्तित्व के रूप में माना जाता है जिसमें अभाव निषेध किए गए विषय के आविर्भाव अथवा तिरोभाव के संबंध में प्रकट होता है। इस प्रकार एक घट के 'प्रागभाव' के उदाहरण में उस उपादान कारण को ही घट का प्रागभाव माना जाता है जो घट के आविर्भाव में सहायक होगा। 'ध्वंसाभाव' के उदाहरण में वह कारण घट के तिरोभाव में सहायक होता है, और इस प्रकार उस विशेष गुण से संबंधित होता है जिसे ध्वंसाभाव माना जाता है। इस प्रकार अभाव के प्रत्यय का

---

[1] तत्र स्व-स्व-व्याप्येतर-यावत्कारण-सत्त्वे यत्सत्त्वे अवश्यं यत्सत्त्वमन्वयः।

—वही, पृ० ३२।

कारण के प्रत्यय में समावेश किया जाता है, अतः अभाव 'समवायिकारण' का एक विशिष्ट प्रकार है, और इसलिए उसका उससे तादात्म्य होता है।

वस्तुओं के दृष्टि-प्रत्यक्ष की विधि के संबंध में सांख्य और वेदांत एक 'वृत्ति' की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं ('वृत्ति' का अर्थ मानसिक अवस्था होता है) जब एक वस्तु की ओर देखकर हम अपनी आँखों को बंद कर लेते हैं, तब उस विषय की एक पश्चात्-प्रतिमा का उदय होता है। यह पश्चात् प्रतिमा स्वयं उस विषय में स्थित नहीं हो सकती, क्योंकि हमारी आँखें बन्द होती हैं, वह 'अहंकार' अथवा 'बुद्धि' में स्थित होनी चाहिए। सांख्य और वेदांत के द्वारा यह माना जाता है कि उक्त 'वृत्ति' निकट एवं सुदूर बाह्य विषयों तक जाती है और इस प्रकार 'बुद्धि' एवं विषय में एक संबंध को स्थापित करती है। सहज ही यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि उक्त 'वृत्ति' एक द्रव्य नहीं होती अतएव वह दूर-दूर तक गमन नहीं कर सकती। सांख्य और वेदांत यह प्रत्युत्तर देते हैं कि चूंकि ऐसा गमन प्रत्यक्षीकरण के तथ्यों द्वारा सिद्ध होता है इसलिए हमें उसे स्वीकार करना पड़ता है, ऐसा कोई नियम नहीं है कि केवल अस्तित्ववान द्रव्य ही गमन करने की योग्यता रखते हैं, और द्रव्य के अभाव में कोई गमन नहीं होना चाहिए। किन्तु नैयायिकों का मत है कि कुछ किरणें आँखों से विकीर्ण होती हैं और विषय तक जाती हैं, जिससे 'मनस्' एवं 'आत्मन्' के साहचर्य में इन्द्रिय-सन्निकर्ष उत्पन्न होता है और फलतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है, इसलिए वे एक पृथक् 'वृत्ति' के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। किन्तु पुरुषोत्तम 'वृत्ति' को स्वीकार करते हैं, पर उसी रूप में नहीं जिस रूप में वेदांती और सांख्य स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार यह 'वृत्ति' 'बुद्धि' की एक अवस्था होती है जो काल-तत्व के द्वारा उत्पन्न की जाती है और जिसके 'सत्व' गुण की प्रबलता को अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार काल को 'बुद्धि' में स्थित एक तत्व के रूप में स्वीकार किया जाता है, न कि इन्द्रियों में स्थित तत्व के रूप में जैसाकि शंकर के वेदान्त में माना जाता है ('वेदान्त परिभाषा' में धर्म राजा-ध्वरन्द्रि द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार)। उनके अनुसार काल का कोई वर्ण नहीं होता, किन्तु फिर भी उसको दृश्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है। किन्तु पुरुषोत्तम के अनुसार काल बुद्धि का एक निर्धारक होता है, तथा अन्य उपसाधनों सहित मानसिक प्रकाश के लिए उत्तरदायी होता है, वे आगे कहते हैं कि विषय से उत्पन्न किरणें नेत्र-गोलक का वेधन करती हैं और उसमें कतिपय संस्कारों को उत्पन्न करती हैं जो नेत्र के बंद होने के कारण किरणों के रुक जाने पर भी शेष रहते हैं। ये नेत्र-पटल-गत संस्कार 'सत्व-गुण' की अभिव्यक्ति रूपिणी 'बुद्धि' में प्रकाश की उत्पत्ति के उपसाधन होते हैं।[1] इस प्रकार 'वृत्ति' 'बुद्धि' की एक अवस्था होती है।

---

[1] उक्त सन्निकर्ष-जन्यमपि सविकल्पकं ज्ञानं चक्षुरादि-भेदेन बुद्धि-वृत्त्या जन्यत इति

शुक्ति-रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष में यह माना जाता है कि 'रजस्' की शक्ति से पूर्वकाल में अनुभूत रजत के संस्कार प्रत्यक्षीकरण के विषय पर आरोपित हो जाते हैं, तथा 'तमस्' के द्वारा शुक्ति का स्वरूप आच्छादित हो जाता है, इस प्रकार एक शुक्ति का रजत के रूप में प्रत्यक्षीकरण होता है।

निर्विकल्पक ज्ञान, उस अवस्था में उदित होता है जब 'बुद्धि' इन्द्रिय-प्रक्रिया के प्राथमिक क्षण में सक्रिय होती है, और वह सविकल्पक तब बनता है जब इन्द्रिय-शक्ति के साहचर्य में 'वृत्ति' के रूप में बुद्धि रूपान्तरित होती है। यद्यपि एक 'वृत्ति' के उदय होने पर पूर्व 'वृत्ति' तिरोहित हो जाती है तथापि वह 'संस्कार' के रूप में बनी रहती है, जब ये 'संस्कार' बाद में विशिष्ट कारणों अथवा अवस्थाओं के द्वारा जाग्रत किए जाते हैं, तब हममें स्मृति उत्पन्न होती है।

किन्तु ईश्वर-साक्षात्कार साधारण प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न नहीं होता। ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार केवल उसके अनुग्रह से प्राप्त किया जा सकता है, जो सर्व-भूतों में 'भक्ति' का बीज होता है, व्यक्ति में यह अनुग्रह भक्ति के रूप में अभिव्यक्त होता है।[1]

'प्रमाण' के रूप में 'अनुमान' की यह परिभाषा दी जाती है कि वह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा प्रभावशाली ज्ञान प्राप्त किया जाता है, दूसरे शब्दों में अनुमान वह ज्ञान है जो एक अन्य ज्ञान के माध्यम से प्राप्त किया जाता है, और हाँ, यह प्रक्रिया 'व्याप्ति-ज्ञान' से प्रभावित होती है। 'व्याप्ति' का अर्थ है 'साध्य' में 'हेतु'

वृत्तिर्विचार्यते। तत्र नेत्र-निमीलने कृते बहिर्दृष्ट-पदार्थस्येव कश्चिदाकारो नेत्रान्तर्भासते। स आकारो न बाह्य-वस्तुनः। आश्रयमतिहाय तत्र तस्याशक्य-वचनत्वात्। अतः स आन्तरस्यैव कस्यचन भवितुमर्हतीति............

या बुद्धि-वृत्तिः संस्काराधानद्यार्थं जन्यतेतिउच्यते सा वृत्तिर्बुद्धेर्न तत्त्वान्तरं नाप्यन्तःकरण परिणामान्तरम्। किन्तु बुद्धि-तत्त्वस्य काल-क्षुब्ध सत्त्वादि गुण-कृतोऽवस्था विशेषैव। न च तस्यावस्था विशेषत्वे निर्गमाभावेन विषयासंसर्गात् तदाकारकत्वं वृत्तेर्दुर्घटत्वमिति शंक्यम्। माया गुणस्य रज-सश्चंचलत्वेन विक्षेपकत्वेन च दर्पणे मुखस्येव नेत्र-गोलकेऽपि बाह्य विषयाकार समर्पण-तदाकारस्य सुघटत्वात्। स एवं मायिक आकारो नयन किरणेषु नेत्र-मुद्रणे प्रत्यावृत्तेषु गोलकान्तरनुभूयते।

—प्रस्थानरत्नाकर, पृ० १२३–२५।

[1] वरणं चानुग्रहः। स च धर्मान्तरमेव, न तु फलादिष्टा। यस्यानुग्रहमिच्छामीति-वाक्यात्। स च भक्ति-बीज-भूतः। अतो भक्त्या मामभिजानाति भक्त्या त्वनन्यया शक्यः भक्त्याऽहमेकया ग्राह्य इत्यादिषु न विरोधः। —वही, पृ० १२७।

का निरुपाधिक अस्तित्व, अर्थात् जहाँ-जहाँ एक 'हेतु' होता है, वहाँ-वहाँ एक 'साध्य' होता है, और जहाँ-जहाँ 'साध्य' का अभाव होता है, वहाँ-वहाँ 'हेतु' का अभाव होता है, 'हेतु' वह होता है जिसके द्वारा हम एक अनुमान में अग्रसर होते हैं, और 'साध्य' स्वीकृति अथवा निषेध होता है। 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' का अनुसरण करते हुए पुरुषोत्तम कहते हैं कि, जब एक गुण अथवा धर्म का एक निरुपाधिक अस्तित्व होता है, तब उनमें परस्पर अथवा एकांगी व्याप्ति हो सकती है, जब 'हेतु' के वृत्त को 'साध्य' के वृत्त से संपात होता है, तब 'समव्याप्ति' होती है, और जब 'हेतु' का वृत्त 'साध्य' के वृत्त के अन्तर्गत होता है, तब 'विषम-व्याप्ति' होती है।[1]

पुरुषोत्तम 'केवलान्वयि' प्रकार के अनुसार को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि ब्रह्मन् में 'साध्य' का अभाव होता है। यह आपत्ति अवैध है कि उक्त परिभाषा ऐसे अनुमान के उदाहरण (जिसमें कोई अभावात्मक सत्ताएं उपलब्ध नहीं होतीं) में लागू नहीं होती, अर्थात्, यह ज्ञान है, चूंकि यह परिभाषा-योग्य है, क्योंकि ब्रह्मन् न तो ज्ञेय है और न परिभाषा-योग्य है। एक विषय एक रूप में ज्ञेय होने पर भी अन्य रूप में कदाचित् ज्ञेय न हो। अतः उपरोक्त अनुमान में भी अभावात्मक उदाहरण उपलब्ध होते हैं, इसलिए 'केवलान्वयि' प्रकार के अनुमान को स्वीकार नहीं किया जा सकता, जहाँ यह मान लिया जाता है कि व्याप्ति का निर्धारण केवल अन्वय के द्वारा ही किया जाना चाहिए।[2]

जब 'साध्य' के साथ 'हेतु' का समानाधिकरण्य एक अथवा अनेक उदाहरणों में देखा जाता है, तब उससे आंशिक संस्कारों की जाग्रति हो जाती है और उनके द्वारा अनिवार्य समानाधिकरण्य की स्मृति का उदय होता है, तथा तदनुसार 'हेतु' द्वारा 'साध्य' का निर्धारण होता है। जब हम रसोई में वह्नि एवं धूम्र का सह-अस्तित्व देखते हैं, तब धूम्र एवं वह्नि का अनिवार्य समानाधिकरण्य ज्ञात होता है, तत्पश्चात् जब पर्वत में धूम्र देखा जाता है और वह्नि के साथ धूम्र के समानाधिकरण्य का स्मरण किया जाता है, तब धूम्र वह्नि के अस्तित्व को निर्धारित करता है; इस सम्यक् ज्ञान को 'अनुमिति' कहा जाता है। 'लिंग' ही 'अनुमिति' का कारण होता है। पुरुषोत्तम दो प्रकार के 'अनुमान' को स्वीकार करते हैं, अर्थात्, 'केवल-व्यतिरेक' जहाँ भावात्मक

---

[1] नियत-धर्म-साहित्ये उभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिरिति। उभयोः समव्याप्तिकयोः कृतकत्वानित्यत्वादि-रूपयोरेकतरस्य विषम-व्याप्तिकस्य धूमादेर्नियत-धर्म-साहित्ये अ-व्याभिचरित-धर्म-रूपे सामानाधिकरण्ये व्याप्तिः।

—प्रस्थानरत्नाकर, पृ० १३९-४०।

[2] सर्वत्रापि केनचिद् रूपेण ज्ञेयत्वादि-सत्त्वेऽपि रूपान्तरेण तदभावस्य सर्वजनीनत्वाच्च केवलान्वयि-साध्यकानुमानस्यैवाभावात्। —वही, पृ० १४१।

उदाहरण उपलब्ध नहीं होते हैं और व्याप्ति केवल अभाव के द्वारा होती है, तथा 'अन्वय-व्यतिरेक' जहाँ व्याप्ति को अन्वय-व्यतिरेक की संयुक्त प्रणाली के द्वारा ज्ञात किया जाता है।

अनुमान के द्वारा अन्य व्यक्तियों को दृढ़ता से मनवाने के लिए साधारणतः पांच तर्क-वाक्यों को स्वीकार किया जाता है, वे हैं 'प्रतिज्ञा', 'हेतु', 'उदाहरण', 'उपनय', और 'निगमन'। इस प्रकार 'पर्वत वह्निमान है,' 'प्रतिज्ञा' है, 'चूंकि वह धूम्रवान है' हेतु है, 'यथा रसोई-घर में' 'उदाहरण' है, जो-जो धूम्रवान होता है वह-वह वह्निवान होता है, तथा जो-जो धूम्रवान नहीं होता वह-वह वह्निमान नहीं होता 'उपनय' है, 'इसलिए अभी तो धूम्र दृष्टिगोचर होता है वह भी वह्नि से सम्बन्धित है' 'निगमन' है। किन्तु इनको पृथक् तर्क-वाक्य मानने की आवश्यकता नहीं है, वे एक ही संश्लिष्ट तर्क-वाक्य के अवयव हैं।[1] किन्तु वस्तुतः पुरुषोत्तम इन तीन को अधिमान्यता देते हैं, अर्थात्, 'प्रतिज्ञा,' 'हेतु' और 'दृष्टान्त'।

पुरुषोत्तम 'उपमान' अथवा अनुपलब्धि को पृथक् 'प्रमाण' नहीं मानते। 'उपमान' वह 'प्रमाण' होता है जिसके द्वारा ऐसे दो विषयों की समरूपता का पूर्व ज्ञान, जिनमें से एक ज्ञान होता है, हमें अन्य को तब ज्ञात करने में समर्थ बनाता है जब हम उसको देखते हैं, इस प्रकार एक मनुष्य जो एक भैंस को नहीं जानता, किन्तु जिसे यह बता दिया जाता है कि भैंस देखने में गाय के समान होती है, भैंस को वन में देखता है और उसे भैंस के रूप में ज्ञात करता है। उसका दर्शन होते ही उसे स्मरण होता है कि एक भैंस ऐसा पशु होता है जो देखने में गाय के समान होता है, और इस प्रकार वह जान जाता है कि वह एक भैंस है। यहाँ समरूपता की स्मृति की सहायता से प्रत्यक्ष उक्त पशु के एक भैंस होने के नवीन बोध का कारण होता है, अतः जिसे 'उपमान' कहा जाता है वह प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आता है।

पार्थसारथी मिश्र की भाँति पुरुषोत्तम भी 'अर्थापत्ति' को एक पृथक् 'प्रमाण' मानते हैं। इस 'अर्थापत्ति' का अनुमान से विभेद करना चाहिए। इसका एक विशिष्ट उदाहरण यह दिया जा सकता है कि हम जब एक व्यक्ति को घर में नहीं पाते हैं तब यह मान लेते हैं कि उसका घर के बाहर अस्तित्व है, एक जीवित व्यक्ति की घर में अनुपस्थिति के ज्ञान से कारण एवं कार्य के रूप में संबंधित नहीं होता, और फिर भी वे समकालिक होते हैं। जीवित व्यक्ति की घर के बाहर उपस्थिति की मान्यता के आधार पर ही घर में उसके अभाव की व्याख्या की जा सकती है, जीवन एवं घर में अभाव का जटिल प्रत्यय घर के बाहर उसके अस्तित्व के प्रत्यय को प्रेरित

---

[1] वही, पृ० १४३।

करता है। अन्तर्विरोध ही हमें ज्ञात तथ्य से अज्ञात की ओर प्रवृत्त करता है, अतएव वह एक पृथक् 'प्रमाण' माना जाता है।

पुरुषोत्तम का मत है कि ऐसे कुछ उदाहरणों में जहाँ ज्ञान स्मृति के सहायक प्रभाव से उत्पन्न होता है उसकी प्रामाणिकता स्वतः स्फूर्त्त नहीं होती वरन् उसे केवल परिपोषक साधनों से ही प्राप्त किया जाता है, जबकि अन्य ऐसे उदाहरण हो सकते हैं जहाँ ज्ञान स्वतः प्रामाण्य हो सकता है।

भक्ति का प्रत्यय

मध्व, वल्लभ एवं जीव गोस्वामी सभी 'भागवत-पुराण' के ऋणी थे' और उसके प्रति अत्यधिक श्रद्धा रखते थे, मध्व ने 'भागवत-तात्पर्य' लिखा, जीव गोस्वामी ने 'षट्-संदर्भ' और वल्लभ ने न केवल 'भागवत' पर एक टीका ('सुबोधिनी') लिखी, वरन् 'भागवत' के उपदेशों पर आधारित स्वयं अपनी 'कारिकाओं' पर भी एक टीका ('प्रकाश') 'तत्वदीपिका' लिखी। 'तत्वदीपिका' चार ग्रन्थों से निर्मित है— 'शास्त्रार्थ निरूपण,' चार अध्यायों का 'सर्व-निर्णय,' 'प्रमाण' 'प्रमेयफल' और 'साधना' जिनमें से प्रथम में ८३ श्लोक हैं, दूसरे में १०० श्लोक हैं, तीसरे में ११० तथा चौथे में ३५ श्लोक है। १८३७ श्लोकों के तीसरे ग्रन्थ में 'भागवत-पुराण' के द्वादश 'स्कन्धों' पर विचार व्यक्त किए गए हैं। चौथा ग्रन्थ, जिसमें 'भक्ति' का विवेचन किया गया था केवल आंशिक रूप में ही उपलब्ध हैं। इस अन्तिम ग्रन्थ पर दो टीकाएं हैं, कल्याणराज द्वारा रचित 'निबन्ध-टिप्पण' और एक गोरथुलाल (जिन्हें बालकृष्ण भी कहते हैं) द्वारा रचित टीका। 'कारिकाओं' पर 'प्रकाश' नामक टीका की, परन्तु प्रस्तुत लेखक को वह सम्पूर्ण रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। 'तत्वदीपिका' के अनुसार 'गीता' ही एकमात्र 'शास्त्र' है, जिसे स्वयं भगवान ने गाया है, एकमात्र ईश्वर देवकी-सुत कृष्ण हैं, 'मंत्र' केवल उसके नाम हैं, और एक मात्र कर्म ईश्वर-सेवा है, वेद, कृष्ण के वचन (जिनसे 'स्मृतियां' निर्मित हैं), व्यास के 'सूत्र' तथा व्यास द्वारा उनकी व्याख्याएं (जिनसे 'भागवत' निर्मित है), उनके चार 'प्रमाण' हैं। यदि वेदों के सम्बन्ध में कोई संशय हो तो उनका कृष्ण के वचनों से हल हो जाता है, पश्चादुक्त के सम्बन्ध में संशयों की व्याख्या 'सूत्रों' से हो जाती है, तथा 'व्यास-सूत्रों' से सम्बन्ध की कठिनाइयों की व्याख्या 'भागवत' के द्वारा की जानी चाहिए। जहाँ तक मनु एवं अन्य 'स्मृतियों' का सम्बन्ध है, उनमें से केवल उतना ही अंश प्रामाणिक है जो उपरोक्त से संगत है, किन्तु यदि वे किसी भाग में विरोध-ग्रस्त हैं तो उन्हें अप्रामाणिक समझना चाहिए। 'शास्त्रों' का यथार्थ उद्देश्य हरि-भक्ति है, तथा जो ज्ञानी पुरुष भक्ति का अनुसरण करता है वह सर्वोत्तम है, फिर भी कई ऐसे विचार तान्त्र हो चुके हैं जो 'भक्ति'-मत के प्रति-

रिक्त मतों का उपदेश देकर भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। ईश्वर की भक्ति न करके 'शास्त्रों' की उपासना करने से बड़ी अन्य कोई भ्रान्ति नहीं है, ऐसे उपासक सदा बंधन में रहते हैं और जन्म एवं पुनर्जन्म से पीड़ित होते हैं। अपने ज्ञान की पराकाष्ठा सर्वज्ञता है, 'धर्म' की पराकाष्ठा अपने मन का संतोष है, 'भक्ति' की पराकाष्ठा तब आती है जब ईश्वर प्रसन्न होता है। 'मुक्ति' की प्राप्ति से जन्म एवं पुनर्जन्म का विनाश होता है, किन्तु जगत् ब्रह्मन् की अभिव्यक्ति होने के कारण उसका कदापि विनाश नहीं होता जबतक कृष्ण उसको अपने अन्तर्गत पुनः विलीन करने की इच्छा नहीं करता। ज्ञान एवं अज्ञान दोनों 'माया' के संघटक तत्व हैं।

ईश्वर के माहात्म्य के पूर्ण ज्ञान सहित उसके प्रति सुदृढ़ एवं सर्वाधिक स्नेह में 'भक्ति' निहित होती है, केवल उसी से मुक्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।[1] यद्यपि 'भक्ति' 'साधना' है और 'मोक्ष' साध्य है, तथापि साधनावस्था ही सर्वोत्तम होती है। जो व्यक्ति ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट हो जाते हैं उनको अपनी आत्मा में उस आनन्द की अनुभूति होती है, किन्तु वे भक्त जो उक्त अवस्था में प्रविष्ट नहीं होते और न 'जीवन्मुक्ति' की अवस्था में प्रविष्ट होते हैं, पर अपनी सर्व इन्द्रियों एवं 'अन्तःकरण' से ईश्वर का आनन्द लेते हैं, साधारण गृहस्थी होने पर भी 'जीवमुक्तों' से श्रेष्ठ होते हैं।[2]

'जीव' स्वरूपतः आणविक होता है, तथापि चूंकि उसमें ईश्वर के आनन्द की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए उसे सर्व-व्यापी माना जा सकता है। शुद्ध चित् के रूप में उसके स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण साधारण इन्द्रियों द्वारा नहीं किया जा सकता, किन्तु केवल 'योग' के द्वारा अथवा जिस दिव्य दृष्टि से हम ईश्वर-साक्षात्कार करते हैं उसी के द्वारा ऐसा सम्भव हो सकता है। अद्वैत वेदांत के इस मत का, कि 'जीव' 'अविद्या' से उत्पन्न होते हैं, इस आधार पर प्रत्याख्यान किया जाता है कि, यदि 'अविद्या' का सम्यक् ज्ञान के द्वारा विनाश होता तो 'अविद्या' के भ्रम से निर्मित व्यक्ति की शारीरिक रचना का विनाश हो जाता और फलतः 'जीव-मुक्ति' असम्भव हो जाती।

---

[1] माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः, स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा। —'तत्वार्थ दीप' पृ० ६५।

[2] स्व-तन्त्र-भक्तानां तु गोपिकादि-तुल्यानां सर्वेन्द्रियेस् तथाऽन्तः करणेः स्व-रूपेण चाऽनन्दानुभवः। अतो भक्तानां जीवन-मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपा-सहित-गृहाश्रमेव विशिष्यते।

—'तत्वदीपन' पर वल्लभ की टीका, पृ० ७७।

ब्रह्मन् का 'सच्चिदानंद' के रूप में वर्णन किया गया है—वह सर्वव्यापी, स्वतन्त्र एवं सर्वज्ञ है। वह सजातीय, विजातीय-स्वगत-द्वैत से रहित है—अर्थात् जीव, जड़ एवं अन्तर्यामिन् संबंधी द्वैत से रहित है। ये भगवान के तीन रूप हैं, तथा उससे भिन्न नहीं है।[1] वह अन्य सहस्त्रों शुभ गुणों, पवित्रता, भद्रता, दयालुता आदि से संबंधित है, वह जगत् का धारण-कर्त्ता एवं 'माया' का नियंता है। ईश्वर एक ओर तो जगत् का 'समवाय' एवं 'निमित्त कारण' है, अपनी सृष्टि से हर्षित होता है, और कभी-कभी उसको अपने में परावर्तित करने में आनन्द लेता है, दूसरी ओर वह सर्व विरुद्ध धर्मों का आश्रय है, और विविध रूपों में मोहित करता है तथा जगत की अभिव्यक्ति के आविर्भाव एवं तिरोभाव का कारण होता है। वह वल भी है और कूटस्थ भी है।[2] चूंकि सृष्टि उसकी एक अभिव्यक्ति है, इसलिए जीवन की विपमताओं के लिए उस पर क्रूरता अथवा पक्षपात का दोप नहीं लगाया जा सकता। विपमता की व्याख्या करने का यह प्रयास, कि वह 'कर्म' से उत्पन्न होती है, हमें इस कठिनाई में डाल देता है कि ईश्वर 'कर्म' के अधीन है और स्वतंत्र नहीं है, उससे इस वात की भी व्याख्या नहीं होती कि विभिन्न व्यक्ति विभिन्न 'कर्मों' को क्यों करते हैं। यदि अन्तर्यामिन् के रूप में ईश्वर स्वयं हमसे शुभ अथवा अशुभ कार्यों को करवाता है, तो वह हमें उनके लिए उत्तरदायी नहीं ठहरा सकता, तथा कुछ में सुख तथा कुछ में दुख का वितरण नहीं कर सकता, किन्तु इस मत के अनुसार उक्त सर्व कठिनाइयां हल हो जाती हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि आत्म-सृष्टि है तथा आत्माभिव्यक्ति एवं 'जीव' ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं।[3] ईश्वर जगत का सृष्टा है, फिर भी वह 'सगुण' अथवा 'गुण-सम्पन्न' इस कारण से नहीं है कि जिन तत्वों से उसके गुणों का निर्माण होता है वे उसके विरुद्ध नहीं जा सकते और उसे अपनी स्वतन्त्रता से वंचित नहीं कर सकते। चूंकि वह गुणों का नियंता है, इसलिए उनका अस्तित्व एवं अनस्तित्व उस पर आश्रित रहता है। इस प्रकार ईश्वर की स्वतंत्रता का प्रत्यय अनिवार्यतः उसके 'सगुण' व 'निर्गुण' दोनों होने के प्रत्यय को प्रेरित करता है। शंकर का यह मत

---

[1] स-जातीय विजातीय-स्वगत-द्वैत-वर्जितम्···स-जातीया जीवा, विजातीया जड़ाः, स्वगता अन्तर्यामितः। त्रिष्वपि भगवान अनुस्यूतस् त्रिरूपश्च भवतीति तैर्निरूपितं द्वैतं भेदस्तद् वर्जितम्।

—'तत्वार्थदीप' और उस पर टीका, पृ० १०६।

[2] सर्व-वादानवसरं नाना-वादानुरोधि तत्। अनन्त-मूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च। विरुद्ध सर्व-धर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम्। आविर्भाव तिरोभावैर्मोहनं वहु-रूपतः।

—वही, पृ० ११५।

[3] आत्म-सृष्टेर्न वैपम्यं नैर्घृण्यं चापि विद्यते। पक्षान्तरेऽपि कर्म स्यान् नियतं तत् पुनर्दृहत्।

—वही, पृ० १२९-३०।

कि ब्रह्मन् 'अविद्या' के बंधन से जगत् के रूप में भासित होता है एक भ्रान्त उपदेश (प्रतारणा-शास्त्र) है, क्योंकि वह ईश्वर के गौरव को कम करता है, तथा उसका सर्व भक्तों के द्वारा बहिष्कार किया जाना चाहिए।

जो व्यक्ति ईश्वर को सब कुछ मानता है तथा स्वयं को उससे विकीर्ण मानता है, और जो उसकी प्रेम-पूर्वक सेवा करता है, वही भक्त कहलाता है। ज्ञान अथवा प्रेम के अभाव में केवल एक निम्न कोटि का भक्त होता है, किन्तु दोनों के अभाव में कोई व्यक्ति भक्त हो ही नहीं सकता, यद्यपि शास्त्रों का श्रवण करके वह अपने पापों का निवारण कर सकता है। उच्चतम भक्त सब कुछ त्याग देता है, उसका मन केवल कृष्ण से ओतप्रोत रहता है, उसके लिए पुत्र, कुल, धन, घर आदि का कोई महत्व नहीं होता अपितु वह पूर्णतः ईश्वर-प्रेम में निमग्न रहता है। किन्तु ईश्वर के अनुग्रह के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से कोई भी भक्ति मार्ग पर आरूढ़ नहीं हो सकता। 'कर्म' स्वयं ईश्वर की इच्छा के स्वरूप का होने के कारण अपने आपको भक्त के प्रति उसकी दया अथवा क्रोध के रूप में अभिव्यक्त करता है, वह अपनी दया से उसके निकट आता है और चाहे यह पतित अवस्था में भी क्यों न हो उसका उद्धार करता है, तथा जो उसके आदेशों का पालन नहीं करते अथवा गलत राह पर अग्रसर होते हैं उनके पास वह क्रोधपूर्वक अभिगमन करता है और उन्हें पीड़ित करता है। कहा जाता है कि कर्म का नियम रहस्यमय है, इसका कारण यह है कि हमें यह ज्ञात नहीं है कि ईश्वर की इच्छा स्वयं को किस रूप में व्यक्त करेगी, कभी-कभी उसके अनुग्रह से वह एक पापी का भी उद्धार कर सकता है, जिसे फिर अपना दण्ड नहीं भोगना पड़ता।

'शाण्डिल्य-सूत्र' में 'भक्ति' को ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति (परानुरक्ति) के रूप में परिभाषित किया गया है। 'अनुरक्ति' 'राग' ही को कहते हैं, इसलिए 'परानुरक्तिरीश्वरे' श्लोक का अर्थ है आराध्य-विषय के प्रति परम राग (आराध्य-विषयक-रागत्वम्)।[1] यह राग सुख से संबंधित होता है (सुख-नियतो राग)। हमें स्मरण है कि 'विष्णु-पुराण' में प्रह्लाद यह इच्छा व्यक्त करता है कि वह ईश्वर के प्रति उसी प्रीति का अनुभव करे जिसका अविवेकी जन विषयों के प्रति अनुभव करते हैं।[2] हमें ईश्वर में परमानन्द की प्राप्ति होनी चाहिए, ईश्वर के प्रति ऐसा

---

[1] 'शाण्डिल्य-सूत्र' १.२ (स्वप्नेश्वर द्वारा टीका)।

[2] या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी तामनुस्मरतः सा मे हृदयान् मापसर्पतु।
—'विष्णु-पुराण' १.२०.९।

सहज एवं स्वतः-स्फूर्त्त अनुराग ही 'भक्ति' कहलाता है।[1] यदि उपासना की संकल्पना का अभाव भी हो और केवल अनुराग हो, तो भी हम 'भक्ति' पद का अनुप्रयोग कर सकते हैं, जैसाकि कृष्ण के प्रति गोपियों के उदाहरण में प्राप्त होता है। किन्तु साधारणतः वह ईश्वर के माहात्म्य की संकल्पना से उद्भूत होती है। यह भक्ति अनुराग-स्वरूप होने के कारण इच्छा से संबंधित होती है न कि क्रिया से, जिस प्रकार ज्ञान के लिए क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार ईश्वरोन्मुखी इच्छा, भक्ति एवं अनुराग से संतुष्ट हो जाती है।[2] 'भक्ति' को 'ज्ञान' भी नहीं माना का सकता, क्योंकि 'ज्ञान' और 'भजन' दो भिन्न-भिन्न प्रत्यय होते हैं। ज्ञान अनुराग के लिए केवल परोक्ष रूप में आवश्यक हो सकता है, किन्तु अनुराग से ज्ञान प्रेरित नहीं होता। एक युवती एक युवक को प्रेम कर सकती है, यह प्रेम किसी नवीन ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, वरन् अपना पूर्णत्व स्वयं प्रेम ही में प्राप्त करता है। 'विष्णु-पुराण' में हम प्रेमाधिक्य के कारण गोपियों द्वारा मुक्ति की प्राप्ति की बात सुनते हैं, अतः अनुराग किसी ज्ञान के विना मोक्ष की प्राप्ति करवा सकता है।[3] किन्तु, 'योग' ज्ञान और भक्ति दोनों का उपसाधन होता है। 'भक्ति' 'श्रद्धा' से भी भिन्न होती है, जो 'कर्म' का भी उपसाधन बन सकती है। करन्य के अनुसार ईश्वर के ऐश्वर्य के प्रत्यय सहित 'भक्ति' मोक्ष को उत्पन्न करती है। बादरायण के अनुसार यह मोक्ष शुद्ध चैतन्य के रूप में आत्मन् के स्वरूप में निहित होता है। शाण्डिल्य के अनुसार मोक्ष आत्मन् की अनुभवातीतता के प्रत्यय से संबंधित होता है। भक्ति के आधिक्य से 'बुद्धि' का अवबोध ईश्वर के आनन्द में विलीन हो जाता है, 'बुद्धि' ही वह 'उपाधि' है जिसके माध्यम से ईश्वर स्वयं को 'जीव' के रूप में अभिव्यक्त करता है।

अपने 'भक्ति-मार्तण्ड' में गोपेश्वरजी महाराज 'शाण्डिल्य-सूत्र' की 'भक्ति' विषयक व्याख्या का अनुसरण करते हैं और उसके यथावत भावार्थ के संबंध में एक लम्बे

---

[1] तुलना कीजिए 'गीता' १०.९ :
मच्चित्ता मद्-गत-प्राणा बोधयन्तः परस्परं
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्तिच रमन्तिच...

[2] न क्रियाकृत्यपेक्षणा ज्ञानवत्। 'शाण्डिल्य-सूत्र' १.१.७। सा भक्तिर्न क्रियात्मिका भवितुमर्हति प्रयत्नानुवेधाभावात्।
—स्वप्नेश्वर पर टीका।

[3] तथापि ब्रह्म-विषयिण्याः रतेर्ब्रह्म-विषय-ज्ञानोपकारकत्वं न प्रत्यक्ष-गम्यम्। किन्तु तरुण्यादेः रती तथादर्शनेन ब्रह्मगोचरायामप्यनुमातव्यम्।
—वही, १.२.१५ पर स्वप्नेश्वर की टीका।

विवेचन में प्रविष्ट होते हैं। वे यह अस्वीकार करते हैं कि 'भक्ति' एक प्रकार का ज्ञान अथवा एक प्रकार की 'श्रद्धा' है, और न 'भक्ति' एक प्रकार का कर्म अथवा उपासना है। रामानुज 'भक्ति' की परिभाषा 'ध्रुवाम् स्मृति' के रूप में देते हैं और उसे एक प्रकार का ज्ञान ही मानते हैं। विविध प्रकार की उपासना अथवा उससे सम्बन्धित कर्म-काण्ड 'भक्ति' को उत्पन्न करते हैं, किन्तु वे स्वयं 'भक्ति' नहीं माने जा सकते। 'भक्ति-चिन्तामणि' में 'भक्ति' को 'योगे वियोगवृत्ति प्रेम' के रूप में परिभाषित किया गया है, अर्थात् वह ऐसा प्रेम है जिसमें जब दोनों साथ होते हैं तब वे विलग होने से भयभीत रहते हैं, और जब वे साथ-साथ नहीं होते तब उनमें संयोग की व्याकुल उत्कण्ठा बनी रहती है।[1] शाण्डिल्य, हरिदास और गुप्ताचार्य भी इसी मत का अनुसरण करते हैं। किन्तु गोविन्द्र चक्रवर्ती इस प्रेम का यह लक्षण बताते हैं कि वह एक ऐसा प्रगाढ़ व्यसन है जो अनेक विपत्तियों एवं संकटों के होते हुए भी निरन्तर बना रहता है,[2] और परमार्थ ठक्कुन अपनी 'प्रेम-लक्षण-चन्द्रिका'[3] में उसको किसी विषय के प्रति एक अनिवर्चनीय लालसा के रूप में परिभाषित करते हैं। अपनी 'प्रेमरसायन' में विश्वनाथ उसकी एक प्रेम-पूर्ण लालसा अथवा इच्छा के रूप में परिभाषा देते हैं कि वह ऐसा प्रेम है जिसका चरमोत्कर्ष प्रगाढ़ आनन्द में होता है।[4]

गोपेश्वर जी महाराज 'भक्ति' की उक्त सभी परिभाषाओं से असहमति प्रकट करते हैं जो लालसा और इच्छा को उसका प्रमुख तत्त्व मानती हैं। कोई भी इच्छा एक 'पुरुषार्थ' नहीं बन सकती, एक पुत्र अथवा किसी भी अन्य प्रिय संबंधी के प्रति प्रेम में हम किसी प्रकार की इच्छा का योगदान नहीं देखते, इसके अतिरिक्त, इच्छा एक अप्राप्त विषय की ओर संकेत करती है, जबकि 'भक्ति—अनुराग' ऐसा नहीं करता।

कुछ विद्वान कहते हैं कि भक्ति मन के द्रवित होने के कारण होती है, यह भी मान्य नहीं है, क्योंकि उसका विषय के प्रति कोई उल्लेख नहीं होता। अन्य विद्वान उसको ऐसे विषय अथवा उपाधि के रूप में परिभाषित करते हैं जिसके प्रति प्रेम

---

[1] अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विश्लेष भीरुता नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम्।
—भक्ति-मार्तण्ड, पृ० ७५।

[2] गाढ़-व्यसन-साहस्र-सम्पातेऽपि निरन्तरं न हीयते यदीहेति स्वादु तत्प्रेम-लक्षणम्।
—वही।

[3] वस्तु-मात्र-विषयिणी वचनानर्हा समीहा प्रेम।
—वही।

[4] यथा योगे वियोगे-वृत्तिः प्रेम तथा वियोगे योग-वृत्तिरपि प्रेम। —वही।

नामक काम-भावना प्रवाहित होती है।[1] यह परिभाषा अतिव्याप्त है, क्योंकि सकल भक्ति का संकेत ईश्वर के प्रति होना चाहिए, तथा इसके अनुसार 'भक्ति' काम-भावना का एक भाग बन जाती है। किन्तु गोपेश्वरजी वल्लभ के 'तत्व-दीप-प्रकाश' का उल्लेख करते हैं और उसमें अंगीकृत मत को स्वीकृत करते हैं जिसके अनुसार 'भक्ति' 'भज्' धातु एवं 'क्ति' प्रत्यय से निर्मित है, प्रत्यय का अर्थ 'प्रेम' होता है और धातु का अर्थ 'सेवा' होता है। यह एक सामान्य नियम है कि धातु और प्रत्यय मिलकर एक पूर्ण अर्थ का निर्माण करते हैं जिसमें प्रत्यय का अर्थ प्रबल होता है, इस प्रकार 'भक्ति' का अर्थ 'भज्' अर्थात् 'सेवा' की क्रिया होता है। 'सेवा' एक शारीरिक व्यापार (यथा, स्त्री सेवा, औषध सेवा) है। पूर्ण बनने के लिए सेवा में प्रेम का समावेश होना चाहिए, और प्रेम के बिना सेवा कष्टदायक होगी, परन्तु वांछनीय नहीं होगी, प्रेम भी अपनी पूर्णता के लिए सेवा की अपेक्षा रखता है। इस मत के प्रति पुरुषोत्तम द्वारा अपनी 'भक्ति-हंस-विवृत्ति' में आपत्ति उठाई गई है।

'तत्व-दीप-प्रकाश' का उल्लेख करते हुए गोपेश्वरजी महाराज यह विचार व्यक्त करते हैं कि वल्लभ के अनुसार 'भक्ति' का अर्थ 'स्नेह' होता है, किन्तु यदि हम इस शब्द को विश्लेषणात्मक दृष्टि से लेते हैं तो उसका अर्थ 'सेवा' होता है, उनके विचार में 'प्रेम' एवं 'सेवा' दोनों 'भक्ति' के भावार्थ को निर्मित करते हैं।[2] परन्तु वे 'भक्ति' के प्रत्यय का आगे विकास करते हैं, और कहते हैं कि 'भक्ति' के भावार्थ को निर्मित करने वाले 'सेवा' के प्रत्यय का अर्थ उस मनः स्थिति से है जो क्रमशः आनत होती है और अपना भगवान में लय कर देती है।[3]

---

[1] यमुपाधि समाश्रित्य रस आद्योनिगद्यते तमुपाधि बुधोत्तंसाः प्रेमेति परिचक्षत।
—वही, पृ० ७६।

[2] प्रेम-पूर्वकं कायिक-व्यापारत्वं भक्तित्वम्······अथवा श्रीकृष्ण-विषयक-प्रेमपूर्वक-कायिक-व्यापारत्वम्। —'भक्ति-मार्तण्ड,' पृ० ७६।

[3] तस्मिन् कृष्णे पूर्वं आवर्जितं तत् आयत्तं तदधीनं ततः क्रमेण भगवदेकतानम्······ गम्भीरतां प्राप्तं, यच्चेतस्तदेव सेवारूपम्। समाधाविव भगवति लयं प्राप्तमिति यावत्। —वही, पृ० ८२।

वे अपने कथन के समर्थन में आगे वल्लभ की 'भक्ति-वर्धिनी' से एक अवतरण उद्धृत करते हैं:

'ततः प्रेम तथा शक्तिर्व्यसनंच यदा भवेदिति,
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैवहि।
—वही, पृ० ८२।

'भक्ति' के एक फल अथवा उसके एक लक्षण का 'सर्वात्म-भाव' के रूप में वर्णन किया गया है। प्रेम की प्रगाढ़ संकल्पना के द्वारा प्रेमी सर्वत्र अपने प्रिय के दर्शन करता है, तथा वियोग में भी वह अपने प्रिय को चारों ओर प्रत्यक्ष देखता है, किन्तु, ईश्वर सब-कुछ होने के कारण, यह स्वाभाविक ही है कि भक्त उसका सर्व वस्तुओं में दर्शन करे, क्योंकि वे सब ईश्वर की अभिव्यक्तियां हैं।[1] सर्वात्म-भाव अद्वैतवाद एक का उदाहरण नहीं माना जा सकता, जैसा कि 'मर्यादा-मार्ग' के अनुगामियों द्वारा व्याख्या की गई है, वह तीव्र प्रेम से संबंध रखता है। 'पुष्टि-मार्ग' (वल्लभ सम्प्रदाय) का यह मत हरिचरण द्वारा भी स्वीकार किया गया है, जिनको गोपेश्वर ने अपने मत के समर्थन में उद्धृत किया है।[2]

'भक्ति' को 'अलंकार-शास्त्र' में वर्णित अन्य 'रसों' के समानान्तर एक रस माना जाता है, इसलिए, वह 'मनस्' एवं शरीर को तीव्र आनन्द से प्लावित कर देता है, मानो वे भगवद्-रूप हो जाते हैं,[3] इस प्रकार प्रेम 'भक्ति-रस' का 'स्थायी-भाव' है। कुछ विद्वानों ने उसकी द्रवित हृदय में ईश्वर के प्रतिविम्ब के रूप में परिभाषा दी है, इसके प्रति पुरुषोत्तम ने अपने 'प्रतिविम्बवाद' में तथा गोपेश्वर ने इस आधार पर आपत्ति की है कि निराकार ईश्वर का कोई प्रतिविम्ब नहीं हो सकता, तथा इस आधार पर भी कि इस मत के अनुसार 'भक्ति' ईश्वर से एक-रूप हो जायगी, और प्रेम का द्रवित हृदय से तादात्म्यीकरण करना कठिन है।[4] यदि 'आत्मानुभव' को

---

[1] विगाढ़-भावेन सर्वत्र तथानुभव-रूपं यत्कार्यं तादृशप्रियत्वानुभवः, इति सर्वात्म-भावो लक्षितः।

—'भाष्य-प्रकाश' पर 'ब्रह्म-सूत्र,' 'भक्ति-मार्तण्ड' पृ० ८५ में उद्धृत।

[2] अतः सर्वात्म-भावो हि त्यागात्मापेक्षया युतः भावस्वरूपफलकः स्व-सम्बन्ध-प्रकाशत.।
देहादि-स्फूर्ति-रहितो विषय-त्याग-पूर्वकः
भावात्म-काम-सम्बन्धि-रमणादि-क्रियाः।
स्वतन्त्र-भक्ति-शब्दाख्यः फलात्मा ज्ञायतां जनैः। —वही, पृ० ८६।

[3] यत्र मनःसर्वेन्द्रियाणां आनन्द-मात्र-कर-पाद-मुखोदरादि–भगवद्–रूपता तत्र भक्ति-रसैव। —वही, पृ० १०२।

[4] यहाँ 'जीव' द्वारा 'षट्-संदर्भ' (पृ० २७४) में दी गई 'भक्ति' की परिभाषा का उल्लेख करना रुचिकर होगा, जहाँ 'भक्ति' का भगवान में एक दुहरे अस्तित्व के रूप में वर्णन किया गया है, और 'भक्त' को स्वयं आनन्दमय अनुभव के स्वरूप का बताया है, 'स्व-रूपशक्तेः सारभूता ह्लादिनी नाम या वृत्तिस्तस्या एव सारभूत-वृत्तिविशेषो भक्तिः सा च रत्यपरपर्याया। भक्तिर्भवति भक्तेषु च निक्षिप्त-निजाभयकोटिः सर्वदा तिष्ठति। अत एवोक्तं भगवान् भक्तो भक्तिमान्।

शंकर के अद्वैतवाद की भांति केवल आत्मन् से तादात्म्यीकरण के अवबोध के रूप में समझा जाय, तो ईश्वर के प्रति अनुराग में कोई आनन्द नहीं होगा।[1]

आत्मन् एवं ब्रह्मन् के दार्शनिक तादात्म्यीकरण का कथन केवल 'भक्ति' के स्वरूप को दृढ़ बनाने के उद्देश्य से किया जाता है, उससे केवल यही प्रदर्शित होता है कि अनुराग के द्वारा जिस एकत्व का अनुभव किया जाता है उसकी दार्शनिक पुष्टि भी की जा सकती है। प्रेम की प्रगाढ़ता में कृष्ण के साथ एकत्व की भावना अभिव्यक्त होती है जिसे 'भक्ति' भाव का एक 'व्यभिचारी भाव' मानना चाहिए, तथा प्रेम उसका 'स्थायी-भाव' होता है, इस प्रकार तादात्म्य की भावना भक्ति का चरमोत्कर्ष न होकर एक व्यभिचारी-भाव मात्र है। इस प्रकार 'भक्ति' अन्ततः 'ज्ञान' में फलित नहीं होती, 'ज्ञान' 'भक्ति' का एक 'अंग' है।[2] जैसे ईश्वर आध्यात्मिक है वैसे 'भक्ति' भी आध्यात्मिक है, जिस प्रकार वह्नि से निकटता के अनुसार विषय न्यूनाधिक मात्रा में तप्त होते हैं, उसी प्रकार की निकटता के अनुसार मनस् में भक्ति अधिक अथवा कम तीव्रता से आविर्भूत होती है।[3]

'भक्ति' का 'फलरूप' 'साधन-रूप' और 'सगुण' में वर्गीकरण किया जा सकता है। 'सगुण-भक्ति' विभिन्न प्रकार के ध्यान, ज्ञान व 'कर्म' का अंग हो सकती है, और तदनुसार वह तीन प्रकार की होती है। ये पुनः विभिन्न प्रकार के गुणों से संबंधित होने के अनुसार इक्यासी प्रकार की हो सकती है। 'फल' के रूप में 'भक्ति' एक प्रकार की होती है, और 'साधन' के रूप में वह दो प्रकार की होती है, अर्थात्, ज्ञान के अंग के रूप में (ज्ञानांगभूत), और मुक्ति-दात्री के रूप में (भक्तिः स्वातन्त्र्येन मुक्ति-दात्री)। 'ज्ञानांगभूत-भक्ति' स्वयं दो प्रकार की होती है,—'सगुण' एवं 'निर्गुण' जिनमें से पूर्वोक्त तीन प्रकार की होती है, 'ज्ञान-मिश्र,' वैराग्य-मिश्र,' और 'कर्म-मिश्र'।' ज्ञान-मिश्र' तीन प्रकार की हो सकती है—उत्तम मध्यम और निकृष्ट। 'वैराग्य-मिश्र' केवल एक प्रकार की होती है। 'कर्म-मिश्र' तीन प्रकार की होती है।

---

[1] केन कं पश्येतिति श्रुतेः भेद-विलोपकत्वेन भजनानन्दान्तराय-भूतं यदि स्वात्मत्वेन ज्ञानं सम्पादयेद् भजनांद नादद्यात्।

—'भक्ति-मार्तण्ड' पृ० १३६।

[2] अति गाढ़ भावो भेदस्फूर्तिरपि एकोव्याभिचारिभावः।
न तु सार्वदिकस्तदा स्वात्मानं तत्त्वेन विशिषन्ति। —वही, पृ० १३६।

[3] यथा भगवान् मानसीयस्तद्वद् भगवत्सम्बन्ध नैक्ट्यात् मनस्याविर्भवन्ती भक्तिरपि मनो धर्मत्वेन व्यवह्रियते। यथा वह्नि—नैकट्य तारतम्येन भक्त्यनुभव-तारतम्यम्।

—वही, पृ० १४२।

भगवत्-कृपा के द्वारा जिस प्रमुख साधन से 'भक्ति' प्राप्त की जाती है वह है— हृदय की पवित्रता। हृदय की पवित्रता को प्राप्त करने के लिए सोलह साधन निर्धारित किए गए हैं जिनमें से कुछ वाह्य हैं और कुछ आन्तरिक। तीन वाह्य साधन धार्मिक स्नान, यज्ञ, और मूर्तिपूजा हैं। सर्व वस्तुओं में ईश्वर के ध्यान का अभ्यास चौथा है। मनस् के 'सत्व' स्वरूप का विकार पाँचवां है। सर्व 'कर्मों' का त्याग एवं आसक्ति का नाश छठा है, पूज्य व्यक्तियों के प्रति आदर की अभिव्यक्ति सातवां है। दीनों के प्रति दया आठवां है। सर्व भूतों को अपने सम-तुल्य एवं मित्र मानना नवां है। 'यम' और 'नियम' क्रमशः दसवें और ग्यारहवें हैं। उपदेशकों से शास्त्रों का श्रवण करना बारहवां है, और भगवन्नाम का श्रवण एवं कीर्तन तेरहवां है। सार्वभौम सद्भावना चौदहवां है। सत्संग पन्द्रहवां है और अहंकार का अभाव सोलहवां है।

परन्तु 'भक्ति-मार्ग' के दो महत्वपूर्ण सम्प्रदायों में एक अन्तर है। जो 'मर्यादा-भक्ति' का अनुसरण करते हैं उनके मत में 'भक्ति' विशिष्ट कर्त्तव्यों व अनुष्ठानों के पालन द्वारा स्वयं अपने प्रयत्नों से प्राप्त की जा सकती है, 'पुष्टि-भक्ति' के अनुगामियों के मत में किसी प्रयास के बिना भगवद् अनुग्रह से 'भक्ति' प्राप्त की जा सकती है।[1]

वल्लभानुयायी 'पुष्टि-भक्ति' सम्प्रदाय में आते हैं, अतएव व्यक्तिगत प्रयास की अपरिहार्य आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते। 'मर्यादा' सम्प्रदाय के अनुयायी भी इस बात से सहमत हैं कि 'साधनों' का पालन तभी तक करना चाहिए जब तब प्रेम प्रकट नहीं होता, जब प्रेम एक बार प्रकट हो जाता है, तब वह 'साधनों' द्वारा निर्धारित नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह स्वयं को स्वतः स्फूर्तता से अभिव्यक्त करता है। 'पुष्टि-सम्प्रदाय' के अनुयायियों के लिए 'साधन' किसी भी स्तर पर 'भक्ति' को निर्धारित नहीं कर सकते, क्योंकि वह भगवद् अनुग्रह से उत्पन्न होती है (पुष्टिमार्गे वरणमेव साधनम्)। 'मर्यादा-सम्प्रदाय' के अनुसार 'साधनों' के अभ्यास से पापों का नाश होता है और प्रेम के उद्भव से मोक्ष प्राप्त किया जाता है। 'पुष्टि-सम्प्रदाय' के अनुयायियों के अनुसार भगवद्-अनुग्रह पापजन्य बाधाओं को नष्ट करने के लिए यथेष्ट होता है, और साधनों एवं प्रेम के पूर्वापर सम्बन्ध का कोई निश्चित अनुक्रम नहीं होता।[2] 'पंचरात्र' में 'भक्ति' की भगवान के ऐश्वर्य से

---

[1] कृति साध्य-साधन-साध्य-भक्तिर्मर्यादा-भक्तिः तद्राहितानां भगवदनुग्रहैक प्राप्य-पुष्टि भक्तिः। —'भक्ति-मार्तण्ड' पृ० १५१।

[2] मर्यादायां हि श्रवणादिभिः पापक्षये प्रेमोत्पत्तिस्ततो मुक्तिः। पुष्टि मार्गांगीकृतेस्तु अत्यनुग्रहसाध्यत्वेन तत्र पापादेरप्रति-बन्धकत्वाच्छ्रवणादिरूपा प्रेमरूपा च युगपत् पौर्वापर्येण वा वैपरीत्येन वा भवति। —वही, पृ० १५२।

संबंधित प्रेम के रूप में परिभाषा दी गई है, किन्तु भगवान के ऐश्वर्य से साहचर्य 'भक्ति' का एक अनिवार्य अंग नहीं है। पुरुषोत्तम 'भक्ति' की परिभाषा सर्व फलों के प्रति वैराग्य सहित भगवान के प्रति अनुराग के रूप में देते हैं। मन की शुद्धता ज्ञान एवं 'पुष्टि' अथवा भगवान के अनुग्रह से उत्पन्न 'भक्ति' दोनों के द्वारा प्राप्त की जा सकती है, इसलिए प्रेम के उदय के लिए जो एक मात्र शर्त रक्खी जा सकती है वह ईश्वर का अनुग्रह है।

यह कहना असम्भव है कि भगवान किस कारण से अपने अनुग्रह को प्रदान करने के लिए प्रसन्न होता है, वह दुःख निवारण के लिए ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि अनेक दुखियों के लिए वह ऐसा नहीं करता। यह भगवान का एक विशेष धर्म है जिसके द्वारा वह कुछ लोगों के माध्यम से अपने अनुग्रह को अभिव्यक्त करने के लिए उनको अनुकूलित करता है।

'भक्ति' के फल के संबंध में विविध मत है। वल्लभ ने अपनी 'सेवाफल-विवृति' में कहा है कि उसके फलस्वरूप हम भगवान के स्वरूपानुभव की 'अलौकिक सामर्थ्य' प्राप्त कर सकते हैं, अथवा भगवान के निरन्तर 'सायुज्य' का अनुभव कर सकते हैं, तथा ईश्वर-'सेवोपयोगी देह की प्राप्ति कर सकते हैं। यह 'पुष्टि-मार्ग' का वर्णन है। उन्होंने अपनी 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा' में 'प्रवाह' और 'मर्यादा' इन दो अन्य 'मार्गों' का भी वर्णन किया है। 'प्रवाह-मार्ग' उन वैदिक कर्त्तव्यों से निर्मित होता है, जो जन्म व पुनर्जन्म के व्यापारों को संचालित करते हैं। परन्तु जो लोग वैदिक नियमों का उल्लंघन नहीं करते वे 'मर्यादा-मार्गी' कहे जाते हैं। 'पुष्टि-मार्ग' उक्त अन्य दो 'मार्गों' से इस बात में भिन्न है कि वह भगवद् अनुग्रह पर निर्भर करता है न कि वैदिक कर्मों पर,[1] अतः उसके फल अन्य दोनों 'मार्गों' के फलों से श्रेष्ठ होते हैं।[2]

वल्लभ अपनी 'भक्ति-वर्धिनी' में कहते हैं कि 'भक्ति' का बीज भगवद्-अनुग्रह के कारण 'प्रेम के रूप में विद्यमान रहता है, और जब वह दृढ़ होता है, तब वह त्याग, भक्ति-शास्त्र के श्रवण एवं भगवन्नाम के कीर्त्तन से अभिवृद्ध होता है। जब एक

---

[1] अतो वेदोक्तत्वेऽपि वेद-तात्पर्य-गोचरत्वेऽपि जीव-कृतवैध-साधनेष्व-प्रवेशात्तदसाध्य साधनात् फल-वैलक्षण्याच्च स्वरूपतः कार्यतः फलश्चोत्कर्षाच्च वेदोक्त-साधनेभ्योऽपि भिन्नैव तत्तदाकारिका पुष्टिरस्तीत्यतो हेतोः सिद्धं इति मार्ग-त्रयोऽत्र न संदेह इत्यर्थः। 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-भेदः' पर टीका, पृ० ८।

[2] येषु सावन द्वारा भक्त्यभिव्यक्तिः तेषु सा अनुभूता भाव-रूपेण मनसि तिष्ठति, ततः पूजादिषु साधनेष्वनुष्ठीयमानेषु प्रेमादि-रूपेण क्रमादुद्भूता भवति।
—'भक्ति-वर्धिनी-विवृति' (पुरुषोत्तम द्वारा), श्लोक ५।

व्यक्ति गृहस्थाश्रम में अपने वर्णाश्रम कर्त्तव्यों का मन की पूर्ण एकाग्रता से पालन करता हुआ कृष्ण की उपासना करता है तब यह बीज सुदृढ़ होता है। कर्त्तव्यों में व्यस्त रहते समय भी उसे अपना मन भगवान पर केन्द्रित रखना चाहिए, इस प्रकार वह प्रेम विकसित होता है जिसका विकास अनुराग अथवा व्यसन में होता है। यह 'भक्ति' का सुदृढ़ बीज कभी नष्ट नहीं हो सकता, ईश्वर के प्रति प्रेम के द्वारा ही अन्य आसक्तियों का नाश होता है, और इस प्रेम के विकास से एक व्यक्ति 'व्यसन' बन जाता है तभी व्यक्ति अपना उद्देश्य सुगमता से प्राप्त कर सकता है। 'भक्ति' कभी तो स्वतःस्फूर्त होती है, कभी अन्य भक्तों के संसर्ग से उदित होती है और कभी अनुकूल अभ्यास से उत्पन्न होती है।[1] 'भक्ति' के क्रमिक विकास का सात अवस्थाओं के एक आरोही क्रम में वर्णन किया गया है, वे हैं–'भाव,' 'प्रेम,' 'प्रणय,' 'स्नेह,' 'राग,' 'अनुराग' और 'व्यसन'। भगवान के लिए 'व्यसन' जो प्रेम की प्रगाढ़तम अभिव्यक्ति है, भगवान के बिना रह सकने की असमर्थता है (तदविना स्थातुमशक्ति), ऐसे अनुराग से युक्त व्यक्ति के लिए घर में ठहरना और अपने साधारण कर्त्तव्यों को करना असम्भव हो जाता है। पूर्व अवस्थाओं में यद्यपि एक व्यक्ति घर में एक अतिथि की भाँति रहने का प्रयत्न कर सकता है तथापि वह अपने भावोद्वेग की समुचित अभिव्यक्ति में विविध प्रतिबन्धकों का अनुभव करता है, सांसारिक आसक्तियाँ दिव्यासक्ति में सदा बाधक होती हैं जो 'भक्ति' के विकास में सहायक होती हैं।[2]

परन्तु वल्लभ और अद्वैतवादी 'सन्यास' के ढंग के त्याग के विरुद्ध हैं, क्योंकि वह अभीप्सित फल को उत्पन्न करने में असमर्थ होने के कारण केवल पश्चाताप का जनक हो सकता है।[3] ज्ञान-मार्ग अपना फल सैंकड़ों जन्मों में उत्पन्न कर सकता है और वह अन्य अनेक साधनों पर निर्भर करता है, इसलिए ज्ञान-मार्ग के स्थान पर भक्ति-मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।[4] 'भक्ति-मार्ग' में त्याग 'भक्ति' एवं उसके समुचित पालन की आवश्यकता से प्रेरित होता है, भावना से नहीं।

---

[1] देखिए पृ० ३५५ पर टिप्पणी ३।

[2] स्नेहाशक्ति-व्यसनानां विनाशनं। तथा सति कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात्। तेन तन् त्यागं-कृत्वा यतेत।

—'भक्ति-वर्धिनी' श्लोक ६ पर बालकृष्ण की टीका।

[3] अतः कलौ स सन्यासः पश्चातापाय नान्यथा। पाषण्डित्वं भवेत् चापि तस्मात् ज्ञाने न सन्यसेत्।

—वल्लभ का 'सन्यास-निर्णय,' श्लोक १६।

[4] ज्ञानार्थमुत्तरंगं च सिद्धिर्जन्मशतैः, ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादि-श्रवणान् मतं परम्। गोकुलनाथ के 'विवरण' सहित वल्लभ का 'सन्यास-निर्णय,' श्लोक १५।

'भक्ति' के फलों का 'अलौकिक सामर्थ्य,' 'सायुज्य' और 'सेवोपयोगी देह' के रूप में पहले ही वर्णन किया जा चुका है, तथा उनका वल्लभ के 'सेवाफल' में आगे और विवेचन किया गया है, जिस पर विविध टीकाकारों ने अपने अनेक मतभेदों सहित लिखा है। इस प्रकार देवकीनन्दन और पुरुषोत्तम के मत में 'अलौकिक-सामर्थ्य' का अर्थ यह है कि भगवान में एक विशिष्ट 'आवेश' होता है अथवा वह भक्त को एक विशेष प्रेरणा प्रदान करता है जिसके कारण वह भगवान के पूर्ण आनन्द के स्वरूप की अनुभूति करने में समर्थ होता है। किन्तु हरिराज का मत है कि उसका अर्थ भगवान के विरहानुभव की योग्यता होता है, कल्याणराज का मत है कि उसका अर्थ भगवान के साथ वैकुण्ठ में दिव्य गायन करने की सामर्थ्य होता है। गोपीश का मत है कि उसका अर्थ भगवान के अलौकिक भजनानन्दानुभव की 'स्वरूप-योग्यता' है।[1] 'भक्ति' का द्वितीय फल (सायुज्य) पुरुषोत्तम, वच गोपीश, और देवकीनन्दन के द्वारा भक्त का 'भगवत्स्वरूप में लय होना माना जाता है, पर हरिराज उसे भगवान के निरंतर साहचर्य की योग्यता मानते हैं।

'उद्वेग,' 'प्रतिबंध' और 'भोग' 'भक्ति' के बाधक माने जाते हैं। 'उद्वेग' का अर्थ दुष्ट व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न किया गया भय अथवा पापों के द्वारा उत्पन्न की गई मानसिक अस्थिरता होता है, 'प्रतिबन्ध' का अर्थ सामान्य बाधाएं होता है, और 'भोग' का अर्थ शरीर एवं मन के सुख-दुःखों की साधारण अनुभूतियां है। इन बाधाओं का निवारण उनको उत्पन्न करने वाले कारणों के मिथ्या स्वरूप के अवबोध से किया जा सकता है, किन्तु यदि भक्त के अतिक्रमणों से भगवान क्रोधित हो जाता है और अपना अनुग्रह प्रदान नहीं करता तो बाधाओं का निवारण नहीं किया जा सकता।[2] जिस सम्यक् ज्ञान के द्वारा बाधाओं को उत्पन्न करने वाले मिथ्या बोध का निवारण किया जा सकता है वह इस विश्वास में निहित होता है कि प्रत्येक वस्तु प्रभु ने प्रदान

---

[1] तत्र अलौकिक सामर्थ्यं नाम पर प्राप्ति-विवरण श्रुत्युक्त-भगवत्स्वरूपानुभवे प्रदीप-वदावेश इति सूत्रोक्त-रीतिक-भगवदावेशजा योग्यता यया रसात्मकस्य भगवतः पूर्ण-स्वरूपानन्दानुभवः। श्री देवकीनन्दनादावप्येवमाहुः। श्री हरिरायास्तु भगवद्विरहानुभव-सामर्थ्यमित्याहुः। श्री कल्याणरायास्तु भगवता सह गानादि-सामर्थ्यं मुख्यानामेवेत्याहुः। तथा गोपीनान्त्वलौकिक-भजनानन्दानुभवे स्वरूप-योग्यता इत्याहुः।

—'सेवाफल,' श्लोक १ पर पुरुषोत्तम की टीका।

[2] कदाचित् दुःसंगादिना अति-पक्षपाति-प्रभु-प्रिय प्रद्वेषेण तद्द्रोहे प्रभोरतिक्रोधेन प्रार्थनयापि क्षमा-सम्भावना-रहितेन तस्मिन् प्रभुः फल-प्रतिबन्धं करोतीति स भगवत् कृतः प्रतिबन्धः। —'सेवाफल' श्लोक ३ पर हरिराज की टीका।

की है, सब कुछ ब्रह्मन् है, तथा कोई 'साधना' नहीं है, कोई 'फल' नहीं है, और कोई भोक्ता नहीं है।[1] जो व्यक्ति भगवान के आनन्दमय स्वरूप का उपभोग करने का प्रयास करता है वह सहज ही बाधाओं का निवारण कर लेता है। भक्त के रूप में भजनानन्द का अनुभव करना स्वयं ब्रह्मानन्द और विषयानन्द की अपेक्षा उत्तम है (विषयानन्द ब्रह्मानन्दापेक्षया भजनानन्दस्य माहात्वात्)। सांसारिक वस्तुओं की आसक्ति से उत्पन्न मानसिक अस्थिरता भगवद् अनुग्रह की प्राप्ति में बाधक होती है, 'कर्म' के फलों के त्याग द्वारा उसका निवारण किया जा सकता है। 'भक्ति' से उत्पन्न जिस मुक्ति का पहले कथन किया गया है उसकी उत्तम, मध्यम व अधम इन त्रिविध 'सेवाफलों' के रूप में व्याख्या की जानी चाहिए, अर्थात् 'अलौकिक सामर्थ्य' (उत्तम-सेवाफल), 'सायुज्य' (मध्यम सेवाफल) और भजनोपयोगी देह (अधम-सेवाफल)।[2]

वल्लभ के अनुयायियों द्वारा वल्लभ वेदान्त के प्रकरणों की व्याख्या

वल्लभ के अनुयायियों द्वारा वेदान्त के विभिन्न प्रकरणों पर अनेक ऐसे प्रालेख लिखे गए जो ध्यान देने योग्य हैं। वल्लभ द्वारा अपनी 'सुबोधिनी' में 'भागवत-पुराण' (३. ७. १०–११) पर की गई व्याख्या के अनुसार भ्रम एक वस्तु पर एक ऐसे धर्म अथवा गुण के मिथ्या आरोपण में निहित होता है जिसमें वह वस्तुतः नहीं होता।[3] वल्लभ से संकेत ग्रहण करके बालकृष्ण भट्ट (जिनको दल्लू भट्ट भी कहते हैं) वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार भ्रम का एक दार्शनिक सिद्धान्त विकसित करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि प्रथम क्षण में (मनस् से संबंधित) नेत्र का शुक्ति से एक सम्पर्क स्थापित होता है, और उसके फलस्वरूप एक निर्विकल्पक ज्ञान (सामान्य ज्ञान) उत्पन्न होता है जो संशय एवं अन्य विशिष्ट संज्ञानों से पूर्व होता है, यह सामान्य ज्ञान 'बुद्धि' के 'सत्वगुण' को जाग्रत करता है और फलतः सम्यक् ज्ञान को उत्पन्न करता

---

[1] विवेकस्तु ममैतदेव प्रभुना कृतं सर्वं ब्रह्मात्मकं कोऽहं किंच साधनं किं फलं को दाता को भोक्ता इत्यादि रूपः।
—वही।

[2] भक्ति-मार्गे सेवाया उत्तम-मध्यम-साधारणाधिकारक्रमेण एतत्फल-त्रयमेव, नो मोक्षादिः।
—'सेवाफल' श्लोक ६ पर हरिराज की टीका।

[3] यथा जले चन्द्रमसः प्रतिबिम्बितस्य तेन जलेन कृतो गुणः कम्पादि-धर्मः आसन्नो विद्यमानो मिथ्यैव दृश्यते न वस्तुतश्चन्द्रस्य एवमनात्मनो देहदेर्धर्मो जन्म-बन्ध-दुःखादिरूपो द्रष्टुरात्मनो जीवस्य न ईश्वरस्य।
—'सुबोधिनी,' ३. ७. ११।

है। इसलिए 'सर्वनिर्णय' में यह कहा जाता है कि 'सत्व' से संबंधित 'बुद्धि' को 'प्रमाण' मानना चाहिए। 'भागवत' (३. २६. ३०) में संशय, भ्रम, निश्चयात्मक ज्ञान, स्मृति व स्वप्न को 'बुद्धि' की अवस्थाएं माना गया है, अतः ज्ञान का पारिभाषिक लक्षण 'बुद्धि' का एक व्यापार माना जाना चाहिए। इसी प्रकार से मनस् एवं ज्ञानेन्द्रियां सामान्य ज्ञान उत्पन्न करते हैं, जो बाद में 'बुद्धि' के व्यापार द्वारा विभेदीकृत हो जाता है। जब 'माया' के 'तमस्' गुण से 'बुद्धि' आच्छादित हो जाती है, तब जो शुक्ति ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में है उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, इस प्रकार आच्छादित 'बुद्धि' शुक्ति के रजत-सम चमकीले गुण से जाग्रत अपने रजत के पूर्व संस्कार के द्वारा रजत के प्रत्यय को उत्पन्न करती है। शंकर सम्प्रदाय की व्याख्यानुसार मिथ्या रजत की सृष्टि 'अविद्या' से आच्छादित शुक्ति पर होती है। अतः शुक्ति-रजत की रजत एक वस्तुगत सृष्टि होती है, और इस प्रकार वह एक सापेक्षिक यथार्थ विषय होता है जिसके सम्पर्क में चक्षु-इन्द्रिय आती है। वल्लभ के अनुसार शुक्ति-रजत 'बुद्धि' की एक मानसिक सृष्टि है।[1] ज्ञानेन्द्रियों एवं मनस् के सन्निकर्ष द्वारा उत्पन्न प्रथम सामान्य-ज्ञान शुक्ति का ज्ञान होता है, क्योंकि शुक्ति-रजत एक 'बुद्धि' की सृष्टि होती है, सम्यक् ज्ञान में 'बुद्धि' वही ग्रहण करती है जिसे ज्ञानेन्द्रियों ने प्रत्यक्ष किया है। भ्रम का यह मत 'अन्यथा ख्याति' कहा जाता है, अर्थात्, जिस वस्तु से ज्ञानेन्द्रियाँ सम्पर्क में हैं उससे अन्यथा किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण। शंकर द्वारा दी गई भ्रम की व्याख्या गलत है, क्योंकि यदि 'माया' द्वारा रचित एक शुक्ति-रजत होती है तो शुक्ति के प्रत्यय की व्याख्या करना असम्भव होगा, क्योंकि एक बार संरचित शुक्ति-रजत का नाश करने वाली कोई वस्तु नहीं होती। चूँकि शुक्ति-रजत शुक्ति को आच्छादित कर देती है और शुक्ति-रजत का नाश शुक्ति के प्रत्यय के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु द्वारा नहीं हो सकता, इसलिए शुक्ति-रजत के विनाश की व्याख्या नहीं की जा सकती। यह सुझाव दिया जाता है कि शुक्ति-रजत 'माया' के द्वारा उत्पन्न की जाती है और 'माया' के द्वारा ही नष्ट की जाती है, तो 'माया' द्वारा उत्पन्न जगदाभास के प्रत्यय को 'माया' द्वारा विनाशयोग्य माना जा सकता है, और सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिए कोई प्रयास नहीं किया जा सकता। वल्लभ के अनुसार जगत् कदापि मिथ्या नहीं है, हमारी 'बुद्धि' ही मिथ्या प्रत्ययों का सृजन करती है, जिन्हें मध्यवर्ती सृष्टि (अन्तरालिकी) माना जा सकता है। पारमार्थिक भ्रम के उदाहरण में जब ब्रह्मन् नानात्मक जगत् के रूप में प्रतीत होता है—उसका एक ऐसी सत्ता के रूप में अवबोध होता है जो अनिश्चित स्वरूप की होती है। यही सत्ता गुणों एवं आभासों से संबंधित होती है, यथा, जज्झर और घट, जो 'बुद्धि' द्वारा रचे हुए मिथ्या प्रत्यय

---

[1] इयदिदं बौद्धमेव रजतं बुद्ध्या विषयी-क्रियते। न तु सामान्य-ज्ञाने चक्षुर्विषयी-भूतमिति विवेकः। —'वादावली' पृ० ३।

होते हैं। इन मिथ्या प्रत्ययों का निवारण दोषों के दूर पर सम्भव होता है, न कि भ्रम के अधिष्ठान के ज्ञान द्वारा, इस प्रकार एक जज्झर अथवा घट की वौद्धिक सृष्टि मिथ्या हो सकती है, यद्यपि इसमें प्रापंचिक जज्झर अथवा घट के निषेध का समावेश नहीं होता।[1] अतः जगत् की सृष्टि एवं जगत् के विनाश विषयक प्रत्यय ऐसे मिथ्या प्रत्यय हैं जिनकी हमने सृष्टि की है। 'जीव' ईश्वर का अंश होने के नाते सत्य है, वह जब जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र का विषय माना जाता है तभी मिथ्या होता है। इस प्रकार जगत्-प्रपंच सत्य अथवा मिथ्यात्व उसको प्रत्यक्ष करने की पद्धति पर निर्भर करता है,[2] अतः जब एक व्यक्ति जगत् का प्रत्यक्षीकरण करता है और उसे ब्रह्मन् के रूप में ज्ञात करता है तब जगत् के यथार्थ नानात्व से संबंधित उसका वौद्धिक प्रत्यय तिरोहित हो जाता है। यद्यपि वस्तुतः प्रत्यक्ष किया गया जगत् यथावत बना रह सकता है।[3] इस प्रकार 'माया' की सृष्टि बाह्य न होकर आन्तरिक होती है। इसलिए दृश्य जगत् स्वरूपतः मिथ्या नहीं है, केवल ईश्वर से पृथक् एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में उसका प्रत्यय मिथ्या होता है। 'माया' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—ईश्वर की उस शक्ति के रूप में जिसके द्वारा वह सब कुछ बन सकता है, तथा भ्रम को उत्पन्न करने वाली शक्ति के रूप में और पश्चादुक्त पूर्वोक्त का एक अंग होती है।

किन्तु पुरुषोत्तम अपने 'ख्यातिवाद' में एक भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है कि शुक्ति-रजत का भ्रम 'माया' के द्वारा बुद्धि-वृत्ति के विषयगत व बहिर्गत से उत्पन्न होता है, इस प्रकार प्रक्षेपित वृत्ति ही एक विषय के रूप में ज्ञात की जाती है।[4] यह बहिर्गत विक्षेप पूर्व संस्कारों के उदय से संबंधित होता है। यह मानना गलत है कि आत्मन् ही भ्रम का अधिष्ठान होता है, क्योंकि शुक्ति-रजत के प्रत्यक्षीकरण में आत्मन् तो आत्म-चेतना का अधिष्ठान होता है, किसी में भी "मैं रजत हूँ" प्रत्यय उपस्थित नहीं होता।

---

[1] अत्रापि बौद्धेव घटो मिथ्या, न तु प्रपंचान्तर्वर्तीति निष्कर्ष।

—वही, पृ० ६।

[2] तथा च सिद्धं विषयता-वैशिष्ट्येन प्रपंचस्य सत्यत्वं मिथ्यात्वंच। एवं स्वमते प्रपंचस्य पारमार्थिक-विचारे ब्रह्मात्मकत्वेन सत्यत्वम्। —'वादावली,' पृ० ८।

[3] तथात्र चक्षु:-संयुक्त-प्रपंच-विषयके ब्रह्मत्व-ज्ञाने उत्पन्ने बौद्ध एव प्रपंचो नश्यति। न तु चक्षुर्गृहीतोऽयमित्यर्थः। —वही, पृ० ८।

[4] अतः शुक्ति-रजतादि-स्थले मायया बहिःक्षिप्त-बुद्धि-वृत्ति-रूपं ज्ञानमेवार्थाकारेण ख्यायत इति मन्तव्यम्।

—वही, पृ० १२१।

जगत् के मिथ्यात्व के सिद्धान्त के विरुद्ध कथन करते हुए गिरिधर गोस्वामी अपने 'प्रपंचवाद' में कहते हैं कि जगत् का मिथ्यात्व स्थापित नहीं किया जा सकता। यदि दृश्य जगत् के मिथ्यात्व का तात्पर्य भूत, वर्तमान व भविष्य में उसका अभाव होता है, तो उसका सर्वथा प्रत्यक्ष किया ही नहीं जा सकता था, यदि यह अभाव 'अत्यन्ताभाव' के स्वरूप का है, तो, चूंकि उक्त प्रत्यय निषेध की जाने वाली वस्तु के अस्तित्व पर आश्रित होता है और चूंकि उस वस्तु का अस्तित्व नहीं होता, इसलिए 'अत्यन्ताभाव' के रूप में भी अभाव का अस्तित्व नहीं होता। यदि जगत् के अभाव का अर्थ यह है कि वह भ्रम की रचना है, तो पुनः गम्भीर आपत्तियाँ उठती हैं, एक भ्रम केवल एक पूर्व सम्यक् ज्ञान की तुलना में ही भ्रम कहा जा सकता है, जब एक पूर्व सम्यक् ज्ञान से कोई तुलना सम्भव नहीं होती, तो जगत् एक भ्रम नहीं हो सकता।

यदि जगत् के स्वरूप को 'अविद्या-जन्य' माना जाय, तो सोचना स्वाभाविक है कि 'अविद्या' किसमें स्थित रहती है ? ब्रह्मन् (शंकरवादियों के अनुसार) निर्गुण होने के कारण, 'अविद्या' ब्रह्मन् का एक गुण नहीं हो सकती। ब्रह्मन् स्वयं 'अविद्या' नहीं हो सकता क्योंकि वह 'अविद्या' का कारण है। यदि 'अविद्या' को किसी वस्तु के सम्यक् ज्ञान का आच्छादन माना जाय, तो जिस वस्तु का सम्यक् ज्ञान आच्छादित होता है उसको सिद्ध करना चाहिए। पुनः, शंकरवादी यह मानते हैं कि 'जीव' 'अविद्या' में ब्रह्मन् का प्रतिबिम्ब होता है। यदि ऐसा है तो 'जीव' के गुण 'अविद्या' के कारण उत्पन्न होते हैं क्योंकि एक प्रतिबिम्ब की अशुद्धताएं दर्पण की अशुद्धता के कारण उत्पन्न होती हैं। यदि ऐसा है, तो 'जीव' 'अविद्या' की उपज होने के कारण पश्चादुक्त पूर्वोक्त में स्थित नहीं हो सकती। वल्लभ मत के अनुसार जीव का भ्रम ईश्वर की इच्छा के कारण होता है।

पुनः, शंकरवादियों की 'अविद्या' सत् एवं असत् से भिन्न परिभाषित की गई है, किन्तु ऐसा कोई पदार्थ किसी को ज्ञात नहीं है, क्योंकि वह विरोध-ग्रस्त है। अब शंकरवादी यह कहते हैं कि जगत् का मिथ्यात्व उसकी अनिर्वचनीयता में निहित होता है, वस्तुतः यह मिथ्यात्व नहीं होता—यदि ऐसा होता तो ब्रह्मन् स्वयं मिथ्या हो जाता। 'श्रुति-पाठ' कहते हैं कि उसका वाणी, विचार अथवा मनस् के द्वारा वर्णन सम्भव नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्मन् की सत् के रूप में परिभाषा दी जा सकती है, क्योंकि शास्त्रों में यह कहा गया है कि वह न सत् है और न असत् है (न सदन्नासदित्युच्यते)। पुनः, जगत् 'विकार' नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि वह एक 'विकार' है, तो किसका है, वह ब्रह्मन् का विकार नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मन् के अतिरिक्त सब कुछ परिवर्त्तनशील है।

वल्लभ मत में जगत् मिथ्या नहीं है, और, जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, ईश्वर उसका 'समवायी' एवं 'निमित्त-कारण' है। 'समवायि-कारण' को सर्व

प्रकार के अस्तित्व में व्याप्त संकल्पित किया गया है, जैसे मृत्तिका घट में व्याप्त रहती है, किन्तु, घट के असदृश ईश्वर में कोई 'विकार' नहीं होता, क्योंकि मृत्तिका के असदृश ईश्वर में इच्छा-शक्ति होती है। यह आभासी विरोध अवैध है कि गुण-धर्म से युक्त जगत् का ब्रह्मन् से तादात्म्यीकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि ब्रह्मन् का स्वरूप केवल शास्त्रों से निर्धारित किया जा सकता है, और वे निश्चित रूप से यह घोषणा करते हैं कि ब्रह्मन् में सब कुछ बनने की शक्ति होती है।

'भेदाभेदस्वरूप-निर्णय' में पुरुषोत्तम कहते हैं कि वेदांत के 'सत्कार्यवाद' मत के अनुसार सभी वस्तुएं आरम्भ ही से ब्रह्मन् में अपना अस्तित्व रखती हैं। 'जीव' भी ईश्वर के अंश होने के कारण उसमें अस्तित्व रखते हैं। कारणावस्था और कार्यावस्था में यह भेद है कि पश्चादुक्त में कतिपय गुण अथवा धर्म अभिव्यक्त हो जाते हैं। जगत् में जो द्वैत हमें दृष्टिगत होता है उससे अद्वैत का विरोध नहीं होता, क्योंकि आभासी रूप और धर्म जो परस्पर भिन्न हैं ईश्वर के साथ अभेद के उनके तात्विक धर्म का व्याघात नहीं कर सकते।[1] अतः ब्रह्मन् एक दृष्टिकोण से निरवयव माना जा सकता है, और अन्य दृष्टिकोण से सावयव माना जा सकता है।

परन्तु 'प्रपंच' और नानात्मक जगत् और 'संसार' अथवा जन्म-पुनर्जन्म के चक्र में एक भेद है। 'संसार' के प्रत्यय से तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने स्वयं को कार्यों एवं 'जीवों' और कर्मों के कर्त्ताओं व अनुभव के भोक्ताओं की संकल्पना में परिणत किया है। ऐसा प्रत्यय मिथ्या होता है, यथार्थ में कोई कारण और कार्य नहीं होते, कोई बंधन और मोक्ष नहीं होता, क्योंकि सब कुछ ईश्वर-स्वरूप होता है। इस विचार की व्याख्या वल्लभ गोस्वामी के 'प्रपंच-संसार-भेद' में की गई है। जिस प्रकार सूर्य और उसकी किरणें एक होती हैं, उसी प्रकार ईश्वर के गुण उस पर आश्रित होते हैं और उससे एकरूप होते हैं; आभासी विरोध शास्त्रों के प्रमाण द्वारा दूर हो जाता है।[2]

सृष्टि-क्रम के संबंध में पुरुषोत्तम सृष्टि के विविध मतों का खण्डन करने के पश्चात् कहते हैं कि ब्रह्मन् 'सत्' 'चित्' व 'आनन्द' के तादात्म्य के रूप में स्वयं को इन गुणों के रूप में अभिव्यक्त करता है, और फलतः स्वयं का सत्ता, चैतन्य व क्रिया की शक्ति के रूप में विशिष्टीकरण करता है, और वह भ्रमात्मक 'माया' होता

---

[1] सृष्टि-दशायां जगद्-ब्रह्मणोः कार्य-कारण-भावाज्जगज्जीवयोरंशांशिभावाच्च उपचारिको भवन्नापि न वास्तवाभेदं निहन्ति। तेनेदानीं अपि भेद सहिष्णुरेवाऽभेदः।
—'वादावली,' पृ० २०।

[2] 'वादावली' पृ० ३१ में गोपेश्वरस्वामी की 'वादकथा'।

है। ये विशिष्टीकृत गुण स्वयं को भिन्न-भिन्न प्रदर्शित करते हैं, वे जिन वस्तुओं से सम्बन्धित होते हैं उनके भेदों के प्रत्यय को उत्पन्न करते हैं, और स्वयं को विभिन्न रूपों में व्यक्त करते हैं। यद्यपि वे इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, तथापि वे ईश्वर की इच्छा से एकीकृत होते हैं। क्रिया-शक्ति से सम्बन्धित अंश स्वयं को जड़ पदार्थ के रूप में अभिव्यक्त करता है। जब चैतन्य-शक्ति अस्पष्ट रूप में अभिव्यक्त होती है तब वह 'जीव' होती है।[1] जगत् के दृष्टिकोण से ब्रह्मन् 'विवर्तकारण' होता है, ईश्वर की आत्म-सृष्टि के दृष्टिकोण से वह 'परिणाम' होता है।[2]

विट्ठल द्वारा वल्लभ के विचारों की व्याख्या

वल्लभ के पुत्र विट्ठल ने 'विद्वान्मण्डन' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था, जिस पर पुरुषोत्तम द्वारा 'सुवर्णसूत्र' नामक एक टीका है। इस रचना के प्रमुख विचारों का अब विवरण दिया जाता है।

अनेक ऐसे उपनिषद्-पाठ हैं जो यह घोषणा करते हैं कि ब्रह्मन् किन्हीं विशिष्ट गुणों से रहित (निर्विशेष) है, और अन्य वे हैं जो कहते हैं कि वह विशिष्ट गुणों से युक्त है, अर्थात् वह 'सविशेष' है। पूर्वोक्त मत के समर्थक कहते हैं कि विपक्षी द्वारा आरोपित 'गुणों' अथवा 'धर्मों' के अस्तित्व का अधिष्ठान उन्हें कहीं न कहीं मानना पड़ेगा। यह अधिष्ठान गुणों से रहित होना चाहिए, और यह गुण-रहित सत्ता उन पाठों द्वारा अस्वीकृत नहीं की जा सकती जो ब्रह्मन् के गुण-सम्पन्न होने की घोषणा करते हैं, क्योंकि पश्चादुक्त पूर्वोक्त की मान्यता के आधार पर ही सम्भव हो सकता है, अथवा दूसरे शब्दों में पूर्वोक्त पश्चादुक्त का 'उपजीव्य' है। परन्तु, यह तर्क दिया जा सकता है कि जो श्रुति-पाठ ब्रह्मन् के गुण-रहित होने की घोषणा करते हैं वे ऐसा गुणों के निषेध द्वारा ही करते हैं, तो गुणों को मुख्य माना जा सकता है, क्योंकि गुण-रहित का निर्धारण केवल गुणों के निषेध द्वारा ही किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि, चूंकि श्रुति-पाठ निर्गुण पर बल देते हैं, इसलिए निर्गुण का गुणों के माध्यम से अवबोध करने का प्रयास विरोध-ग्रस्त है, ऐसे विरोध में गुण एवं निर्गुण दोनों के अभाव का समावेश हो जाएगा और हम 'शून्यवाद' पर आ जाएंगे। यदि, पुनः, यह तर्क दिया जाता है कि गुणों का निषेध केवल सामान्य व्यावहारिक गुणों का उल्लेख करता है न कि वेदों द्वारा मान्य गुणों का, तो एक उचित आपत्ति उठती है, क्योंकि 'श्रुति-पाठ' निश्चयपूर्वक यह घोषणा करते हैं कि ब्रह्मन् पूर्णतः

---

[1] देखिए पुरुषोत्तम का 'सृष्टिभेदवाद,' पृ० ११५।

[2] एवं च अन्तरा-सृष्टिं प्रति विवर्तोपादानत्वमात्म-सृष्टिं प्रति परिणाम्यु-पादानत्वं ब्रह्मणः। —वही, पृ० ११३।

अकथनीय व अनिर्वचनीय हैं। किन्तु आगे यह तर्क दिया जा सकता है कि, यदि ब्रह्मन् को कुछ ऐसे गुणों का अधिष्ठान मान लिया जाय जिनका उसके प्रति निषेध किया गया हो, तो ऐसा निषेध भी अस्थायी रूप से सापेक्ष हो जायगा और निरपेक्ष रूप से लागू नहीं होगा। एक घट तपाने से पूर्व काला होता है, और जब उसे तपा लिया जाता है तब वह काला न रहकर भूरा हो जाता है। प्रस्तावित उत्तर यह है कि सोपाधिक के रूप में ब्रह्मन् के प्रति गुणों को स्वीकार किया जाता है, और निरुपाधिक के रूप में ब्रह्मन् के प्रति गुणों का निषेध किया जाता है। जब एक व्यक्ति का हृदय सोपाधिक ब्रह्मन् की उपासना द्वारा शुद्ध हो जाता है तब वह ब्रह्मन् के निरुपाधिक स्वरूप का अवबोध करता है। ऐसे ब्रह्मन् के स्वरूप की घोषणा के प्रयोजन से श्रुति-पाठ उसके निर्गुण होने का कथन करते हैं; वे उसको गुण-सम्पन्न तब घोषित करते हैं जब वह 'अविद्या' से उपाधिग्रस्त हो जाता है। इसका विट्ठल यह उत्तर देते हैं कि, यदि ब्रह्मन् को जगत् का स्वामी माना जाय तो उसे निर्गुण नहीं कहा जा सकता है। यह तर्क नहीं किया जा सकता कि इन गुणों का 'अविद्या' से उपाधिग्रस्त ब्रह्मन् के संबंध में कथन किया गया है, क्योंकि, चूँकि ब्रह्मन् और 'अविद्या' दोनों अनादि हैं इसलिए सृष्टि-क्रम निरंतर बना रहेगा, सृष्टि-क्रम एक बार 'अविद्या' द्वारा आरम्भ होने पर किसी अन्य वस्तु के द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकेगा। वेदान्त पाठों में इच्छा-शक्ति से संबंधित ब्रह्मन् जगत् का कारण माना जाता है, ब्रह्मन् के अन्य गुणों को उसकी इच्छा से अनुप्रेरित माना जा सकता है। शंकरवादी मत जिसके अनुसार इच्छा सोपाधिक ब्रह्मन् से प्रवृत्त होती है—में विभिन्न प्रकार की इच्छाओं का कोई कारण नहीं बताया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि विभिन्न प्रकार की इच्छाओं व गुणों का प्रतिभास सोपाधिक के गुणों को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती; अतः यह मानना गलत है कि ब्रह्मन् उन 'गुणों' से पृथक् अस्तित्व रखता है जिनका वह उपाधियों के द्वारा अधिष्ठान होता है। 'ब्रह्म-सूत्र' में भी ब्रह्मन् के प्रति जिज्ञासा का सूत्रपात करने के तुरन्त पश्चात् बादरायण उसके स्वरूप का लक्षण यह बताते हैं कि उससे जगत् की सृष्टि एवं विनाश अग्रसर होते हैं, किन्तु 'ब्रह्म-सूत्र' का कथन है कि उक्त सृजनात्मक व्यापार केवल एक सोपाधिक ब्रह्मन् का उल्लेख करते हैं। यह कहना गलत है कि चूँकि विशुद्ध ब्रह्मन् के स्वरूप की व्याख्या करना कठिन है इसलिए 'ब्रह्म-सूत्र' पहले जगत् की सृष्टि का कथन करता है और फिर उसका निषेध करता है, क्योंकि जगत् का सभी के द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है, और उसकी सृष्टि का कथन करके फिर उसके निषेध करने में कोई अर्थ नहीं होता—यह तो इस कथन के समान होगा कि "मेरी माँ बाँझ है"। यदि जगत् का अस्तित्व नहीं होता तो वह उस रूप में भासित नहीं होता। वह 'वासना' के कारण नहीं हो सकता, क्योंकि, यदि जगत् का कदापि अस्तित्व नहीं होता, तो उसका कोई अनुभव नहीं होता और कोई 'वासना' नहीं होती। 'वासना' को उत्पन्न करने

के लिए अन्य उपकरणों की भी आवश्यकता होती है, और यहाँ कोई ऐसा उपकरण नहीं है।

यह नहीं कहा जा सकता कि 'अविद्या' 'जीवों' में स्थित होती है, क्योंकि 'जीवों' को ब्रह्मन् से एकरूप कहा जाता है तथा उनका दृश्य भेद मिथ्या ज्ञान के कारण होता है। यदि ज्ञान 'अविद्या' का विनाश करता है, तो 'जीव' की 'अविद्या' का उसमें अधःस्थित 'अविद्या' द्वारा नाश हो जाना चाहिए। पुनः यदि जगत् असत् है तो उसके कारण, 'अविद्या' भी असत् होनी चाहिए। 'जीव' क्या है ? उसे ब्रह्मन् का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिसके रूप होता है उसी का प्रतिबिम्ब हो सकता है, आकार-रहित आकाश में प्रतिबिम्बित नहीं होता वरन् ऊपर मण्डराती हुई किरणें प्रतिबिम्बित होती हैं। इसके अतिरिक्त, 'अविद्या' ब्रह्मन् के समान ही सर्व-व्याप्त है। फिर प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है ? पुनः ऐसा प्रतिबिम्बवाद हमारे समस्त नैतिक प्रयत्नों को मिथ्या बना देगा, और मोक्ष भी उनका फल होने के नाते मिथ्या होनी चाहिए, क्योंकि जिस साधन से वह प्राप्त किया जाता है वह अति मिथ्या है। इसके अतिरिक्त, यदि वेद स्वयं 'अविद्या' के कार्य के रूप में मिथ्या है, तो यह मानना गलत है कि उनके द्वारा वर्णित ब्रह्मन् का स्वरूप सत्य है। पुनः, प्रतिबिम्बों के उदाहरण में यथार्थ प्रत्यक्षकर्ता होते हैं जो प्रतिबिम्बित प्रतिमाएं स्वयं अपना प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकतीं। किन्तु विवादग्रस्त उदाहरण में कोई ऐसे प्रत्यक्षकर्त्ता नहीं होते। यदि परमात्मन् का 'अविद्या' से साहचर्य नहीं होता है तो वह जीवों का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकता, और यदि वह 'अविद्या' से संबंधित है तो उसकी जीवों के समान ही पदवी होती है। पुनः, कोई यह नहीं सोचता कि 'जीव' 'अन्तःकरण' पर ब्रह्मन् का एक प्रतिबिम्ब है, ऐसे मत के अनुसार, चूंकि 'जीवन्मुक्त' के 'अन्तःकरण' होता है इसलिए वह एक 'जीव-मुक्त' नहीं हो सकता। यदि 'जीव' 'अविद्या' पर एक प्रतिबिम्ब है, तो अपनी 'अविद्या' का नाश हो जाने के कारण 'जीव-मुक्त' का शरीर शेष नहीं रह सकता। चूंकि ज्ञान के द्वारा प्रत्येक वस्तु का विनाश हो जाता है, इसलिए 'प्रारब्ध कर्म' के उदाहरण में भेद क्यों होना चाहिए ? यदि 'प्रारब्ध कर्म' के कारण शरीर का अस्तित्व बना रहे, तो भी कोई अनुभव सम्भव नहीं होना चाहिए। जब एक व्यक्ति एक सर्प को देखता है तब सर्प के हट जाने पर भी उसका शरीर कांपता है, यह कम्पन पूर्व संस्कारों के कारण होता है, परन्तु 'प्रारब्ध-कर्म' के ऐसे कोई पूर्व संस्कार नहीं होते, अतएव उसका ज्ञान के द्वारा विनाश हो जाना चाहिए, उक्त सादृश्य गलत है। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि 'जीव' के प्रतिबिम्ब होने का सिद्धांत गलत है।

शंकर वेदांत की एक अन्य व्याख्या है—जिसमें यह माना जाता है कि ब्रह्मन् से पृथक् अस्तित्वमय 'जीव' का आभास एक मिथ्या प्रत्यय है, इस मिथ्या प्रत्यय से प्रेरित

होकर लोग आत्मोन्नति के लिए अनेक प्रयत्नों में जुटे रहते हैं।[1] इस व्याख्या के अनुसार भी यह समझना कठिन है कि उक्त मिथ्या प्रत्यय कैसे उदित होता है और वह किसमें स्थित रहता है। जीव स्वयं भ्रम का एक अंग होने के कारण उसका एक दृष्टा नहीं हो सकता, और न 'अविद्या' और 'ब्रह्मन्' संबंध के स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है, वह संयोग का संबंध नहीं हो सकता क्योंकि 'अविद्या' और ब्रह्मन् दोनों आत्म-व्याप्त होते हैं, वह भ्रम भी नहीं हो सकता, चूंकि भ्रम से पूर्व कोई भ्रम नहीं होता, वह विलक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि उस दशा में एक मुक्त व्यक्ति भी भ्रम में पड़ सकता है। पुनः, यदि 'अविद्या' और उसका संबंध दोनों अनादि हैं तथा 'जीव' भी अनादि है, तो यह निर्धारित करना कठिन है कि क्या 'अविद्या' ने 'जीव' की सृष्टि की अथवा 'जीव' ने 'अविद्या' की सृष्टि की है।

इसलिए यह मानना पड़ेगा कि 'जीवों' का बंधन अथवा उनका अस्तित्व अनादि नहीं है। उनका बंधन 'अविद्या' से उत्पन्न किया जाता है जो ईश्वर की एक शक्ति है, और वह केवल उन्हीं 'जीवों' के प्रति क्रियान्वित होती है जिन्हें ईश्वर बद्ध करना चाहता है। इस कारण से हमें सर्प एवं अन्य प्राणियों के सदृश अनेक प्राणियों को स्वीकार करना पड़ता है जो कभी भी 'अविद्या' की बंधन-शक्ति के अधीन नहीं थे।[2] सर्व वस्तुएं 'आविर्भाव' एवं 'तिरोभाव' के रूप में भगवद्-कृपा से प्रकट होती है और लुप्त होती हैं। आविर्भाव-शक्ति वह है जिसके द्वारा वस्तुओं में अनुभव का विषय बनने की योग्यता आती है (अनुभव-विषयत्व-योग्यता-विर्भावः), और तिरोभाव-शक्ति वह है जिसके द्वारा वस्तुएं इतनी आच्छादित हो जाती हैं कि वे अनुभव के योग्य नहीं रहतीं (तद्-विषय-योग्यतातिरोभावः)। इसलिए जब वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता तब भी उनका अस्तित्व बना रहता है, साधारण इन्द्रियानुभव में अस्तित्व की परिभाषा प्रत्यक्षीकरण विषयक योग्यता के रूप में दी जाती है, किन्तु पारमार्थिक अर्थ में वस्तुएं जब प्रत्यक्ष नहीं की जातीं तब भी वे ईश्वर में अस्तित्व रखती हैं। इस मत के अनुसार भूतकाल में घटित होने वाली सभी वस्तुए तथा भविष्यकाल में घटित होने वाले सभी कार्य ईश्वर में अस्तित्व रखते हैं और उसकी इच्छा के अनुसार उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है।[3]

---

[1] अस्मिन् पक्षे जीवस्य वस्तुतो ब्रह्मत्वे भेदभानस्य जीव-पदवाच्यतायाश्च दुष्टत्वं न तु स्वरूपातिरिक्तत्वं न वा मोक्षस्य अपुरुषार्थत्वं न वा पारलौकिक-प्रयत्न-प्रतिरोधः।
—'विद्वन्-मण्डन' पर पुरुषोत्तम का 'सुवर्ण-सूत्र,' पृ० ३७।

[2] यद् बन्धने तदिच्छा तमेव स बध्नाति। —पुरुषोत्तम का 'सुवर्ण-सूत्र' पृ० ३५।

[3] अस्मिन् काले अस्मिन् देशे इदं कार्यं इदं भवतु इति इच्छा-विषयत्वमाविर्भावः तदा तत्र तत्मा भवतु इति इच्छा-विषयत्वं तिरोभावः। —वही, पृ० ५६।

'जीव' ईश्वर का एक अंश माना जाता है, 'जीव' के इस स्वरूप को शास्त्रों की आप्तता के द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है। ईश्वर का अंश होने के कारण उसमें ईश्वर का पूर्णत्व नहीं होता अतएव वह उसके समान सर्वज्ञ नहीं हो सकता। 'जीव' के विभिन्न दोष ईश्वर की इच्छा के कारण होते हैं। अतः 'जीव' को अनुभव की विविधता प्रदान करने के लिए ईश्वर ने अपनी सर्वशक्तिमान शक्ति को 'जीव' में आच्छादित कर दिया है तथा उसके नैतिक प्रयत्नों को उपलब्ध करने के लिए उसे बंधन से संबंधित कर दिया है और स्वतंत्र बना दिया है। आनंद के रूप में अपने स्वरूप को आच्छादित करके ईश्वर का एक अंश 'जीव' के रूप में प्रकट होता है। हमें ज्ञात है कि मध्व के अनुयायी भी जीव को ईश्वर का अंश मानते हैं, किन्तु उनके अनुसार वे उससे भिन्न होते हैं, और ब्रह्मन् एवं 'जीव' का तादात्म्य केवल एक दूरस्थ अर्थ में होता है। निम्बार्कों के अनुसार 'जीव' ईश्वर से भिन्न होते हैं, और फिर भी उसके समान होते हैं। वे भी 'जीवों' को ईश्वर के अंश मानते हैं, किन्तु उसके साथ जीवों के भेद एवं अभेद दोनों पर बल देते हैं। रामानुज के अनुसार ईश्वर 'जीवों' को अपने अन्तर्गत धारण करता है और अपनी इच्छा से 'जीव' के ज्ञान के स्वरूप का विस्तार एवं संकोच करके उनके सकल व्यापारों पर आधिपत्य रखता है। भास्कर के अनुसार 'जीव' का स्वभावतः ईश्वर से तादात्म्य होता है, और केवल परिच्छिन्नात्मक उपाधियों के द्वारा ही वह उससे भिन्न प्रतीत होता है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार, यद्यपि 'जीव' ईश्वर से नित्य भिन्न होते हैं, तथापि वे सजातीय होने के कारण उससे अविभक्त होते हैं।[1]

किन्तु वल्लभानुयायी यह मानते हैं कि 'जीव' ईश्वर के अंश होने के कारण उससे एकरूप होते हैं, वे 'आविर्भाव' एवं 'तिरोभाव' के रूप में उसके व्यापार के द्वारा 'जीवों' के रूप में प्रतीत होते हैं, जिसके कारण ईश्वर में पाए जाने वाली कुछ शक्तियों एवं गुणों का जीवों में आच्छादन हो जाता है, और कुछ अन्य शक्तियों की अभिव्यक्ति हो जाती है। जड़ पदार्थ की अभिव्यक्ति भी इसी प्रक्रिया के द्वारा होती है, उसमें चित के रूप में ईश्वर का स्वरूप आच्छादित हो जाता है, और केवल उसका सत् रूप अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार ईश्वर की इच्छा 'जीव' एवं जड़ दोनों की मूलभूत निर्धारक होती है। इससे विभिन्न जीवों में शक्ति एवं गुण की विविधता की भी व्याख्या हो जाती है जो सब ईश्वर की इच्छा के कारण होती है। किन्तु इस मत के विरोध में एक गम्भीर आपत्ति है, क्योंकि फिर शुभ एवं अशुभ 'कर्म' व्यर्थ हो जाते

---

[1] जीवानां नित्य-भिन्नत्वमंगीकृत्य अविभाग-लक्षणमंगीकृत्य सजातीयत्वे सति अविभाग-प्रतियोगित्वमंशत्वं तदनुयोगित्वं च अंशित्वम्।

—'सुवर्ण-सूत्र' पृ० ८५।

हैं। इसका उत्तर यह है कि ईश्वर अपने आत्मानन्द के हेतु जीव को विभिन्न योग्यताओं एवं शक्तियों से सम्पन्न करके अपने मनस् में कार्यों और उनके फलों की एक ऐसी योजना धारण किए रहता है कि जो कोई अमुक कार्य करेगा उसे अमुक फल प्रदान किए जाएंगे। वह ऐसा केवल विभिन्न प्रकार से अपने रसानुभव के लिए करता है। इस प्रकार 'कर्म' का नियम भगवान पर निर्भर करता है और उसके अधीन रहता है।[1] पर वल्लभ कहते हैं कि ईश्वर ने कार्यों के शुभत्व एवं अशुभत्व की व्याख्या शास्त्रों में कर दी है। ऐसा करके वह जो 'जीव' एक प्रकार की कार्य-विधि का अनुसरण करने पर तुला हुआ है उससे वैसे ही कार्य करवाता है। 'जीव' की इच्छा ही उसके द्वारा किए जाने वाले 'कर्म' का कारण होती है, व्यक्ति की इच्छा उसके पूर्व संस्कारों के द्वारा निर्धारित होती है, किन्तु उन सब में भगवद्-इच्छा ही अन्तिम विधायक होती है। इस सम्बन्ध में हम 'मर्यादामार्ग' 'पुष्टिमार्ग' के भेदों का विभेदीकरण कर सकते हैं–'मर्यादामार्ग' इस बात से संतुष्ट है कि मूल विधान में कुछ कर्मों का कुछ फलों से संबंध होना चाहिए, और व्यक्ति को स्वेच्छा से कर्म करने को छोड़ देता है, परन्तु 'पुष्टिमार्ग' ईश्वर की क्रीड़ात्मक क्रिया को जीव के प्रयत्नों और 'कर्म' के नियम का कारण मानता है।[2]

उपनिषदों का कथन है कि जैसे स्फुलिंग अग्नि से विकीर्ण होते हैं, उसी प्रकार 'जीवों' का भी ब्रह्मन् से विकीरण हुआ है। यह उदाहरण बताता है कि 'जीव' ईश्वर के अंश हैं, स्वरूप में परमाण्वीय हैं (वे उससे विकीर्ण हुए हैं और पुनः उसी में लय हो जाते हैं)। ईश्वर में लय (ब्रह्म-भाव) का अर्थ यह है कि जब भगवान संतुष्ट होता है तब वह 'जीव' में अपने आनन्द स्वरूप तथा ऐश्वर्य को प्रकट करता

---

[1] क्रीड़ैव मुक्त्या अन्यत्सर्वमुपसर्जनीभूतं तथा च तदपेक्षया भगवान् विचित्र-रसानुभवार्थमेवं यः करिष्यति तमेवं यः करिष्यति तमेवं करिष्यामीति स्वयमेव कार्यादौ चकार।

–विद्वन्-मण्डन, पृ० ६१।

[2] आचार्यस्तु यथा पुत्रं यतमान–बलं वा पदार्थ-गुण-दोषौ वर्णयनपि यत्-प्रयत्नाभिनिवेशं पश्यति तथैव कारयति। फल–दानार्थं श्रुतौ कर्मापेक्षा-कथनात् फलदाने कर्मापेक्षः कर्म-कारणे जीव-कृत-प्रयत्नापेक्षः, प्रयत्ने तत्-कर्मापेक्षः स्वर्गादि कामे च लोकप्रवाहापेक्षः कार्यतीति न ब्रह्मणो दोषगन्धोऽपि, न चैवमनीश्वरत्वं। मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्। यत्र त्वन्यथा तत्र पुष्टि-मार्गांगीकार इत्याहुः। अयमपि पक्षः स्वकृतमर्यादया एव हेतुत्वेन कथनान् मर्यादाकरणे च क्रीडेच्छन् ऋते हेत्वन्तरस्य सम्भवादस्मदुक्तान्नातिरिच्यते।

–विद्वन्-मण्डन, पृ० ६२।

है।[1] मुक्ति-काल में भक्तों का भगवान में लय हो जाता है, वे उससे अभिन्न हो जाते हैं, और उससे पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रखते। अवतार के समय भगवान अपनी स्वेच्छा से अपने उन अंशों को अवतीर्ण कर सकता है जो उसमें लीन मुक्त प्राणियों के रूप में अस्तित्व रखते थे।[2]

यह आपत्ति की जाती है कि 'जीवों' को स्वरूप में परमाण्वीय नहीं माना जा सकता क्योंकि उपनिषद् उन्हें सर्व-व्यापी के रूप में वर्णित करते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि 'जीव' स्वरूप में आणविक हैं तो वे शरीर के सभी अंगों में चेतन नहीं होंगे। यहाँ चन्दन का सादृश्य उपयुक्त नहीं है जो एक स्थान में रहकर चारों ओर की वायु को सुगंधित बना देता है, क्योंकि चारों ओर की सुगंध सूक्ष्म कणों की उपस्थिति के कारण होती है। आत्मन् के संबंध में ऐसा नहीं हो सकता, चैतन्य आत्मन् का एक गुण होने के कारण तब तक क्रियान्वित नहीं हो सकता जब तक आत्मन् द्रव्य उपस्थित न हो। दीपक एवं उसकी किरणों का सादृश्य भी निरर्थक है, दीपक का विभु स्वरूप नहीं होता, क्योंकि प्रकाश सूक्ष्म प्रकाश कणों की उपस्थिति के फलस्वरूप होता है। इसका विट्ठल यह उत्तर देते हैं कि बादरायण स्वयं 'जीवों' के स्वरूप को परमाण्वीय बताते हैं। न यह आपत्ति वैध है कि गुण द्रव्य के अभाव में क्रियान्वित नहीं हो सकते। नैयायिक भी यह स्वीकार करते हैं कि 'समवाय' का संबंध उसके द्वारा संबंधित पदों के बिना स्थित रह सकता है। यह आपत्ति कि एक द्रव्य की सुगंध सूक्ष्म कणों की उपस्थिति के कारण होती है—वैध नहीं है, क्योंकि एक डिब्बे में बन्द एक कस्तूरी का टुकड़ा चारों ओर अपनी सुगन्ध फैलाता है, और ऐसे उदाहरणों में कस्तूरी के सूक्ष्म कणों के लिए डिब्बे के बाहर आने की कोई सम्भावना नहीं होती, जब कोई लहसुन का स्पर्श करता है तब हाथ धो लेने पर भी गंध का निवारण नहीं होता। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी द्रव्य की गंध स्वयं उस द्रव्य से अधिक अवकाश में स्थित रह सकती है। अन्य विद्वानों के विचार में आत्मन् अग्नि के समान है, और जैसे अग्नि उष्णता व प्रकाश से संबंधित होती है, उसी प्रकार चैतन्य आत्मन् से संबंधित होता है, उनका यह तर्क है कि चैतन्य स्वरूप होने के कारण

---

[1] ब्रह्म भावश्च भगवदुक्त-साधनकरणेन संतुष्टात् भगवत आनन्द-प्राकट्यात् स्वगुण-स्वरूपैश्वर्यादि प्राकट्याच्चेति ज्ञेयम्····· । —वही, पृ० ९६।

[2] मोक्षे जीव-ब्रह्मणोरभिन्नत्वादभिन्नस्वभावेनैव निरूपणादित्यर्थः। तेनादि मध्या-वसानेषु शुद्ध-ब्रह्मण एवोपादानत्वात्·········· स्वावता—रसमये क्रीड़ार्थं साक्षाद् योग्यास्त एव भवन्तीति तानप्यवतारयतीति पुनर्निर्गम-योग्यत्वम्, इदमेव, मुक्तानुप-सृप्य व्यापदेशादिति सूत्रेणोक्तम् ···· ···मुक्ता अपि लीला-विग्रहं कृत्वा भजन्ति इति। —वही, पृ० ९७।

आत्मन् आणविक नहीं हो सकता। यह भी अवैध है, क्योंकि उपनिषद्-पाठ यह घोषणा करते हैं कि ज्ञान आत्मन् का गुण है तथा उसका उससे तादात्म्य नहीं है। उष्णता व प्रकाश का भी अग्नि से तादात्म्य नहीं होता, कुछ हीरों और 'मंत्रों' की शक्ति से अग्नि की उष्णता की अनुभूति नहीं होती, उष्ण जल में उष्णता होती है, यद्यपि उसमें प्रकाश नहीं होता। इसके अतिरिक्त उपनिषद्-पाठ निश्चयपूर्वक आत्मन् के शरीर में अभिगमन की घोषणा करते हैं, और यह तभी सम्मत हो सकता है यदि आत्मन् परमाण्वीय हो। यह आपत्ति कि उपनिषद्-पाठ आत्मन् के ब्रह्मन् से तादात्म्य की घोषणा करते हैं 'जीवों' के परमाण्वीय स्वरूप की अस्वीकृति के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि यह तादात्म्यीकरण इस तथ्य पर आधारित है कि जीवों में पाया जाने वाला ज्ञान अथवा अन्तः प्रज्ञा वस्तुतः भगवान का गुण है। 'जीव' ब्रह्मन् से अपने परमाण्वीय स्वरूप में उद्भूत होते हैं तथा ब्रह्मन् अपने गुणों को उनमें अभिव्यक्त करता है ताकि वे उसकी दास्यता कर सकें। इस प्रकार भगवद्-सेवा मानव का धर्म है, उससे संतुष्ट होकर भगवान कभी-कभी मानव को अपने अन्तर्गत प्रविष्ट करा लेता है, अथवा अन्य काल में जब वह अपना सर्वोच्च अनुग्रह प्रदान करता है तब वह उसे अपने निकट स्थापित कर लेता है जिससे कि वह उसके दास्य के मधुर भावावेश का आनन्द ले सके।[1]

शंकरवादियों के मत में ब्रह्मन् 'निर्विशेष' है तथा सकल विशिष्टता 'अविद्या' जन्य है। यह मत दोषपूर्ण है, क्योंकि कल्पित 'अविद्या' 'जीवों' में स्थित नहीं हो सकती, यदि वह होती तो वह ब्रह्मन् के स्वरूप को प्रभावित नहीं कर सकती थी। न वह ब्रह्मन् में स्थित हो सकती है, क्योंकि ब्रह्मन् विशुद्ध होने के नाते सकल 'अविद्या' का विनाशकर्त्ता होता है, पुनः, यदि 'अविद्या' अनादि काल से ब्रह्मन् में स्थित होती तो कोई 'निर्विशेष' नहीं हो सकता था। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्रह्मन् में ज्ञान व कर्म की शक्ति होती है, तथा ये शक्तियां उसके लिए नैसर्गिक हैं एवं उससे एकरूप हैं। इस प्रकार अपनी शक्तियों के साहचर्य में ईश्वर को सविशेष व निर्विशेष दोनों मानना पड़ेगा, परन्तु ब्रह्मन् के मूर्त्त-रूप ब्रह्मन् से भिन्न नहीं माने जाने चाहिए अथवा उसके गुण नहीं माने जाने चाहिए, वे स्वयं ब्रह्मन् से एक-रूप होते हैं।[2]

---

[1] अतएव सहज-हरि-दास्य-तदंशत्वेन ब्रह्म-स्वरूपस्य च निजनिसर्ग-प्रभु-श्रीगोकुल नाथ चरण-कमल-दास्यमेव स्वधर्मः। तेन चातिसंतुष्टतः स्वयं प्रकटीभूय निज-गुणांस्तस्मै दत्ता स्वस्मिन् प्रवेशयति स्वरूपानन्दानुभवार्थम्। अथवाऽत्यनुग्रहे निकटे स्थापयति ततोऽधिक-रस-दास्य-करणार्थमिति। वही, पृ० ११०।

[2] ब्रह्मण्यपि मूर्तामूर्तरूपे सर्वतः वेदितव्ये एवं त्वनेन प्रकारेण वेदितव्ये ब्रह्मण एते रूपे इति, किन्तु ब्रह्मैव इति वेदितव्यं। —'विद्वन्-मण्डन,' पृ० १३८।

यदि 'माया' को ब्रह्मन् की शक्ति माना जाय, तो वल्लभ उसे स्वीकार करने को तैयार हैं, किन्तु यदि 'माया' को मिथ्या माना जाय तो वे ऐसे पदार्थ के अस्तित्व को अस्वीकृत करते हैं। सर्व ज्ञान और सर्व भ्रान्ति ब्रह्मन् से उद्भूत होते हैं, तथा वह तथाकथित विरोधी गुणों से एकरूप है। यदि एक पृथक् 'माया' को स्वीकार किया जाय तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उसकी पदवी क्या है? 'जड़' होने के कारण वह स्वयं कर्त्ता नहीं मानी जा सकती, यदि वह ईश्वर पर आश्रित है तो उसे केवल एक साधन के रूप में संकल्पित किया जा सकता है—किन्तु यदि ईश्वर स्वरूपत: अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है तो उसे ऐसे जड़ साधन की आवश्यकता नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, उपनिषद् यह घोषणा करते हैं कि ब्रह्मन् विशुद्ध सत्ता है। यदि हम उन्हीं उपनिषद्-पाठों का अनुकरण करें तो ब्रह्मन् को 'गुणों' से इस अर्थ में संबंधित नहीं माना जा सकता कि वे 'गुण' सत्व, रजस व तमस गुणों के रूपान्तरण हैं। अत: यह मानना पड़ेगा कि 'माया' ब्रह्मन् के स्वरूप को उसके विशिष्ट गुणों में निर्धारित अथवा रूपान्तरित करती है। यह कहना भी आपत्तिजनक है कि 'माया' की अभिव्यक्ति ईश्वर की इच्छा से की जाती है, क्योंकि, यदि ईश्वर की इच्छा स्वत: शक्तिशाली है तो उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी 'उपाधि' की आवश्यकता नहीं हो सकती। वस्तुत: ईश्वर और उसके गुणों में किसी भेद अथवा विभेद का कथन करना सम्भव नहीं है।

वल्लभ का जीवन (१४८१-१५३३)

वल्लभ यज्ञनारायण भट्ट की वंश-परम्परा में उत्पन्न हुए थे, उनके परदादा गंगाधर भट्ट थे, दादा गणपति भट्ट, और पिता लक्ष्मण भट्ट थे। कहा जाता है कि उन सबने मिलकर एक सौ 'सोम-याग' किए थे। उनका परिवार दक्षिण भारत के तेलगु ब्राह्मणों का परिवार था, और जिस ग्राम के वे निवासी थे उसे कंकर खम्ह्‌ल कहा जाता था, उनकी माता का नाम जल्लमगरू था। एन० जी० घोष द्वारा लिखित वल्लभाचार्य की रूपरेखा का अनुसरण करते हुए ग्लेसनेप्प उनकी जन्मतिथि १४७९ ईस्वी देते है, किन्तु सभी परम्परागत विवरण एक मत से यह मानते हैं कि वे बनारस के निकट परम्पारण्य में संवत् १५३५ (१४८१ ईस्वी) के वैशाख मास में कृष्ण-पक्ष की एकादशी को उत्पन्न हुए थे। उनकी जन्म-घड़ी के संबंध में कुछ मतभेद हैं, किन्तु यह बहुत सम्भव है कि वह रात्रि की प्रारम्भिक घड़ी थी जब वृश्चिक पूर्वी क्षितिज पर था। जब लक्ष्मण भट्ट बनारस नगर पर मुसलमानों के आक्रमण का समाचार सुनकर वहाँ से पलायन कर रहे थे, तब वल्लभ एक वृक्ष के नीचे सातवें मास में ही गर्भ-मुक्त हुए, उन्होंने आठवें वर्ष में अपने पिता से दीक्षा प्राप्त की और वे विष्णुचित्त को सौंप दिए गए, जिनके पास उन्होंने अपना प्राथमिक अभ्यास आरम्भ

किया। उनका वेदाध्ययन अनेक शिक्षकों की देख-रेख में हुआ जिनमें त्रिरम्मलय, अन्धनारायण दीक्षित और माधवयतीन्द्र थे। ये सब शिक्षक मध्व-सम्प्रदाय के थे। अपने पिता के देहावसान के पश्चात् वे तीर्थ-यात्रा पर निकल पड़े और उनके दामोदर, शम्भू, स्वभू, स्वयंभू व अन्य कई शिष्य होने लगे। दक्षिण में विद्यानगर के सम्राट के दरबार में एक शास्त्रार्थ की सूचना मिलने पर वे अपने शिष्यों सहित 'भागवत-पुराण' और ईश्वर के प्रस्तर प्रतीक (शालिग्राम शिला) को साथ लेकर उस स्थान के लिए रवाना हुए। शास्त्रार्थ ब्रह्मन् के सविशेष स्वरूप की समस्या पर था, विष्णुस्वामी सम्प्रदायी होने के नाते वल्लभ ने ब्रह्मन् के सविशेष स्वरूप के पक्ष में तर्क किया और कई दिन तक चलने वाले दीर्घ विवाद के पश्चात् वे विजयी रहे। यहाँ उनकी महान् मध्व उपदेशक व्यासतीर्थ से भेटें हुई। विद्यानगर से वे पम्पा की ओर गए और वहाँ से ऋष्यमुख पर्वत, वहाँ से कामाकाष्नी, तदनंतर कांची, चिदम्बरम् और रामेश्वरम् गए। वहाँ से वे उत्तर की ओर लौटे और कई स्थानों से होते हुए महिष-पुरी आए तथा उस स्थान के सम्राट द्वारा उनका उत्तम स्वागत किया गया, वहाँ से वे मोलुलकोट (जिसे यादवाद्रि भी कहते हैं) आए। तत्पश्चात् वे उदिपि गए और वहाँ से गोकर्ण, जहाँ से वे पुनः विद्यानगर (विजयनगर) के निकट आए और सम्राट के द्वारा उनका उत्तम स्वागत किया गया। तब वे पाण्डुरंग की ओर चले, वहाँ से नासिक फिर रेवा नदी के किनारे होते हुए महिष्मती गए, वहाँ से विसाल, वेत्रवति नदी के किनारे एक नगर से धललागिरि और वहाँ से मथुरा गए। मथुरा से वे वृन्दावन, सिद्धपुर जैनों के अर्हत्पट्टन, वृद्धनगर गए और वहाँ से विश्वनगर गए। विश्वनगर से गुजरात गये और गुजरात से भारुच होते हुए सिन्धु नदि के मुहाने तक गए। वहाँ से वे भमक्षेत्र, कपिलक्षेत्र गए, फिर प्रभास और रैवत और फिर द्वारका गए। वहाँ से वे सिन्ध नदी के किनारे-किनारे पंजाब की ओर अग्रसर हुए। वहाँ से वे कुरुक्षेत्र आए तदनंतर हरद्वार, ऋषिकेश, गंगोत्रि और यमुनोत्रि गए। हरद्वार लौटने पर वे केदार और बदरिकाश्रम गए। फिर वे कन्नौज आए, फिर गंगा के किनारे, अयोध्या और इलाहाबाद आए, और वहाँ से बनारस आए। बनारस से वे गया और वैद्यनाथ आए और फिर वे गंगा व समुद्र के संगम पर आए। फिर वे पुरी आए। पुरी से वे गोदावरी गए, दक्षिण की ओर अग्रसर हुए और पुनः विद्या-नगर आए। फिर वे काठियावाड़ प्रदेश में होकर पुनः द्वारका की ओर अग्रसर हुए, वहां से वे पुष्कर आए, पुष्कर से पुनः वृन्दावन और फिर बदरिकाश्रम आए। वे पुनः बनारस आए और गंगा के संगम तक आकर वे बनारस लौट गए, जहाँ उन्होंने देवन भट्ट की पुत्री महालक्ष्मी से विवाह किया। विवाह के पश्चात् वे पुनः वैद्यनाथ के लिए रवाना हुए और वहाँ से वे पुनः द्वारका के लिए अग्रसर हुए, और वहाँ से फिर बदरिकाश्रम, वहां से वे वृन्दावन आए। वे पुनः बनारस लौटे। फिर वे वृन्दावन आए। वृन्दावन से वे बनारस आए, जहाँ उन्होंने एक महा 'सोमयाग'

किया। उनके पुत्र विठ्ठलनाथ का जन्म १५१८ में हुआ था जब वे अपने सैंतीसवें वर्ष में थे। अपने शेष जीवन में उन्होंने संसार का त्याग कर दिया और वे 'सन्यासिन्' हो गए। उनका देहावसान १५३३ में हुआ। कहा जाता है कि उन्होंने चौरासी ग्रन्थ लिखे और उनके चौरासी मुख्य शिष्य थे।

वल्लभ और उनके शिष्यों की कृतियां

वल्लभ द्वारा जिन चौरासी ग्रन्थों (लघु पुस्तिकाओं सहित) की रचना का कथन किया गया है, उनमें से हमें केवल निम्नलिखित का पता है—'अन्तःकरण-प्रबोध' और टीका, 'आचार्य-कारिका,' 'आनन्दाधिकरण,' 'आर्या,' 'एकांत-रहस्य,' 'कृष्णाश्रय,' 'चतुःश्लोकिभागवत-टीका,' 'जलभेद' 'जैमिनिसूत्र भाष्य-मीमांसा,' 'तत्वदीप' (अथवा अधिक सही रूप में 'तत्वार्थदीप' और टीका), 'त्रिविध-लीलानामावली,' 'नवरत्न' और टीका, 'निबंध,' 'निरोध-लक्षण' और 'विवृति,' 'पत्रावलम्बन,' 'पद्य' 'परित्याग,' 'परिवृद्धाष्टक,' 'पुरुषोत्तम-सहस्रनाम,' 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादाभेद' और टीका, 'पूर्व-मीमांसा कारिका,' 'प्रेमामृत' और टीका, 'प्रौढ़चरितनाम,' 'बालचरितनामन्,' 'बालबोध,' 'ब्रह्म-सूत्राणुभाष्य,' 'भक्तिवर्धिनी' और टीका, 'भक्ति-सिद्धान्त,' 'भगवद्-गीताभाष्य,' 'भागवत्-तत्वदीप' और टीका, 'भागवत-पुराण-टीका सुबोधिनी,' 'भागवत-पुराण-पंचमस्कन्ध-टीका,' 'भागवत-पुराण-एकादशस्कन्धार्थनिरूपण-कारिका,' 'भागवत-सार-समुच्चय' 'मंगलवाद,' 'मथुरा-माहात्म्य,' 'मधुराष्टक,' 'यमुनाष्टक' 'राज-लीलानाम,' 'विवेकधैर्याश्रय,' 'वेदस्तुतिकारिका,' 'श्रद्धाप्रकरण,' 'श्रुतिसार,' 'सन्यास-निर्णय' और टीका, 'सर्वोत्तम-स्तोत्र-टिप्पन' और टीका, 'साक्षात्पुरुषोत्तम-वाक्य,' 'सिद्धान्त-मुक्तावली,' 'सिद्धान्तरहस्य' 'सेवाफल-स्तोत्र' और टीका, 'स्वामिन्यष्टक'।[1]

वल्लभ की सबसे महत्वपूर्ण कृतियों में उनकी 'भागवत-पुराण' पर टीका ('सुबोधिनी') उनकी 'ब्रह्म-सूत्र' पर टीका, और स्वयं उनके 'तत्वदीप' पर उनकी 'प्रकाश' नामक टीका हैं। 'सुबोधिनी' पर 'सुबोधिनी-लेख' और 'सुबोधिनी-योजन-निबंध-योजन' नामक एक अन्य टीका भी है, 'रासपंचाध्याय' की टीका पर पीताम्बर द्वारा 'रासपंचाध्यायी-प्रकाश' नामक टीका लिखी गई। 'ब्रह्म-सूत्र' पर वल्लभ के भाष्य, 'अणुभाष्य' पर पुरुषोत्तम द्वारा एक टीका लिखी गई ('भाष्य-प्रकाश'), एक अन्य गिरिधर द्वारा ('विवरण') लिखी गई है। एक अन्य इच्छाराम द्वारा ('ब्रह्मसूत्राणुभाष्य-प्रदीप) और एक अन्य, 'बलप्रबोधिनी' श्रीधर शर्मा द्वारा लिखी गई। उस पर ललु भट्ट द्वारा लिखित एक सत्रहवीं शताब्दी की टीका 'अणुभाष्य-

---

[1] देखिए आफ्रेक्ट का 'Catalogus Catalogorum'.

निगूढ़ार्थ-दीपिका' थी, एक अन्य विठ्ठल के शिष्य मुरलीधर द्वारा ('अणुभाष्य-व्याख्या'), और किसी अज्ञात लेखक द्वारा 'वेदान्त-चन्द्रिका' रची गई थी। वल्लभ द्वारा लिखित 'कारिकाओं' पर स्वयं उनकी टीका के प्रथम भाग पर पीताम्बरजी महाराज द्वारा 'आवरण-भंग' टीका लिखी गई। तत्वार्थ-दीपिका तीन विभागों में विभक्त है, जिनमें से प्रथम, 'शास्त्रार्थ-प्रकरण' में दार्शनिक स्वरूप की १०५ कारिकाएं समाविष्ट हैं, द्वितीय विभाग, 'सर्वनिर्णय-प्रकरण' एवं कर्तव्यों से संबंधित विषयों का विवेचन करता है, तृतीय विभाग 'भागवतार्थ-प्रकरण'–जिसमें 'भागवत-पुराण' के द्वादश अध्यायों का सारांश समाविष्ट है–पर पुरुषोत्तमजी महाराज द्वारा एक टीका थी जिसे भी 'आवरण-भंग' कहा जाता था। उस पर कल्याणराज द्वारा एक अन्य टीका भी थी, जो बम्बई में १८८८ में प्रकाशित हुई थी।

वल्लभ के लघु ग्रन्थों में सर्व प्रथम हम 'सन्यास-निर्णय' का उल्लेख कर सकते हैं, जो बाईस श्लोकों से निर्मित है, जिनमें वे तीन प्रकार के सन्यास का विवेचन करते हैं–'कर्ममार्ग' का 'सन्यास,' 'ज्ञानमार्ग' का 'सन्यास' और 'भक्तिमार्ग का सन्यास'। उस पर कम से कम सात टीकाएं गोकुलनाथ, रघुनाथ, गोकुलोत्सव, दो गोपेश्वरों, पुरुषोत्तम और एक उत्तरवर्ती वल्लभ द्वारा लिखी गई। इनमें से गोकुलनाथ (१५५४–१६४३) विठ्ठलनाथ के चौथे पुत्र थे, उन्होंने 'श्री सर्वोत्तम-स्तोत्र,' 'वल्लभाष्टक,' 'सिद्धांत-मुक्तावली,' 'पुष्टि-प्रवाह मर्यादा,' 'सिद्धांत-रहस्य,' 'चतुःश्लोकी,' 'धैर्याश्रय,' 'भक्ति-वर्धिनी' और 'सेवाफल' पर भी टीकाएं लिखी। वे एक महान् यात्री और गुजरात में वल्लभ मत के प्रचारक थे, तथा वल्लभ की 'सुबोधिनी' टीका को लोकप्रिय बनाने के लिए बहुत प्रयत्न किया। विठ्ठलनाथ के पांचवें पुत्र रघुनाथ का जन्म १५५७ में हुआ था, उन्होंने वल्लभ के 'षोडश-ग्रन्थ' तथा 'वल्लभाष्टक,' 'मधुराष्टक,' 'भक्ति-हंस' और 'भक्ति-हेतु' पर भी टीकाएं लिखी, साथ ही 'पुरुषोत्तम-नाम-सहस्र,' 'नाम-चन्द्रिका' पर भी टीकाएं लिखी। कल्याणराज के कनिष्ठ भ्राता और हरिराज के चाचा गोकुलोत्सव का जन्म १५८० में हुआ था, उन्होंने भी 'षोडश-ग्रंथ' पर एक टीका लिखी। घनश्याम के पुत्र गोपेश्वर का जन्म १५९८ में हुआ था, अन्य गोपेश्वर कल्याणराज के पुत्र व हरिराज के कनिष्ठ भ्राता थे। पुरुषोत्तम नामक टीकाकार १६६० में उत्पन्न हुए। विठ्ठलराज के पुत्र वल्लभ, अन्य टीकाकार, रघुनाथ (वल्लभाचार्य के पांचवें पुत्र) के प्र–प्रपौत्र १५७५ में उत्पन्न हुए, और उन्होंने वल्लभाचार्य के 'अणुभाष्य' पर एक टीका लिखी। यह वल्लभ पहले वाले वल्लभ से भिन्न थे जो विठ्ठलेश्वर के पुत्र थे।

वल्लभ का 'सेवाफल' आठ श्लोकों की एक लघु पुस्तिका है जिसमें भगवद् उपासना की बाधाओं और उसके फलों का विवेचन किया गया है, उस पर कल्याण-राज द्वारा टीका की गई थी। वे विठ्ठलनाथ के द्वितीय पुत्र गोविन्दराज के पुत्र थे

मर्यादा' पच्चीस श्लोकों का एक लघु ग्रन्थ है जिसमें वल्लभ कहते हैं कि पाँच प्रकार के स्वाभाविक दोष होते हैं, अहंकार-जन्य, देशज, कालज, दुष्कर्म-जन्य और संयोगज। ईश्वर के प्रति अपनी सर्व वस्तुओं के समर्पण द्वारा इन दोषों की निवृत्ति हो सकती है, ईश्वरार्पण के पश्चात् हमें वस्तुओं को भोगने का अधिकार है। 'नवरत्न' एक नौ श्लोकों का ग्रन्थ है जिसमें सर्व वस्तुओं के ईश्वर के प्रति परित्याग एवं समर्पण पर बल दिया गया है। 'अन्तःकरण-प्रबोध' एक दस श्लोकों का ग्रन्थ है जो आत्म-परीक्षण एवं क्षमा के हेतु ईश्वर से प्रार्थना की आवश्यकता पर बल देते हैं, और इस मन को यह प्रबोध करने की आवश्यकता बताते हैं कि सर्व वस्तुओं पर ईश्वर का स्वामित्व है। 'विवेक-धैर्याश्रय' सत्रह श्लोकों का एक लघु ग्रन्थ है। वह हमें ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखने का आग्रह करता है, और यह अनुभव करने का आग्रह करता है कि यदि ईश्वर के द्वारा हमारी इच्छाओं की पूर्त्ति नहीं की गई है तो उसका कोई कारण होना चाहिए जिसके प्रति वह अवगत है, वह सर्वज्ञ है और सदा हमारे कल्याण का ध्यान रखता है। इसलिए किसी भी वस्तु की प्रबल इच्छा करना अनुचित है, ईश्वर के भरोसे पर सब वस्तुओं को छोड़ना और जैसा वह उचित समझे वैसा ही उसे प्रबंध करने देना ही सर्वोत्तम है। 'कृष्णाश्रय' ग्यारह श्लोकों का एक ग्रन्थ है जो सभी बातों में कृष्ण, प्रभु पर निर्भर करने की आवश्यकता की व्याख्या करते हैं। इसी आश्रय का चार श्लोकों का एक ग्रन्थ 'चतुःश्लोकि' है। 'भक्ति-वर्धिनी' एक ग्यारह श्लोकों का ग्रन्थ है जिसमें वल्लभ कहते हैं कि हम सब में ईश्वर-प्रेम का बीज विद्यमान है, केवल वह विभिन्न कारणों से अवरुद्ध रहता है, जब वह स्वयं को प्रकट करता है तब हम जगत् के सर्व प्राणियों को प्रेम करना आरम्भ कर देते हैं, जब वह तीव्रता में अभिवृद्ध होता है तब हमारे लिए सांसारिक विषयों के प्रति आसक्त होना असम्भव हो जाता है। जब ईश्वर प्रेम इतना तीव्र हो जाता है, तब उसका विनाश नहीं हो सकता। 'जलभेद' में बीस श्लोक हैं जो भक्तों के विभिन्न प्रकारों एवं भक्ति की पद्धतियों का प्रतिपादन करते हैं। 'पंचपाद्य' पाँच श्लोकों का एक ग्रन्थ है।

कहा जाता है कि वल्लभ के पुत्र विठ्ठल दीक्षित अथवा विठ्ठलेश (१५१८-८८) ने निम्न लिखित रचनाएं लिखीं—'अवतार-तारतम्य-स्तोत्र' 'आर्या,' 'कृष्ण-प्रेमामृत,' 'गीत-गोविन्द-प्रथमाष्टपदी-विवृत्ति,' 'गोकुलाष्टक,' 'जन्माष्टमी-निर्णय' 'जलभेद-टीका,' 'ध्रवापद-टीका' 'नाम-चन्द्रिका,' न्यासादेशविवरण-प्रबोध' 'प्रेमामृत-भाष्य,' 'भक्ति-हंस,' 'भक्ति-हेतु-निर्णय,' 'भगवत्-स्वतन्त्रता,' 'भगवद्गीता-तात्पर्य,' 'भगवद्गीता-हेतु-निर्णय,' 'भागवत-तत्वदीपिका,' 'भागवत-दशमस्कन्ध-विवृति,' 'भुजंग-प्रयाटाष्टक,' 'यामुनाष्टक-विवृति,' 'रससर्वस्व,' 'राम-नवमी-निर्णय' 'वल्लभाष्टक,' 'विद्वन्-मण्डन,' 'षट्पदी,' 'सन्यास-निर्णय-विवरण,' 'समयप्रदीप,' 'सर्वोत्तम-स्तोत्र' सटीक, 'सिद्धान्त-

मुक्तावली' पर टीका, 'सेवा कौमुदी,' 'स्वतन्त्रतालेखन' और 'स्वामिस्तोत्र'।[1] इनमें से 'विद्या-मण्डन' सबसे महत्वपूर्ण है, उस पर पुरुषोत्तम द्वारा टीका की गई और हम उसे विस्तार से देख चुके हैं। 'विद्या-मण्डन' एवं गिरिधर के 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' के खण्डन का प्रयास १८६८ में एक शंकरवादी विचारक सदानन्द की 'सहस्राक्ष' नामक रचना में किया गया था। इसका विठ्ठलनाथ (उन्नीसवीं सदी के) द्वारा 'प्रभंजन' में पुनः खण्डन किया गया, और उस पर वर्तमान सदी के गोवर्धन शर्मा द्वारा एक टीका है। 'सहस्राक्ष' से हमें ज्ञात होता है कि विठ्ठल ने नवद्वीप में न्याय तथा वेद, 'मीमांसा' व 'ब्रह्मसूत्र' का अध्ययन किया था और वे शास्त्रार्थ करते हुए व प्रतिपक्षियों को पराजित करते हुए विभिन्न देशों में गए थे, और उनका उदयपुर के स्वरूप सिंह द्वारा बहुत सम्मानपूर्वक स्वागत किया गया था। विठ्ठल की 'यमुनाष्टक विवृति' पर हरिराज द्वारा टीका की गई। वल्लभ की 'सिद्धान्त-मुक्तावली' पर उनकी टीका पर रघुनाथ के पुत्र व्रजनाथ द्वारा टीका की गई। वल्लभ के 'मधुराष्टक' पर विठ्ठल द्वारा टीका की गई, और उनकी रचना पर आगे घनश्याम द्वारा टीका की गई। 'मधुराष्टक' पर हरिराज, बालकृष्ण, रघुनाथ और वल्लभ द्वारा अन्य टीकाएं भी थीं। विठ्ठल ने वल्लभ के 'न्यासदेस' और 'पुष्टिप्रवाह मर्यादा' पर भी टीकाएं लिखी। उनके 'भक्ति-हेतु' पर रघुनाथ द्वारा टीका की गई, इस रचना में विठ्ठल भक्ति के उदय की सम्भाव्य विधि का विवेचन करते हैं। वे कहते हैं कि दो प्रमुख विधियां होती है, जो 'मर्यादा मार्ग' का अनुसरण करते हैं वे अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं और समय आने पर भगवत्-प्राप्ति करते हैं, किन्तु जो 'पुष्टिमार्ग' के अनुगामी हैं वे पूर्णतः भगवत्-कृपा पर आश्रित रहते हैं। भगवत्-कृपा दान, यज्ञादि शुभ कर्मों अथवा निर्धारित कर्त्तव्यों के अनुपालन पर निर्भर नहीं करती। 'जीव' स्वरूपतः ऐसे स्वाभाविक विषय होते हैं जिन पर शुभ कर्मों से संतुष्ट होने पर ईश्वर अपना अनुग्रह करता है। किन्तु यह मानना अधिक समीचीन है कि ईश्वर का अनुग्रह किन्हीं भी अवस्थाओं से स्वच्छन्द व स्वतन्त्र होता है, भगवदिच्छा नित्य होने के नाते कारण व कार्यों से उत्पन्न अवस्थाओं पर निर्भर नहीं हो सकती। प्रतिपक्षियों का यह मत गलत है कि शुभ कर्मों एव ईश्वर के लिए नियत कर्तव्यों के पालन से 'भक्ति' प्राप्त होती है, और 'भक्ति' द्वारा ईश्वर का अनुग्रह होता है, और उसके द्वारा मोक्ष होता है, क्योंकि यद्यपि विभिन्न व्यक्ति शुभ कर्मों के पालन से शुद्धता की प्राप्ति कर सकते हैं, तथापि कुछ व्यक्ति ज्ञान से सम्पन्न हो सकते हैं और अन्य व्यक्ति 'भक्ति' और इस अंतर की इस मान्यता के अतिरिक्त कोई व्याख्या नहीं की जा सकती कि ईश्वर का अनुग्रह स्वतन्त्र व उपाधि-रहित है। यह मान्यता भी गलत है कि अनुग्रह के सहकारी कारण से चित्त-शुद्धि 'भक्ति' को उत्पन्न करती है, यह मानना कहीं अधिक उत्तम है

---

[1] देखिए आफ्रेश्ट का 'Catalogus Catalogorum'.

कि ईश्वर का अनुग्रह स्वच्छन्दता से प्रवाहित होता है और अन्य अवस्थाओं के सहयोग की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि शास्त्र ईश्वरानुग्रह के स्वच्छन्द प्रयोग का कथन करते हैं। जिन व्यक्तियों को ईश्वर 'मर्यादा मार्ग' में प्रवृत्त करता है वे कर्त्तव्य-पालन, चित्त-शुद्धि, भक्ति आदि के द्वारा कालान्तर में अपने मोक्ष की प्राप्ति करते हैं, किन्तु जिन व्यक्तियों को वह अपना विशेष अनुग्रह प्रदान करता है उनको 'पुष्टि-भक्ति' के मार्ग में अंगीकार कर लिया जाता है, वे नियत कर्त्तव्यों के अनुपालन के बिना भी 'भक्ति' की प्राप्ति कर लेते हैं। कर्त्तव्यों का निर्धारण केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए होता है जो 'मर्यादा-मार्ग' में होते हैं, 'मर्यादा' अथवा 'पुष्टि-मार्ग' का अनुसरण करने की प्रवृत्ति स्वतन्त्रव स्वतः स्फूर्त भगवदिच्छा पर निर्भर करती है,[1] अतएव 'मर्यादा-मार्ग' में भी 'भक्ति' ईश्वरानुग्रह के कारण होती है न कि कर्त्तव्यों के अनुपालन से।[2] भगवदिच्छा को सर्व कर्मों-चाहे उन्हें हम स्वयं करें अथवा चाहे वे प्राकृतिक व भौतिक कारणों से घटित हों—के संबंध के प्रति विठ्ठल का मत हमें निमित्तवादी सिद्धांत का स्मरण दिलाता है जो लगभग उसी काल में प्रतिपादित किया गया था जब विठ्ठल ने उसका निरूपण किया। वे कहते हैं कि, जो भी कार्य घटित हुए, हो रहे हैं अथवा होंगे वे उनके तत्काल पूर्व में स्थित भगवदिच्छा के कारण घटित होते हैं. इस प्रकार सकल कारणता पूर्व क्षण में स्वतः स्फूर्त भगवदिच्छा के कारण होती है।[3] इसलिए तथाकथित कारणों व अवस्थाओं, अथवा 'प्रागभाव' अथवा निषेधात्मक कारणों व अवस्थाओं के अभाव की कारणता को अस्वीकृत किया जाता है, क्योंकि ये सभी तत्व कार्य हैं, अतएव घटित होने के लिए भगवदिच्छा पर आश्रित रहते हैं, क्योंकि उसके अभाव में कुछ भी घटित नहीं हो सकता। भगवदिच्छा सकल कार्यों व घटनाओं की चरम कारण है। चूंकि भगवदिच्छा इस प्रकार सर्व घटनाओं अथवा विनाशों की एकमात्र कारण है, इसलिए वही किसी व्यक्ति में 'भक्ति' के उदय की एकमात्र कारण है। उसी की इच्छा से लोग विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों से सबंधित होते हैं, किन्तु वे भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य करते हैं तथा उनमें 'भक्ति' होती है अथवा नहीं होती

---

[1] येषु जीवेषु यथा भगवदिच्छा तथैव तेषां प्रवृत्तेरावश्यकत्वात्।

'भक्ति-हेतु-निर्णय,' पृ० ७।

[2] विठ्ठल के 'भक्ति-हंस' (पृ० ५६) में यह कहा गया है कि 'भक्ति' का अर्थ 'स्नेह' होता है : 'भक्तिपदस्य शक्ति : स्नेहैव'। उपासना स्वयं 'भक्ति' नहीं होती, किंतु उसे उत्पन्न कर सकती है, चूंकि 'भक्ति' स्नेह स्वरूप होती है, इसलिए उसके संबंध में कोई विधि नहीं हो सकती।

[3] यदा यदा यत् यत् काय्र्यं भवति भावि अभूद् वा तत्-तत्कालोपाधौ क्रमिकेणैव तेन तेन हेतुना तत् तत् काय्र्यं करिष्ये इति ततः पूर्व भगवदिच्छा अस्त्यासीद् वा इति मन्तव्यम्।

—वही, पृ० ६।

है। कहा जाता है कि विठ्ठल अकबर से भिन्न थे। उनकी अन्य कृतियाँ थीं 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा' और 'सिद्धांत मुक्तावली' पर टीकाएं, 'अणुभाष्य-पूर्ति' ('अणुभाष्य' पर एक टीका), 'निबन्ध प्रकाश,' 'सुबोधिनी टिप्पणी' ('सुबोधिनी' पर एक टीका), जिसे अन्यथा 'सन्यासावच्छेद' भी कहते हैं। वल्लभाचार्य के प्रथम पुत्र गोपीनाथजी महाराज थे जिन्होंने 'साधनदीपक' एवं अन्य लघु रचनाएं लिखीं। विठ्ठल उनके द्वितीय पुत्र थे। विठ्ठल के सात पुत्र और चार कन्याएं थीं।

विठ्ठल के प्रपौत्र, विठ्ठल के शिष्य व पुरुषोत्तम के पिता पीताम्बर ने 'अवतार-वादावली,' 'भक्तिरसत्ववाद,' 'द्रव्य-शुद्धि' और उस पर टीका तथा 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा' पर एक टीका लिखी। पुरुषोत्तम का जन्म १६७० में हुआ था, उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे—'सुबोधिनी-प्रकाश' ('भागवत-पुराण' पर वल्लभ की टीका 'सुबोधिनी' पर एक टीका), 'उपनिषद्-दीपक' वल्लभ की 'तत्वार्थ-दीपिका' पर उनकी 'प्रकाश' नामक टीका पर 'आवरण-भंग,' 'प्रार्थना-रत्नाकर,' 'भक्ति-हंस-विवेक,' 'उत्सव प्रतान,' 'सुवर्ण-सूत्र' ('विद्वन्मण्डन' पर एक टीका), और 'षोडश-ग्रन्थ-विवृत्ति'। कहा जाता है कि उन्होंने चौबीस दार्शनिक एवं धर्मशास्त्रीय ग्रंथ लिखे, जिनमें से इस लेखक को सत्रह उपलब्ध हुए हैं, अर्थात्, 'भेदाभेद-स्वरूप-निर्णय,' 'भगवत्-प्रतिकृति-पूजनवाद,' 'सृष्टिभेदवाद,' 'ख्यातिवाद,' 'अंधकारवाद,' 'ब्राह्मणत्वादि-देवतादि-वाद,' 'जीव-प्रतिबिम्बत्व-खण्डन-वाद,' 'आविर्भाव तिरोभाव-वाद,' 'प्रतिबिम्बवाद,' 'भक्त्युत्कर्ष-वाद,' 'ऊर्ध्व-पुण्ड्र-वाद,' 'माला-धारण-वाद,' 'उपदेश-विषय-शका-निरासवाद,' 'मूर्त्ति-पूजन-वाद,' 'शंखा-चक्र-धारण-वाद'। उन्होंने 'सेवाफल' 'सन्यास-निर्णय' व 'भक्ति-वर्धिनी' पर टीकाएं, 'भाष्य-प्रकाश' और 'उत्सव-प्रतान' भी लिखे। उन्होंने इन टीकाओं को भी लिखा—'निरोध-लक्षण,' 'जलभेद,' 'पंचपाद्य' और 'सिद्धान्त-मुक्तावली' व 'बालबोध' पर विठ्ठल के 'भक्ति-हंस' पर 'तीर्थ' नामक टीका। उन्होंने 'गायत्री' पर विठ्ठल के भाष्य पर एक उपभाष्य 'वल्लभाष्टक' पर एक टीका, 'वेदांत-करणमाल' और 'शास्त्रार्थ-प्रकरण-निबन्ध' तथा 'गीता' पर एक टीका भी लिखी। कहा जाता है कि उन्होंने नौ सौ सहस्र श्लोक लिखे, और वे निःसन्देह वल्लभ सम्प्रदाय के सबसे प्रमुख सदस्यों में से एक हैं।

विठ्ठल के शिष्य मुरलीधर ने वल्लभ के 'भाष्य' पर 'भाष्य-टीका' नामक एक टीका लिखी, 'परतत्वांजन,' 'भक्ति-चिन्तामणि,' 'भगवन्नाम-दर्पण' 'भगवन्नाम-वैभव' भी लिखी। १६४८ में उत्पन्न, विठ्ठल के प्रपौत्र वल्लभ ने 'सुबोधिनी-लेख' 'सेवाफल' पर एक टीका, 'षोडश-ग्रन्थ' पर एक टीका, 'गीता-तत्व-दीपनी' तथा अन्य रचनाएं लिखीं। कल्याणराज के पुत्र व विठ्ठल के प्रपौत्र गोपेश्वरजी महाराज १५९५ में उत्पन्न हुए थे, और उन्होंने वल्लभ के 'प्रकाश' पर 'रश्मि' नामक टीका सुबोधिनी बुभुत्र-बोधिनी' और हरिराज के 'शिक्षापत्र' पर एक हिन्दी टीका लिखी।

अन्य गोपेश्वर, जो योगी गोपेश्वर के नाम से विहित हैं, और जो 'भक्ति-मार्तण्ड' के थे, लम्बे समय के पश्चात् १७८१ में उत्पन्न हुए थे। १८४५ में उत्पन्न गिरिधरजी ने 'भाष्य-विवरण' व अन्य रचनाएं लिखीं।

विठ्ठल के शिष्य मुरलीधर ने वल्लभ के 'अणुभाष्य' पर एक टीका, 'शाण्डिल्य-सूत्र' पर एक टीका, 'परतत्वांजन,' 'भक्ति-चिन्तामणि,' 'भगवन्नाम दर्पण' और 'भगवन्नाम-वैभव' लिखे। १५५७ में उत्पन्न रघुनाथ ने वल्लभ के 'भक्ति-हंस' पर 'नाम-चन्द्रिका' नामक टीका तथा उनके 'भक्ति-हेतु-निर्णय' और 'वल्लभाष्टक' पर टीकाएं ('भक्ति-तरंगिणी' और 'भक्ति-हेतु-निर्णय-विवृति') भी लिखीं। उन्होंने 'पुरुषोत्तम-स्तोत्र' और 'वल्लभाष्टक' पर भी एक टीका लिखी। वल्लभ ने, जो अन्यथा गोकुलनाथ के नाम से विदित हैं, और जो १५५० में उत्पन्न हुए थे, 'प्रपंच-सार-भेद' और वल्लभाचार्य की 'सिद्धांत-मुक्तावली,' 'निरोध-लक्षण,' 'मधुराष्टक,' 'सर्वोत्तमस्तोत्र,' 'वल्लभाष्टक' व 'गायत्री-भाष्य' पर टीकाएं लिखी। विठ्ठल के पुत्र गोविन्दराज के पुत्र कल्याणराज १५७१ में उत्पन्न हुए थे और उन्होंने 'जलभेद' एवं 'सिद्धांत मुक्तावली' पर टीकाएं लिखी। १५८० में उत्पन्न उनके भ्राता गोकुलत्सव ने 'त्रिविधा-नामावली-विकृति' पर एक टीका लिखी। रघुनाथ के पुत्र और विठ्ठल के पौत्र देवकीनन्दन (१५७०) ने वल्लभाचार्य के 'बाल-बोध' पर 'प्रकाश' नामक टीका लिखी। विठ्ठल के पौत्र घनश्याम (१५७४) ने विठ्ठल की 'मधुराष्टक-निवृत्ति' पर एक उप-टीका लिखी। व्रजनाथ के पुत्र व वल्लभाचार्य के शिष्य कृष्णचन्द्र गोस्वामी ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'भाव-प्रकाशिका' नामक एक संक्षिप्त टीका अपने पिता व्रजनाथ की 'ब्रह्म-सूत्र' पर 'मरीचिका' नामक टीका के नमूने पर लिखी। इन व्रजनाथ ने 'सिद्धांत-मुक्तावली' पर भी एक टीका लिखी। कल्याणराज के पुत्र हरिराज (१५९३) ने 'शिक्षा पात्र' तथा 'सिद्धांत-मुक्तावली,' 'विरोध-लक्षण,' 'पंचपाद्य,' 'मधुराष्टक' पर टीकाएं और कल्याणराज की 'जलभेद' पर टीका की प्रतिरक्षा में एक 'परिशिष्ट' लिखा। 'घनश्याम' के पुत्र गोपेश (१५९८) ने 'निरोध-लक्षण' 'सेवाफल' और 'सन्यास-निर्णय' पर टीकाएं लिखी। हरिराज के भ्राता गोपेश्वरजी महाराज (१५९८) ने हरिराज के 'शिक्षापात्र' पर एक हिन्दी टीका लिखी। विठ्ठल के शिष्य द्वारकेश ने 'सिद्धांत-मुक्तावली' पर एक टीका लिखी। कल्याणराज के शिष्य जयगोपाल भट्ट ने 'सेवाफल' और 'तैत्तिरीय उपनिषद्' पर टीकाएं लिखी। विठ्ठल के प्रपौत्र वल्लभ (१६४८) ने 'सिद्धांत-मुक्तावली,' निरोध,' 'लक्षण,' 'सेवाफल,' 'सन्यास-निर्णय' 'भक्ति-वर्धिनी,' 'जलभेद' और 'मधुराष्टक पर टीकाएं लिखीं। श्यामल के पुत्र व्रजराज ने विरोध-लक्षण पर एक टीका लिखी। इन्दिवेश और गोवर्धन भट्ट ने क्रमशः 'गायत्र्यर्थ-विवरण' और 'गायत्र्यर्थ' लिखे। श्रीधर स्वामि ने वल्लभ के 'अणुभाष्य' पर 'बाल-बोधिनी' टीका लिखी। विठ्ठल के प्रपौत्र गिरिधर ने 'विद्वान्मण्डन' का अनुसरण करते हुए

'सिद्धाद्वैत-मार्तण्ड' और 'प्रपंचवाद' लिखे। उनके शिष्य रामकृष्ण ने 'सिद्धाद्वैत-मार्तण्ड' पर 'प्रकाश' नामक टीका तथा 'शुद्धाद्वैत-परिष्कार' नामक एक अन्य रचना लिखी। योगी गोपेश्वर (१७८७) ने वादकथा, 'आत्मवाद,' 'भक्ति-मार्तण्ड,' 'चतुर्थाधिकरण-माला,' पुरुषोत्तम के 'भाष्य-प्रकाश' पर 'रश्मि' नामक टीका और पुरुषोत्तम के 'वेदान्ताधिकरणमाला' पर एक टीका लिखी। गोकुलोत्सव ने वल्लभ की 'त्रिविधा-नामावली' पर एक टीका लिखी। व्रजेश्वर भट्ट ने 'ब्रह्मविद्या-भावन' हरिदास ने 'हरिदास-सिद्धान्त' इच्छाराम ने वल्लभ के 'अणुभाष्य' पर 'प्रदीप' और इच्छाराम के शिष्य निर्भयराम ने 'अधिकरण-संग्रह' लिखे।

विष्णुस्वामिन्

परम्परा से विष्णुस्वामिन् विशुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्राचीनतम संस्थापक माने जाते हैं जिसका वल्लभ द्वारा जीर्णोद्धार किया गया। श्रीधर भी 'भागवत-पुराण' पर अपनी टीका में विष्णुस्वामिन् का उल्लेख करते हैं, और सम्भवतः उन्होंने 'भागवत-पुराण' पर एक टीका लिखी थी, किन्तु ऐसी कोई रचना अब उपलब्ध नहीं है। विष्णुस्वामिन् के मत का एक संक्षिप्त विवरण 'सकलाचार्य-मत-संग्रह' (एक अज्ञात लेखक द्वारा) में मिलता है, जो वल्लभ के मत का सारांश-मात्र है, उसमें कुछ भी नवीनता नहीं है जिस पर यहाँ विचार हो सके। फिर भी यह रचना वल्लभ के दर्शन का समावेश नहीं करती, जिससे यह माना जा सकता है कि वह कदाचित् वल्लभ के आगमन से पूर्व लिखी गई थी, तथा उसमें समाविष्ट विष्णुस्वामिन् का मत या तो विष्णुस्वामिन् के पारम्परिक विवरण से प्राप्त किया गया था अथवा उनकी कुछ रचनाओं से जो वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए यह असम्भव है कि 'संकलाचार्य-मत-संग्रह' में विष्णुस्वामिन् का विवरण वस्तुतः वल्लभ के मत का संक्षिप्त कथन है जिसे प्राचीन लेखक विष्णु स्वामिन् पर आरोपित कर दिया गया है। किन्तु वल्लभ स्वयं अपने मत के जन्मदाता के रूप में विष्णुस्वामिन् का कभी उल्लेख नहीं करते, वल्लभ के अनुयायियों में इस संबंध में मतभेद है कि वल्लभ ने विष्णु-स्वामिन् के पदचिह्नों का अनुसरण किया अथवा नहीं। यह आग्रह किया जाता है कि जहाँ वल्लभ ने उपनिषदों के विशुद्ध अद्वैतवादी पाठों पर बल दिया और ब्रह्मन् को अभेदात्मक, स्वयं से एकरूप व अपने गुणों से एकरूप माना, वहाँ विष्णुस्वामिन् ने वेदांत-पाठों में निहित द्वैत पर बल दिया।[1] वल्लभ स्वयं 'भागवत-पुराण' (३. ३२.

---

[1] इस प्रकार निर्भयराम 'अधिकरण-संग्रह' (पृ० १) में कहते हैं : तस्यापि दुर्बोधत्वेन व्याख्यानसापेक्षतया तस्य व्याख्यातारो विष्णुस्वामि-मध्व-प्रभृतयो ब्रह्माद्वैत-वादस्य सेव्य-सेवक-भावस्य च विरोधं मन्वाना अभेद-बोधक-श्रुतिषु लक्षणया भेद-परत्वं शुद्धं भेदमंगीचक्रुः।

३७) पर अपनी 'सुबोधिनी' टीका में विष्णुस्वामिन् के मत का इस रूप में वर्णन करते हैं कि वह 'तमस्' गुण के द्वारा ब्रह्मन् व जगत् में भेद का प्रतिपादन करता है, तथा इसका स्वयं अपने मत से विभेद करते हैं जो ब्रह्मन् का पूर्णतः निर्गुण के रूप में प्रतिपादन करता है।[1] 'सकलाचार्य-मत-संग्रह' में दिया हुआ विष्णुस्वामिन् का अल्प विवरण हमें यह खोज करने में कोई सहायता नहीं देता है कि क्या उनका मत वल्लभ के मत से भिन्न था, और, यदि, वह भिन्न था तो किन-किन विषयों में। यह भी असम्भव नहीं है कि 'सकलाचार्य-मत-संग्रह' के लेखक ने स्वयं विष्णुस्वामिन् की किसी रचना को नहीं देखा था और उससे वल्लभ के मत को विष्णुस्वामिन् पर स्थानान्तरित कर दिया, जो कुछ परम्पराओं के अनुसार शुद्धाद्वैत मत के जन्मदाता थे।[2]

'वल्लभ-दिग्विजय' के अनुसार दक्षिण में पाण्ड्या राज्य का एक विजय नामक राजा था। उसके एक देवस्वामिन् नामक पुरोहित था जिसका पुत्र विष्णुस्वामिन् था। उत्तर-भारत में एक महान् धार्मिक-सुधारक, शुकस्वामिन् वेदांत में उनके सहपाठी थे। विष्णुस्वामिन् द्वारका, वृन्दावन होते हुए पुरी गए और तत्पश्चात् घर लौट आए। वृद्धावस्था में उन्होंने अपने घरेलू देवताओं को अपने पुत्र को सौंप दिया, और वैष्णव परिपाटी से संसार-त्याग करके वे कांची आए। उनके वहाँ कई शिष्य थे, यथा, श्रीदेवदर्शन, श्रीकण्ठ, सहस्रार्चि, शटधृति, कुमारपद, परभूत व अन्य। अपनी मृत्यु से पूर्व उन्होंने अपने मत के अध्यापन का कार्य-भार श्रीदेवदर्शन को सौंप दिया। उनके सात सौ प्रमुख अनुयायी थे जो उनके मत का उपदेश देते थे, उनमें से एक राजविष्णुस्वामिन् आन्ध्र प्रदेश में एक उपदेशक बन गया। कहा जाता है कि इस काल में विष्णुस्वामिन् के मठ और ग्रंथ बौद्धों द्वारा जला दिए गए थे। एक तमिल सन्त, बिल्व-मंगल श्रीरंगम् के मठाधीश की गद्दी के उत्तराधिकारी बने। बिल्वमंगल ने कांची के मठाधीश की गद्दी देवमंगल को सौंप दी, और वृन्दावन चले गए। फिर प्रभाविष्णुस्वामिन् मठाधीश की गद्दी के उत्तराधिकारी बने, उनके अनेक शिष्य थे, यथा, श्रीकण्ठगर्भ, सत्यवती पण्डित, सोमगिरि, नरहरि, श्रान्तनिधि व अन्य। अपनी मृत्यु से पूर्व उन्होंने श्रान्तनिधि को अपनी गद्दी पर अभिषिक्त किया। विष्णुस्वामिन् के गुरुओं में एक गोविन्दाचार्य थे, जिनके शिष्य वल्लभाचार्य बताए जाते हैं। विष्णुस्वामिन् की तिथि का अनुमान लगाना कठिन है, किन्तु यह सम्भावना हो सकती है कि बारहवीं अथवा तेरहवीं शताब्दी में विद्यमान थे।

---

[1] ते च साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिणः तत्ववादिनो रामानुजश्च तमो रजः-सत्वैर्भिन्ना अस्मत्प्रतिपादिताच्च नैर्गुण्यादस्य। —वही, पृ० १।

[2] जदुनाथजी महाराज द्वारा लिखित 'वल्लभ-दिग्विजय' में इस परम्परा का निश्चय रूप से संस्थापन पाया जाता है।

अध्याय ३२

चैतन्य और उनके अनुयायी

चैतन्य के जीवन-कथाकार

चैतन्य निम्वार्क और वल्लभ के उत्तराधिकारी वैष्णव सुधारकों में अन्तिम थे। वस्तुत: वह वल्लभ के अवर समकालीन थे। जहाँ तक हमें विदित है, उन्होंने स्वयं अपने दर्शन का निरूपण करने वाली कोई रचना अपने पीछे नहीं छोड़ी, और उसके संबंध में जो कुछ हम ज्ञात कर सकते हैं वह उनके समकालीन व उत्तरवर्ती प्रशंसकों एवं जीवन-कथाकारों की रचनाओं से ही प्राप्त हो सकता है। इनमें भी हमें उनके दर्शन से अधिक उनके चरित्र एवं उनकी भगवद्-भक्ति के विशिष्ट स्वरूप का ही ज्ञान होता है। इसलिए यह कहना अत्यन्त कठिन है कि चैतन्य का दर्शन क्या है संस्कृत, बंगला, असमी व उड़ीसा में उनकी कई जीवन-कथाएं लिखी गई, और चैतन्य की जीवन-कथा की सामग्री का एक आलोचनात्मक अध्ययन कुछ समय पूर्व बंगला में डा० बिमन बिहारी मजूमदार द्वारा प्रकाशित किया गया था। चैतन्य की अनेक जीवन-कथाओं में से जो मुरारिगुप्त व वृन्दावनदास द्वारा लिखी गई हैं वे चैतन्य के जीवन के प्रथम भाग का विवरण देती हैं, तथा पश्चादुक्त का ग्रन्थ उनके प्रारम्भिक जीवन का सबसे अधिक प्रामाणिक व उत्तम निरूपण माना जाता है। पुन: कृष्ण-दास कविराज द्वारा लिखित 'जीवनी,' जो चैतन्य के जीवन के द्वितीय एवं तृतीय भागों पर बल देती है–को उनके जीवन के सबसे अधिक रुचिकर काल का अत्यधिक दार्शनिक एवं शिक्षाप्रद निरूपण माना जाता है। वस्तुत:, वृन्दावनदास की 'चैतन्य-भागवत' और कृष्णदास कविराज की 'चैतन्य-चरितामृत' चैतन्य पर सबसे महत्वपूर्ण जीवन-कथा-संबंधी कृतियां हैं। हम मुरारिगुप्त का उल्लेख कर चुके हैं जो यद्यपि चैतन्य के समकालीन थे, तथापि संस्कृत में अतिरंजनाओं से पूर्ण एक लघु रचना लिखी थी। जयानन्द और लोचनदास द्वारा रचित 'चैतन्य-मंगल' नामक अन्य जीवन-कथाएं भी उपलब्ध हैं। कहा जाता है कि गोविन्द व स्वरूप दामोदर नामक चैतन्य के व्यक्ति-गत परिचारकों ने उनके संबंध में कुछ टिप्पणियां लिखी थीं, किन्तु वे अब स्पष्टत: लुप्त हो गई हैं। कवि कर्णपूर ने 'चैतन्य-चन्द्रोदय-नाटक' लिखा जिसे कृष्णदास कविराज की रचना का प्रमुख स्रोत कहा जा सकता है। वृन्दावनदास का जन्म शक १४२९ (१५०७ ई०) में हुआ था, उन्होंने अपने जीवन के प्रथम पन्द्रह वर्षों में

चैतन्य को देखा था। चैतन्य का देहावसान शक १४५५ (१५३३ ई०) में हुआ, और 'चैतन्य-भागवत' अल्प काल के पश्चात् लिखी गई। कृष्णदास कविराज की रचना 'चैतन्य चरितामृत' उसके बहुत काल पश्चात् लिखी गई थी। यद्यपि उसकी समाप्ति की वास्तविक तिथि के संबंध में कुछ विवाद है, तथापि यह लगभग निश्चित है कि वह शक १५३७ (१६१६ ई०) में पूरी हुई थी। 'प्रेम-विलास' में दी गई अन्य तिथि शक १५०३ (१५८१ ई०) है, और जिसका प्राध्यापक राधा गोविन्द नाथ ने उक्त रचना के अपने विद्धत्तापूर्ण संस्करण में भली प्रकार से विरोध किया है। 'चैतन्य-चन्द्रोदय-नाटक' कवि कर्णपूर द्वारा शक १४९४ (१५७२ ई०) में लिखा गया था। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि चैतन्य के जीवन-चरित्र के सबसे प्रामाणिक विवरण के लिए हमें इस रचना और वृन्दावनदास की 'चैतन्य-भागवत' का उल्लेख करना चाहिए। पर कविराज कृष्णदास का 'चैतन्य-चरितामृत' सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण जीवन-चरित्र है। सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा 'चैतन्य-सहस्र-नाम,' परमानन्दपुरी की 'गोविन्द-विजय,' गौरीदास पण्डित द्वारा चैतन्य के गीत, परमानन्द गुप्त की 'गौड़राज-विजय' और गोपाल बसु द्वारा चैतन्य के गीत भी उपलब्ध हैं।

चैतन्य का जीवन

मैं यहाँ मुख्यत: 'चैतन्य-भागवत' 'चैतन्य-चन्द्रोदय-नाटक' व 'चैतन्य-चरितामृत' का अनुसरण करते हुए चैतन्य के जीवन का केवल एक संक्षिप्त विवरण देने का प्रयास करूँगा।

नवद्वीप में जगन्नाथ मिश्र और उनकी पत्नी शची रहते थे। वसन्त ऋतु की पूर्णिमा के दिन (फाल्गुन मास में), जब चन्द्रग्रहण था तब शक १४०७ (१४८५ ई०) में उनके यहाँ चैतन्य का जन्म हुआ था। उस समय नवद्वीप कई ऐसे वैष्णवों का निवास–स्थान था जो सिलहट व भारत के अन्य भागों से प्रवासित हुए थे। इस प्रकार वहाँ श्रीवास पण्डित, श्रीराम पण्डित, चन्द्रशेखर, मुरारिगुप्त, पुण्डरीक विद्या-निधि, चैतन्य-वल्लभ दत्त निवास करते थे। इस प्रकार सम्पूर्ण वातावरण एक ऐसे महान् अग्नि-स्फुलिंग के लिए तैयार था जिसे दहनशील सामग्री में फेंकना चैतन्य का कार्य था। शान्तिपुर में अद्वैत, जो चैतन्य से कहीं अधिक वयोवृद्ध महान् वैष्णव थे, सदा जन-समुदाय के सामान्य थोथेपन पर खेद प्रकट करते थे और किसी ऐसे महापुरुष की अभिलाषा करते थे जो नवीन अग्नि की सृष्टि कर सके। चैतन्य के ज्येष्ठ बन्धु विश्वरूप एक सन्यासी बन कर निकल गए थे, और तब चैतन्य जो अपने माता-पिता के पास एकमात्र पुत्र शेष रहे थे, नीलाम्बर चक्रवर्ती की पुत्री अपनी विधवा माता शची देवी द्वारा विशेष लाड़-प्यार से पाले गए।

इस समय नवद्वीप मुसलमान शासकों के अधीन था जो अत्याचारी हो गए थे। विशारद पण्डित के पुत्र और एक महान् पण्डित, सार्वभौम भट्टाचार्य, उड़ीसा के हिन्दू राजा, प्रतापरुद्र की शरण लेने के लिए वहाँ चले गए थे।

चैतन्य ने सुदर्शन-पण्डित की संस्कृत पाठशाला (टोल) में अध्ययन किया। सम्भवतः इस पाठशाला में उनका अध्ययन कलाप व्याकरण और कतिपय 'काव्यों' तक ही सीमित रहा। कुछ उत्तरकालीन जीवन-चरित्र लेखकों का कथन है कि उन्होंने न्याय (तर्क-शास्त्र) भी पढ़ा था, किन्तु इसकी पुष्टि में कोई सम्यक् प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु उन्होंने घर पर ही कुछ 'पुराणों' का विशेषतः महान भक्ति-ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' का अध्ययन किया था। एक विद्यार्थी के रूप में वे वास्तव में बहुत ही प्रतिभाशाली थे, किन्तु वे अत्यधिक अभिमानी भी थे, और अपने सहपाठियों को वाद-विवाद में पराजित करने में विशेष आनन्द लेते थे। अपने प्रारम्भिक जीवन से ही भक्ति-गीतों में उनकी प्रवल रुचि थी। कृष्ण के साथ अपना एकाकार करने में विशेष आनन्द लेते थे। उनके साथियों में निम्नलिखित का उल्लेख किया जा सकता है श्रीनिवास पण्डित व उनके तीन भाई, वासुदेव दत्त, मुकुन्द दत्त व लेखक जगाई, श्रीगर्भ पण्डित, मुरारिगुप्त, गोविन्द, श्रीधर, गंगादास, दामोदर, चन्द्रशेखर, मुकुन्द, संजय, पुरुषोत्तम, विजय, वक्रेश्वर, सनातन, हृदय, मदन और रामानन्द। चैतन्य ने अपने पिता से भी वेदों में कुछ शिक्षण प्राप्त किया था। उन्होंने विष्णु पण्डित और गंगादास पण्डित से भी शिक्षण प्राप्त किया था। अपने जीवन के इस काल में उनका हरिदास और गदाधर से घनिष्ट परिचय हो गया था।

चैतन्य की पहली पत्नी, लक्ष्मी देवी, जो वल्लभ मिश्र की पुत्री थी, सर्प-दंश से मर गई, फिर उन्होंने विष्णुप्रिया से विवाह किया। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वे पश्चात्-अंत्येष्टि संस्कार का अनुष्ठान करने के लिए गया गए, कहा जाता है कि वहाँ उन्होंने परमानन्द पुरी, ईश्वर पुरी, रघुनाथ पुरी, ब्रह्मानन्द पुरी, अमर पुरी, गोपाल पुरी और अनन्त पुरी जैसे संत महानुभावों से भेंट की। उनको ईश्वर पुरी ने दीक्षा दी, और उन्होंने संसार को त्यागने का निश्चय कर लिया। किन्तु वे नवद्वीप लौटे और कुछ काल तक 'भागवत-पुराण' का उपदेश देते रहे।

नवद्वीप में नित्यानन्द नामक एक 'अवधूत' उनके साथ रहने लगे। उनकी मित्रता ने चैतन्य में भगवद्-प्रेम के भावावेग की अग्नि को और अधिक प्रज्वलित किया, और वे दोनों अन्य सहचरों सहित अहर्निश नृत्य एवं संगीत में व्यतीत करने लगे। इसी काल में उनके व नित्यानन्द के प्रभाव से दो शराबी, जगाई और मेघाई,

वैष्णव प्रेम-पंथ में संपरिवर्तित हुए। थोड़े काल के पश्चात् अपनी माता की अनुमति से उन्होंने सन्यास ग्रहण कर लिया और कटवा की ओर प्रस्थान किया, तथा वहाँ से अद्वैत से भेंट करने के लिए शान्तिपुर गए। इस स्थान से वे अपने अनुयायियों सहित पुरी के लिए रवाना हुए।

यह है चैतन्य के प्रारम्भिक जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा, सर्व रुचिपूर्ण घटनाओं से रहित तथा उनके विभिन्न जीवन-चरित्र लेखकों में इस पर बहुत अंशों में एक-मत हैं।

कृष्णदास कविराज की बंगला रचना 'चैतन्य-चरितामृत' सम्भवतः उनका एक आधुनिकतम जीवन-चरित्र है, परन्तु अपनी गूढ़ता के कारण वह सहज ही चैतन्य की अन्य जीवन-कथाओं से लोकप्रियता में आगे बढ़ गई है। वह चैतन्य के जीवन को तीन भागों में विभाजित करते हैं 'आदिलीला' (प्रथम भाग) 'मध्यलीला' (द्वितीय भाग), और 'अन्त्यलीला' (अन्तिम भाग)। प्रथम भाग पहले चौबीस वर्षों के विवरण से निर्मित है, जिसके अन्त में चैतन्य ने संसार का परित्याग किया। वे अन्य चौबीस वर्षों तक जीवित रहे, और ये दो भागों में विभाजित हैं—उनके जीवन के द्वितीय और अन्तिम भाग। इन चौबीस वर्षों में से छः वर्ष तीर्थ-यात्रा में व्यतीत हुए, यह मध्यवर्ती काल कहलाता है। शेष अठारह वर्ष उन्होंने पुरी में व्यतीत किए, जो अन्तिम काल को निर्मित करते हैं, जिनमें से छः वर्ष पवित्र प्रेम-पंथ के उपदेश में व्यतीत हुए और शेष बारह वर्ष प्रगाढ़ हर्षोन्मादों में व अपने प्रिय प्रभु कृष्ण की विरह-जन्य पीड़ा की अनुभूति में व्यतीत हुए।

अपने जीवन के चौबीसवें वर्ष में न्सयास-ग्रहण के पश्चात् माघ (जनवरी) मास में उन्होंने वृन्दावन के लिए प्रस्थान किया और तीन दिन तक राढ प्रदेश (बंगाल) में यात्रा की। उन्हें वृन्दावन की राह ज्ञात नहीं थी, और नित्यानन्द उन्हें शान्तिपुर ले गए। चैतन्य की माता कई अन्य लोगों, श्रीवास, रामई, विद्यानिधि, गदाधर, वक्रेश्वर, मुरारि, युक्लाम्बर, श्रीधर, व्यय, वासुदेव, मुकुन्द, बुद्धिमन्त खान, नन्दन और संजय के सहित उनसे मिलने के लिए शान्तिपुर आई। शान्तिपुर से चैतन्य गंगा के किनारे-किनारे बालेश्वर (उड़ीसा-स्थित) होते हुए नित्यानन्द, पंडित जगदानन्द, दामोदर पण्डित, और मुकुन्द दत्त के साथ पुरी के लिए रवाना हुए। फिर वे याजपुर और साक्षीगोपाल के निकट से होते हुए पुरी आए। वहां पहुँच कर वे सीधे जगन्नाथ के मन्दिर में गए, उन्होंने मूर्ति की ओर दृष्टिपात किया और वे मूर्छित हो गए। सार्व-भौम भट्टाचार्य, जो उस समय पुरी में निवास करते थे, उनको अपने घर पर लाए, वहां नित्यानन्द, जगदानन्द, दामोदर सभी आए और उनके साथ रहने लगे। यहां चैतन्य

कुछ समय तक सार्वभौम के घर पर रहे और उनके साथ वाद-विवाद किए जिन उन्होंने शंकर के अद्वैतवादी सिद्धान्तों का खण्डन किया।[1]

कुछ समय पश्चात् चैतन्य दक्षिण के लिए रवाना हुए, और पहले कूर्मस्थान आए, जो सम्भवत: गंजम जिले (दक्षिणी उड़ीसा) में स्थित है, फिर वे गोदावरी के किनारे होकर निकले और रामानंद राय से मिले। 'भक्ति-भाव' के सूक्ष्म पक्ष पर उनके साथ एक दीर्घ वार्तालाप के क्रम में चैतन्य उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए, उन्होंने उनके साथ कुछ समय भक्ति-संगीत व हर्षोन्मादों में व्यतीत किया। तत्पश्चात् उन्होंने पुनः अपनी यात्रा आरम्भ की और कहा जाता है कि वे मल्लिकार्जुन-तीर्थ, अहोवल-नृसिंह, स्कन्दतीर्थ, और अन्य स्थानों से होकर निकले तथा बाद में कावेरी-तट पर श्रीरंगम् में आए। यहाँ वे वेंकट भट्ट के घर में चार-माह तक रहे, तत्पश्चात् वे ऋषभ पर्वत पर गए, जहाँ उनकी परमानन्द पुरी से भेंट हुई। यह कहना कठिन है कि उन्होंने दक्षिण में कहाँ तक यात्रा की, किन्तु वे कदाचित् त्रावनकोर तक गए। यह भी सम्भव है कि वे कुछ ऐसे स्थानों पर भी गए जहाँ मध्वाचार्य का बहुत प्रभाव था, और कहा जाता है कि उनके मध्व-सम्प्रदाय के आचार्यों के साथ संवाद हुए। उन्होंने वैष्णववाद के दो महत्वपूर्ण हस्तलेख, 'ब्रह्म-संहिता' व 'कृष्ण-कर्णामृत' की खोज की, और उनको अपने साथ ले आए। कहा जाता है कि वे कुछ और आगे पूर्व में नासिक तक गए, किन्तु यह कहना कठिन है कि इन यात्राओं की कथा कहाँ तक सत्य है। लौटती यात्रा में उन्होंने पुनः रामानन्दराय से भेंट की, जो उनके पीछे-पीछे पुरी गए।

उनके पुरी लौटने के पश्चात् पुरी के तत्कालीन नरेश प्रतापरुद्र ने उनसे परिचित होने की विनय की और वे उनके शिष्य हो गए। पुरी के चैतन्य काशी मिश्र के मकान में रहने लगे। उनके अनुयायियों में अन्य व्यक्तियों के साथ जनार्दन, कृष्णदास, शिखी माहिति, प्रद्युम्न मिश्र, जगन्नाथ दास, मुरारि माहिति, चन्द्रेश्वर और सिंहेश्वर थे। चैतन्य अपना अधिकांश समय भक्ति-गीतों, नृत्यों व हर्षोन्मादों में व्यतीत करते थे। १५१४ ई० में वे अनेक अनुयायियों सहित वृन्दावन के लिए रवाना हुए, किन्तु जब तक वे पाणिहाटि और कामारहाटि आए तब तक उनके निकट इतना जन-समुदाय इकट्ठा हो गया कि उन्होंने अपना कार्यक्रम रद्द कर दिया और वे पुरी लौट आए। आगामी वर्ष की शरद-ऋतु में वे बालभद्र भट्टाचार्य के साथ पुनः वृन्दावन के लिए रवाना हुए और बनारस आए, वहाँ उन्होंने वाद-विवाद में प्रकाशचन्द नामक एक

---

[1] सार्वभौम के साथ इस घटना के संबंध में बहुत मतभेद है, संस्कृत के 'चैतन्य-चरितामृत' और 'चैतन्य-चन्द्रोदय-नाटक' कृष्णदास कविराज की बंगला 'चैतन्य-चरितामृत' के यहाँ प्रस्तुत किए गए विवरण से सहमत नहीं हैं।

सुविख्यात उपदेशक को पराजित किया, जो अद्वैतवादी सिद्धांतों को मानते थे। वृन्दावन में उन्होंने श्री रूप गोस्वामी, उद्धवदास माधव व अन्य लोगों से भेंट की। तत्पश्चात् उन्होंने वृन्दावन व मथुरा छोड़ दिए और गंगा-तट से होते हुए इलाहबाद गए। वहाँ वे वल्लभ भट्ट और रघुपति उपाध्याय से मिले और उन्होंने श्रीरूप को सविस्तार धार्मिक उपदेश दिया। बाद में चैतन्य सनातन से मिले और उनको और धार्मिक उपदेश दिया। वे बनारस लौटे, जहाँ उन्होंने प्रकाशानन्द को पढ़ाया, फिर वे पुरी लौट आए और वहाँ कुछ समय बिताया। 'चैतन्य-चरितामृत' में चैतन्य की ईश्वरीय प्रेरणावस्था में उनके हर्षोन्माद का वर्णन करने वाली कई कथाएं कही गई हैं, एक अवसर पर वे हर्षोन्माद की अवस्था में समुद्र में कूद पड़े थे और एक मछुए ने उन्हें बाहर निकाला। परन्तु यह दुर्भाग्य का विषय है कि हमें उनकी मृत्यु के संबंध में ठीक-ठीक पता नहीं है।

चैतन्य का भावावेशवाद

चैतन्य के धार्मिक जीवन में भक्ति के ऐसे अनन्य शारीरिक विकृतिजन्य लक्षण अभिव्यक्त होते हैं जिनकी कदाचित् किसी भी अन्य ज्ञात संत के जीवन में कोई समानता नहीं पाई जाती। सम्भवत: उनकी निकटतम समानता संत फ्रांसिस आफ असिसी के जीवन में पाई जा सकती है, परन्तु चैतन्य का भावना-प्रवाह अधिक आत्म-केन्द्रित व प्रगाढ़ प्रतीत होता है। अपने मार्मिक जीवन के प्रारम्भ में वे न केवल 'कीर्तन' नामक एक विचित्र प्रकार के आत्मोन्मत्त गीति नृत्य में निमग्न रहते थे, वरन् वे पुराणों में कथित कृष्ण के जीवन की विभिन्न घटनाओं का प्राय: अनुकरण भी किया करते थे। किन्तु अपने सन्यास जीवन की परिपक्वता के साथ-साथ उनका उन्माद और कृष्ण के प्रति उनका प्रेम इतना अभिवृद्ध हो गया कि उनमें लगभग पागलपन एवं मिरगी के लक्षण विकसित हो गए। उनके रोम-रन्ध्रों से रक्त चूने लगता, उनके दांत किट-किटाने लगते, उनका शरीर एक क्षण ही में संकुचित हो जाता, और आगामी क्षण में फूलता हुआ प्रतीत होता। वे अपना मुख फर्श पर रगड़ लिया करते और रोने लगते तथा रात्रि में उन्हें नींद नहीं आती थी। एक बार वे समुद्र में कूद पड़े, कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता कि उनकी हड्डियों के जोड़ विस्थापित हो गए हैं, और कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता कि उनका शरीर संकुचित हो गया है। उनके गीतों का एक-मात्र आशय यह था कि उनका हृदय प्रभु कृष्ण के लिए पीड़ित और विदीर्ण हो रहा है। उन्हें रामानन्द राय के स्वप्न, चण्डीदास और विद्यापति की कविताएं, बिल्व-मंगल का 'कृष्ण कर्णामृत' तथा जयदेव के 'गीत-गोविन्द' को पढ़ने में अनुरक्ति थी, इनमें से अधिकांश रत्यात्मक भाषा में कृष्ण-प्रेम के रहस्य-गीत थे। ऐसी हर्षोन्मत्त 'भक्ति' का विवरण हमें 'पुराणों' 'गीता' अथवा भारत के किसी भी अन्य धार्मिक साहित्य में

कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, 'भागवत-पुराण' में निःसन्देह एक दो छन्द हैं जो एक प्रकार से उस 'भक्ति' का पूर्वाभास देते हैं जो हमें चैतन्य के जीवन में दिखाई देती है—परन्तु चैतन्य के जीवन के विना शारीरिक विकृतिजन्य धार्मिक अनुभूति का हमारा भण्डार, धर्म में विशुद्ध भावावेशवाद की एक सबसे अधिक फलदायक उपज से शून्य रहता। चैतन्य ने लगभग कुछ भी नहीं लिखा, उनके उपदेश अल्प थे, और हमारे पास उन परिसंवादों का कोई प्रामाणिक अभिलेख नहीं है जिनमें उन्होंने भाग लिया बतलाते हैं। उन्होंने बहुत कम उपदेश दिए, उनका उपदेश प्रायः उनकी अपनी रहस्यात्मक श्रद्धा एवं कृष्ण-प्रेम के प्रदर्शन में निहित होता था, फिर भी जो प्रभाव उन्होंने अपने समकालीन व्यक्तियों तथा अपनी मृत्यु के पश्चात् की कुछ शताब्दियों पर डाला वह असाधारण था। उनके समय में संस्कृत व बंगला साहित्य को एक नवीन प्रेरणा मिली, और एक अर्थ में बंगाल भक्ति-मय-गीति-काव्य से सिक्त हो गया। उनके जीवन-चरित्-लेखकों द्वारा दिए गए विवरणों से हम जो कुछ संग्रहीत कर सकते हैं उसके अतिरिक्त उनके अपने दर्शन का कोई विवरण देना हमारे लिए कठिन है। जैसाकि हम आगे देखेंगे, उनके सम्प्रदाय के सदस्यों में जीव गोस्वामी और बलदेव विद्याभूषण ही सम्भवतः ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने एक प्रकार के दर्शन का निरूपण करने का प्रयास किया।

चैतन्य के दार्शनिक मत के विषय में 'चैतन्य-चरितामृत' से संग्रह

कृष्णदास कविराज, जिन्हें अन्यथा कविराज गोस्वामी कहते हैं, चैतन्य के समकालीन नहीं थे, किन्तु वे उनके अनेक महत्वपूर्ण अनुयायियों के सम्पर्क में आए इसलिए यह मानना उचित है कि उन्हें उनमें प्रचलित चैतन्य के जीवन की घटनाओं का परम्परागत विवरण उपलब्ध हुआ था। वह पुरी में वासुदेव सार्वभौम के साथ चैतन्य के उस विचार-विमर्श का विवरण देते हैं जिसमें पश्चादुक्त ने अद्वैतवादी मत को खण्डित करने का प्रयास किया था। उक्त मान्य वार्तालाप यह प्रदर्शित करता है कि चैतन्य के अनुसार ब्रह्मन् 'निर्विशेष' नहीं हो सकता, ब्रह्मन् के निर्विशेषत्व को सिद्ध करने का कोई भी प्रयास केवल विपरीत दिशा में उन्मुख होगा, उसके सविशेषत्व को सिद्ध करेगा और इस तथ्य की स्थापना करेगा कि वह सर्व सम्भव शक्तियों से सम्पन्न है। ये शक्तियाँ अपने स्वरूप में तीन प्रकार की होती हैं—'विष्णु-शक्ति' 'क्षेत्रज्ञ-शक्ति' और 'अविद्या-शक्ति'। 'विष्णु-शक्ति' के रूप में प्रथम शक्ति पर पुनः तीन दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है, 'ह्लादिनी,' 'सौधिनी,' और 'संवित'। ये तीनों शक्तियाँ आनन्द, सत् व चित् ईश्वर की 'परा-शक्ति' (अथवा 'विष्णु-शक्ति') में एकत्र रहती हैं। 'क्षेत्रज्ञ-शक्ति' अथवा 'जीव-शक्ति' (जीवात्माओं के रूप में ईश्वर की शक्ति), और 'अविद्या-शक्ति' (जिसके द्वारा जगदाभासों की सृष्टि होती है) ईश्वर के परा पक्ष में

अस्तित्व नहीं रखतीं। वस्तुतः ब्रह्मन् सर्व 'प्राकृत' गुणों से रहित है, किन्तु वह वस्तुतः अप्राकृत गुणों से पूर्ण है। इसी दृष्टिकोण से उपनिषदों ने ब्रह्मन् का 'निर्गुण' (गुण-रहित) के रूप में और सर्व शक्तियों से रहित (निःशक्तिक) सत्ता के रूप में भी वर्णन किया है। जीवात्माएं 'माया-शक्ति' के नियंत्रण में रहती हैं, किन्तु ईश्वर 'माया-शक्ति' का नियन्ता होता है और उसके माध्यम से जीवात्माओं का भी नियंत्रक होता है। ईश्वर अपनी अचिन्त्य शक्तियों से जगत् की सृष्टि करता है और फिर भी स्वयं में अपरिवर्तित रहता है। इस प्रकार जगत् मिथ्या नहीं है, पर, एक सृष्टि होने के कारण नाशवान है। 'ब्रह्म-सूत्र' की शंकरवादी व्याख्या गलत है और उपनिपदों के आशय के अनुरूप नहीं है।

'चैतन्य चरितामृत' की 'मध्य-लीला' के अध्याय ८ में हमें प्रेम के आदर्श की क्रमिक श्रेष्ठता के संबंध में चैतन्य और रामानन्द के मध्य जो प्रसिद्ध वार्तालाप हुआ था वह मिलता है। रामानन्द कहते हैं कि ईश्वर के प्रति भक्ति वर्ण-धर्म के अनुपालन से उत्पन्न होती है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' के अनुसार 'भक्ति' दार्शनिक ज्ञान 'कर्म' अथवा 'वैराग्य' की इच्छा से किसी भी प्रकार से प्रभावित हुए विना तथा अपने स्वार्थ की अभिलापा से सम्वन्धित हुए विना स्वयं को कृष्ण की सेवा-मात्र के लिए उसके प्रति अनुरक्त करने में निहित होती है।[1]

'चैतन्य-चरितामृत' में उद्धृत 'विष्णु-पुराण' इस मत को मानता है कि वर्ण-धर्म एवं आश्रम-धर्म के अनुपालन के द्वारा ही ईश्वर की उपासना की जा सकती है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वर्ण-धर्म व आश्रम-धर्म का ऐसा अनुपालन एक व्यक्ति को 'भक्ति' की प्राप्ति करवा सकता है अथवा नहीं। यदि 'भक्ति' का अर्थ केवल ईश्वर के लिए ही उसकी सेवा करना है (आनुकूल्येन कृष्णानुसेवनम्), तो वर्ण-धर्म का अनुपालन उसकी प्राप्ति की ओर एक अनिवार्य चरण नहीं माना जा सकता, उसका एकमात्र योगदान चित्त की शुद्धि हो सकता है जिसके द्वारा चित्त ईश्वर के अनुग्रह को ग्रहण करने के योग्य वन जाय। रामानंद के इस उत्तर से संतुष्ट न होकर चैतन्य उनसे आग्रह करते हैं कि वे 'भक्ति' की अधिक अच्छी व्याख्या करें। उत्तर में रामा-नंद कहते हैं कि एक और भी उन्नत अवस्था वह होती है जिसमें भक्त अपने सर्व धर्म-पालन में ईश्वर के प्रति अपने सकल स्वार्थों का त्याग कर देता है, किन्तु एक और भी अधिक उन्नत अवस्था होती है जिसमें एक व्यक्ति अपने ईश्वर-प्रेम के द्वारा अपने

---

[1] अन्याभिलापिताशून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुसेवनं भक्तिरुत्तमा।

—'भक्तिरसामृत-सिन्धु' १·१·६।

सर्व धर्मों का त्याग कर देता है। जब तक एक व्यक्ति स्वयं अपने लाभ के संबंध के सर्व विचारों का परित्याग नहीं कर सकता, तबतक वह प्रेम-मार्ग में अग्रसर नहीं हो सकता। आगामी उन्नत अवस्था वह है जिसमें भक्ति ज्ञान से अभिसिंचित हो जाती है। किन्तु, विशुद्ध भक्ति में ज्ञान का कोई भी अवरोधक प्रभाव नहीं होना चाहिए, दार्शनिक ज्ञान और कोरा वैराग्य भक्ति के मार्ग में बाधक होते हैं। ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान और मानव व ईश्वर के घनिष्ट संबंध का ज्ञान भक्ति के लिए अबाधक माना जा सकता है। हमारे मन की ईश्वर के प्रति सहज एवं अनन्य आसक्ति ही 'प्रेम-भक्ति' कहलाती है, वह पाँच प्रकार की होती है—'शान्त' (शान्त प्रेम) 'दास्य' (ईश्वर का सेवक) 'सख्य (ईश्वर से मित्रता),' 'वात्सल्य' (ईश्वर के प्रति ममता) और 'माधुर्य' (मधुर प्रेम, अथवा प्रेमी के रूप में ईश्वर का प्रेम)। अतः विभिन्न प्रकार के प्रेम श्रेष्ठता के क्रम में उपरोक्त विधि से व्यवस्थित किए जा सकते हैं, वस्तुतः अपने पति अथवा प्रेमी के रूप में ईश्वर का प्रेम उच्चतम होता है। वृन्दावन में कृष्ण की प्रेम-कथाओं में गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम, और विशेषतः राधा का कृष्ण के प्रति प्रेम इस उच्चतम प्रेम का प्रतिरूप है। रामानंद अपना सम्भाषण इस कथन से समाप्त करते हैं कि प्रेम के उच्चतम शिखर पर प्रेमी और प्रेमिका एकत्व में विलीन हो जाते हैं, तथा उन दोनों के माध्यम से प्रेम की एक अद्वितीय अभिव्यक्ति फलीभूत होती है। जब प्रेमी और प्रेमिका प्रेम के मधुर दुग्ध-प्रवाह में अपना व्यक्तित्व खो बैठते हैं तब प्रेम अपने उच्चतम स्वरमान को प्राप्त कर लेता है।

बाद में, 'मध्य लीला,' अध्याय २९ में 'शुद्ध भक्ति' के स्वरूप की व्याख्या करते हुए चैतन्य कहते हैं कि शुद्ध भक्ति वह होती है जिसमें भक्त सर्व कामनाओं सर्व औपचारिक उपासना, सर्व ज्ञान व कर्म का परित्याग कर देता है और अपनी सर्व इन्द्रिय-शक्तियों से कृष्ण के प्रति आसक्त हो जाता है। एक सच्चा भक्त ईश्वर से कुछ भी नहीं चाहता, किन्तु केवल उसे प्रेम करने से संतुष्ट रहता है। उसमें मानवी प्रेम के समरूप ही लक्षणों का प्रदर्शन होता है, जो श्रेष्ठता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं।

'मध्य-लीला' के अध्याय २२ में यह कहा गया है कि भक्ति की तीव्रता की भिन्नता भावावेश की प्रगाढ़ता की भिन्नता पर निर्भर करती है। जो व्यक्ति कृष्ण का भक्त होता है उसमें प्रारम्भिक नैतिक गुण होने चाहिए, उसे दयालु, सत्यवक्ता, सबके प्रति समान, अहिंसक, उदार-चित्त, कोमल, विशुद्ध, निःस्वार्थी, अपने व अन्य व्यक्तियों के प्रति शान्तिमय होना चाहिए, उसे परोपकारी होना चाहिए, कृष्ण को अपना एकमात्र आश्रय मान कर उसी पर आधारित रहना चाहिए, किन्हीं अन्य इच्छाओं

में आसक्त नहीं होना चाहिए, कृष्ण की उपासना करने के प्रयत्न के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए, स्थिर रहना चाहिए अपनी सर्व वासनाओं को पूर्ण वश में रखना चाहिए, उसे असावधान नहीं रहना चाहिए, अन्य व्यक्तियों का आदर करने के लिए तत्पर रहना चाहिए, नम्रता से पूर्ण होना चाहिए, सर्व दुःखों को धैर्यपूर्वक सहन करने के लिए तत्पर रहना चाहिए, उसे अन्य सच्चे भक्तों के साहचर्य में आसक्त रहना चाहिए—ऐसे मार्ग से ही उसमें कृष्ण-प्रेम का क्रमशः उदय होगा। एक सच्चे वैष्णव को स्त्रियों तथा उन सभी वस्तुओं का साथ त्याग देना चाहिए जो कृष्ण के प्रति आसक्त नहीं हैं। उसे वर्ण-धर्म एवं आश्रम-धर्म का परित्याग कर असहाय अवस्था में कृष्ण पर आश्रित रहना चाहिए। कृष्ण पर आश्रित रहना और उसके प्रति आत्म-समर्पण करना एक वैष्णव का चरम धर्म है। कृष्ण-प्रेम एक मनुष्य के हृदय में जन्मजात होता है, तथा वह उत्तेजक अवस्थाओं में अभिव्यक्त होता है। ईश्वर-प्रेम ईश्वर की 'ह्लादिनी' शक्ति की अभिव्यक्ति होता है, और चूंकि वह जीवात्माओं का एक संघटक तत्व होता है इसलिए ईश्वर के प्रति जीवात्माओं का आकर्षण मानव-जीवन का एक मूलभूत तथ्य है, वह कुछ काल तक गुप्त रह सकता है, किन्तु वह उपयुक्त अवस्थाओं में जाग्रत होकर रहता है।

जीवात्माएं ईश्वर की ह्लादिनी और 'संवित' शक्ति दोनों की अंशभागी होती हैं, तथा 'माया-शक्ति' जड़ पदार्थ में अभिव्यक्त होती हैं। इन दो शक्ति-समुदायों के मध्य में होने के कारण जीवात्माएं 'तटस्थ-शक्ति' कहलाती हैं। एक जीवात्मा एक ओर जड़ शक्तियों व आकर्षणों से प्रवृत्त होती है, और ईश्वर की 'ह्लादिनी-शक्ति' से वह ऊपर की ओर प्रेरित होती है। इसलिए एक मनुष्य को ऐसा पथ ग्रहण करना चाहिए कि जड़ात्मक आकर्षणों एवं इच्छाओं की शक्ति क्रमशः घट जाय, जिसके फलस्वरूप वह ईश्वर की 'ह्लादिनी-शक्ति' के द्वारा आगे आकर्षित हो सके।

चैतन्य के कुछ साथी

चैतन्य के एक अति प्रियपात्र नित्यानंद थे। उनके जन्म और मृत्यु की यथार्थ तिथि का पता लगाना कठिन है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे चैतन्य से कुछ वर्ष बड़े थे। वह जाति के ब्राह्मण थे, परन्तु 'अवधूत' बन जाने के कारण जाति-भेद नहीं मानते थे। वह चैतन्य के दूत थे जो पुरी में चैतन्य की अनुपस्थिति में बंगाल में वैष्णव धर्म का प्रचार करते थे, कहा जाता है कि उन्होंने बंगाल के अनेक बौद्धों व निम्न जाति के हिन्दुओं को वैष्णववाद में संपरिवर्तित किया। जीवन की प्रौढ़ावस्था में नित्यानन्द ने संन्यास-व्रत को तोड़ दिया और कलना के गौरदास

सर्खेल के भाई सूरजदास सर्खेल की दो कन्याओं से विवाह कर लिया, ये दो पत्नियां वसुधा और जाह्नवी थीं। नित्यानन्द के पुत्र वीरचन्द जिन्हें वीरभद्र भी कहते हैं, वैष्णव इतिहास के उत्तरवर्ती काल में एक प्रमुख विद्वान् हुए।

प्रतापरुद्र पुरुषोत्तमदेव के पुत्र थे, जो १४७८ में सिंहासनारूढ़ हुए और प्रतापरुद्र स्वयं १५०३ में सिंहासनारूढ़ हुए। वे बहुत विद्वान् थे और साहित्यिक विवादों में रुचि लेते थे। अपने ग्रन्थ 'उड़ीसा का इतिहास' (१८९१ में प्रकाशित) में श्री स्टर्लिंग उनके संबंध में कहते हैं कि उन्होंने अपनी सेना लेकर रामेश्वरम् पर चढ़ाई कर दी थी और विजनगर नामक प्रसिद्ध नगर को ले लिया, उन्होंने मुसलमानों से भी युद्ध किया था और उन्हें पुरी पर आक्रमण करने से रोका। पुरी में चैतन्य के कार्यों की तिथि मुख्यतः १५१६ और १५३३ के मध्य में पड़ती है। रामानन्द राय प्रतापरुद्र के एक मंत्री थे, और उनकी मध्यस्थता से चैतन्य प्रतापरुद्र के सम्पर्क में आए जो उनके एक अनुयायी हो गए। प्रतापरुद्र के संपरिवर्तन सहित चैतन्य की प्रतिष्ठा ने उड़ीसा के जन समुदाय पर एक गम्भीर प्रभाव डाला और इसके फलस्वरूप वहाँ वैष्णववाद का महत्वपूर्ण प्रचार एवं बौद्ध-धर्म का क्षय हुआ।

चैतन्य के काल में हुसेनशाह गौड़ के नवाब थे। इस्लाम में संपरिवर्तित दो ब्राह्मण, जिनके सकर मलिक और दबिर खास मुसलमानी नाम थे, उनके दो उच्च अधिकारी थे, उन्होंने चैतन्य को रामकेलि में देखा था और वे उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए थे। पीछे अपनी समस्त संपत्ति उन्होंने निर्धनों में बांट दी और सन्यासी होकर वे सनातन और रूप नाम से विख्यात हुए, कहा जाता है कि रूप चैतन्य से बनारस में मिले, जहाँ उन्हें उनसे उपदेश मिला, उन्होंने अनेक मूल्यवान संस्कृत रचनाएं लिखीं, यथा—'ललित माधव' 'विदग्धमाधव' 'उज्जवल-नीलमणि,' 'उत्कलिका-वल्लरी' (१५५० में लिखित) 'उद्धव-दूत' 'उपदेशामृत' 'कार्पण्य-पुंजिका,' 'गंङ्गाष्टक' 'गोविन्द-विरुदावली' 'गौराङ्गकल्पतरु' चैतन्याष्टक, दान केलि कौमुदी, नाटक चंद्रिका, 'पद्यावली,' 'परमार्थ-संदर्भ,' 'प्रीति-संदर्भ,' 'प्रेमेन्दु सागर,' 'मथुरा-महिमा,' 'मुकुन्द-मुक्ता-रत्नावली-स्तोत्र-टीका,' 'यामुनाष्टक,' 'रसामृत' 'विलाप कुसुमांजलि,' 'व्रज-विलासस्तव,' 'शिक्षादशक,' 'संक्षेप भागवतामृत,' 'साधन-पद्धति' 'स्तवमाला' 'हंसदूत-काव्य,' 'हरिनामामृत-व्याकरण' 'हरेकृष्ण-महामन्त्रार्थ-निरूपण,' 'चन्द्रोष्टादशक'।

सनातन ने निम्नलिखित रचनाएं लिखीं—'उज्ज्वल–रस–कथा' 'उज्ज्वल-नीलमणि-टीका,' 'भक्ति-विन्दु,' 'भक्ति-संदर्भ,' 'भागवत-क्रम-संदर्भ,' 'भागवतामृत' 'योग-शतक-व्याख्यान,' 'विष्णु-तोषिणी,' 'हरिभक्ति-विलास,' भक्ति-रसामृत-सिन्धु। जब हुसैन शाह ने यह सुना कि सनातन उन्हें छोड़ देने का विचार कर रहे हैं, तब उन्होंने उन्हें कारागार में डाल दिया, परन्तु सनातन ने कारागार के अध्यक्ष को

घूंस दे दी, जिसने उन्हें मुक्त कर दिया। उन्होंने तुरन्त गंगा पार कर सन्यास-जीवन ग्रहण कर लिया, और अपने भाई रूप से भेंट करने के लिए मथुरा गए, तथा चैतन्य से भेंट करने हेतु पुरी लौटे। पुरी में कुछ माह तक रह कर वह वृन्दावन गए। इस बीच रूप भी पुरी चले गए थे और वह भी वृन्दावन लौट आए। यह दोनों महान् भक्त थे और उन्होंने अपना जीवन कृष्ण की उपासना में व्यतीत किया।

अद्वैताचार्य का वास्तविक नाम कमलाकर भट्टाचार्य था। उनका जन्म १४३४ में हुआ था, और इस प्रकार वह चैतन्य से बावन वर्ष बड़े थे, वह संस्कृत के बहुत बड़े पण्डित थे और शान्तिपुर में निवास करते थे। वह अपना अध्ययन समाप्त करने के लिए नवद्वीप गए। इस समय लोग बहुत जड़वादी बन गए थे, अद्वैत इस पर बहुत दुःखी थे, और अपने मन में उनके मानस-परिवर्तन के लिए किसी महान् शक्ति के उदय के लिए प्रार्थना करते थे। सन्यास-ग्रहण करने के पश्चात् चैतन्य शान्तिपुर में अद्वैत के यहाँ गए थे, जहाँ दोनों हर्षोन्माद युक्त नृत्यों का आनन्द लेते थे, उस समय अद्वैत लगभग पचहत्तर वर्ष के थे। कहा जाता है कि चैतन्य से भेंट करने के लिए पुरी गए थे। कुछ विद्वानों के अनुसार अद्वैत १५३९ में परलोकवासी हुए थे, तथा अन्य विद्वानों के अनुसार १५८४ में (जो अविश्वसनीय है)।

अद्वैत और नित्यानन्द के अतिरिक्त चैतन्य के अनेक अन्य साथी थे जिनमें एक श्रीवास अथवा श्रीनिवास थे। यह सिलहट के एक ब्राह्मण थे जो नवद्वीप में आकर बस गए थे और यथेष्ठ धनाढ्य थे। उनकी ठीक-ठीक जन्म-तिथि बताना सम्भव नहीं है, किन्तु १५४० से बहुत पूर्व उनकी मृत्यु हो चुकी थी (जब जयानंद ने अपना 'चैतन्य-मंगल' लिखा)। संभवतः जिस समय चैतन्य का जन्म हुआ वह चालीस वर्ष के थे। बालक चैतन्य श्रीवास के घर बहुधा जाया करते थे। यद्यपि अपने प्रारम्भिक जीवन में वह न्यूनाधिक आस्था-रहित थे तथापि 'भागवत' के अध्ययन के प्रति अनुरक्त थे। नवद्वीप में रहते समय अद्वैत के निरंतर साथी थे। जब गया से लौटने पर चैतन्य का मन ईश्वरोन्मुखी हुआ, तब श्रीवास का घर हर्षोन्माद युक्त नृत्यों की रंगभूमि बन गया। इसके उपरांत श्रीवास चैतन्य के एक महान् शिष्य बन गए। चैतन्य के जीवन-कथाकार, वृन्दावनदास की माता नारायणी श्रीवास की एक भतीजी थी।

प्रतापरुद्र के मंत्री एवं 'जगन्नाथ-वल्लभ' के लेखक रामानन्दराय की चैतन्य अत्यधिक प्रशंसा करते थे। वे मध्य भारत में विद्यानगर के मूल-निवासी थे। 'चैतन्य-चरितामृत' में वर्णित प्रसिद्ध वार्तालाप प्रदर्शित करता है कि कैसे स्वयं चैतन्य ने परा भक्ति के संबंध में रामानन्द से शिक्षा ली। अपनी ओर से रामा-नंद राय भी चैतन्य के प्रति बहुत आसक्त थे और प्रायः उनके साथ समय व्यतीत करते थे।

अध्याय २३

चैतन्य के अनुयायी जीव गोस्वामी व बलदेव विद्याभूषरा का दर्शन

तत्व-मीमांसा

जीव गोस्वामी चैतन्य के तुरन्त पश्चात् सम्पन्नता को प्राप्त हुए थे। उन्होंने 'भागवत-पुराण' पर एक टीका लिखी जो उनके प्रमुख ग्रन्थ 'षट्-संदर्भ' का द्वितीय अध्याय (भागवत-संदर्भ) है। इस अध्याय में वे कहते हैं कि जब महान् ऋषि अपना परम तत्व से तादात्म्यीकरण करते हैं तब उनके मन प्रभु की विविध शक्तियों की अनुभूति करने में असमर्थ रहते हैं। उस समय प्रभु का स्वरूप एक सामान्य रूप में लक्षित होता है (सामान्येन लक्षितं तथैव स्फुरत्, पृ० ५०), और उस अवस्था में ब्रह्मन् की शक्तियाँ उससे भिन्न प्रत्यक्ष नहीं की जाती। परम तत्व अपनी स्वरूप शक्ति (स्वरूपास्थितया एव शक्त्या) के कारण अपनी अन्य सर्व शक्तियों का मूलाश्रय बन जाता है (परासामपि शक्तिनां मूलाश्रयरूपम्), और भक्ति-भाव के द्वारा भक्तों को विभिन्न शक्तियों का स्वामी प्रतीत होता है, तब वह भगवान् कहलाता है। विशुद्ध आनन्द तो विशेष्य है, और अन्य समस्त शक्तियाँ उसकी विशेषण होती है, अन्य समस्त शक्तियों से विशिष्ट होने पर वह 'भगवान' कहा जाता है।[1] इस प्रकार ब्रह्मन् का प्रत्यय भगवान द्वारा निर्दिष्ट सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आँशिक अभिव्यक्ति होता है, यही भगवान सर्व प्राणियों व उनकी गतिविधियों के नियंत्रक के पक्ष में परमात्मन् के रूप में अभिव्यक्त होता है। ब्रह्मन्, भगवान् व परमात्मन् के तीन नामों का प्रयोग पूर्ण मिश्रित अर्थ के विभिन्न पक्षों पर जो बल दिया जाता है उसके अनुसार किया जाता है, इस प्रकार ज्यों-ज्यों ईश्वर के एक विशेष पक्ष का आविर्भाव उपासक के अनुभव में होता है, वह उसे ब्रह्मन्, भगवान अथवा परमात्मन् के नाम से संबंधित कर लेता है।[2]

---

[1] आनन्द-मात्रं विशेष्यं समस्ताः शक्तयः विशेषणानि विशिष्टो भगवान्।

—षट्-संदर्भ, पृ० ५०।

[2] तत्रैकस्यैव विशेषण-भेदेन तदविशिष्टत्वेन च प्रतिपादनात् तथैव तत्-तदुपासक-पुरुषानुभव-भेदाच्च आविर्भाव-नाम्नोर्भेदः।

—वही, पृ० ५३।

ब्रह्मन् पक्ष की अनुभूति तब होती है जब उपासक के मन के सम्मुख विशिष्ट गुणों एवं शक्तियों का आविर्भाव नहीं होता। उपासक के आत्मस्वरूप के रूप में शुद्ध चैतन्य का बोध करने में शुद्ध चैतन्य के रूप में ब्रह्मन् का बोध भी हो जाता है, आत्म-स्वरूप के ब्रह्मन् के साथ तादात्म्य का बोध विशेष भक्ति-साधना के द्वारा उदित होता है।[1] शंकर द्वारा व्याख्या किए गए वेदांत के अद्वैतवादी सम्प्रदाय के अनुसार आत्मन् का ब्रह्मन् से तादात्म्य 'तत् त्वमसि' नामक वेदान्त महावाक्य के उपदेश के द्वारा उदित होता है। किन्तु यहाँ तादात्म्य भक्ति-साधना अथवा उससे उत्पन्न ईश्वरानुग्रह के द्वारा आविर्भूत होता है।

भगवान का धाम 'वैकुण्ठ' कहा जाता है। इस शब्द की दो व्याख्याएं हैं, एक अर्थ में वह 'माया' से आवृत्त ब्रह्मन् से स्वरूप से एकरूप कहा जाता है,[2] अन्य व्याख्या में वह एक ऐसी सत्ता कहा जाता है जो न तो 'रजस्' एवं 'तमस्' की अभिव्यक्ति है, और न 'रजस्' व 'तमस्' से संबंधित जड़ 'सत्व' की। भगवान की स्वरूप शक्ति की अभिव्यक्ति होने के कारण अथवा शुद्ध 'सत्व' के रूप में उसे एक भिन्न द्रव्य से युक्त माना जाता है। यह शुद्ध 'सत्व' सांख्यवादियों के जड़ 'सत्व' से भिन्न होता है, जो 'रजस्' व 'तमस्' से संबंधित होता है, और इस कारण से उसे 'अप्राकृत' अर्थात् 'प्राकृत' से परे माना जाता है। इसी कारण उसे नित्य एवं अपरिवर्तनशील माना जाता है।[3] साधारण 'गुण' जैसे—'सत्व,' 'रजस्' और 'तमस्' 'काल-शक्ति' की प्रक्रिया से उत्पन्न होते हैं, किन्तु 'सत्व-वैकुण्ठ' 'काल' के नियंत्रण में नहीं होता।[4]

---

[1] वही, पृ० ५४। ननु सूक्ष्म-चिद्-रूपत्वं पदार्थानुभवे कथं पूर्ण-चिदाकार-रूप-मदीय-ब्रह्म-स्वरूपं स्फुरतु तत्राह, अनन्यबोध्यात्मतया चिदाकारता-साम्येन शुद्धत्वं पदार्थैक्य-बोध्य-स्वरूपतया। यद्यपि तादृगात्मानुभवानन्तरं तदनन्य-बोध्यता-कृतौ साधक-शक्तिर्नास्ति तथापि पूर्वं तदर्थमेव कृतया सर्वत्राऽपि उपजीव्यया साधन-भक्त्या आराधितस्य श्रीभगवतः प्रभावादेव तदपि तत्रोदयते। —वही, पृ० ५४।

[2] यतो वैकुण्ठात् परं ब्रह्माख्यं तत्त्वं परं भिन्नं न भवति। स्वरूप-शक्ति-विशेषाविष्कारेण मायया नावृतं तदेव तद्-रूपम्। —वही, पृ० ५७।

[3] यत्र वैकुण्ठे रजस् तमश्च न प्रवर्तते। तयोर्मिश्रं सहचरं जड़ं यत् सत्वं न तदपि। किन्तु अन्यदेव तच्च या सुष्ठु स्थापयिष्यमाणा।
मायातः परा भगवत्-स्वरूप-शक्तिः तस्याः
वृत्तित्वेन चिद्-रूपं शुद्ध—सत्वाख्यं सत्त्वम्। —वही, पृ० ५८।

[4] यह मत कि 'गुणों का विकास' 'काल' की गति से होता है, सांख्य के साधारण प्राचीन मत में स्वीकार नहीं किया जाता, पर वह 'पंचरात्र' सम्प्रदाय का एक सिद्धान्त है।

इस प्रकार 'वैकुण्ठ' किन्हीं गुणों से रहित होने के कारण एक अर्थ में निर्विशेष (भेदरहित) माना जा सकता है, किन्तु एक अन्य अर्थ में यह कहा जा सकता है कि उसमें भी भेद का अस्तित्व होता है, यद्यपि वे केवल शुद्ध 'सत्व' अथवा ईश्वर की स्वरूप-शक्ति के रूप के हो सकते हैं।[1]

'स्वरूप-शक्ति' और 'मायाशक्ति' परस्पर विरुद्ध होती हैं, तथापि वे दोनों ईश्वर में धारण की जाती हैं।[2] ईश्वर की शक्ति एक साथ ही 'स्वाभाविक' और 'अचिन्त्य' होती है। आगे यह आग्रह किया जाता है कि साधारण जगत् में भी वस्तुओं की शक्तियाँ अचिन्त्य होती हैं, अर्थात् न तो उनका वस्तुओं के स्वरूप से निगमन किया जा सकता है, और न उनका साक्षात् प्रत्यक्ष किया जा सकता है, किन्तु उनको मानना पड़ता है क्योंकि ऐसी मान्यता के विना कार्य की व्याख्या सम्भव नहीं होगी। 'अचित्य' शब्द का यह भी अर्थ होता है कि यह कहना कठिन है कि शक्ति द्रव्य से एक रूप है अथवा वह उससे भिन्न है, एक ओर तो शक्ति को द्रव्य से बाह्य नहीं माना जा सकता तथा दूसरी ओर यदि वह उससे एक रूप होती तो कोई परिवर्तन, कोई गति, कोई कार्य नहीं हो सकता था। द्रव्य का प्रत्यक्ष किया जाता है। परन्तु शक्ति का नहीं, किन्तु, चूंकि एक कार्य अथवा एक परिवर्तन उत्पन्न होता है इसलिए उपपत्ति यह होती है कि द्रव्य ने अपनी शक्ति अथवा शक्तियों के माध्यम से व्यापार किया होगा। इस प्रकार, द्रव्य में स्थित शक्तियों के अस्तित्व को तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु एक उपपत्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है।[3] ब्रह्मन् के संबंध में भी ऐसा ही होता है, उसकी शक्तियाँ उसके स्वरूप से एकरूप होती हैं, अतएव उससे सह-नित्य होता है। 'अचिन्त्यत्व' को प्रत्यय प्रत्यक्षतः विरुद्ध प्रत्ययों का सामंजस्य करने के हेतु प्रयुक्त किया जाता है (दुर्घट-घटकत्वं ह्यचिन्त्यत्वम्)। 'अन्तरंग-स्वरूप-शक्ति' ब्रह्मन् के स्वरूप में स्थित रहती है (स्वरूपेण) तथा 'वैकुण्ठ' आदि नामों से सूचित उसकी विविध अभिव्यक्तियों के रूप में भी स्थित रहती है (वैकुण्ठादि-स्वरूप-वैभव-रूपेण)।[4] द्वितीय शक्ति (तटस्थ शक्ति) का प्रतिनिधित्व

---

[1] ननु गुणाद्यभावान् निर्विशेष एवासौ लोक इत्याशंक्य तत्र विशेषस्तस्याः शुद्ध सत्त्वात्मिकायाः स्वरूपानतिरिक्त–शक्तिरेव विलास–रूप इति।

—षट्-संदर्भ, पृ० ५६।

[2] ते च स्वरूप शक्ति माया शक्ति परस्पर–विरुद्धे तथा तयोर्वृत्तयः स्व-स्व-गण एवं परस्परा-विरुद्धा अपि बह्वयः तथापि तासामेकं निधानं तदेव। —वही, पृ० ६१।

[3] लोके हि सर्वेषां भावानां मणि-मन्त्रादीनां शक्तयः अचिन्त्य-ज्ञान-गोचराः अचिन्त्यं तर्कसहं यज्ज्ञानं कार्यान्यथानुपपत्ति-प्रमाणकं तस्य गोचराः सन्ति।

—वही, पृ० ६३–४।

[4] वही, पृ० ६५।

शुद्ध जीवात्माओं द्वारा किया जाता है। तृतीय शक्ति (वहिरंग-माया-शक्ति) का सर्व ब्रह्माण्डीय पदार्थों के विकास-क्रम एवं उनकी मूल 'प्रधान' के द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता है। यहाँ सूर्य, उसकी किरणें और परावर्तन के फलस्वरूप अभिव्यक्त विभिन्न रंगों के सादृश्य को प्रस्तुत किया जाता है। 'माया' की बाह्य शक्ति (वहिरंग शक्ति) जीवों को प्रभावित कर सकती है किन्तु ब्रह्मन् को नहीं।

'माया' की 'भागवत' (श्रीधर की व्याख्या के अनुसार) में इस रूप में परिभाषा दी जाती है कि वह किसी भी विषय के बिना अभिव्यक्त होती है और फिर भी मिथ्या प्रतिबिम्ब की भांति वह अपने स्वरूप में प्रत्यक्ष नहीं की जा सकती।[१] इसकी 'भागवत्-संदर्भ' में एक भिन्न रूप में व्याख्या की गई है, जहाँ यह कहा गया है कि 'माया' वह है जो परम सत्ता अथवा ब्रह्मन् के बाहर प्रतीत होती है, और ब्रह्म-प्राप्ति के पश्चात् जिसका आभास समाप्त हो जाता है। अपने स्वरूप में उसका कोई आभास नहीं होता, अर्थात् ब्रह्मन् के आश्रय के बिना वह अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर सकती, इस प्रकार वह 'जीव-माया' और 'गुण-माया' इन दो रूपों में ब्रह्मन् से संबंधित रहती है। जिस 'आभास' के सादृश्य की श्रीधर द्वारा 'मिथ्या प्रतिबिम्ब' के रूप में व्याख्या की गई थी उसकी यहाँ सूर्य-मण्डल के बाहर से सूर्य के प्रकाश के परावर्तन के रूप में व्याख्या की जाती है। सूर्य के प्रकाश का अस्तित्व सूर्य-मण्डल के आश्रय के बिना नहीं हो सकता। किन्तु यद्यपि ऐसा नहीं होता, तथापि सूर्य के प्रकाश का स्वतंत्र कार्य हो सकता है और वह प्रतिबिम्बित अथवा परावर्तित होने पर मण्डल के बाहर क्रीड़ा कर सकता है, जैसे, वह एक मनुष्य की आँखों को चकाचौंध कर सकता है, और उन्हें अपने यथार्थ स्वरूप के प्रति अंधा बना सकता है, तथा स्वयं को विविध रंगों में अभिव्यक्त कर सकता है। इसी प्रकार तम का सादृश्य यह प्रदर्शित करता है कि यद्यपि जहाँ प्रकाश होता है वहाँ तम का अस्तित्व नहीं हो सकता, तथापि वह स्वयं नेत्रों के प्रकाश के बिना प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। 'प्रकृति' और उसके विकार केवल अभिव्यक्तियाँ अथवा आभास मात्र हैं, जिनकी 'माया' की शक्ति के द्वारा ब्रह्मन् के बाहर सृष्टि की जाती है, 'माया' की प्रक्रिया 'प्राण' 'मनस्' व इन्द्रियों के व्यापार तथा शरीर इस कारण सम्भव होते हैं वे कि ईश्वर की मौलिक 'स्वरूप-शक्ति' से परि-व्याप्त होते हैं।[२] जिस प्रकार एक लोहे का टुकड़ा, जो अग्नि से अपनी उष्णता प्राप्त करता है, स्वयं उस अग्नि को जला अथवा किसी रूप में प्रभावित नहीं कर सकता, उसी प्रकार 'माया' एवं उसके आभास, जो ईश्वर की स्वरूप-शक्ति से अपना

तत्त्व प्राप्त करते हैं, स्वयं ईश्वर अथवा उसकी स्वरूप-शक्ति को किसी भी रूप में प्रभावित नहीं कर सकते।

'जीव' शरीर को ज्ञात कर सकते हैं, किन्तु वे परम तत्त्व एवं सर्व वस्तुओं के चरम द्रष्टा को ज्ञात नहीं कर सकते। 'माया' के द्वारा ही विभिन्न वस्तुएं एक आभासी स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं, और जीवों के द्वारा ज्ञात की जाती हैं, किन्तु ब्रह्मन् का यथार्थ व अनिवार्य स्वरूप सर्व वस्तुओं में सदा एक-रूप रहता है, और, चूंकि उस अवस्था में कोई द्वैत नहीं होता है इसलिए कुछ भी ज्ञेय नहीं होता है और न ही उससे पृथक् कोई रूप होता है। जो परम तत्त्व सर्व वस्तुओं को अभिव्यक्त करता है वह स्वयं को भी अभिव्यक्त करता है—वह्नि की उष्ण रश्मियां जो अपना अस्तित्व वह्नि से प्राप्त करती हैं, वे स्वयं वह्नि को नहीं जला सकतीं।[1] 'गुण,' 'सत्व,' 'रजस्' व 'तमस्'—'जीव' में स्थित रहते हैं, न कि ब्रह्मन् में, इसी कारण से, जब तक 'जीव' 'माया' की शक्ति से अज्ञान में रहते हैं, तब तक द्वैत का आभास होता है, जो ज्ञाता एवं ज्ञेय के आभास को भी उत्पन्न करता है। पुनः 'माया' दो प्रकार की कही गई है, 'गुण-माया' जो 'जड़ात्मिका' होती है, और 'आत्म-माया' जो ईश्वर की शक्ति होती है। 'जीव-माया' का प्रत्यय भी होता है, जो पुनः तीन प्रकार की होती है—सृजनात्मक (भू), रक्षात्मक (श्री) और विनाशात्मक (दुर्गा)। 'आत्म-माया' ईश्वर की 'स्वरूप-शक्ति' होती है।[2] एक अन्य अर्थ में 'माया' को तीन 'गुणों' से निर्मित माना जाता है। 'योग-माया' शब्द के भी दो अर्थ होते हैं—जब उसका प्रयोग योगियों अथवा ऋषियों की शक्ति के अर्थ में किया जाता है तब उसका अर्थ योगाभ्यास से प्राप्त चमत्कार पूर्ण शक्ति होता है, जब उसका ईश्वर (परमेश्वर) के लिए प्रयोग किया जाता है, तब उसका अर्थ शुद्ध चैतन्य के रूप में उसकी चिच्छक्ति की अभिव्यक्ति होता है (चिच्छक्ति विलास)। जब 'माया' का प्रयोग 'आत्म-माया' अथवा स्वयं परमेश्वर की 'माया' के रूप में किया जाता है, तब उसके तीन अर्थ होते हैं, अर्थात् उसकी 'स्वरूप-शक्ति' ज्ञान व क्रिया से समाविष्ट उसकी इच्छा (ज्ञान-किए), तथा चैतन्य के रूप में उसकी शक्ति का विलास (चिच्छक्ति-विलास)।[3] इस प्रकार, 'वैकुण्ठ' में

---

[1] स्वरूप-वैभवे तस्य जीवस्य रश्मि—स्थानीयस्य मण्डलस्थानीयो य आत्मा परमात्मा स एव स्वरूप-शक्त्या सर्वमभूत, 'अनादित एव भवन्नास्ते, न तु तत् प्रवेशेन, तत्तत्र इतरः स जीवः केनेतरेण करण-भूतेन कं पदार्थं पश्येत्, न केनापि कमपि पश्येतित्यर्थः, नहि रश्मयः स्वशक्त्या सूर्य-मण्डलान्तरगत—वैभवं प्रकाशयेयुः, न चार्चिषो वह्निं निर्दहेयुः। —षट्-सन्दर्भ, पृ० ७१।

[2] मीयते अनया इति माया-शब्देन शक्ति मात्रमपि भण्यते। —वही, पृ० ७२।

[3] वही, पृ० ७३–४।

कोई 'माया' नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं 'माया' अथवा 'स्वरूप-शक्ति' के रूप का होता है, इस प्रकार 'वैकुण्ठ' मोक्ष से एक-रूप होता है।

जब एक बार यह स्वीकार कर लिया जाता है कि परमेश्वर की अचिन्त्य शक्ति समस्त विरोध-ग्रस्त दृश्य-घटनाओं की व्याख्या कर सकती है, तथा 'योग-माया' के द्वारा परमेश्वर किसी भी रूप, आभास अथवा दृश्य-घटना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति कर सकता है, तब गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णवों के लिए उक्त प्रत्यय को धर्मशास्त्रीय उपयोग में लाना सरल हो गया। उन्होंने परमेश्वर और उसकी शक्तियों के तत्त्वमीमांसात्मक प्रत्यय को अवैष्णव स्वरूप की उपेक्षा करके, उक्त तत्त्वमीमांसात्मक सूत्र के विस्तार द्वारा 'भागवत' में वर्णित वृन्दावन के कृष्ण की जीवन-घटनाओं के धर्मशास्त्रीय स्वरूप में अपने धार्मिक विश्वास की प्रतिरक्षा करने का प्रयास किया। इस प्रकार वे मानते थे कि अपने शरीर एवं वस्त्र व आभूषण आदि सहित कृष्ण, 'गोपियाँ' जिनके साथ वे रास-लीला करते थे, और यहाँ तक कि वृन्दावन की गौएं और वृक्ष भी सीमित रूपों में भौतिक अस्तित्व रखते हुए भी उसी काल में परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में असीम और आध्यात्मिक होते हैं। वैष्णव किसी भी विरोध से नहीं डरते थे, क्योंकि चातुर्य से आविष्कृत तत्त्वमीमांसात्मक सूत्र के अनुसार परमेश्वर की शक्ति का तार्कातीत स्वरूप ऐसा था कि उसके द्वारा वह सभी प्रकार के सीमित रूपों में स्वयं को अभिव्यक्त कर सकता था, और फिर भी शुद्ध आनन्द व चित् के रूप में अपने चरम स्वरूप में स्थित रह सकता था। विरोध केवल आभासी है, क्योंकि स्वयं इस मान्यता से ही कि, परमेश्वर की शक्ति तर्कातीत है, सीमित के असीम से, सान्त के अनन्त से तादात्म्यीकरण की कठिनाई हल हो जाती है।[1] 'षट्-संदर्भ' का लेखक यह सिद्ध करने के लिए अत्यधिक परिश्रम करता है कि 'भागवत-पुराण' में वर्णित कृष्ण का आभासी भौतिक रूप ब्रह्मन् से एकरूप है। यह एक ऐसी अवस्था नहीं है जिसमें एकरूपता की ब्रह्मन् से 'अत्यन्त तादात्म्य' के रूप में अथवा ब्रह्मन् पर अवलम्बन के रूप में व्याख्या की जानी चाहिए, यदि ब्रह्मन् शुद्ध चित्त में अपनी अभिव्यक्ति करता है तो वह किसी भी प्रकार के गुणात्मक भेद से रहित अद्वैत के रूप में

---

[1] वही, पृ० ७०–९२। सत्य-ज्ञानानन्तानन्दैक-रस मूर्तित्वाद् युगपदेव सर्वमपि तत्तद्-रूपं वर्ततैव, किन्तु यूयं सर्वदा सर्वं न पश्यथेति (पृ० ८७)। ततश्च यदा तव यत्रांशे तत्तदुपासना फलस्य यस्य रूपस्य प्रकाशनेच्छा तदैव तत्र तद् रूपं प्रकाशते इति। इयं कदेत्यस्य युक्तिः। तस्मात् तत्तत् सर्वमपि तस्मिन् श्री कृष्ण रूपेऽन्तर्भूतमित्येवमत्रापि तात्पर्यमुपसंहरति (पृ० ९०)। तदित्थम् मध्यमाकारैव सर्वाधारत्वात् विभुत्वं साधितम्। सर्व-गतत्वादपि साध्यते। चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् गृहेषु द्वयष्ट-साहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्।

प्रकट होना चाहिए, यदि कृष्ण के रूप से ब्रह्मन् के संबंधित होने पर उक्त रूप एक अतिरिक्त अध्यारोपण के रूप में प्रतीत होता है तो वह ब्रह्मन् की अभिव्यक्ति नहीं होता। यह आग्रह नहीं किया जा सकता है कि कृष्ण का शरीर 'सत्व' की एक उपज है, क्योंकि उसमें 'रजस्' नहीं होता, अतएव उसमें सृजनात्मक विकास नहीं होता। यदि उसमें कोई 'रजस्' होता है तो कृष्ण का शरीर शुद्ध 'सत्व' से निर्मित नहीं माना जा सकता, और यदि 'रजस्' का कोई मिश्रण होता है तो वह एक अशुद्ध अवस्था होगी तथा उसमें ब्रह्मन् की कोई अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त 'भागवत-पुराण' का मूल-पाठ इस मत के निश्चय ही विरुद्ध है कि कृष्ण का शरीर केवल शुद्ध 'सत्व' पर ही निर्भर करता है, क्योंकि उसका कथन है कि कृष्ण का शरीर स्वयं ही शुद्ध 'सत्व' अथवा शुद्ध चित् से एकरूप है।[1] पुनः, चूंकि कृष्ण का शरीर विविध रूपों में प्रकट होता है, और चूंकि ये सर्व रूप शुद्ध चिदानन्द की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं, इसलिए वे भक्त के लिए ब्रह्मन् से अधिक आनन्ददायी होते है।[2]

'परमात्म-सन्दर्भ' में 'जीव' अथवा व्यक्ति का एक ऐसी सत्ता के रूप में वर्णन किया गया है जो अपने स्वरूप में शुद्ध और 'माया' से अतीत होता है, किन्तु जो 'माया' से उत्पन्न सर्व चित्त-वृत्तियों का प्रत्यक्ष करता है और उनसे प्रभावित होता है, उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है, क्योंकि वह स्वयं को अपने आन्तरिक एवं बाह्य शरीर (क्षेत्र) से संबंधित करके प्रत्यक्ष करता है।[3] और अधिक प्रत्यक्ष अर्थ में परमेश्वर भी 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है, क्योंकि वह न केवल 'माया' वरन् उससे प्रभावित सर्व जीवों के अन्तर्यामिन् के रूप में व्यवहार करता है, और फिर भी अपनी स्वरूप-शक्ति से स्वरूपस्थ रहता है।[4] 'क्षेत्रज्ञ' की शुद्ध निर्विशेष चैतन्य (निर्विशेष चिद्-वस्तु) के अर्थ में अद्वैतवादी व्याख्या नहीं, वरन् चरम अन्तर्यामिन् के रूप में व्याख्या की जानी चाहिए। यह मत त्रुटिपूर्ण है कि निर्विशेष शुद्ध चैतन्य परम सत्ता है। फलतः 'व्यष्टि-क्षेत्रज्ञ' (सामान्य पुरुष) परमेश्वर में विभेद किया जाता है—पश्चादुक्त पूर्वोक्त

---

[1] तस्य शुद्ध-सत्वस्य प्राकृतत्वं तु निषिद्धमेव तस्मात् न ते प्राकृत-सत्त्व-परिणामा न वा तत्-प्रचुराः किन्तु स्व-प्रकाशता-लक्षण शुद्ध-सत्व-प्रकाशिता।

—'षट्-सन्दर्भ, पृ० १४८ व १४७।

[2] वही, पृ० १४६।

[3] वही, पृ० २०६।

[4] मायायां मायिकेऽपि अन्तर्यामितया प्रविष्टोऽपि स्वरूप-शक्त्या स्वरूपस्थ एव न तु तत्-संसक्तित्यर्थः, वासुदेवत्वेन सर्व-क्षेत्र ज्ञातृत्वात् सोऽपरः क्षेत्रज्ञ आत्मा परमात्मा। तदेवमपि मुख्यं क्षेत्रज्ञत्वं परमात्मन्येव। —वही, पृ० २१०

की उपासना का विषय होता है। अन्तर्यामिन के रूप में परमेश्वर का यह रूप 'परमात्मन' कहा जाता है।

आगे यह माना जाता है कि परमात्मन् अपनी अभिव्यक्ति तीन रूपों में करता है–प्रथम उन जीवों एवं प्रकृति की समष्टि के अधिष्ठाता स्वामी के रूप में जो वह्नि से स्फुलिंगों के सदृश्य उसमें से उत्पन्न हुए हैं–संकर्षण अथवा महाविष्णु, द्वितीय सर्व जीवों की समष्टि के अन्तर्यामी के रूप में (समष्टि-जीवान्तर्यामी)–'प्रद्युम्न'। प्रथम और द्वितीय अवस्था में अन्तर यह है कि प्रथम अवस्था में तो 'जीव' और 'प्रकृति' एक अभिन्न अवस्था में होते हैं, जबकि द्वितीय में 'जीवों' की समष्टि प्रकृति से पृथक् हो जाती है और स्वतंत्र रूप में स्थित रहती है। परमेश्वर का तृतीय पक्ष वह है जिसमें वह प्रत्येक मनुष्य में उसके अन्तर्यामी के रूप में निवास करता है।

'जीवों' को परमाण में परमाण्वीय कहा जाता है, वे संख्या में अनंत होते हैं और परमेश्वर के अंश-मात्र होते हैं। 'माया' परमात्मन् की शक्ति होती है और इस शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है, उसका अर्थ स्वरूप-शक्ति, वाह्य शक्ति हो सकता है, और उसका 'प्रधान' के अर्थ में भी प्रयोग किया जा सकता है।[1]

'षट्-संदर्भ' का लेखक इस साधारण वेदांत मत का निषेध करता है कि ब्रह्मन् शुद्ध चैतन्य है तथा वस्तुओं ('विषय' अथवा 'माया' अथवा 'अज्ञान') का 'आश्रय' है। वह 'माया' और ब्रह्मन् के संबंध को अनुभवातीत एवं तार्कातीत मानता है। जिस प्रकार एक विशेष औषधि में विभिन्न व विरोधी शक्तियाँ निवास कर सकती हैं, उसी प्रकार आभासों को उत्पन्न करने वाली विभिन्न शक्तियाँ परमेश्वर में निवास कर सकती हैं, यद्यपि उसके साहचर्य का रूप सर्वथा अव्याख्येय व अचिन्त्य हो सकता है। द्वैत का आभास ब्रह्मन में 'अज्ञान' की उपस्थिति के कारण नहीं होता अपितु उसकी अचिन्त्य शक्तियों के कारण होता है। जगत् के द्वैत का चरम अद्वैतवाद से सामंजस्य परमेश्वर की अनुभवातीत एवं तर्कातीत शक्तियों के अस्तित्व की मान्यता के आधार पर ही किया जा सकता है। इस तथ्य से यह भी व्याख्या हो जाती है कि परमात्मन्

---

[1] तदेवं सन्दर्भ-द्वये शक्ति-त्रय-विवृत्तिः कृता। तत्र नामाभिन्नता-जनित-भ्रान्ति हानाय संग्रह-श्लोकाः माया स्यादन्तरंगायां वहिरंगाच्च सा स्मृता प्रधानेऽपि क्वचिद् दृष्टा तद्-वृत्तिर्मोहिनी च सा आद्ये त्रये स्यात् प्रकृतिश् चिच्छक्तिस्त्वन्तरंगिका शुद्ध-जीवेऽपि ते दृष्टे तथेश-ज्ञान-वीर्ययोः। चिन्तया-शक्ति-वृत्योस्तु विद्या-शक्तिरुदीर्यते चिच्छक्ति-वृत्तौ मायायां योग-माया समा स्मृता प्रधानाव्याकृता-व्यक्तं त्रैगुण्ये प्रकृतेः परं न मायां न चिच्छक्तावित्याद्युह्यम् विवेकिभिः। –वही, पृ० २४५।

की शक्ति परमात्मन् के एकत्व व विशुद्धता को प्रभावित किए बिना अपना जड़ प्रतिभा में कैसे रूपान्तरण कर सकती है।[1] इस प्रकार सूक्ष्म 'जीव' और जगत् की सूक्ष्म जड़ात्मक शक्तियाँ, दोनों का विकीरण परमात्मन् से होता है, जिससे जगत् के चित् एवं अचित् दोनों अंशों की उत्पत्ति होती है। परमात्मन् स्वयं में उत्पत्ति का 'निमित्त-कारण' माना जा सकता है, जबकि अपनी शक्तियों के साहचर्य में वह जगत् का 'उपादान-कारण' माना जा सकता है।[2] चूंकि परमात्मन् की शक्ति का परमात्मन् के स्वरूप से तादात्म्य होता है, इसलिए अद्वैतवाद की स्थिति का सम्यक् संरक्षण होता है।

अंशों और अंशी के संबंध पर 'षट्-संदर्भ' के लेखक का कथन है कि अंशी अंशों का संघात नहीं होता, और न अंशी अंशों का रूपांतरण अथवा अंशों में उत्पन्न एक विकार होता है। और न अंशी का अंशों से भेद अथवा अभेद माना जा सकता है, अथवा उससे साहचर्य माना जा सकता है। यदि अंशी अंशों से सर्वदा भिन्न होता तो अंशों का अंशी से कोई संबंध नहीं होता, यदि अंश अंशी में अन्तर्निहित होते तो कोई भी अंश अंशी में कहीं भी पाया जा सकता था। इसलिए अंशों और अंशी का संबंध तर्कातीत स्वरूप का होता है। इस स्थिति से 'षट्-संदर्भ' का लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जहाँ कहीं भी किसी अंशी का आभास होता है, वह आभास उस परमात्मन् की अभिव्यक्ति के कारण होता है, जो चरम कारण एवं परम सत्ता है (तस्मादैक्य-वुद्धयालम्बन रूपं यत् प्रतीयते तत् सर्वत्र परमात्मन् लक्षणं सर्वकारणमस्त्येव, पृ० २५२)। इसलिए पृथक अंशियों की सर्व अभिव्यक्तियाँ सादृश्यता के कारण उत्पन्न मिथ्या आभास देती हैं, क्योंकि जहां कहीं भी एक अंशी होता है वहाँ परमात्मन् की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार सर्व जगत् को एक माना जा सकता है, अतएव सकल द्वैत मिथ्या है।[3]

जिस प्रकार अग्नि-लकड़ी, स्फुलिंग व धूम से पृथक् होती है (यद्यपि पश्चादुक्त दो को प्रायः अग्नि से त्रुटिपूर्वक एकरूप माना जाता है), उसी प्रकार पृथक् द्रष्टा

---

[1] वही, पृ० २४६।

[2] वही, पृ० २५०।

[3] तस्मात् सर्वैक्य-वुद्धि-निदानात् पृथग् देहैक्य-वुद्धिः सादृश्यभ्रमः स्यात्, पूर्वापरावयवानुसन्धाने सति परस्परमाशयैकत्व स्थितत्वेना वयवत्वसाधारण्येन चैक्यासादृश्यात् प्रत्यवयवमेकतया प्रतीतेः, सोऽयं देह इति भ्रमैव भवतीऽत्यर्थः, प्रति-वृक्षं तदिदं वनं इतिवत्।

—षट्-सन्दर्भ, पृ० २५३।

अथवा ब्रह्मन् कहा जाने वाला आत्मन् भी उन पंच भूतों (इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और प्रधान) से प्रथक् होता है जिनको एक साथ 'जीव' की संज्ञा दी जाती है।[1]

जो व्यक्ति परमात्मन् पर अपना मन स्थिर रखते हैं तथा जगत् को उसकी अभिव्यक्ति समझते हैं वे फलतः उसमें स्थित परम सत्ता के तत्व का ही प्रत्यक्ष करते हैं, किन्तु जो व्यक्ति जगत् को परमात्मन् की अभिव्यक्ति के रूप में देखने के अभ्यस्त नहीं हैं वे उसे अज्ञान के प्रभाव रूप में ही प्रत्यक्ष करते हैं, इस प्रकार उनके लिए परमात्मन् उस शाश्वत सत्ता के रूप में प्रकट नहीं होता जो जगत् में परिव्याप्त है। जो व्यक्ति शुद्ध स्वर्ण का व्यापार करते हैं वे उन विविध रूपों (कंगन, हार आदि) को मूल्य नहीं देते जिनमें स्वर्ण अभिव्यक्त होता है, क्योंकि उनकी मुख्य अभिरुचि शुद्ध स्वर्ण में होती है, किन्तु अन्य वे व्यक्ति होते हैं जिनकी मुख्य अभिरुचि शुद्ध स्वर्ण में नहीं होती वरन् उसके विविध मिथ्या रूपों में होती है। इस जगत् की उत्पत्ति परमात्मन् के द्वारा अपनी अन्तर्निहित शक्ति के माध्यम से स्वयं को उपादान कारण बनाकर की गई है, जैसे ही जगत् की उत्पत्ति होती है, वह उसमें प्रविष्ट हो जाता है तथा उसका प्रत्येक अंश में नियंत्रण करता है, और अंतिम अवस्था में ('प्रलय' काल के समय) वह अभिव्यक्ति के विविध रूपों में स्वयं को पृथक् कर लेता है, और अपनी निजी अन्तर्निहित शक्ति से सम्पन्न होकर अपने विशुद्ध सत् के रूप में पुनः स्थित हो जाता है। इस प्रकार 'विष्णु-पुराण' में यह कहा गया है कि अज्ञानी व्यक्ति जगत् को विशुद्ध ज्ञान के रूप में देखने के स्थान पर उसे विषयों के दृश्य व स्पर्श-योग्य जगत् के रूप में देख कर विभ्रांत होते हैं, किन्तु जो व्यक्ति हृदय से पवित्र एवं ज्ञानी होते हैं वे अखिल जगत् को परमात्म-स्वरूप, शुद्ध चैतन्य-स्वरूप में देखते हैं।

जगत् की स्थिति

इस प्रकार वैष्णव तंत्र में जगत् (रज्जु-सर्प के सदृश) मिथ्या नहीं है, किन्तु (घट के सदृश) नाशवान है। जगत् की कोई सत्ता नहीं है, क्योंकि, यद्यपि वह मिथ्या नहीं है, तथापि उसका भूत, वर्तमान व भविष्य में कोई अबाधित अस्तित्व नहीं होता, केवल उसी वस्तु को सत् माना जा सकता है जो न तो मिथ्या होती है और न काल में बाधित अस्तित्व रखती है। ऐसी सत्ता का केवल परमात्मन् अथवा उसकी

---

[1] यथोल्मुकात् विस्फुलिंगाद् धूमादपि स्वसम्भवातप्यात्मत्वेन विमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात् भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाज्जीव-संज्ञितातात्मा तथा पृथग् द्रष्टा भगवान् ब्रह्म-संज्ञितः।

—वही, पृ० २५४।

शक्ति के प्रति ही कथन किया जा सकता है।[1] उपनिपद् कहते हैं कि प्रारम्भ में केवल परम सत्ता, 'सत्' का ही अस्तित्व था, इस पद का अर्थ ब्रह्मन् की सूक्ष्म अव्यक्त शक्ति और ब्रह्मन् का पारस्परिक तादात्म्य होता है। 'सत्कार्यवाद' के सिद्धान्त को इस तथ्य के संबंध में सत्य माना जा सकता है कि परमात्मन् की सूक्ष्म शक्ति ही विविध रूपों में अपनी अभिव्यक्ति करती है (सूक्ष्मावस्था लक्षण-तच्छक्तिः)। अब यह प्रश्न उठता है, कि यदि जगत् का उपादान कारण परम 'सत्' है तो क्या उसे उसके समान ही अविनश्वर होना चाहिए, यदि जगत् अविनश्वर है, तो वह (शुक्ति-रजत के सदृश) मिथ्या क्यों न होना चाहिए, और, फलतः 'विवर्तवाद' को सत्य क्यों न माना जाना चाहिए ? ऐसे प्रश्न का उत्तर यह है कि यह तर्क करना गलत है कि चूंकि कोई वस्तु 'सत्' से उत्पन्न होती है इसलिए वह भी 'सत्' होनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक दशा में ऐसा नहीं होता, यह नहीं कहा जा सकता कि कार्य के गुणों का कारण के गुणों से पूर्ण तादात्म्य होना चाहिए, अग्नि से जिन प्रकाश किरणों का विकीरण होता है उसमें दग्ध करने की शक्ति नहीं होती।[2] 'विष्णु-पुराण' पर अपनी टीका में श्रीधर यह कथन करके कि ब्रह्मन् का एक अपरिवर्तनशील और एक परिवर्तनशील रूप होता है, परिवर्तनशील की अपरिवर्तनशील से उत्पत्ति की सम्भावना की आभासी असम्बद्धता की व्याख्या अग्नि एवं उससे उत्पन्न किरणों के उपर्युक्त सादृश्य के आधार पर करते हैं। पुनः, अन्य उदाहरणों में, शुक्ति पर अभिव्यक्त रजत के समान एक आभास सर्वदा मिथ्या होता है, क्योंकि उसका केवल आभास होता है परन्तु उसकी कोई उपयोगिता नहीं होती, इसलिए अनेकों अन्य वस्तुएं हैं जिनके प्रति यद्यपि यह विश्वास किया जाता है कि उनका एक विशेष स्वभाव है तथापि वस्तुतः, वे सर्वथा भिन्न होती हैं और उनके सर्वथा भिन्न प्रभाव होते हैं। इस प्रकार किसी काष्ठ विष के प्रति यह विश्वास किया जा सकता है कि वह सौंठ है, और उस रूप में उसका प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु फिर भी उसके विषैले प्रभाव बने रहेंगे। यहाँ, एक वस्तु के किसी अन्य वस्तु होने के मिथ्या ज्ञान के होते हुए भी वस्तुएं अपने स्वाभाविक गुणों को बनाए रखती हैं, जो मिथ्या प्रत्यय से प्रभावित नहीं होते।

एक वस्तु में किसी परिवर्तन अथवा उपयोग को उत्पन्न करने की जो शक्ति होती है वह सर्व कालों में व स्थानों में, अथवा वस्तु के परिवर्तन के साथ उपस्थित

---

[1] ततो विवर्त-वादिनामिव रज्जु-सर्प-वत्र मिथ्यात्वं किन्तु घट-वन्नश्वरत्वमेवं तस्य ततो मिथ्यात्वाभावे अपि त्रिकालाव्यभिचारा-मावाज्जगतो न सत्त्वं विवर्त परिणामा-सिद्धत्वेन तद् दोप-द्वयाभाववत्येव हि वस्तुनि सत्त्वं विधीयते यथा परमात्मनि तच्छक्तौ वा।
—वही, पृ० २५५।

[2] वही, पृ० २५६।

नहीं रह सकती, अतएव किसी परिवर्तन अथवा उपयोग को उत्पन्न करने की शक्ति एक नित्य एवं स्थायी गुण न होने के कारण सत्ता का पारिभाषिक लक्षण नहीं मानी जा सकती, इसलिए शुक्ति-रजत के सदृश एक मिथ्या आभास, जिसका केवल एक दृश्य रूप है किन्तु जिसमें कोई अन्य उपयोग अथवा परिवर्तनों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती, उसे सत् नहीं माना जा सकता। केवल वही सत् है जो मिथ्या विषयों अथवा उन विषयों के सभी उदाहरणों में उपस्थित होता है जिनमें किसी प्रकार का उपयोग होता है, सत् वही है जो मिथ्या अथवा सापेक्षतः वस्तुगत सर्व प्रकार के अनुभवों के अधिष्ठान एवं आधार के रूप में स्थित रहता है। हमारे चारों ओर विद्यमान तथाकथित यथार्थ जगत् यद्यपि निःसन्देह परिवर्तनों अथवा उपयोग को उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न है, तथापि वह नाशवान है। परन्तु 'नाशवान' शब्द केवल इसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है कि जगत् उस मूल कारण–परमात्मन् की शक्ति में पुनः लय हो जाता है–जिससे वह उत्पन्न हुआ था। केवल इस तथ्य से कि हम जगत् के साथ व्यवहार करते हैं और वह कुछ उद्देश्य अथवा उपयोग की पूर्ति में सहायक होता है यह सिद्ध नहीं होता कि वह सत् है, क्योंकि हमारा आभार और हमारा व्यवहार केवल अंध परम्परा के आधार पर उनमें किसी यथार्थता को माने विना अग्रसर हो सकता है। पारस्परिक विश्वास पर आधारित परम्पराओं की शृंखला का प्रचलन किसी अधिष्ठान के विना उनकी यथार्थथा अथवा उनकी 'विज्ञान' स्वरूपता को सिद्ध नहीं कर सकता। इस प्रकार परम्पराओं का प्रचलन उनकी सत्यता को सिद्ध नहीं कर सकता। इस प्रकार जगत् न तो मिथ्या है और न नित्य है, अपितु वह सत् है, और फिर भी अपने आभासी रूप में नहीं रहता, किन्तु ब्रह्मन् की शक्ति के अंतर्गत अपनी अव्यक्त अवस्था में स्वयं को विलीन कर देता है, और इस अर्थ में 'सत्यकार्यवाद' और 'परिणामवाद' दोनों सत्य हैं।[1]

यह मानना गलत है कि मूलतः जगत् का कोई अस्तित्व नहीं था तथा अन्ततः भी वह पूर्ण रूप से नष्ट हो जायगा, क्योंकि, चूंकि पूर्ण सत्ता किसी भी अन्य प्रकार के अनुभव से रहित होती है, और एकरस आनन्दानुभव स्वरूप की होती है, इसलिए शुक्ति-रजत की भांति एक मिथ्या अध्याय के रूप में जगत् की व्याख्या करना असम्भव है। इसी कारण से जगत् की सृष्टि की व्याख्या 'परिणाम' (अथवा विकास) के सादृश्य के आधार पर करनी चाहिए, शुक्ति-रजत अथवा रज्जु-सर्प की भांति मिथ्या आभासों के सादृश्य के आधार पर नहीं। अपनी अचिन्त्य, अनिर्धारित व अज्ञेय शक्ति के द्वारा ब्रह्मन् अच्युत रहकर भी जगत् की उत्पत्ति करता है,[2] इस प्रकार ब्रह्मन् को

---

[1] 'षट्-संदर्भ' पृ० २५६।

[2] अतो अचिन्त्य-संख्या स्वरूपादच्युतस्यैव तव परिणाम-स्वीकारेण द्रविण-जातीनां

अधिष्ठान कारण के रूप में समझना त्रुटिपूर्ण है। यदि जगत् स्वरूपतः नित्य अस्तित्व रखता है, तो कारणता का व्यापार निरर्थक हो जाता है, यदि जगत् पूर्णतः असत् है, तो पूर्णतः असत् को उत्पन्न करने के लिए कारणता के व्यापार की संकल्पना भी असम्भव है। इसलिए जगत् न तो पूर्णतः सत् है और न पूर्णतः असत् है, वरन् केवल एक अव्यक्त रूप में सत् है। घट मृत्तिका में एक अव्यक्त रूप में अस्तित्व रखता है, और कारणता का व्यापार केवल अव्यक्त को व्यक्त करने में संचालित होता है, जगत् भी चरम कारण में एक अव्यक्त रूप में अस्तित्व रखता है, और निश्चित रूप में क्रियान्वित उसकी एक स्वाभाविक शक्ति के द्वारा वह व्यक्त रूप में प्रकट किया जाता है। इस प्रकार यह मानना गलत है कि 'जीव' की 'माया' को जिससे सकल अज्ञान उत्पन्न होता है, परमात्मन् की शक्तियों के ऐश्वर्य का कारण समझना चाहिए, परमात्मन् स्वतंत्र, सर्वशक्तिमान व सर्व-सृष्टा है तथा जगत् में स्थित सर्व वस्तुओं के लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार यह मानना गलत है कि 'जीव' स्वयं अपनी शक्तियों से अथवा स्वयं अपने 'अज्ञान' से जगत् की सृष्टि करता है, परमात्मन् स्वरूपतः सत्य है, अतएव वह किसी मिथ्या वस्तु की सृष्टि नहीं कर सकता।[1]

इस प्रकार वैष्णव मत 'प्रकृति-लय' के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। मोक्ष के समय जगत् का नाश नहीं होता, क्योंकि परमेश्वर की शक्ति के स्वरूप का होने के कारण वह नष्ट नहीं हो सकता, यह सुविदित है कि 'जीव-मुक्ति' की अवस्था में शरीर बना रहता है। मोक्ष की अवस्था में जगत् संबंधी सर्व मिथ्या संकल्पनाएं विलीन हो जाती हैं, किन्तु जगत् स्वरूपतः बना रहता है, क्योंकि वह मिथ्या नहीं है, इस प्रकार मोक्ष एक आत्मगत सुधार की अवस्था है, जगत् के वस्तुगत लोप की अवस्था नहीं हैं। जिस प्रकार वस्तुगत जगत् का परमेश्वर की शक्तियों से तादात्म्य बताया जाता है उसी प्रकार इन्द्रियाँ एवं बुद्धि का भी बताया जाता है। जब उपनिषद् यह कहते हैं कि मनस् की परमेश्वर द्वारा सृष्टि की जाती है, तब इसका केवल यही अर्थ है कि परमेश्वर अपने 'अनिरुद्ध' रूप में समष्टि 'मनस्' सर्व भूतों के 'मनस्' से एक रूप है।[2] चरम कारण का कार्य से तादात्म्य होता है, जहाँ-जहाँ कार्य नवीन

द्रव्य मात्राणां मृल्लोहादीनां विकल्पा वेदा घट-कुण्डलादयस्तेषां पन्थानो मार्गाः प्रकारास्तैरेव असमभिरुपमीयते न तु कुत्रापि भ्रम रजतादिभिः।

—वही, पृ० २६०।

[1] सत्य-स्वाभाविकाचिन्त्य-शक्तिः परमेश्वरस्तुच्छ-मायिकमपि न कुर्यात्।

—वही, पृ० १६२।

[2] अतस्तन्मनोऽसृजत मनः प्रजापतिमित्यादौ मनः शब्देन समष्टि-मनोऽधिष्ठाता श्रीमाननिरुद्धेव।

—षट्-सन्दर्भ, पृ० १६२।

(अपूर्व) होता है और आदि और अंत युक्त होता है, वहाँ-वहाँ वह मिथ्या होता है, क्योंकि यहाँ कारण और कार्य के प्रत्यय अन्योन्याश्रित हैं तथा पृथक् रूप से निर्धारित नहीं किए जा सकते,[1] इसलिए कारणता के प्रत्यय को सत्य करने के लिए कार्य के रूप में शक्ति का कारण में पूर्व-अस्तित्व मानना पड़ेगा। कार्य का यह अव्यक्त अस्तित्व ही उसके व्यक्त अस्तित्व को सिद्ध करता है, इस प्रकार जगत् परमेश्वर की स्वाभाविक शक्ति के रूप में अस्तित्व रखता है, और इस कारण से वह नित्य सत् है। तनिक से परिवर्तन एवं अभिव्यक्ति की व्याख्या परमेश्वर के उल्लेख बिना अथवा उससे स्वतंत्र रूप में नहीं की जा सकती, यदि ऐसी व्याख्या सम्भव होती तो जगत् भी स्वयं-प्रकाश विशुद्ध चैतन्य होता।

यह कहा गया है कि 'जीव' वस्तुतः परमेश्वर की शक्ति होते हैं, किन्तु फिर भी वे अपने स्वप्रकाशत्व के आवृत्त होने के दोष से पीड़ित हो सकते हैं। 'जीव' 'तटस्थ शक्ति' से न्यून होते हैं, जिसके द्वारा उनको स्वप्रकाशत्व आवृत्त हो सकता है।[2] यह आवरण 'जीवों' के द्वारा परमेश्वर के स्वरूप के प्रति जिज्ञासा की भावना के माध्यम से परमेश्वर की इच्छा से ही दूर किया जा सकता है। 'षट्-संदर्भ' के अनुसार जगत् एक यथार्थ सृष्टि है, परन्तु वह कुछ अनुमोदन सहित एक अन्य मत का उल्लेख करता है कि जगत् एक मायावी सृष्टि है जो 'जीवों' को जगत् के यथार्थ वस्तुगत अस्तित्व में विश्वास करने के लिए छलती है। किन्तु इस मत का शंकर के अद्वैतवादी मत से विभेद करना चाहिए (जिसके अनुसार एक सत्यकर्ता अपनी सत्य शक्ति से एक सत्य द्रष्टा के प्रति जगत-प्रपंच की अभिव्यक्ति करता है),[3] और वह 'षट्-संदर्भ' से भी इस बात में भिन्न है कि पश्चादुक्त जगत् को एक यथार्थ सृष्टि मानता है। किन्तु, यह कहना पड़ेगा कि वैष्णवों की मुख्य अभिरुचि इन बाल की खाल निकालने वाले द्वन्द्वात्मक वाद-विवादों में नहीं है, उनकी प्रतिज्ञा के अनुसार उनका तंत्र एक व्यावहारिक धार्मिक भावावेशवाद का तंत्र है, और इस कारण से एक वैष्णव के लिए यह बात बहुत कम महत्व की है कि जगत् सत् है अथवा असत् है। उसकी मुख्य अभिरुचि

अन्तःकरण-बहिःकरण-विषय-रूपेण परमात्म-लक्षणं ज्ञानमेव भाति तस्मादनन्यदेव बुद्धयादि-वस्तु इत्यर्थः। —वही, पृ० १६२।

[1] यावत् कार्यं न जायते तावत् कारणत्वं मृत-शुक्त्यादेर्न सिद्ध्यति कारणत्वासिद्धौ च कार्यं न जायते एवेति परस्पर-सापेक्षत्व दोशात्। —वही, पृ० २६५।

[2] वही, पृ० २६६।

[3] सत्येनैव कर्ता सत्यमेव द्रष्टारं प्रति सत्यैव तया शक्त्या वस्तुनः स्फुरणात् लोके अपि तथैव दृश्यत इति।

—वही, पृ० २६८।

परमेश्वर के प्रति उसकी भक्ति के आनंद में निहृत होती है।[1] आगे यह माना गया है कि जगत् के साधारण अनुभव की व्याख्या जगत्-संबंधी सादृश्यताओं के द्वारा सुचारू रूप से की जा सकती है, किन्तु परमेश्वर जीव, आत्माओं और जगत् के मध्य स्थित अनुभवातीत संबंध की इस प्रकार कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। उपनिषद्-पाठ जीव एवं 'परमेश्वर' के तादात्म्य की घोषणा करते हैं, किन्तु उनका तात्पर्य केवल यही है कि 'परमेश्वर' और 'जीव' समान रूप से शुद्ध चैतन्य हैं।

परमेश्वर और उसकी शक्तियाँ

'षट्-संदर्भ' का पुनरावलोकन करने पर यह समस्या हमारे सम्मुख खड़ी होती है कि ब्रह्मन् शुद्ध चैतन्य और अपरिवर्तनशील है वह 'प्रकृति' के साधारण 'गुणों' से किस प्रकार संबंधित हो सकता है। क्रीड़ा की साधारण सादृश्यता परमेश्वर पर लागू नहीं हो सकती, बच्चे क्रीड़ा में आनंद लेते हैं अथवा अपने साथियों द्वारा खेलने के लिए प्रोत्साहित किए जा सकते हैं, किन्तु परमेश्वर स्वयं में तथा अपनी शक्तियों में आत्म-सिद्ध है वह किसी के द्वारा क्रिया में प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता, वह सदा प्रत्येक वस्तु से विलग रहता है, और किसी प्रकार के भावावेश से प्रभावित नहीं होता, क्योंकि 'वह' गुणातीत है, इसलिए गुण और उनके कार्यों से संबंधित नहीं किया जा सकता। हम यह भी प्रश्न उठा सकते हैं कि कैसे 'जीव,' जो परमेश्वर से एकरूप है, अनादि 'अविद्या' से संबंधित हो सकता है। उसके शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने के कारण उसकी चेतना काल, दिक, उपाधियों अथवा किसी आन्तरिक या बाह्य कारण के द्वारा किसी रूप में 'आवृत्त' नहीं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, चूंकि परमेश्वर सकल शरीरों में 'जीव' के रूप में विद्यमान रहता है, इसलिए 'जीव' दुःख अथवा 'कर्म' के बंधन में नहीं रहना चाहिए। ऐसी कठिनाइयों का हल परमेश्वर की 'माया-शक्ति' के विवेकातीत स्वरूप में मिलता है जो तार्कातीत होने के कारण साधारण तर्क-शास्त्र के उपकरणों से ग्रहण नहीं की जा सकती। परमेश्वर की शक्ति को 'अंतरंग' और 'बहिरंग' रूपों में संकल्पित किया जाने वाला सत्य व्याख्या करता है कि घटना परमेश्वर की बहिरंग शक्ति के क्षेत्र में घटित होती है वह स्वयं उसकी अंतरंग शक्ति को प्रभावित नहीं कर सकती, इस प्रकार यद्यपि परमेश्वर 'जीवों' के रूप में 'माया' और उससे उत्पन्न जगत-प्रपंच के प्रभाव में हो सकता है तथापि वह सर्वकाल में अपने अंतरंग स्वरूप में अप्रभावित रहता है। परमेश्वर की तीन प्रकार की शक्तियों ('स्वरूप' अथवा 'अंतरंग' 'बहिरंग' और 'तटस्थ') के मध्य स्थित तर्कातीत एवं विवेकातीत विभेद

---

[1] सत्यं न सत्यं नः कृष्ण-पादाब्जामोदमन्तरा जगत् सत्यं असत्यं वा कोऽयं तस्मिन् दुराग्रहः। —वही, पृ० २६६।

तथा उनके साथ उसका संबंध उन कठिनाइयों की व्याख्या कर देता है जो साधारणतः अजेय प्रतीत होती हैं। यह तर्कातीत संकल्पना ही इस बात की व्याख्या कर देती है कि कैसे परमेश्वर 'माया' के प्रभाव में रहकर भी उसका नियन्त्रक हो सकता है।[1] 'जीव' वस्तुतः दुःखों के प्रभाव में नहीं होता, किन्तु फिर भी वह परमेश्वर की 'माया' के द्वारा ऐसा प्रतीत होना है, जिस प्रकार स्वप्नों में एक व्यक्ति को सर्व प्रकार के असत्य एवं विकृत अनुभव हो सकते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर की 'माया' के द्वारा जीव पर जगदानुभव आरोपित किए जाते हैं। विशुद्ध 'जीव' में अशुद्धता का आभास उसकी 'उपाधि' के रूप में क्रियान्वित 'माया' के प्रभाव से उत्पन्न होता है—जैसे गतिहीन चन्द्रमा बहती हुई नदी की लहरों पर कम्पायमान प्रतीत होता है। 'माया' प्रभाव के द्वारा 'जीव' अपना 'प्रकृति' से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और 'प्रकृति' के गुणों को अपने गुण समझता है।[2]

अपने भक्तों के साथ भगवान का संबंध

इसी सादृश्य के आधार पर परमेश्वर के अवतारों की भी व्याख्या की जानी चाहिए। जगत् की स्थिति के लिए परमेश्वर का 'अवतार' लेना अथवा किसी प्रकार का प्रयास करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह सर्वव्यापी शक्तिमान है, 'पुराणों' में वर्णित परमेश्वर के सकल अवतार 'भक्तों' को संतुष्ट करने के उद्देश्य से दिए गए हैं। वे उसके 'भक्तों' की सहानुभूति के लिए परमेश्वर की स्वरूप शक्ति की अभिव्यक्ति से आविष्कृत किए जाते हैं (स्वरूपा-शक्त्याविष्करण)। इससे स्वभावतः यह लक्षित होता है कि परमेश्वर अपने भक्तों के दुःख एवं पीड़ा से प्रभावित होता है, तथा वह उनके सुख से प्रसन्न होता है। परमेश्वर की स्वरूप शक्ति की सारभूत प्रक्रिया को 'ह्लादिनी' कहा जाता है, और इस 'ह्लादिनी' की सारभूत 'भक्ति' होती है, जो विशुद्ध आनन्द-स्वरूप होती है। 'भक्ति' भगवान एवं भक्त दोनों में एक द्विविध संबंध में स्थित रहती है।[3] भगवान आत्म-सिद्ध है, क्योंकि 'भक्ति' का अस्तित्व भक्त में होता

---

[1] षट्-संदर्भ, पृ० २७०।

[2] यथा जले प्रतिविम्बितस्यैव चन्द्रमसो जलोपाधिकृत कम्पादि-गुणो धर्मो दृश्यते न त्वाकाश स्थितस्य तद्वदनात्मनः प्रकृति-रूपोपाधेर्धर्मः आत्मनः शुद्धस्या सन्नपि अहमेव सोऽयमित्यावेशान् मायया उपाधि—तादात्म्यापन्नाहंकाराभासस्य प्रतिविम्ब-स्थानीयस्य तस्य द्रष्टुराध्यात्मिकावस्थस्यैव यद्यपि स्यात् शुद्धः असौ तदभेदाभिभावेन तं पश्यति।
—वही, पृ० २७२।

[3] परम सार भूताया अपि स्वरूप-शक्तेः सार भूता ह्लादिनी नाम या वृत्तिस्तस्यैव सार-भूतो वृत्ति विशेषो भक्तिः सा च रत्यपर-पर्याया। भक्तिर्भगवति भक्तेषु निक्षिप्तं—निजोभय कोटिः सर्वदा तिष्ठति। —वही, पृ० २७४।

है, और भगवान की एक शक्ति होने के कारण वह स्वरूपतः न तो उससे भिन्न है और न एक-रूप है। 'भक्ति' भक्त में उसकी शक्ति की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति मात्र है, जिसमें द्वैत का समावेश होता है और जिससे भगवान में आनन्द की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति का उदय होता है जिसकी व्याख्या भक्त की 'भक्ति' से उत्पन्न सुख के रूप में की जा सकती है। जब भगवान यह कहता है कि वह 'भक्त' पर आश्रित है, तब इस प्रत्यय की केवल इसी मान्यता पर व्याख्या की जा सकती है कि 'भक्ति' भगवान की स्वरूप-शक्ति की सार-भूत है, भक्त अपनी 'भक्ति' के द्वारा भगवान के स्वरूप को स्वयं से धारण करता है। अब प्रश्न उठता है कि क्या भगवान वास्तव में भक्तों के द्वारा दुःख की अनुभूति किए जाने पर स्वयं भी उसकी अनुभूति करता है, और क्या वह उक्त दुःख के अनुभव से सहानुभूति में प्रवृत्त होता है। कुछ का कथन है कि भगवान स्वरूपतः सर्वानन्दमय होने के कारण दुःख की अनुभूति नहीं कर सकता, किन्तु अन्य कहते हैं कि उसे दुःख का उस रूप में ज्ञान होता है जिस रूप में वह भक्त में विद्यमान रहता है न कि स्वयं में। परन्तु 'षट्-संदर्भ' के लेखक की आपत्ति है कि इससे कठिनाई हल नहीं हो जाती, यदि परमेश्वर को दुःख का अनुभव होता तो यह कोई महत्व की बात नहीं है कि वह उसकी अनुभूति स्वयं अपने दुःख के रूप में करता है अथवा पर-दुःख के रूप में। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, यद्यपि परमेश्वर को किसी प्रकार से दुःख का ज्ञान हो सकता है, तथापि उसको उसका अनुभव नहीं हो सकता, अतएव परमेश्वर के सर्वव्यापी होने पर भी, चूंकि उसे मानवों के दुःख का कोई अनुभव नहीं होता, इसलिए प्रत्येक को अपने दुःख से मुक्त न करने के लिए उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता। भक्तों का सुख अपनी भक्ति की अनुभूति में निहित होता है, और उनका दुःख उनके द्वारा परमेश्वर प्राप्ति में बाधाओं के कारण होता है। अपने भक्त के प्रति भगवान की कल्पित दया उसकी 'दैन्यात्मक भक्ति के अनुभव से होती है, साधारण दुःख के अनुभव से नहीं। जब भगवान अपने भक्त की इच्छाओं को पूर्ण करने का प्रयास करता है तब वह दुःख के अनुभव से प्रेरित नहीं होता वरन भक्त में उपस्थित भक्ति से प्रेरित होता है। यदि भगवान को दूसरों के दुःखों का अनुभव होता और यदि सर्वव्यापक होने पर भी वह उनको दुःखों से मुक्ति नहीं करता, तो उसे क्रूर मानना पड़ता, इसी प्रकार यदि वह केवल कुछ को ही दुःख से मुक्त होने में सहायता देता और दूसरों को दुःखी होने के लिए छोड़ देता तो उसे एक पक्षपाती भगवान मानना पड़ता। किन्तु परमेश्वर को अन्य लोगों के दुःखों का कोई अनुभव नहीं होता, वह केवल दूसरों की भक्ति की अनुभूति करता है। प्रार्थना की उपयोगिता यह सिद्ध नहीं करती कि परमेश्वर पक्षपाती है, क्योंकि उसे कोई भी प्रिय नहीं है अथवा उसका कोई भी शत्रु नहीं है, किन्तु जब भक्ति के द्वारा भक्त किसी वस्तु के लिए उसकी प्रार्थना करता है तब वह भक्ति के माध्यम से उसके हृदय में विद्यमान होने के कारण उसे उसकी इच्छा का विषय प्रदान करता है,

इसलिए परमेश्वर के लिए जगत् की रक्षा अथवा स्थिति के हेतु अवतार की अवस्थाओं से गमन करना आवश्यक नहीं है, किन्तु फिर भी वह परमेश्वर को की गई प्रार्थनाओं की संतुष्टि के लिए ऐसा करता है। परमेश्वर के सकल अवतार भक्तों की कामनाओं की पूर्ति के लिए होते हैं। अपने भक्तों की कामनाओं की पूर्ति में परमेश्वर के व्यवहार की अगाधता परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति के तर्कातीत रूप की अगाधता में निहित होती है। यद्यपि परमेश्वर के समस्त कार्य पूर्णतः स्वतंत्र एवं स्व-निर्धारित होते हैं तथापि वे किसी न किसी प्रकार से मनुष्य के शुभाशुभ कर्मों के अनुकूल होते हैं। जब परमेश्वर अपने भक्तों से द्वेष रखने वालों को दण्ड देता है, तब भी उक्त दण्ड उसमें द्वेष के उदय के कारण नहीं दिया जाता है, प्रत्युत उसकी 'ह्लादिनी-वृति' के रूप में क्रियाशील उसके आनंद स्वरूप के कारण दिया जाता है।[1] किंतु 'षट्-संदर्भ' का लेखक इस तथ्य की व्याख्या करने में असमर्थ है कि निष्पक्ष एवं वासना-रहित परमेश्वर अपने भक्तों के लिए राक्षसों का विनाश क्यों करता है और वह स्पष्टतः यह स्वीकार करता है कि परमेश्वर की महानता का अवर्णनीय स्वरूप तब दृष्टिगोचर होता है जब सबके प्रति पूर्ण निष्पक्ष होने पर भी वह कुछ के प्रति पक्षपात करता है। यद्यपि वह 'माया' के प्रभाव से अतीत होते हुए भी अपने भक्तों पर दया करने के लिए वह स्वयं को 'माया' के रूप में प्रकट करता हुआ तथा उसके प्रभाव से आविष्ट होता है। परमेश्वर के अनुभवातीत 'सत्व' गुण की अवस्था से 'प्रकृति' के साधारण 'गुणों' को उसके द्वारा अंगीकार करने की अवस्था तक संक्रमण तर्कातीत होता है तथा उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। किन्तु 'षट्-संदर्भ' का लेखक सदा इन तथ्यों पर बल देने का प्रयास करता है कि परमेश्वर एक ओर तो अपने भक्तों के हितों की पूर्ति के अपने उद्देश्य से प्रेरित होता है, तथा दूसरी ओर उसकी सर्वक्रियाएं पूर्णतः आत्म-निर्धारण एवं अन्य व्यक्तियों के हितों से प्रेरित होने में असंगति होती है। वह आगे कहता है कि यद्यपि साधारणतया यह प्रतीत हो सकता है कि परमेश्वर सांसारिक घटना-चक्र में अथवा अपने भक्तों के जीवन में कुछ निर्णायक अवसरों पर क्रिया में प्रवृत्त होता है, तथापि चूंकि जगत् की उक्त घटनाएं 'माया' के रूप में उसकी निजी शक्ति की अभिव्यक्ति के कारण भी घटित होती हैं, इसलिए जगत् की घटनाओं और उसके निजी प्रयत्नों में जो समानान्तरवाद दृष्टिगोचर होता है उससे यह मत असत्य नहीं हो जाता कि पश्चादुक्त आत्म-निर्धारित होते हैं। इस प्रकार उसके निजी प्रयत्न स्वभावतः 'भक्ति' की प्रेरणा के कारण स्वयं उसके द्वारा उत्तेजित किए जाते

---

[1] अथ यदि केचित् भक्तानामेव द्विषन्ति तदा तदा भक्त-पक्ष-पातान्तः-पातित्वाद भगवता स्वयं तद्द्वेषे अपि न दोषः प्रत्युत भक्त-विषयक-तद्-रतेः पोषकत्वेन् ह्लादिनी-वृत्ति-भूतानन्दोल्लास-विशेष एवासौ।

—'षट्-संदर्भ,' पृ० २७८।

हैं, जिसमें परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की स्वयं परमेश्वर में स्थिति के रूप में द्विविध अभिव्यक्ति होती है। यह पहले कहा जा चुका है कि 'भक्ति' परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की सारभूत तत्त्व होती है जिसके संघटक तत्त्व भक्त और भगवान होते हैं। इस प्रकार सांसारिक घटनाओं के द्वारा परमेश्वर की शक्तियों की प्रेरणा अथवा उत्तेजना केवल एक आभास-मात्र (प्रवृत्याभास) होती है जो परमेश्वर की आत्म-निर्धारित क्रिया के अनुकूल घटित होती है। आगे यह कहा जाता है कि जगत् की सृष्टि करने में परमेश्वर की क्रिया भी अपने भक्तों को संतुष्ट करने में उसकी रुचि से प्रेरित होती है। काल उसकी क्रिया को अभिनिश्चित करने वाला लक्षण होता है, और जब काल की गति के माध्यम से परमेश्वर सृष्टि में स्वयं को प्रवृत्त करने का निश्चय करता है, तब भक्तों के प्रति दया के कारण 'प्रकृति' में विलीन अपने भक्तों की सृष्टि करने की इच्छा करता है। किन्तु उनकी सृष्टि करने के लिए उसे 'प्रकृति' की साम्यावस्था को विक्षुब्ध करना पड़ता है, और इस उद्देश्य से विचार के रूप में उसकी स्वतः स्फूर्त क्रिया (जीव-माया के रूप में) उसकी शक्ति को उसकी 'स्वरूप-शक्ति' से पृथक् कर देती है, इस प्रकार पूर्वोक्त की साम्यावस्था विक्षुब्ध हो जाती है, और 'रजस्' प्रबल हो जाता है। ऐसा कहा जा सकता है कि यह विक्षोभ एक आभासी ढंग से उद्दीप्त होता है (तच्छेपतात्मकप्रभावेनैवोद्दीप्त) अथवा 'काल' की शक्ति से उत्पन्न होता है।[1] जब परमेश्वर अपनी नानात्मक सृष्टि में स्वानन्द लेने की इच्छा करता है, तब वह 'सत्व' को उत्पन्न करता है, और जब वह अपनी सम्पूर्ण सृष्टि के साथ सुप्त होने की इच्छा करता है, तब वह 'तमस्' की सृष्टि करता है। इस प्रकार परमेश्वर के सकल सृजनात्मक कार्य उसके भक्तों के लिए आरम्भ किए जाते हैं। परमेश्वर के निद्रामग्न होने की अवस्था अंतिम प्रलय की स्थिति होती है। पुनः, यद्यपि परमेश्वर सब में 'अन्तर्यामिन्' के रूप में अस्तित्व रखता है, तथापि वह उस रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता, अपितु वह केवल भक्त के लिए ही वस्तुतः अपने यथार्थ 'अन्त-र्यामिन्' स्वरूप में प्रकट होता है।

'षट्-संदर्भ' का लेखक पंचरात्रों के चार 'व्यूहों' के सिद्धांत के विपरीत तीन 'व्यूहों' के सिद्धांत के पक्ष में है। इसलिए वह एक, दो, तीन और चार व्यूहों की विभिन्न परम्पराओं के लिए 'महाभारत' का उल्लेख करता है, और कहता है कि इस असंगति की व्याख्या एक अथवा अधिक 'व्यूहों' के अन्य 'व्यूहों' में समावेश के द्वारा की जा सकती है। 'भागवत-पुराण' को भी यह संज्ञा इसी तथ्य के कारण दी गई है कि वह 'भगवान्' को प्रमुख 'व्यूह' के रूप में स्वीकार करता है।[2] इस ब्रह्मन् के

---

[1] वही, पृ० २८३।
[2] वही।

संबंध में 'जिज्ञासा' की रामानुज द्वारा ध्यान के रूप में व्याख्या की गई है, परन्तु 'षट्-संदर्भ' के अनुसार यह 'ध्यान' एक निश्चित रूप में भगवान की उपासना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, क्योंकि किसी भी 'ध्यान' (अथवा परमेश्वर की उपासना) में लीन होना तबतक सरल नही होता जबतक कि उसे ऐसे रूप से संबंधित न कर लिया जाय जिस पर व्यक्ति अपने मन को स्थिर कर सके। ब्रह्मन् का अपरिवर्तन-शील सत्य के रूप में वर्णन किया जाता है, और चूंकि केवल दुःख परिवर्तनशील होता है इसलिए उसको पूर्णतः आनन्दमय मानना चाहिए। ब्रह्मन् को 'सत्यम्' भी माना जाता है क्योंकि वह आत्म-निर्धारक होता है, और उसका अस्तित्व किसी अन्य सत्ता के अस्तित्व अथवा इच्छा पर निर्भर नहीं करता। वह स्व-प्रकाशत्व के रूप में अपनी शक्ति द्वारा 'माया' के रूप में अपनी अन्य शक्ति पर आधिपत्य रखता है, और स्वयं में उससे अस्पर्श्य रहता है। इससे यह प्रकट होता है कि यद्यपि 'माया' उसकी एक शक्ति है तथापि स्वरूपतः वह 'माया' से अतीत होता है। 'माया' से उद्भूत यथार्थ सृष्टि अग्नि, जल और पृथ्वी तत्त्वों से निर्मित होती है जो एक दूसरे के अंशों में हिस्सा बटाते हैं। शंकरवादी कहते हैं कि जगत् एक यथार्थ सृष्टि नहीं है, किन्तु शुक्ति में रजत के सदृश एक मिथ्या अध्यारोपण होता है, किन्तु ऐसा भ्रम केवल समानता के कारण ही हो सकता है, और, यदि उसके द्वारा शुक्ति रजत के रूप में संकल्पित की जा सकती है, तो यह भी सम्भव है कि रजत भी शुक्ति के रूप में कुसंकल्पित की जा सकती है। यह सत्य नहीं है कि भ्रम का 'अधिष्ठान' एक होना चाहिए और भ्रम का अनेकत्व होना चाहिए, क्योंकि अनेक वस्तुओं के संघात में एक वस्तु का भ्रम होना सम्भव है, अनेक वृक्षों, पर्वतों और काहरों की संस्थिति से एक धन-खण्ड का संयुक्त प्रभाव उत्पन्न हो सकता है। विषयों के जगत् का सदा प्रत्यक्ष किया जाता है, जबकि ब्रह्मन् का स्व-प्रकाशत्व के रूप में प्रत्यक्ष किया जाता है, और ब्रह्मन् को भी यदि मिथ्या मानना सम्भव है तो उसका यह तात्पर्य हो जायगा कि ब्रह्मन् को जगत् का अधिष्ठान नहीं माना जा सकता। इसलिए जगत् को यथार्थ मानना चाहिए। यह अद्वैतवादी मत असत्य है कि ब्रह्मन् पूर्णतः निर्विशेष है, क्योंकि ब्रह्मन् का नाम ही स्वयं यह प्रदर्शित करता है कि वह सर्वाधिक महान् है। जगत् भी न केवल उसमें से उद्भूत हुआ है, वल्कि उसमें स्थित रहता है और अन्ततः उसमें ही विलीन हो जायगा। इसके अतिरिक्त, कार्य की कारण से कुछ समानता होनी चाहिए तथा दृश्य एवं स्पर्श-योग्य जगत् जिसका परमेश्वर कारण है, स्वभावतः यह संकेत करता है कि कारण स्वयं गुण-रहित नहीं हो सकता।[1] इस मान्यता के आधार पर भी कि ब्रह्मन् की इस रूप में परिभाषा दी जानी चाहिए कि वह ऐसी सत्ता है

---

[1] साध्य-धर्माव्यभिचारि-साधन-धर्मान्वित-वस्तुविषयत्वान्न तावप्रमाणं।
—'षट् संदर्भ,' पृ० २७।

जिससे जगदाभास उत्पन्न हुआ है, यह बात सिद्ध होती है कि वह स्वयं एक विभेदात्मक गुण है, और यदि ब्रह्मन् को स्व-प्रकाश भी माना जाय तो स्वप्रकाशत्व स्वयं एक ऐसा गुण है जो ब्रह्मन् का अन्य विषयों से विभेद प्रदर्शित करता है। यदि स्वप्रकाशत्व एक विभेदात्मक गुण है, और यदि ब्रह्मन् को उससे युक्त माना जाय तो उसे निर्विशेष नहीं माना जा सकता।[1]

भक्ति का स्वरूप

'षट्-सदर्भ' का लेखक 'कृष्ण-संदर्भ' में वैष्णवों के इस तत्कालीन प्रिय विषय का विवेचन करता है कि भगवान कृष्ण सम्पूर्ण ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति हैं। उक्त विवेचन का यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन करना उचित नहीं है, अतएव उसे छोड़ देना चाहिए।

'भक्ति-संदर्भ' में 'षट्-संदर्भ' का लेखक 'भक्ति' के स्वरूप का निरूपण करता है। वह कहता है कि, यद्यपि 'जीव' परमेश्वर की शक्ति के अंश होते हैं, तथापि परम तत्त्व के सत्य ज्ञान के अनादि अभाव के कारण उनका चित्त उससे विलग हो जाता है, तथापि परम तत्त्व के सत्य ज्ञान के अनादि अभाव के कारण उनका चित्त उससे विलग हो जाता है, और इस दुर्बलता के कारण उनका आत्म-ज्ञान 'माया' से आच्छादित हो जाता है, वे 'प्रधान' ('सत्व', 'रजस्' और 'तमस्') को स्वयं से एक-रूप समझने के अभ्यासी हो जाते हैं, और फलतः जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्रों से संबंधित दुःखों से पीड़ित होते हैं। किन्तु जिन 'जीवों' ने अपनी धर्म-साधना द्वारा पूर्वजन्म से परमेश्वर के प्रति झुकाव पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त किया है, अथवा परमेश्वर की विशेष दया से जिनके ज्ञान चक्षु खुल गए हैं, वे स्वभावतः परमेश्वर की ओर प्रवृत्त होते हैं और जब भी वे धार्मिक उपदेश का श्रवण करते हैं तभी उसके स्वरूप की अपरोक्षानुभूति करते हैं। परमेश्वर की उपासना के द्वारा ही परमेश्वर की अपरोक्षानुभूति का उदय होता है, जिससे सकल दुःखों का नाश हो जाता है। उपनिषदों में यह कहा गया है कि एक व्यक्ति को ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् पाठों का श्रवण करना चाहिए तथा उन पर ध्यान करना चाहिए।

---

[1] जगज्जन्मादि भ्रमो यतस्तद् ब्रह्मेति स्वोत्प्रेक्षा पक्षे च न निर्विशेष वस्तु–सिद्धिः भ्रम-मूलमज्ञान साक्षि ब्रह्मेति उपगमात्। साक्षित्वं हि प्रकाशैकरसतया उच्यते। प्रकाशत्वं तु जड़ाद्व्यावर्तकं स्वस्य परस्य च व्यवहार-योग्यतापादन-स्वभावेन भवति। तथा सति सविशेषत्वं तदभावे प्रकाशतैव न स्यात्तुच्छतैव स्यात्।

—वही, पृ० २६१।

ऐसी साधना व्यक्ति को परमेश्वर के निकट ले जाती है, क्योंकि कहा जाता है कि उसके द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति सम्भव होती है। 'अष्टांग-योग' की प्रक्रियाएं भी एक व्यक्ति को ईश्वर-प्राप्ति के निकट ले जाती हैं। कर्म' का अनुपालन भी एक व्यक्ति को ईश्वर-सान्निध्य की प्राप्ति में सहायक होता है, अपने कर्त्तव्यों के पालन द्वारा एक व्यक्ति परमेश्वर के आदेशों की आज्ञा मानता है, और नित्य कर्त्तव्यों के उदाहरण में तो कर्त्ता को कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि उन कर्मों के फल स्वभावत: परमेश्वर को समर्पित किए जाते हैं। 'भक्ति' से संबंधित ज्ञान भी परमेश्वर के अतिरिक्त विषयों से हमारे मन को पृथक् करके निषेधात्मक ढंग से सहायक होता है, फिर भी भगवन्नाम के कीर्त्तन एवं भगवान के प्रति भावावेश के उन्माद में अभिव्यक्त 'भक्ति' को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। 'भक्ति' के दोनों रूपों का केवल एक ही उद्देश्य होता है, अर्थात् परमेश्वर को सुख देना, इसलिए उनको 'अहेतुकी' माना जाता है। सच्चा भक्त भगवन्नाम के कीर्त्तन में और मानवता के लिए परमेश्वर के दयामय कार्यों के ध्यान में स्वयं को लीन करने में एक नैसर्गिक सुख प्राप्त करता है। यद्यपि कुछ वर्गों के व्यक्तियों के लिए कर्म और ज्ञान मार्गों का विधान किया गया है, तथापि 'भक्ति' मार्ग को श्रेष्ठ माना गया है, जो व्यक्ति उस मार्ग में हैं उन्हें ज्ञान-मार्ग एवं सांसारिक वस्तुओं के प्रति वैराग्य-मार्ग का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं है।[1] शास्त्रों में निर्देशित सकल कर्म तभी फलदायक होते हैं जब वे 'भक्ति' की प्रेरणा से किए जाते हैं, और यदि उनका पालन न किया जाय तो भी एक व्यक्ति 'भक्ति' मात्र से अपने उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

'भक्ति' का इस रूप में भी वर्णन किया जाता है कि वह स्वयं 'मुक्ति' है।[2] सच्चा 'तत्त्व-ज्ञान' 'भक्ति' का गौण प्रभाव है। सच्चा 'तत्त्व-ज्ञान' ईश्वर की त्रिविध रूप की अपरोक्षानुभूति में निहित होता है, जिनके साथ उसका अभेद एवं भेद दोनों है। ईश्वर की इस सत्यता की सम्यक् अनुभूति एवं संप्रत्यक्ष केवल 'भक्ति' के द्वारा ही किए जा सकते हैं।[3] ज्ञान अपरोक्षानुभूति की तुलना में अधिक दूरवर्ती होता है। 'भक्ति' न केवल ज्ञान को ही उत्पन्न करती है वरन् साक्षात्कार की भी प्राप्ति करवाती है (ज्ञान-मात्रस्य का वार्ता साक्षादपि कुर्वन्ति), इसलिए यह माना जाता है कि 'भक्ति' 'तत्त्वज्ञान' से अधिक उच्च है जो उसका गौण प्रभाव माना जाता है। सच्चा भक्त ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार अपनी इच्छानुसार या तो उसकी शक्तियों के साहचर्य

---

[1] भजतां ज्ञान वैराग्याभ्यासेन प्रयोजनं नास्ति। —षट्-सन्दर्भ, पृ० ४८१।

[2] निश्चला त्वयि भक्तिर्या सैव मुक्तिर्जनार्दन
(स्कन्द-पुराण, रेवाखण्ड से उद्धरण), वही, पृ० ४५।

[3] वही, पृ० ४५४।

में अथवा उनसे पृथक् उसके त्रिविध रूप में अथवा उसके किसी एक रूप में कर सकता है। एक व्यक्ति में शुभ कर्मों का प्रभाव स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होता, वरन् 'भक्ति' की उत्पत्ति के द्वारा परमेश्वर की संतुष्टि में सफलता की प्राप्ति होता है। उपनिषदों के 'निदिध्यासन' का अर्थ भगवान् के नाम एवं विभूति के कीर्त्तन द्वारा उसकी 'उपासना' करना होता है, जब कोई व्यक्ति परमेश्वर के प्रति पूर्ण आसक्ति से उसकी उपासना करता है, तब उसके 'कर्म' के सकल बंधन टूट जाते हैं। किन्तु अपने मन में परमेश्वर की ओर उन्मुख होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को उत्पन्न करना तथा उसके नाम एवं विभूतियों के कीर्त्तन में परम संतोष की प्राप्ति करना वस्तुतः कठिन होता है। सच्चे भक्तों के साहचर्य से एक व्यक्ति का मन क्रमशः परमेश्वरोन्मुख होता है, तथा 'भागवत-पुराण' जैसे धार्मिक साहित्य के अध्ययन से यह प्रवृत्ति अधिक प्रबल बनती है। इसके फलस्वरूप मन 'रजस्' एवं 'तमस्' (इच्छाओं एवं दुःखों) से मुक्त हो जाता है, और परमेश्वर के प्रति आसक्ति में अधिक विस्तार होने पर परमेश्वर के स्वरूप एवं उसके साक्षात्कार का ज्ञान उदित होता है, फलतः अहंकार नष्ट होता है, सकल संशय विलीन होते हैं, तथा 'कर्म' का सर्व बंधन नष्ट होता है। भगवन्नाम के कीर्त्तन और उसके स्वरूप का वर्णन करने वाले धार्मिक पाठों के श्रवण द्वारा एक व्यक्ति परमेश्वर के स्वरूप के संबंध में अपने वस्तुगत अज्ञान का निवारण करता है, गहन चिन्तन एवं ध्यान से वह परमेश्वर संबंधी अपने मिथ्या विचारों के विनाश द्वारा अपने आत्मगत अज्ञान का निवारण करता है तथा परमेश्वर के साक्षात्कार एवं प्रत्यक्ष दर्शन से परमेश्वर के स्वरूप के अवबोध में बाधक व्यक्तिगत अपूर्णता को नष्ट करता है। 'भक्ति' का अनुष्ठान कर्म के अनुष्ठान से इस बात में भिन्न है कि पूर्वोक्त साधन-काल और साध्य-काल दोनों में सुखदायी होता है, पश्चादुक्त नहीं होता।[1] इस प्रकार एक व्यक्ति को नित्य अथवा अन्य कर्मों के अनुष्ठान अथवा ज्ञान या वैराग्य के अनुष्ठान को सर्व प्रयत्न त्याग देना चाहिए।[2] 'भक्ति' के बिना ये सब निष्फल रहते हैं, क्योंकि जबतक कर्म भगवान को समर्पित नहीं किए जाते, वे एक व्यक्ति को 'कर्म' के बंधन से अवश्य ही पीड़ित करते हैं, तथा 'भक्ति' के बिना कोरा ज्ञान बाह्य होता है और वह न तो साक्षात्कार उत्पन्न कर सकता है और न आनन्द, इस प्रकार न तो 'नित्य' कर्म करने चाहिए और न नैमित्तिक कर्म, प्रत्युत केवल भक्ति का अनुष्ठान करना चाहिए। यदि 'भक्ति' की चरम सफलता प्राप्त कर ली जाती है तो फिर कहना ही क्या है, किन्तु, यदि भक्ति का अनुष्ठान वर्तमान जीवन में सफलतापूर्वक न किया जा सके तो भी भक्त के भाग्य में कोई दण्ड नहीं होता, क्योंकि भक्ति-रसिक को ज्ञान अथवा कर्म के अनुष्ठान

---

[1] कर्मानुष्ठानवन्न साधन-काले साध्य-काले वा भक्त्यानुष्ठानं दुःख-रूपं प्रत्युत सुख-रूपमेवं। —वही, पृ० ४५७।

[2] वही, पृ० ४५७।

भी रूप में अपनी अभिव्यक्ति करे उसका एकमात्र लक्ष्य निर्गुण ईश्वर होता है। 'निर्गुण' शब्द का अर्थ यह है कि वह स्वरूपतः 'गुणों' से अतीत होता है। पहले यह व्याख्या की जा चुकी है कि 'भक्ति' परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अतएव उसका संघटक तत्त्व केवल परमेश्वर ही होता है, और इसलिए उसे 'गुणों' से अतीत मानना चाहिए, किन्तु अपनी अभिव्यक्ति में 'भक्ति' गुणों के अन्तर्गत एवं गुणों से रहित दोनों रूपों में अनुभव गम्य हो सकती है। ब्रह्मन् का ज्ञान भी द्विविध रूप में घटित होता हुआ माना जा सकता है, तथाकथित ब्रह्मवादियों के उदाहरण में आत्मा एवं परमात्मा के तादात्म्य रूप में, और भक्तों के उदाहरण में एक प्रकार के द्वैत रूप में। इस कारण से, यद्यपि 'भक्ति' ज्ञान और कर्म में निहित होती है, तथापि उसे 'निर्गुण' मानना चाहिए, क्योंकि, वह सभी 'गुणों' से अतीत केवल परमेश्वर का उल्लेख करती है। इस प्रकार स्पष्टतः 'भक्ति' एक अनुभवातीत प्रक्रिया है। यह निःसन्देह सत्य है कि कभी-कभी उसका 'सगुण' के रूप में वर्णन किया जाता है, किन्तु उक्त सभी उदाहरणों में भक्ति का ऐसा वर्णन केवल अन्तःकरण के बौद्धिक, क्रियात्मक अथवा भावनात्मक गुणों के साहचर्य के कारण ही हो सकता है।[1] वस्तुतः 'भक्ति' का अर्थ 'भगवान के साथ निवास करना' होता है, चूंकि भगवान् स्वयं गुणातीत है, इसलिए भगवान के साथ अथवा भगवान के अन्तर्गत निवास करने का अर्थ अनिवार्यतः एक गुणातीत अवस्था होनी चाहिए। किन्तु, अन्य विद्वान् उपासनामय कर्म के रूप में एवं ईश्वर प्राप्तिमय ज्ञान के रूप में 'भक्ति' का विभेद करते हैं, तथा उनके अनुसार केवल पश्चादुक्त को ही गुणातीत (निर्गुण) माना जाता है। परन्तु, यद्यपि वास्तविक उपासना का कार्य 'गुणों' में एवं गुणों के द्वारा अभिव्यक्ति होता है, तथापि उसको निर्धारित करने वाला आध्यात्मिक कर्म जड़ात्मक प्रभावों से अतीत माना जाना चाहिए।[2]

यहाँ यह प्रश्न स्वभावतः उठ सकता है कि यदि परमेश्वर सदा आनंद-स्वरूप होता है तो भक्त के लिए उसको अपनी भक्ति के द्वारा संतुष्ट करना कैसे सम्भव है? यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, तथा आगे और कहा जा सकता है कि 'भक्ति' परमेश्वर के निजी आनन्दमय स्वरूप की आत्म-सिद्धि का एक प्रकार है, उसकी प्रक्रिया की विधि ऐसी है कि यहाँ भगवान की 'ह्लादिनी' शक्ति भक्त को अपने संघटक तत्त्व के रूप में अपने अन्तर्गत लेकर क्रियान्वित होती है, तथा उसका स्वरूप ऐसा है कि वह न

---

[1] यत् तु श्री कपिल देवेन भक्तेरपि निर्गुण सगुणावस्थाः कथितास्तत् पुनः पुरुपान्तः-करण गुणा एव तस्यामुपचर्यन्ते इति स्थितम्। —वही, पृ० ५२०।

[2] वही, पृ० ५२२।

केवल भगवान के लिए आनन्दमय होती है, वरन् भक्त के लिए भी आनंदमय होती है।[1] एक भक्त में 'भक्ति' का आविर्भाव उसमें भगवान की आत्मसिद्धि-मय शक्ति के रूप में अभिव्यक्त भगवदिच्छा के कारण होता है, तथा भगवान की इच्छा की ऐसी अभिव्यक्ति की व्याख्या उसकी दया के रूप में की जानी चाहिए। इसलिए किसी भी व्यक्ति में भक्ति के आविर्भाव का यथार्थ कारण भगवान होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि न केवल 'भक्ति' का उदय वल्कि इन्द्रिय-शक्तियों के व्यापार तक भगवान की इच्छा के प्रभाव से होते हैं, इस प्रकार भगवान मानवों के सकल व्यवहार में आत्म-सिद्धि ही की प्राप्ति करता है, यद्यपि केवल 'भक्ति' में ही उसके उच्चतम एवं सर्वाधिक आनन्दमय स्वरूप की आत्माभिव्यक्ति भक्त की संतुष्टि के लिए होती है, अतएव इसे उसके विशेष अनुग्रह का कार्य समझना चाहिए। शास्त्रों में यह कहा गया है कि भगवन्नाम का संक्षिप्त संकीर्तन भी भगवान को संतुष्ट करने के लिए यथेष्ट होता है, तथा जो व्यक्ति उक्त शास्त्र-पाठों को अतिशयोक्ति (अर्थवाद) मानते हैं उन्हें भगवान द्वारा दण्ड दिया जाता है। किन्तु सच्चा भक्त इस कारण भगवन्नाम का संकीर्तन समाप्त नहीं कर देता क्योंकि केवल एक संकीर्तन ही 'उसे संतुष्ट करने के लिए यथेष्ट होता है, और भगवन्नाम का संकीर्तन ही उसे अत्यानंद के भावातिरेक में प्लावित कर देता है। परन्तु फिर भी ऐसे उदाहरण होते हैं जिनमें केवल सकीर्तन या यही ईश्वर साक्षात्कार के लिए यथेष्ट नहीं होता, ऐसे उदाहरणों में यह मान लेना चाहिए कि भक्त महा पातकी है। जो व्यक्ति महा पातकी होते हैं उन पर भगवान अपनी दया प्रदान करने के लिए सरलता से प्रवृत्त नहीं होते हैं, ऐसे व्यक्तियों को तबतक भगवन्नाम का निरंतर संकीर्तन करना चाहिए जब तक उनके पापों का नाश न हो जाए और वांछित लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाए। भगवन्नाम का संकीर्तन स्वयं निकृष्टतम पापों का नाश करने के लिए यथेष्ट होता है, किन्तु मन का कपट (कौटिल्य), 'अश्रद्धा' तथा भगवान के प्रति हमारी आसक्ति में बाधक वस्तुओं में आसक्ति निकृष्टतम पाप हैं, क्योंकि उनकी उपस्थिति से मन में 'भक्ति' के आविर्भाव की प्रक्रिया अवरुद्ध होती है, तथा ऐसे व्यक्ति स्वयं को भगवान में अनुरक्त नहीं कर सकते।[2] इस प्रकार भक्ति के उदय में निकृष्टतम पापों को करने अथवा अज्ञान में लीन रहने की तुलना में अधिक पांडित्य एवं तज्जनित हृदय की कुटिलता अधिक प्रबल रूप से बाधक सिद्ध हो सकती है, क्योंकि भगवान 'अज्ञानी' के प्रति दयालु होता है किन्तु पश्चादुक्त के प्रति नहीं, मन की उक्त प्रवृत्तियाँ केवल दीर्घकालीन गम्भीर पापों के अस्तित्व के कारण ही उत्पन्न होती हैं। अतः जब कोई पूर्व पाप नहीं होते और नाम-संकीर्तन के पश्चात् कोई गम्भीर अपराध नहीं किए जाते।[3] तब उस हृष्य में सफलता के लिए केवल एक ही संकीर्तन यथेष्ट

---

[1] वही, पृ० ५२३।

[2] षट्-सन्दर्भ, पृ० ५३२-४।

[3] वही, पृ० ५३६।

होता है[1] परन्तु यदि कोई व्यक्ति काल में भगवन्नाम का संकीर्तन करता है, तो केवल एक ही संकीर्तन सर्व पापों के निवारण एवं भगवान के अनन्य साहचर्य के लिए यथेष्ट होता है ।[2]

'श्रद्धा' के अभाव में एक व्यक्ति के लिए ज्ञान अथवा कर्म मार्ग का अनुसरण करना सम्भव नहीं होता, पर फिर भी जो व्यक्ति 'भक्ति-मार्ग' का अनुसरण करना चाहते हैं उनके लिए तो 'श्रद्धा' एक अपरिहार्य अवस्था होती है । जब एक बार धार्मिक 'भक्ति' का उदय हो जाता है, तब भक्त को ज्ञान एवं कर्म-मार्ग का परित्याग कर देना चाहिए । अपनी सफलता के लिए 'भक्ति' किसी कर्मकाण्डीय प्रक्रिया की अपेक्षा नहीं रखती । जिस प्रकार अग्नि स्वभावतः घास को स्वतः जला देती है, उसी प्रकार भगवन्नाम एवं भगवान की विभूतियों का संकीर्तन स्वतः किसी भी मध्यस्थ प्रक्रिया के बिना अविलम्ब सभी पापों का नाश कर देता है । श्रद्धा स्वरूपतः 'भक्ति' का एक अंश नहीं होती, बल्कि वह एक ऐसी पूर्व-अवस्था है जो 'भक्ति'[3] के उदय को सम्भव बनाती है । 'भक्ति-मार्ग' का अनुसरण करते समय एक व्यक्ति को ज्ञान अथवा कर्म-मार्ग का अनुसरण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, ऐसा अभ्यास भक्ति की वृद्धि में प्रबल बाधक सिद्ध होगा ।

यदि 'भक्ति' से ईश्वर-सान्निध्य उत्पन्न होता है, तो चूँकि ईश्वर की तीन शक्तियाँ—ब्रह्मन्, परमात्मन् और भगवान् होती हैं, इसलिए तीन प्रकार का सान्निध्य प्राप्त करना सम्भव है, इनमें से तृतीय द्वितीय से श्रेष्ठ होता है और द्वितीय प्रथम से । रूप से सम्पन्न ईश्वर-साक्षात्कार रूप से रहित साक्षात्कार से श्रेष्ठ होता है । सच्चा भक्त तथाकथित शक्ति एवं ऐश्वर्य के उच्चतर पद की तुलना में ईश्वर की दासता के पद को अधिक मान्यता देता है,[4] इसलिए वह किन्हीं अन्य तथाकथित लाभदायक फलों से असंबंधित शुद्ध भक्ति की कामना करता है । ऐसे भक्त, जो केवल भगवान और भगवान मात्र ही की कामना करते हैं, 'एकान्तिन' कहलाते हैं, जो अन्य प्रकार के सभी

---

[1] वही, पृ० ५३६ ।

[2] वही ।

[3] 'भक्ति' के निम्नलिखित नौ लक्षण बतलाए जाते हैं :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनं अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म-निवेदनम् ।

—वही, पृ० ५४१ ।

किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि 'भक्ति' का इन सर्व नवधा रूपों में अनुसरण किया जाय ।

[4] को मूढ़ो दासतां प्राप्य प्राभवं पदमिच्छति । —वही, पृ० ५५१ ।

भक्तों से श्रेष्ठ होते हैं, इस प्रकार की भक्ति को 'अकिंचन-भक्ति' कहा जाता है। यह तर्क किया जा सकता है कि जब सभी व्यक्ति ईश्वर के अंश हैं, और अंशी के अंशों के रूप में वे उसके प्रति स्वभावतः आसक्त होते हैं, इसलिए उन सबके लिए 'अकिंचन-भक्ति' स्वाभाविक होनी चाहिए, किन्तु, इसका उत्तर यह है कि जहाँ तक ईश्वर की 'स्वरूप शक्ति' का संबंध है मानव उसका अंश नहीं होता, वरन् जहाँ तक 'वह' अपनी 'तटस्थ-शक्ति' सहित अपनी विविध शक्तियों से सम्पन्न होता है, वहीं उसका अंश होता है। मानव ईश्वर का अंश इस अर्थ में है कि बाह्य एवं आंतरिक दोनों दृष्टि से वह ईश्वर के अपरोक्ष संबंध में होता है, किन्तु फिर भी उसमें अपनी मूल व सामान्य प्रवृत्तियाँ, रुचि तथा स्वभाव आदि होते हैं, जो उसे ईश्वर से पृथक् करते हैं। इस कारण से, यद्यपि मानव ईश्वर के जीवन में भाग लेता है और उसका भी वही जीवन होता है, तथापि स्वयं अपने विचारों व प्रवृत्तियों के कोष में आवृत्त रहने के कारण वह ईश्वर-प्रसाद के अतिरिक्त ईश्वर-भक्ति रूपी अपने जन्म-सिद्ध अधिकार में आसक्त नहीं हो सकता।[1] जब एक व्यक्ति कुटिलता आदि के सदृश महाबाधक पापों के प्रभाव में नहीं होता है, तब अन्य भक्तों के साथ उसका समागम ईश्वर को अपना अनुग्रह प्रदान करने के लिए अवसर देता है और उसके मन में भक्ति जाग्रत होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी प्राणियों को अनिवार्यतः मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए, जीवात्माओं की संख्या अनंत होती है, तथा केवल उन्हीं को मोक्ष प्राप्त होगा जो उसके अनुग्रह को जाग्रत कर पाते हैं। अनादि काल से मानव ईश्वर के प्रति अज्ञ है और उससे विमुख है, तथा यह स्वाभाविक बाधा सच्चे भक्तों के साहचर्य (सत्संग) से ही दूर की जा सकती है, ईश्वर मानवों में ऐसे उत्तम भक्तों के अनुग्रह से अवतरित होता है जो किसी न किसी काल में अन्य साधारण व्यक्तियों की भाँति पीड़ित रह चुके हैं, अतएव उनके प्रति स्वभावतः सहानुभूति रखते हैं।[2] ईश्वर स्वयं उनके प्रति सहानुभूति नहीं रख सकता, क्योंकि सहानुभूति में पीड़ा की पूर्व-कल्पना निहित होती है, ईश्वर विशुद्ध आनन्द-स्वरूप होता है, अतः उसे साधारण प्राणियों के दुःख का अनुभव नहीं हो सकता।

सर्वोत्तम भक्त वह है जो सर्व भूतों में भगवान को देखता है तथा सर्व भूतों को अपनी आत्मा एवं उसमें अभिव्यक्त भगवान के अंतर्गत देखता है।[3] द्वितीय प्रकार का भक्त (मध्यम) वह है जो भगवान के प्रति प्रेम, उसके भक्तों के प्रति मैत्री, अज्ञानियों

---

[1] वही, पृ० ५५३।

[2] षट्-सन्दर्भ, पृ० ५५७।

[3] सर्व-भूतेषु यः पश्येद् भगवद्-भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः। —वही, पृ० ५६१।

होता है[1] परन्तु यदि कोई व्यक्ति काल में भगवन्नाम का संकीर्तन करता है, तो केवल एक ही संकीर्तन सर्व पापों के निवारण एवं भगवान के अनन्य साहचर्य के लिए यथेष्ट होता है।[2]

'श्रद्धा' के अभाव में एक व्यक्ति के लिए ज्ञान अथवा कर्म मार्ग का अनुसरण करना सम्भव नहीं होता, पर फिर भी जो व्यक्ति 'भक्ति-मार्ग' का अनुसरण करना चाहते हैं उनके लिए तो 'श्रद्धा' एक अपरिहार्य अवस्था होती है। जब एक बार धार्मिक 'भक्ति' का उदय हो जाता है, तब भक्त को ज्ञान एवं कर्म-मार्ग का परित्याग कर देना चाहिए। अपनी सफलता के लिए 'भक्ति' किसी कर्मकाण्डीय प्रक्रिया की अपेक्षा नहीं रखती। जिस प्रकार अग्नि स्वभावतः घास को स्वतः जला देती है, उसी प्रकार भगवन्नाम एवं भगवान की विभूतियों का संकीर्तन स्वतः किसी भी मध्यस्थ प्रक्रिया के बिना अविलम्ब सभी पापों का नाश कर देता है। श्रद्धा स्वरूपतः 'भक्ति' का एक अंश नहीं होती, बल्कि वह एक ऐसी पूर्व-अवस्था है जो 'भक्ति'[3] के उदय को सम्भव बनाती है। 'भक्ति-मार्ग' का अनुसरण करते समय एक व्यक्ति को ज्ञान अथवा कर्म-मार्ग का अनुसरण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, ऐसा अभ्यास भक्ति की वृद्धि में प्रबल बाधक सिद्ध होगा।

यदि 'भक्ति' से ईश्वर-सान्निध्य उत्पन्न होता है, तो चूंकि ईश्वर की तीन शक्तियाँ—ब्रह्मन्, परमात्मन् और भगवान् होती हैं, इसलिए तीन प्रकार का सान्निध्य प्राप्त करना सम्भव है, इनमें से तृतीय द्वितीय से श्रेष्ठ होता है और द्वितीय प्रथम से। रूप से सम्पन्न ईश्वर-साक्षात्कार रूप से रहित साक्षात्कार से श्रेष्ठ होता है। सच्चा भक्त तथाकथित शक्ति एवं ऐश्वर्य के उच्चतर पद की तुलना में ईश्वर की दासता के पद को अधिक मान्यता देता है,[4] इसलिए वह किन्हीं अन्य तथाकथित लाभदायक फलों से असंबंधित शुद्ध भक्ति की कामना करता है। ऐसे भक्त, जो केवल भगवान और भगवान मात्र ही की कामना करते हैं, 'एकान्तिन' कहलाते हैं, जो अन्य प्रकार के सभी

---

[1] वही, पृ० ५३६।

[2] वही।

[3] 'भक्ति' के निम्नलिखित नौ लक्षण बतलाए जाते हैं :
श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनं अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म-निवेदनम्।
—वही, पृ० ५४१।
किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि 'भक्ति' का इन सर्व नवधा रूपों में अनुसरण किया जाय।

[4] को मूढ़ो दासतां प्राप्य प्राभवं पदमिच्छति। —वही, पृ० ५५१।

भक्तों से श्रेष्ठ होते हैं, इस प्रकार की भक्ति को 'अकिंचन-भक्ति' कहा जाता है। यह तर्क किया जा सकता है कि जब सभी व्यक्ति ईश्वर के अंश हैं, और अंशी के अंशों के रूप में वे उसके प्रति स्वभावतः आसक्त होते हैं, इसलिए उन सबके लिए 'अकिंचन-भक्ति' स्वाभाविक होनी चाहिए, किन्तु, इसका उत्तर यह है कि जहाँ तक ईश्वर की 'स्वरूप शक्ति' का संबंध है मानव उसका अंश नहीं होता, वरन् जहाँ तक 'वह' अपनी 'तटस्थ-शक्ति' सहित अपनी विविध शक्तियों से सम्पन्न होता है, वहीं उसका अंश होता है। मानव ईश्वर का अंश इस अर्थ में है कि बाह्य एवं आंतरिक दोनों दृष्टि से वह ईश्वर के अपरोक्ष संबंध में होता है, किन्तु फिर भी उसमें अपनी मूल व सामान्य प्रवृत्तियाँ, रुचि तथा स्वभाव आदि होते हैं, जो उसे ईश्वर से पृथक् करते हैं। इस कारण से, यद्यपि मानव ईश्वर के जीवन में भाग लेता है और उसका भी वही जीवन होता है, तथापि स्वयं अपने विचारों व प्रवृत्तियों के कोष में आवृत्त रहने के कारण वह ईश्वर-प्रसाद के अतिरिक्त ईश्वर-भक्ति रूपी अपने जन्म-सिद्ध अधिकार में आसक्त नहीं हो सकता।[1] जब एक व्यक्ति कुटिलता आदि के सदृश महाबाधक पापों के प्रभाव में नहीं होता है, तब अन्य भक्तों के साथ उसका समागम ईश्वर को अपना अनुग्रह प्रदान करने के लिए अवसर देता है और उसके मन में भक्ति जाग्रत होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी प्राणियों को अनिवार्यतः मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए, जीवात्माओं की संख्या अनंत होती है, तथा केवल उन्हीं को मोक्ष प्राप्त होगा जो उसके अनुग्रह को जाग्रत कर पाते हैं। अनादि काल से मानव ईश्वर के प्रति अज्ञ है और उससे विमुख है, तथा यह स्वाभाविक बाधा सच्चे भक्तों के साहचर्य (सत्संग) से ही दूर की जा सकती है, ईश्वर मानवों में ऐसे उत्तम भक्तों के अनुग्रह से अवतरित होता है जो किसी न किसी काल में अन्य साधारण व्यक्तियों की भाँति पीड़ित रह चुके हैं, अतएव उनके प्रति स्वभावतः सहानुभूति रखते हैं।[2] ईश्वर स्वयं उनके प्रति सहानुभूति नहीं रख सकता, क्योंकि सहानुभूति में पीड़ा की पूर्व-कल्पना निहित होती है, ईश्वर विशुद्ध आनन्द-स्वरूप होता है, अतः उसे साधारण प्राणियों के दुःख का अनुभव नहीं हो सकता।

सर्वोत्तम भक्त वह है जो सर्व भूतों में भगवान को देखता है तथा सर्व भूतों को अपनी आत्मा एवं उसमें अभिव्यक्त भगवान के अंतर्गत देखता है।[3] द्वितीय प्रकार का भक्त (मध्यम) वह है जो भगवान के प्रति प्रेम, उसके भक्तों के प्रति मैत्री, अज्ञानियों

---

[1] वही, पृ० ५५३।

[2] षट्-सन्दर्भ, पृ० ५५७।

[3] सर्व-भूतेषु यः पश्येद् भगवद्-भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः। —वही, पृ० ५६१।

होता है[1] परन्तु यदि कोई व्यक्ति काल में भगवन्नाम का संकीर्तन करता है, तो केवल एक ही संकीर्तन सर्व पापों के निवारण एवं भगवान के अनन्य साहचर्य के लिए यथेष्ट होता है।[2]

'श्रद्धा' के अभाव में एक व्यक्ति के लिए ज्ञान अथवा कर्म मार्ग का अनुसरण करना सम्भव नहीं होता, पर फिर भी जो व्यक्ति 'भक्ति-मार्ग' का अनुसरण करना चाहते हैं उनके लिए तो 'श्रद्धा' एक अपरिहार्य अवस्था होती है। जब एक बार धार्मिक 'भक्ति' का उदय हो जाता है, तब भक्त को ज्ञान एवं कर्म-मार्ग का परित्याग कर देना चाहिए। अपनी सफलता के लिए 'भक्ति' किसी कर्मकाण्डीय प्रक्रिया की अपेक्षा नहीं रखती। जिस प्रकार अग्नि स्वभावतः घास को स्वतः जला देती है, उसी प्रकार भगवन्नाम एवं भगवान की विभूतियों का संकीर्तन स्वतः किसी भी मध्यस्थ प्रक्रिया के बिना अविलम्ब सभी पापों का नाश कर देता है। श्रद्धा स्वरूपतः 'भक्ति' का एक अंश नहीं होती, बल्कि वह एक ऐसी पूर्व-अवस्था है जो 'भक्ति'[3] के उदय को सम्भव बनाती है। 'भक्ति-मार्ग' का अनुसरण करते समय एक व्यक्ति को ज्ञान अथवा कर्म-मार्ग का अनुसरण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, ऐसा अभ्यास भक्ति की वृद्धि में प्रबल बाधक सिद्ध होगा।

यदि 'भक्ति' से ईश्वर-सान्निध्य उत्पन्न होता है, तो चूँकि ईश्वर की तीन शक्तियाँ—ब्रह्मन्, परमात्मन् और भगवान् होती हैं, इसलिए तीन प्रकार का सान्निध्य प्राप्त करना सम्भव है, इनमें से तृतीय द्वितीय से श्रेष्ठ होता है और द्वितीय प्रथम से। रूप से सम्पन्न ईश्वर-साक्षात्कार रूप से रहित साक्षात्कार से श्रेष्ठ होता है। सच्चा भक्त तथाकथित शक्ति एवं ऐश्वर्य के उच्चतर पद की तुलना में ईश्वर की दासता के पद को अधिक मान्यता देता है,[4] इसलिए वह किन्हीं अन्य तथाकथित लाभदायक फलों से असंबंधित शुद्ध भक्ति की कामना करता है। ऐसे भक्त, जो केवल भगवान और भगवान मात्र ही की कामना करते हैं, 'एकान्तिन' कहलाते हैं, जो अन्य प्रकार के सभी

---

[1] वही, पृ० ५३६।

[2] वही।

[3] 'भक्ति' के निम्नलिखित नौ लक्षण बतलाए जाते हैं :
श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनं अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म-निवेदनम्।
—वही, पृ० ५४१।
किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि 'भक्ति' का इन सर्व नवधा रूपों में अनुसरण किया जाय।

[4] को मूढ़ो दासतां प्राप्य प्राभवं पदमिच्छति। —वही, पृ० ५५१।

भक्तों से श्रेष्ठ होते हैं, इस प्रकार की भक्ति को 'अकिंचन-भक्ति' कहा जाता है। यह तर्क किया जा सकता है कि जब सभी व्यक्ति ईश्वर के अंश हैं, और अंशी के अंशों के रूप में वे उसके प्रति स्वभावत: आसक्त होते हैं, इसलिए उन सबके लिए 'अकिंचन-भक्ति' स्वाभाविक होनी चाहिए, किन्तु, इसका उत्तर यह है कि जहाँ तक ईश्वर की 'स्वरूप शक्ति' का संबंध है मानव उसका अंश नहीं होता, वरन् जहाँ तक 'वह' अपनी 'तटस्थ-शक्ति' सहित अपनी विविध शक्तियों से सम्पन्न होता है, वहीं उसका अंश होता है। मानव ईश्वर का अंश इस अर्थ में है कि बाह्य एवं आंतरिक दोनों दृष्टि से वह ईश्वर के अपरोक्ष संबंध में होता है, किन्तु फिर भी उसमें अपनी मूल व सामान्य प्रवृत्तियाँ, रुचि तथा स्वभाव आदि होते हैं, जो उसे ईश्वर से पृथक् करते हैं। इस कारण से, यद्यपि मानव ईश्वर के जीवन में भाग लेता है और उसका भी वही जीवन होता है, तथापि स्वयं अपने विचारों व प्रवृत्तियों के कोष में आवृत्त रहने के कारण वह ईश्वर-प्रसाद के अतिरिक्त ईश्वर-भक्ति रूपी अपने जन्म-सिद्ध अधिकार में आसक्त नहीं हो सकता।[1] जब एक व्यक्ति कुटिलता आदि के सदृश महाबाधक पापों के प्रभाव में नहीं होता है, तब अन्य भक्तों के साथ उसका समागम ईश्वर को अपना अनुग्रह प्रदान करने के लिए अवसर देता है और उसके मन में भक्ति जाग्रत होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी प्राणियों को अनिवार्यत: मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए, जीवात्माओं की संख्या अनंत होती है, तथा केवल उन्हीं को मोक्ष प्राप्त होगा जो उसके अनुग्रह को जाग्रत कर पाते हैं। अनादि काल से मानव ईश्वर के प्रति अज्ञ है और उससे विमुख है, तथा यह स्वाभाविक बाधा सच्चे भक्तों के साहचर्य (सत्संग) से ही दूर की जा सकती है, ईश्वर मानवों में ऐसे उत्तम भक्तों के अनुग्रह से अवतरित होता है जो किसी न किसी काल में अन्य साधारण व्यक्तियों की भाँति पीड़ित रह चुके हैं, अतएव उनके प्रति स्वभावत: सहानुभूति रखते हैं।[2] ईश्वर स्वयं उनके प्रति सहानुभूति नहीं रख सकता, क्योंकि सहानुभूति में पीड़ा की पूर्व-कल्पना निहित होती है, ईश्वर विशुद्ध आनन्द-स्वरूप होता है, अत: उसे साधारण प्राणियों के दु:ख का अनुभव नहीं हो सकता।

सर्वोत्तम भक्त वह है जो सर्व भूतों में भगवान को देखता है तथा सर्व भूतों को अपनी आत्मा एवं उसमें अभिव्यक्त भगवान के अंतर्गत देखता है।[3] द्वितीय प्रकार का भक्त (मध्यम) वह है जो भगवान के प्रति प्रेम, उसके भक्तों के प्रति मैत्री, अज्ञानियों

---

[1] वही, पृ० ५५३।

[2] षट्-सन्दर्भ, पृ० ५५७।

[3] सर्व-भूतेषु य: पश्येद् भगवद्-भावमात्मन:।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम:। —वही, पृ० ५६१।

के प्रति कृपा और अपने शत्रुओं के प्रति उपेक्षा रखता है।[1] 'प्राकृत' भक्त वह है जो श्रद्धा-भक्ति सहित भगवान की मूर्त्ति की पूजा करता है, किन्तु उसके भक्तों अथवा अन्य व्यक्तियों के प्रति कोई विशेष भाव नहीं रखता।[2] सर्वोत्तम भक्त के अन्य और विवरण भी हैं; जैसे 'गीता' में कहा गया है कि वह जिसका चित्त शुद्ध एवं कामनाओं व कर्म से अनाक्रांत रहता है, और जिसका मन सदा वासुदेव में अनुरक्त रहता है, सर्वोत्तम भक्त माना जाना चाहिए,[3] आगे कहा गया है कि सर्वोत्तम भक्त वह है जो 'स्व' एवं 'पर' अथवा अपनी एवं पराई वस्तुओं में कोई भेद नहीं करता, तथा सर्वभूतों का सुहृद् और आत्मा में पूर्ण शान्त होता है,[4] और आगे, सर्वोत्तम भक्त वह है जिसका चित्त अपरोक्ष रूप से ईश्वर के अधीन होता है तथा जो प्रेम बंधन के द्वारा भगवान के चरण-कमलों को धारण करता है।[5]

एक अन्य दृष्टिकोण से 'भक्ति' की 'सेवा' के रूप में अथवा सभी वस्तुओं की प्राप्ति के साधन के रूप में परिभाषा दी गई है, पूर्वोक्त को 'स्वरूप-लक्षण' तथा पश्चादुक्त को 'तटस्थ-लक्षण' कहा जाता है तथा भक्ति त्रिविध स्वरूप की मानी गई है—केवल बाह्य भक्ति (आरोप-सिद्धि), अन्य भक्तों के साहचर्य से उत्पन्न भक्ति (संग-सिद्ध) तथा भगवान के प्रति सहज प्रेम-भाव से उत्पन्न भक्ति (स्वरूप-सिद्ध)। प्रथम दो उदाहरणों में 'भक्ति' कल्पित (कितव) कही जाती है, और अन्तिम उदाहरण में यथार्थ (अकितव) कही जाती है।[6] भक्ति-मार्ग में सर्वाधिक प्रत्यक्ष क्रिया भगवान के नाम एवं विभूतियों का श्रवण और कीर्तन है, किन्तु उससे अप्रत्यक्ष रूप से संबंधित सभी कर्मों का भगवान के प्रति समर्पण भी होता है। ऐसा करने में भक्त अपने दुष्कृत्यों का भी समावेश करता है, वह न केवल अपने धार्मिक कर्तव्यों के फलों व जीवन के सामान्य कर्तव्यों को समर्पित ही करता है, वरन् उन कर्मों को भी समर्पित करता है जो कि वासनाओं से प्रेरित होते हैं। वह भगवान के समक्ष अपने स्वभाव

---

[1] ईश्वर तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्स्वपि प्रेम-मैत्री—कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः।
—वही, पृ० ५६२।

[2] अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयते न तद्-भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः।
—वही, पृ० ५६४।

[3] न काम-कर्म बीजानां यस्य चेतसि सम्भवः
वासुदेवैक निलयः स वै भागवतोत्तमः। —वही, पृ० ५६४।

[4] न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा सर्व-भूता-सुहृच्छान्तः स वै भागवतोत्तमः। —वही, पृ० ५६५।

[5] वही, पृ० ५६५।

[6] षट्-संदर्भ, पृ० ५८१—२।

के सभी दोषों तथा अपने द्वारा किए गए सभी दुष्कृत्यों को स्वीकार करता है, और उसके अनुग्रह के हेतु उसकी प्रार्थना करता है जिससे उसके सकल पाप धुल जाते हैं। एक भक्त भगवान से प्रार्थना करता है कि वह उसके लिए प्रेम से उसी प्रकार उन्मत्त हो जाय जिस प्रकार एक युवती एक युवक के तथा एक युवक एक युवती के प्रेम में रमण करता है।[1] जब एक मनुष्य स्वार्थ से प्रेरित होकर कोई कार्य करता है, तब वह असफलताओं अथवा न्यून फलों के कारण पीड़ित हो सकता है, किन्तु, जब वह अपने कर्मों को ईश्वर को अर्पित कर देता है, तब वह उक्त असफलताओं के कारण पीड़ित नहीं होता। सर्व कर्म एवं उनके फल वस्तुतः भगवान की सम्पत्ति होते हैं, केवल अज्ञान अथवा मिथ्या संकल्पनाओं के कारण हम उनका स्वायत्तीकरण कर लेते हैं और उनके बंधनों में बंध जाते हैं। किन्तु यदि इन्हीं कर्मों को उचित दृष्टिकोण से किया जाय तो हम उनके प्रभावों से नहीं बंध सकते, इस प्रकार यदि यह अनुभूति करें कि वह हमारी संपत्ति नहीं है भगवान की संपत्ति है तो जो कर्म हमारे जन्म एवं पुनर्जन्म के लिए उत्तरदायी हैं वे उक्त चक्र को नष्ट कर सकते हैं तथा हमें उनके बंधन से मुक्त कर सकते हैं।[2] यदि यह तर्क किया जाय कि आज्ञा प्राप्त कर्मों का अनुष्ठान कर्ता में एक नवीन व अज्ञात शक्ति (अपूर्व) को उत्पन्न करता है, तो यह भी तर्क किया जा सकता है कि मानव में यथार्थ कर्ता उसका 'अंतर्यामिन्' है, जो उसे कर्म में प्रवृत्त करता है, अतएव कर्म इस अन्तर्यामिन्-भगवान की सम्पत्ति होता है, तथा यह मानना गलत है कि कर्म का कर्ता यथार्थ कर्ता है।[3] इस प्रकार सभी वैदिक कर्म चरम कर्ता के रूप में केवल भगवान के द्वारा ही सम्पन्न किए जाते हैं, अतएव सभी कर्मों के फल केवल उसी की सम्पत्ति हो सकते हैं।

हमारे कर्मों का भगवान को समर्पण पुनः द्विविध स्वरूप का हो सकता है–एक व्यक्ति एक कर्म को उसके द्वारा भगवान को संतुष्ट करने के स्पष्ट उद्देश्य से कर सकता है, अथवा वह उस कर्म को उसके फल की प्राप्ति इच्छा के बिना कर सकता है तथा उसको भगवान के अर्पण कर सकता है–एक तो 'कर्म-सन्यास' है और दूसरा 'फल-सन्यास'। कर्म या तो इच्छाओं से अथवा भगवान के लिए प्रेरित हो सकते हैं, अर्थात् फलों को भगवान पर छोड़ना अथवा भगवान को संतुष्ट करने के हेतु करना तथा कहा जाता है कि पश्चादुक्त विशुद्ध 'भक्ति' के कारण होता है। ये तीन प्रकार के कर्म

---

[1] युवतीनां यथा यूनि यूनांच युवतौ यथा
मनोऽभिरमते तद्वन् मनो मे रमतां त्वयि।

–'विष्णु-पुराणम्' पृ० ५८।

[2] वही, पृ० ५८५।

[3] वही, पृ० ५८६।

'कामनानिमित्त' 'नैष्कर्म्य-निमित्त' और 'भक्ति-निमित्त' कर्मों के रूप में वर्गीकृत किए गए हैं। सच्चे भक्त अपने सभी कर्म भगवान को संतुष्ट करने के हेतु करते हैं, अन्य किसी भी हेतु से नहीं। पुनः 'भक्ति' को 'कर्म' से संबंधित माना जा सकता है, और इसलिए उसे 'सकाम' 'कैवल्य-काम' व भक्ति मात्र-काम माना जा सकता है। जब एक व्यक्ति साधारण इच्छाओं की पूर्ति के लिए भगवान की भक्ति करता है, तब उसे 'सकाम-भक्ति' माना जाता है। 'कैवल्य-काम-भक्ति' को 'कर्म' अथवा 'कर्म' व 'ज्ञान' से संबंधित माना जा सकता है, यह उस व्यक्ति के उदाहरण में पाया जाता है जो भगवान पर ध्यान को केन्द्रित करता है तथा 'योग' पथ पर आरूढ़ होता है, वैराग्य का अभ्यास करता है, और भगवान के साथ अपने एकत्व को संकल्पित करने का प्रयत्न करता है, और ऐसी प्रक्रियाओं के द्वारा स्वयं को 'प्रकृति' के बंधन से मुक्त कर लेता है, वह ज्ञान व कर्म के द्वारा 'जीवात्मन्' का 'परमात्मन्' से एकीकरण करने का प्रयास करता है। तीसरा प्रकार 'कर्म' से अथवा 'कर्म' व 'ज्ञान' से संबंधित हो सकता है। इनमें से प्रथम वर्ग के भक्त भगवान के नाम एवं विभूतियों के संकीर्तन, उसकी निरंतर उपासना और उसके प्रति अपने सभी कर्मों के समर्पण के द्वारा अपनी भक्ति को प्रकट करते हैं। द्वितीय वर्ग के भक्त भगवान के प्रति अपनी भक्ति में सकल वस्तुओं के प्रति एक प्रबुद्ध दृष्टिकोण के निरंतर अभ्यास का समावेश करते हैं, वे सर्व जनों को भगवान की अभिव्यक्ति मानते हैं, वे सर्व उत्तेजक परिस्थितियों में धैर्य रखते हैं और स्वयं को सकल वासनाओं से विरक्त बना लेते हैं, वे बड़ों के प्रति आदरयुक्त, दीन-हीनों के प्रति दयालु और अपने समतुल्यों के प्रति मैत्रीपूर्ण होते हैं, वे 'यम' एवं 'नियम' के अंतर्गत समाविष्ट सद्गुणों का अभ्यास करते हैं, अपना सकल अहंकार विनष्ट कर देते हैं तथा भगवान की विभूति के चिंतन एवं उसके नाम के संकीर्तन में संलग्न रहते हैं। किन्तु जिसमें उच्चतम प्रकार की भक्ति अकिंचन भक्ति होती है वह ऐसा होता है कि भगवान का नाम सुनने मात्र से ही उसका मन भगवान की ओर इस प्रकार प्रवाहित हो जाता है जैसे गंगा का जल समुद्र में प्रवाहित होता है। ऐसा भक्त उसे दी गई किसी भी वस्तु को अंगीकार नहीं करता, उसका एक मात्र सुख निरंतर भगवान में लीन रहने में निहित होता है।

एक अन्य दृष्टिकोण से 'भक्ति' का 'वैधी' और 'रागानुग' दो वर्गों में विभाजन किया जा सकता है। 'वैधी-भक्ति' दो प्रकार की होती है जो भक्त को भगवान के प्रति समर्पण तथा किसी भी दूरस्थ प्रयोजन के बिना उसकी उपासना के लिए प्रेरित करती है। वह 'वैधी' होती है क्योंकि उक्त 'भक्ति' का प्रोत्साहन शास्त्रों से (जिन्हें अन्यथा 'विधि' अथवा शास्त्रीय आदेश भी कहते हैं) प्राप्त होता है। 'शरणापत्ति' अच्छे आचार्यों व भक्तों का समागम भगवान के नाम का श्रवण और उसके नाम एवं विभूतियों का संकीर्तन आदि 'वैधी भक्ति' के अन्तर्गत आते हैं। इनमें से 'शरणागति'

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ जीवन के सभी भय व दुःखों से निराश होकर भगवान की शरण में जाना होता है।[1] इस प्रकार 'शरणागति' में कोई उत्तेजक कारण होना चाहिए जो एकमात्र संरक्षक के रूप में भगवान की शरण में जाने के लिए भक्त को प्रेरित करता है। जो व्यक्ति भगवान की ओर उसके प्रति प्रगाढ़ अनुराग के कारण उन्मुख होते हैं वे भी अपनी उस पूर्व अवस्था के प्रति घृणा से प्रेरित होते हैं, जब उनके मन भगवान से विमुख थे। उसमें भी इस धारणा का समावेश होता है कि अन्य कोई संरक्षक उपलब्ध नहीं है अथवा किसी भी ऐसे अन्य व्यक्ति अथवा प्राणी के परित्याग का समावेश होता है। जिस पर भक्त पहले आश्रित था। व्यक्ति को वैदिक अथवा 'स्मृति' के आदेशों में सभी आशाओं का परित्याग कर देना चाहिए तथा एकमात्र आश्रय के रूप में भगवान की ओर उन्मुख होना चाहिए। 'शरणापत्ति' की परिभाषा निम्नलिखित तत्त्वों के समावेश द्वारा की जा सकती है--(१) नित्यप्रति भगवान के अनुकूल कार्य एवं विचार करना, (२) भगवान के किसी भी प्रकार से प्रतिकूल सभी वस्तुओं का वर्जन करना, (३) यह प्रबल विश्वास रखना कि वह रक्षा करेगा, (४) संरक्षण के हेतु उस पर आश्रित रहना, (५) स्वयं को सम्पूर्णतः भगवान के हाथों में समर्पित करना तथा स्वयं को उस पर पूर्णतः आश्रित समझना, (६) स्वयं को एक अत्यधिक दीन प्राणी समझना जो भगवान के अनुग्रह के अवतरण की प्रतीक्षा में है।[2] इनमें से प्रमुख महत्त्व भगवान को एकमात्र संरक्षक समझने पर दिया जाना चाहिए जिससे अन्य तत्त्वों का केवल घनिष्ट संबध होता है। किन्तु, भगवान के संरक्षण की प्रार्थना के पश्चात् अपने 'गुरु' से सहायता की प्रार्थना एवं उसकी सेवा में अनुरक्ति तथा उन महापुरुषों की सेवा का स्थान आता है जिनके साहचर्य से एक व्यक्ति अन्यथा अप्राप्य अधिकांश वस्तुओं की प्राप्ति कर सकता है।[3] एक प्रमुख रूप जिसमें 'वैधी-भक्ति' अभिव्यक्ति होती है वह है--स्वयं को भगवान का दास मानना अथवा भगवान को हमारा परम मित्र समझना। सेवा और मैत्री के भाव इतने प्रगाढ़ व तीव्र होने चाहिए कि उनके फलस्वरूप एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को भगवान के लिए सम्पूर्णतः त्याग दें, भगवान के प्रति यह पूर्ण आत्म-त्याग शास्त्रीय दृष्टि से 'आत्म-निवेदन' कहलाता है। 'रागानुग' अथवा विशुद्ध भावावेशमय 'भक्ति' का 'वैधी-भक्ति' से विभेद करना आव-

---

[1] अथ वैधी-भेदाः शरणापत्ति–श्री गुर्वादि सत्-सेवा-श्रवण-कीर्तनाद्यः।
—षट्-सन्दर्भ, पृ० ५६३।

[2] शरणापत्तेर्लक्षणं वैष्णव-तन्त्रे,
आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य-विवर्जनम् रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा आत्म-निक्षेप-कार्पण्ये षड्विधा शरणागति। —वही, पृ० ५६३।

[3] वही, पृ० ५६५–६०४।

श्यक है, चूंकि 'रामानुग-भक्ति' केवल भक्त के भावावेगों के झुकाव का अनुसरण करती है, इसलिए उसकी विभिन्न अवस्थाओं के लक्षण बताना कठिन है। इस प्रकार की 'भक्ति' में भक्त भगवान को मानों एक मानव के सदृश मान सकता है, तथा मानवी भावावेगों एवं आवेशों का सकल उत्कण्ठा व तीव्रता सहित उसकी ओर उन्मुख हो सकता है; यथा, इस प्रकार की 'भक्ति' की अभिव्यक्ति का एक प्रमुख रूप उन उदाहरणों में पाया जाता है जिनमें भगवान एक ऐसे प्रेम का विषय होता है जिसे मानवी संबंधों में यौन-प्रेम कहा जा सकता है। यौन-प्रेम हमारे मानवी स्वभाव के लिए सम्भव एक तीव्रतम आवेग होता है, और तदनुसार भगवान को यौन-प्रेम की आवेगमय तीव्रता से प्रेम किया जा सकता है। इस प्रेम-पथ का अनुसरण करने में भक्त थोड़ी देर के लिए भगवान की दिव्यता को भूल सकता है, उसे एक सजातीय प्राणी मान सकता है, तथा उसकी ओर इस प्रकार उन्मुख हो सकता है मानो वह उसका घनिष्ट मित्र हो अथवा एक अतिशय प्रिय पति हो। ऐसी परिस्थितियों में वह उपासना, ध्यान, उसके नाम अथवा विभूतियों के कीर्तन आदि कर्म-काण्डीय औपचारिकताओं का परित्याग कर सकता है, और केवल अपनी भावावेशजन्य प्रवृत्ति का अनुसरण कर सकता है तथा भगवान के साथ अपने भावावेश की प्रवृत्ति के अनुसार व्यवहार कर सकता है। परन्तु ऐसी अवस्थाएं भी हो सकती हैं जहाँ 'रागानुग' 'वैधी' से मिश्रित होती है, जहाँ भक्त 'वैधी-भक्ति' के कुछ कर्मों का अनुसरण कर सकता है और फिर भी भगवान के प्रति आवेग-सहित अनुरक्त हो सकता है। किन्तु जो भक्त भगवान के प्रति भावावेग से केवल आगे खींचे जाते हैं वे स्पष्टतः 'वैधी-भक्ति' की कर्त्तव्य-सीमा के ऊपर होते हैं। भगवान के प्रति उक्त आवेगमय आसक्ति के द्वारा ही नहीं बल्कि जब एक व्यक्ति का मन भगवान के प्रति क्रोध अथवा घृणा के तीव्र संवेग से पूर्ण होता है जिसके फलस्वरूप वह स्वयं को पूर्णतः विस्मृत कर देता है तथा स्वयं को भगवान की उपस्थिति से सर्वथा परिव्याप्त कर देता है—एक घृणा के विषय के रूप में भी—तब भी वह भगवान में अपने स्वरूप को लीन करके अपना सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। एक भक्त 'रागानुग-भक्ति' के द्वारा जिस प्रक्रिया से अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता है वह एक सर्व-व्यापी तीव्र संवेग के माध्यम से भक्त के स्वरूप के भगवान में विलय की प्रक्रिया होती है। इस कारण से, जब भी भगवान के प्रति किसी प्रकार के प्रबल संवेग से एक मनुष्य का मन प्रभावित होता है, तब वह मानो भगवान की सत्ता में लीन हो जाता है और फलतः अपने सीमित व्यक्तित्व के पूर्ण विघटन के द्वारा अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता है।

'षट्-संदर्भ' का लेखक छठे विभाग 'प्रीति-संदर्भ' में परम तत्त्व एवं श्रेष्ठतम पुरुषार्थ के रूप में आनंद (प्रीति) के स्वरूप का निरूपण करता है। मानव का चरम लक्ष्य अथवा उद्देश्य सुख की प्राप्ति एवं दुःख का विनाश होता है, जब भगवान संतुष्ट

होता है तब ही व्यक्ति दुःख के अन्तिम विनाश एवं नित्य सुख की प्राप्ति कर सकता है। व्यक्ति अथवा 'जीव', परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप का सत्य ज्ञान न होने व 'माया' से आवृत्त होने के कारण उसके यथार्थ स्वरूप को जानने में असफल रहता है, अनेक आत्मगत उपाधियों से संबंधित हो जाता है और जन्म एवं पुनर्जन्म के अनादि चक्रों के दुःख को भोगता है। परम आनन्द की प्राप्ति परम तत्त्व की अपरोक्षानुभूति में निहित होती है, यह केवल व्यक्ति के अज्ञान के अन्त एवं तज्जन्य दुःखों की आत्यंतिक समाप्ति के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। इनमें से पूर्वोक्त, यद्यपि अभावात्मक रूप में अभिव्यक्त किया गया है, तथापि परम तत्त्व के स्वप्रकाश स्वरूप होने एवं उसी की आत्माभिव्यक्ति होने के कारण वस्तुतः भावात्मक होता है। पश्चादुक्त विनाश के द्वारा अभावात्मक स्वरूप होने के कारण नित्य व अपरिवर्तनशील होता है–इस रूप में कि, जब दुःखों का एक बार अन्तिम रूप से मूलोच्छेदन हो जाता है, तब आगे कोई दुःख की वृद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार भगवत् प्राप्ति ही परम सुख अथवा आह्लाद को प्राप्त करने का एकमात्र साधन है।[1] 'मुक्ति' भगवत्-प्राप्ति ही है, जिसके फलस्वरूप अहंकार के बंधन का अंत होता है, जो आत्म-स्वरूप में स्थिति की ही अवस्था होती है। यह आत्म-स्वरूप में स्थिति परमात्मन् के रूप में अपने स्वरूप की अनुभूति ही होती है। परन्तु इस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि 'जीव' परमात्मन् से एकरूप नहीं होता, क्योंकि वह केवल उसका अंश है, अतः उसके आनंद स्वरूप का कथन केवल इस तथ्य के कारण किया जाना चाहिए कि उसका सार-तत्त्व परमात्मन् के सार-तत्त्व से उद्भूत होता है। भगवान पूर्ण अंशी की प्राप्ति उसके अंश की परमात्मन् के रूप में प्राप्ति के द्वारा ही होती है (अंशेन अंशि-प्राप्ति)। इसकी प्राप्ति दो रूपों में की जा सकती है, प्रथमतः व्यक्ति के अज्ञान (जो केवल 'माया' की अवस्था अथवा कार्य-व्यापार है) के विनाश के साथ-साथ ब्रह्मन् के ज्ञान के प्रकाश द्वारा केवल उसकी स्वरूप-शक्तियों से निर्मित ब्रह्मत्व की प्राप्ति के रूप में, द्वितीयतः, सगुण रूप में परमेश्वर की तर्कातीत शक्तियों से संबंधित उसके सगुण स्वरूप की प्राप्ति के रूप में। 'मुक्ति' इस जीवन में तथा मृत्यु के पश्चात् दोनों अवसरों पर प्राप्त की जा सकती है, जब एक व्यक्ति परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति करता है, तब उसके स्वरूप का मिथ्या अवबोध तिरोहित हो जाता है और यही उसकी 'मुक्ति' की अवस्था है, मृत्यु के समय भी परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशन हो सकता है तथा परमेश्वर के रूप में उसके स्वरूप की एक प्रत्यक्ष व अपरोक्ष प्राप्ति हो सकती है।

---

[1] निरस्तातिशयाह्लाद-सुख-भावैक-लक्षणा
भेषजं भगवत्-प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिका मता।
–विष्णु-पुराण, 'षट्-सन्दर्भ,' पृ० ६७४।

चरम-सिद्धि

परम तत्त्व के स्वरूप की प्राप्ति पुनः द्विविधरूपिणी हो सकती है, सूक्ष्म, अर्थात् ब्रह्मन् के रूप में तथा स्थूल अर्थात् एक सगुण ईश्वर अथवा 'परमात्मन्' के रूप में। पश्चादुक्त अवस्था में स्थूल प्राप्ति का वैभव और भी अभिवृद्ध हो जाता है जब एक भक्त भगवान को उसके सभी विविध रूपों में प्राप्त करना सीख जाता है।[1] इस अवस्था में, यद्यपि भक्त भगवान की विविध अनेकात्मक व अनंत शक्तियों की अपरोक्षानुभूति करता है, तथापि वह अपने आत्म-स्वरूप का विशुद्ध आनंद रूपी भगवान के स्वरूप से एकाकार करना सीखता है। भगवान के स्वरूप का ऐसा तादात्म्यीकरण स्वयं को 'भक्ति' अथवा आनन्द (प्रीति) के संवेग में अभिव्यक्त करता है, भक्त आनंद के रूप में अपने आत्म-स्वरूप की अनुभूति करता है, और भगवान के आनंद अथवा प्रीति स्वरूप के माध्यम से भगवान के साथ अपने तादात्म्य की प्राप्ति करता है। ऐसे आनंद की अनुभूति के द्वारा ही दुःख की निःशेष समाप्ति सम्भव होती है, तथा उसके बिना भक्त भगवान की सभी विविध व अनंत शक्तियों के साहचर्य में प्राप्ति नहीं कर सकता। भगवान के आनंद स्वरूप की अंतरंग अनुभूति के द्वारा भक्त के लिए उसके अन्य गुणों, लक्षणों व शक्तियों का भी प्रकाशन हो सकता है। मनुष्य स्वभावतः आनंद के द्वारा आत्म-सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, किन्तु साधारणतया वह आनंद के विषय के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता, और इस प्रकार वह विविध सांसारिक विषयों में आनंद की खोज करने में अपनी शक्तियों का अपव्यय करता है। वह तभी अपने यथार्थ लक्ष्य की प्राप्ति करता है जब वह यह अनुभव कर लेता है कि भगवान सकल आनंद का स्रोत है, उसी का हमारे सभी प्रयत्नों द्वारा अनुसंधान किया जाना चाहिए, तथा इस विधि से ही हम पूर्ण आनंद एवं आनंद में चरम मुक्ति की प्राप्ति कर सकते हैं। सच्चा भक्त 'कैवल्य' की प्राप्ति का इच्छुक होता है, किन्तु, 'कैवल्य' का अर्थ 'शुद्धता' होता है, और चूंकि भगवान का यथार्थ स्वरूप एकमात्र शुद्धता है, इसलिए 'कैवल्य' का अर्थ भगवान के स्वरूप की प्राप्ति होगा। अतः भगवान और केवल भगवान की प्राप्ति का आनंद ही सच्चा 'कैवल्य' भगवान का परम स्वरूप माना जाना चाहिए।

'जीवन्मुक्ति' की अवस्था में व्यक्ति आत्म-ज्ञान व भगवान से अपने संबंध के ज्ञान द्वारा यह अनुभव करता है कि जगत् सत् एवं असत् दोनों है, अतएव अपने वास्तविक स्वरूप में उसका कोई यथार्थ अस्तित्व नहीं है, वरन् केवल स्वयं उसकी 'अविद्या' के द्वारा वह उसका अंश माना जाता है। जगत् का निषेध-मात्र यथेष्ट नहीं

---

[1] षट्-सन्दर्भ, पृ० ६७५।

होता, क्योंकि यहाँ भगवान पर आधारित जीव के यथार्थ स्वरूप का भावात्मक ज्ञान भी उपस्थित होता है। इस अवस्था में व्यक्ति सांसारिक अनुभवों को अपने स्वरूप से संबंधित करने के मिथ्यात्व की अनुभूति कर लेता है, तथा पूर्वोक्त को भगवान के अंश के रूप में पहचानना सीख लेता है। इस दशा में उसे अपने प्रारब्ध कर्मों के सभी फलों को भोगना पड़ता है, किन्तु वह उक्त भोगों में कोई रुचि का अनुभव नहीं करता, तथा उनके बंधन में नहीं रहता।[1] इस अवस्था में चरमोत्कर्ष में भगवान के यथार्थ स्वरूप के साक्षात् व अपरोक्ष प्रकाशन और आनंद के रूप में उसके स्वरूप में भागीदार होने के साथ-साथ व्यक्ति की 'अविद्या' के रूप में 'माया' का कार्य-व्यापार समाप्त हो जाता है, इसलिए 'माया' की पूर्ण समाप्ति को ही 'मुक्ति' की चरम अवस्था समझना चाहिए।[2]

यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'जीव' 'जीवों' की समष्टि निरूपित भगवान की शक्ति के साहचर्य में परम तत्त्व का एक अंश होता है। परम तत्त्व सूर्य के सदृश है तथा 'जीव' उसमें से प्रस्फुटित किरणों के समान हैं। भगवान में अपने मूल से वे प्रस्फुटित हुए हैं और यद्यपि वे उससे स्वतंत्र प्रतीत होते हैं तथापि उस पर पूर्णरूपेण आश्रित रहते हैं। उससे बाह्य उनके अस्तित्व का कथन करना उचित नहीं है, क्योंकि वस्तुतः उससे बाह्य उक्त अस्तित्व का आभास केवल 'माया' के आवरण का प्रभाव होता है। 'जीवों' की किरणों से तुलना का अर्थ केवल यही है कि उनका उस सत्ता से कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है जिसकी वे किरणें हैं, और इस अर्थ में वे परमेश्वर पर पूर्णतः आश्रित हैं। जब 'जीव' परमेश्वर की शक्ति माने जाते हैं तब तात्पर्य यह होता है कि वे ऐसे साधन हैं जिनके माध्यम से परमेश्वर अपनी अभिव्यक्ति करता है। चूंकि परमेश्वर अनंत शक्तियों से सम्पन्न होता है, इसलिए यह स्वीकार करना कठिन नहीं है कि परमेश्वर की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ, 'जीव' स्वयं में यथार्थ कर्ता एवं भोक्ता हैं, तथा एक उग्र अद्वैतवादी का यह निर्देश अवैध है कि उनके कर्तृत्व अथवा भोक्तृत्व का कथन करना मिथ्या है, क्योंकि एक जीव का कर्तृत्व परमेश्वर की शक्ति की एक अभिव्यक्ति है। उसी के द्वारा 'जीव' 'संसार-चक्र' में भ्रमण करते हैं तथा परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की प्रक्रिया के द्वारा ही वे अपने स्वरूप के परमेश्वर से तादात्म्य को ज्ञान करना सीखते हैं और उसके प्रति भावावेश में स्वयं को तल्लीन करते हैं। यह मत गलत है कि मुक्ति की अवस्था में आनन्द की कोई अनुभूति नहीं होती, क्योंकि उस दशा में मुक्ति की अवस्था वांछनीय नहीं होती। इसके अतिरिक्त, यह मत भी त्रुटिपूर्ण है कि मुक्तावस्था में जीव का आनंद-स्वरूप ब्रह्मन् से पूर्ण

---

[1] अस्य प्रारब्ध-कर्म-मात्राणामनभिनिवेशेनैव भोगः। —वही, पृ० ६७८।

[2] वही, पृ० ६७८।

तादात्म्य हो जाता है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति आनंद से एकरूप होने की इच्छा नहीं करता, वरन् उसका अनुभव करने की इच्छा करता है। इसलिए अद्वैतवाद का उग्र रूप इस बात की व्याख्या नहीं कर सकता कि मुक्तावस्था क्यों वांछनीय है, यदि मुक्ति को एक अत्यंत वांछनीय अवस्था सिद्ध नहीं की जा सकती है, तो कोई कारण नहीं होगा कि उसकी प्राप्ति के लिए एक व्यक्ति प्रयास करे। आगे यह भी कहा जा सकता है कि, यदि परम तत्त्व विशुद्ध आनंद व ज्ञान स्वरूप है तो इस बात की व्याख्या करने की कोई विधि नहीं है कि वह 'माया' के आवरण से क्यों प्रभावित होता है। अंशी एवं अंश का प्रत्यय इस तथ्य की व्याख्या करता है कि यद्यपि 'जीव' परमेश्वर से भिन्न नहीं है, तथापि वास्तव में उस पर आश्रित होने के कारण वे उससे पूर्णतः एकरूप भी नहीं हैं। परमेश्वर को समझने की सम्यक् विधि है उसे विशिष्ट उपाधियों व परिसीमाओं से संबंधित सकल प्राणियों के अध्यक्ष के रूप में पहिचानना अर्थात् वह विभिन्न व्यक्तित्वों के रूप में और होते हुए भी एकत्व के रूप में हैं, इसी प्रकार 'परमात्मन्' के प्रत्यय का 'भगवान' के प्रत्यय से एकीकरण किया जा सकता है।[1]

भक्ति का आनंद

भगवान में प्रीति द्विविध स्वरूप की हो सकती है। अर्थ के विस्तार से प्रीति भगवान के प्रति वह स्पृहा हो सकती है जो भगवान के सत्य प्रत्यय विषय ज्ञान को उत्पन्न करती है (भगवद्विषयानुकूल्यात्मकस्तदनुगत स्पृहा दिमयो ज्ञान-विशेष तत-प्रीतिः)। किन्तु भगवान में प्रीति की एक अधिक अपरोक्ष अनुभूति भी होती है जो प्रत्यक्ष रूप से एक तीव्र भावनात्मक स्वरूप की होती है, इस प्रकार की 'भक्ति' 'रति' कहलाती है। इस 'भक्ति' का वर्णन प्रेम (प्रेमन्) के रूप में भी किया जाता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति भौतिक विषयों की ओर उनकी उपयोगिता की संकल्पना किए बिना, उनके सौन्दर्य से आकर्षित होता है, उसी प्रकार वह भगवान के दिव्य-सौन्दर्य एवं विविध गुणों से भी आकर्षित हो सकता है, तथा उसके प्रति तीव्र प्रेम में

---

[1] अति श्रेष्ठ प्रकार के 'भक्तों' के लिए आरक्षित उच्च प्रकार की 'मुक्ति' के अतिरिक्त अन्य निम्न प्रकारों की मुक्ति भी होती है जिनका वर्णन 'सालोक्य' (भगवान के साथ सह-अस्तित्व) 'सार्ष्टि' (भगवान के समान ही 'सामीप्य') (नित्य भगवान के समीप रहने का विशेषाधिकार), 'सायुज्य' (भगवान के दिव्य व्यक्तित्व में प्रविष्ट होने का विशेषाधिकार) के रूप में किया गया है। परन्तु एक सच्चा 'भक्त' सदा इन विशेषाधिकारों का परित्याग करता है तथा भगवान के प्रति अपनी भक्ति से संतुष्ट रहता है।

—षट्-सन्दर्भ, पृ० ६६१।

आसक्त हो सकता है। ऊपर पहले ही कहा जा चुका है कि भगवान का आनंद उसके भक्तों के हृदय में अपनी अभिव्यक्ति करता है और भगवान के प्रति उनके आनंदमय अनुभव को उत्पन्न करता है। यह भगवान के शुद्ध आनंद स्वरूप से भिन्न उसके आनंद का सक्रिय पक्ष माना जा सकता है। भगवान का आनंद दो प्रकार का कहा जा सकता है–शुद्ध आनंद के रूप में उसका स्वरूप (स्वरूपानन्द) तथा उसकी शक्तियों के आनंद के सक्रिय पक्ष में उसका स्वरूप (स्वरूप-शक्त्यानन्द)। पश्चादुक्त पुनः दो प्रकार का होता है, अर्थात् 'मानसानंद' एवं 'ऐश्वर्यानंद' अर्थात् 'भक्ति' की सक्रिय प्रक्रिया के रूप में आनंद तथा उसके ऐश्वर्य में आनंद।[१] जब एक भक्त भगवान की महानता अथवा ऐश्वर्य की भावना से उसके प्रति अनुरक्त होता है, तब ऐसी मनःस्थिति आनंद अथवा 'प्रीति' का एक उदाहरण नहीं मानी जाती, परन्तु जब 'भक्ति' भगवान की सेवा के रूप में अथवा उस पर अपरोक्ष आश्रय के रूप में, अथवा तीव्र प्रेम के बंधन द्वारा उस पर आसक्ति के रूप में (यथा एक पत्नी का अपने प्रेमी के लिए, एक मित्र का अपने मित्र के लिए, एक पुत्र का अपने पिता के लिए, अथवा पिता का अपने पुत्र के लिए प्रेम-बंधन) एक विशुद्ध भावनात्मक स्वरूप ग्रहण कर लेती है तब 'भक्ति' 'प्रीति' कहलाती है। जब आकर्षण बाहर से भौतिक प्रेम की भाँति प्रतीत होता है, और उक्त संवेग के सभी सुविदित उत्तेजनात्मक तत्त्व एवं आनंद के प्रकारों से युक्त होता है, तब 'प्रीति' अपने तीव्रतम एवं उच्चतम रूप में अभिव्यक्त होती है, परन्तु, चूंकि यह संवेग भगवान की ओर निर्देशित होता है, तथा उसमें भौतिक प्रेम की जैविक अथवा शारीरिक आसक्ति का अभाव होता है, इसलिए उसका उस प्रेम से स्पष्ट विभेद करना आवश्यक है, परन्तु उसमें कामुक प्रेम की सर्व बाह्य अभिव्यक्तियां होती हैं। इस कारण से उसका समुचित वर्णन आंतरिक अनुभूति एवं कामुक प्रेम की बाह्य अभिव्यक्तियों के पदों में ही किया जा सकता है। 'प्रीति' की परिभाषा एक ऐसी संवेगात्मक अनुभूति के रूप में दी जाती है जिसमें उसके विषय के प्रति एक स्पृहा व आकर्षण का समावेश होता है।[२] साधारण संवेगों का संकेत सांसारिक इंद्रिय-विषयों अथवा उनसे संबंधित विचारों के प्रति होता है, परन्तु ईश्वरोन्मुख संवेगों का एकमात्र विषय परमेश्वर होता है। भगवान में ऐसी प्रीति भगवत् कृपा से सहज ही (स्वाभाविकी) प्रवाहित होती है, और वह अधिक प्रयत्नों से उत्पन्न नहीं होती तथा वह मुक्ति से श्रेष्ठ होती है।[3] यह प्रीति तीव्रता में इतनी

---

१ वही, पृ० ७२२।

२ तत्र उल्लासात्मको ज्ञान-विशेषः सुखम्, तथा विषयानुकूल्यात्मकस्तदानुकूल्यानुगत-तत्स्पृहा-तदनुभव-हेतुकोल्लास-मय-ज्ञान-विशेष प्रियता। –वही, पृ० ३१८।

3 'भक्ति' में समाविष्ट उत्सुकता केवल कामुकता ही नहीं होती किन्तु लगभग एक पीड़ाजनक प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार यह कहा जाता है:

विकसित हो सकती है कि भक्त- पूर्णतः आत्म-विस्मृत हो जाता है और स्वयं को भगवान से एकरूप अनुभव करने लगता है, इस अवस्था को शास्त्रीय दृष्टि से 'महाभाव' कहा जाता है।[1] यह कहा जा सकता है कि एक सामान्य अर्थ में 'भक्ति' 'ममता' की अद्वितीय भावना तथा उसके फलस्वरूप हृदय की तीव्र आसक्ति को उत्पन्न कर सकती है, यह संवेग विविध रूपों में अपनी अभिव्यक्ति कर सकता है। किन्तु भक्ति का एक अन्य 'शांत' रूप भी होता है जिसमें भक्त सनक एवं उसके समान भक्तों की भांति यह अनुभव करता है कि वह भगवान का है, किन्तु भगवान उसका नहीं है।[2] यहाँ भी भर्ता के रूप में भगवान के स्वामित्व की एक दूरस्थ भावना वर्तमान रहती है—भर्ता (भृत्यत्व), पालनकर्ता (पाल्यत्व) अथवा एक लालनकर्ता पिता के रूप में (लाल्यत्व) उसकी कृपा की प्रतीक्षा में रहना। एक भक्त स्वयं को एक पिता और भगवान को एक प्रिय बालक समझकर भी भगवान का अपने अन्तर में आनंद ले सकता है, इस प्रकार का संवेग 'वात्सल्य' कहलाता है। किन्तु, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, भगवान में तीव्रतम प्रीति वैवाहिक प्रेम का रूप ग्रहण करती है, कामुक प्रेम (काम) तथा इस प्रकार के प्रेम (रति) में अन्तर यह है कि पूर्वोक्त आत्म-संतुष्टि

"अजात-पक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः
प्रियं प्रियेव व्यूषितं विषण्णो
मनो रविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वां।" —वही, पृ० ७२६।

प्रीति के विकास की प्रगाढ़ता के अनुसार कभी-कभी दो अवस्थाओं में विभेद किया जाता है, अर्थात्, 'उदय,' 'ईषदुद्गम' पश्चादुक्त की पुनः दो अवस्थाएं होती हैं। चरम अवस्था 'प्रकटोदयावस्था' कहलाती है।

[1] षट्-सन्दर्भ, पृ० ७३२ परिस्थितियों की व्याख्या करने के लिए यहाँ 'उज्ज्वल-नीलमणि' में से एक उद्धरण दिया गया है :

"राधाया भवतश्च चित्त-जतुनी स्वेदैर विलाप्य क्रमाद्युंजन्न अद्रि-निकुंज-कुंजर-पतेर्निर्धूत-भेद-भ्रमम् चित्राय स्वयमन्वरंजमदिह ब्रह्माण्ड-हर्म्योदरे भूयोपिर्नव-राग-हिङ्गुले-फलैः शृंगार-चारुः कृतिः।

[2] सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस् त्वं समुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः। —वही, पृ० ७३५।

हरेर्गुणा द्विविधाः भक्त-चित्त संस्कार हेतवस्तदभिमान-विशेष्य-हेतवश्चान्ये ......(पृ० ७३३)। ज्ञान-भक्तिर्वात्सल्यम् मैत्री कान्त-भावश्च (पृ० ७३८)। यद्यपि इन सर्व विभिन्न प्रकार की 'भक्तियों' का उल्लेख किया गया है, तथापि यह स्वीकार किया जाता है कि विभिन्न अंशों में इनके पारस्परिक मिश्रण मात्र से कई अन्य रूप भी उत्पन्न हो सकते हैं।

के बिना एक व्यक्ति उसे प्राप्त नहीं कर सकता। पांचवें, 'भक्ति' का आनंद ब्रह्म-ज्ञान से प्राप्त मुक्ति के आनंद से अनंत गुणा श्रेष्ठ होता है। छठे, 'भक्ति' भगवान को इस सीमा तक वशीभूत कर लेती है कि वह पूर्णतः अपने भक्त की सेवा में लग जाता है। तनिक सी 'भक्ति' भी अधिक दार्शनिक विद्वत्ता से श्रेष्ठ होती है। दार्शनिक व तार्किक विवाद किसी निश्चित विन्दु पर नहीं पहुँचाते तथा एक योग्य तर्ककर्ता के द्वारा संस्थापित अभिमत का दूसरे अधिक योग्य तर्ककर्ता द्वारा सहज ही खण्डन किया जा सकता है। ऐसे तार्किक विवाद सच्चे साक्षात्कार के लिए शुष्क एवं प्रभावहीन होते हैं।

रूप तीन प्रकार से 'भक्ति' के विभेद करते हैं—'साधन,' 'भाव' और 'प्रेमन्'।[१] 'साधन-भक्ति' ऐसे विभिन्न साधनों की सूचक है जिनको अपनाने से मानसिक संवेग सहज ही 'भाव-भक्ति' (जिसे 'साध्य-भक्ति' भी कहते हैं) के रूप में प्रकट होने में समर्थ होते हैं। पर रूप आगे कहते हैं कि सहज भक्तिमय संवेग किसी क्रिया-विधि अथवा प्रयत्न के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'भक्ति' चरम श्रेय है अतएव वह नित्य होती है। कोई भी नित्य सत्ता उत्पन्न नहीं की जा सकती, इसलिए सच्चे भक्तिमय संवेग की सृष्टि नहीं की जा सकती—वह पहले से ही हृदय में विद्यमान रहता है, और 'साधन-भक्ति' का व्यापार केवल उसको एक आनंददायी रूप में हृदय में प्रकट करना ही है।[२] यह 'साधन-भक्ति' दो प्रकार की होती है, 'वैधी और 'रागानुग' जिनका ऊपर पहले ही विवरण दिया जा चुका है। एक व्यक्ति केवल तभी तक 'वैधी-भक्ति' के क्षेत्र में होता है जब तक उसके हृदय में भगवान के प्रति नैसर्गिक अनुराग का आविर्भाव नहीं हो जाता। कहा जाता है कि वही व्यक्ति 'वैधी-भक्ति'

---

[१] वही, १. २. १।

'सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता।'

इस अवतरण पर टीका करते हुए जीव गोस्वामी कहते हैं कि 'भक्ति' दो प्रकार की होती है, 'साधन' और 'साध्य' इनमें से दूसरी विशुद्ध भावावेशवाद की होती है और पाँच प्रकारों से निर्मित होती है—'भाव,' 'प्रेम,' 'प्रणय,' 'स्नेह' व 'राग'। 'उज्ज्वल-नील-मणि' का लेखक तीन और जोड़ देता है—'मान,' 'अनुराग' और 'महाभाव'। रूप ने इन अन्तिम तीन का उल्लेख नहीं किया है क्योंकि वे 'प्रेम' के रूपान्तर मात्र हैं।

[२] कृति-साध्या भवेत्साध्य-भावा सा साधनाभिधा नित्य-सिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता।

—भक्ति-रसामृत-सिन्धु, १. २. २।

का योग्यतम अधिकारी होता है जो तर्क-निपुण 'शास्त्रों' में पारंगत तथा वैष्णव-धर्म में अतिशय श्रद्धा सहित दृढ़-निश्चय वाला होता है।[1] 'भक्ति' के उदय में सबसे बड़ी बाधा सांसारिक सुख अथवा मुक्ति की कामना है। 'भक्ति-मार्ग' का अनुसरण करने वाला व्यक्ति यदि वेदों में व्यादिष्ट अनिवार्य एवं अन्य कर्मों का पालन नहीं करता तो भी वह पाप का भागी नहीं बनता, किन्तु, यदि वह एक वैष्णव के सच्चे कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता तो वह दोषी होता है, परन्तु ऐसी दशा में भी एक वैष्णव को किन्हीं प्रायश्चित कर्मों को करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवन्नाम का कीर्तन मात्र ही उसके पापों के निवारण के लिए यथेष्ट होता है। शास्त्रों के कोई भी आदेश एक भक्त के प्रति कोई उल्लेख नहीं करते। भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण नैतिक गुणों की संहिता एवं अनेक कर्म-काण्डीय प्रारम्भिक अवस्थाओं के रूप में होते हैं।[2] अनेक अनधिकारी शिष्यों में अत्यधिक विद्वत्ता अथवा आसक्ति 'भक्ति-मार्ग' की एक बड़ी बाधा मानी जाती है।[3] एक 'वैधी-भक्ति' को भगवान के सौन्दर्य तथा उसके सर्व गुणों एवं विभूतियों पर ध्यान लगाना चाहिए, और स्वयं को उसका दास समझना सीखना चाहिए, स्वामी के रूप में भगवान पर ध्यान करने की एक अवस्था यह है कि अपने सभी कर्मों को भगवान के समर्पण करने में स्वयं को प्रशिक्षित करना चाहिए। उसे स्वयं में यह दृढ़ निश्चय उत्पन्न करने का भी प्रयास करना चाहिए कि भगवान भक्तों का महानतम मित्र है, अतः उसे चाहिए कि वह भगवान को अपना सर्वोत्तम मित्र समझने का प्रयत्न करे। शास्त्रोक्त कर्मों तभी तक करना आवश्यक है जब तक कि मन में भगवान के प्रति उसके नाम के संकीर्तन, उसकी विभूतियों के श्रवण और आनंदपूर्वक उनके कथन के लिए वास्तविक प्रवृत्ति का आविर्भाव न हो। ज्योंही यह अवस्था आ जाती है त्योंही व्यक्ति 'वैधी-भक्ति' के मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है, तथा उसे उसके विशिष्ट कर्मों को करना चाहिए ताकि भक्ति निरंतर एक यथार्थ तथा स्वाभाविक एवं अप्रतिहत संवेग के रूप में विकसित हो सके। यहाँ 'भाव-सहित' 'साध्य-भक्ति' का श्रीगणेश होता है। इस अवस्था पर आने से पूर्व ही 'साधन-भक्ति' की 'रागानुग' नामक एक अन्य अवस्था आती है। इस अवस्था का अतिक्रमण करने के पश्चात् ही व्यक्ति 'साध्य-भक्ति' की उच्चतर अवस्था एवं उसके क्रमागत विकास-स्तरों पर आ सकता है। 'रागानुग-भक्ति'

---

[1] शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढ़-निश्चयः
प्रौढ श्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमः मतः।

—वही, १. २. ११।

[2] वही, १. २. ४२ आदि।

[3] न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नेवाभ्यसेद बहून्
न व्याख्यामुपयुंजीत नारम्भानारभेत क्वचित्। —वही, १. २. ५२।

को 'रागात्मिका-भक्ति' का एक अनुकरण माना जाता है।[1] 'रागात्मिका-भक्ति' सहज राग के रूप में 'भक्ति' होती है, राग का अर्थ 'आसक्ति' होता है। यह 'रागात्मिका-भक्ति' काम संबंधी संवेग के स्वरूप की, अथवा सखाभाव व पैतृक भाव आदि जैसे अन्य संबंधों[2] के स्वरूप की होती है। 'रागानुग-भक्ति' वह है जिसमें कोई सहज अनुराग नहीं होता, परन्तु सहज भावनात्मक अनुराग के रूपों का अनुकरण करने का प्रयास होता है, तथा वह 'वैधी-भक्ति' की वृद्धि के लिए उठाए गए विविध चरणों से संबंधित हो सकती है। 'प्रेम' (आध्यात्मिक प्रेम) और 'काम' के भेद को ऊपर पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। यद्यपि 'काम' का प्रयोग प्रायः भगवान के प्रति उन्मत्त प्रेम के लिए किया जाता है, तथापि उसका प्रयोग 'प्रेम' के अर्थ में किया गया है।[3] इस प्रकार 'रागात्मिका-भक्ति' के दो प्रकार के उपविभागों के अनुसार 'रागानुग-भक्ति' भी स्वयं दो प्रकार की होती है–'कामानुग' एवं 'संबंधानुग'।

'साधन-भक्ति' की द्वितीय अवस्था रागानुग के रूप में हम 'भाव-भक्ति' की अवस्था पर आते हैं, जो स्वयं अधिकाधिक तीव्र रूपों में तब तक विकसित होती रहती है जब तक कि पहले ही वर्णित 'महा-भाव' की अवस्था पर नहीं पहुँच जाती। वह शुद्ध अलौकिक 'सत्व' (भगवान का आनंद स्वरूप) की अभिव्यक्ति माना जाता है। 'भक्ति' की पहले ही एक ऐसे आचरण के रूप में परिभाषा दी जा चुकी है जिसका अभिप्रेत भगवान की संतुष्टि होता है, तथा जिसकी दृष्टि में कोई अन्य

---

[1] विराजन्तीमभिव्यक्तां व्रज वासि-जनादिषु रागात्मिकामनुसृष्टा या सा रागानुगोच्यते। —वही, १. २. १३१।

[2] कहा जाता है कि सहज अनुराग यदि भगवान के प्रति वैर-भाव का रूप लेता है तो भी वह किसी भी प्रकार की 'वैधी-भक्ति' से श्रेष्ठ होता है, जिसमें ऐसा कोई सहज अनुराग नहीं होता। इस प्रकार जीव के 'दुर्गम-सङ्गमन' १. २. १३५ में कहा गया है–"यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् न तथा भक्ति-योगेन इति में निश्चिता मतिः। तदपि रागमय-कामाद्यपेक्षया विधिमयस्य चित्तावेशहेतुत्वेऽत्यन्त-न्यूनत्वमिति व्यजनार्थमेव। येषु भावमयेषु निन्दितोऽपि वैरानुबन्धो विधिमय-भक्ति-यागाच्छ्रेष्ठाः। भगवान के प्रति सहज वैर-भाव 'भावात्मिका' (संवेगात्मक) माना जा सकता है, परन्तु 'रागात्मिका' नहीं। वह 'भक्ति' भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें भगवान को संतुष्ट करने की कोई इच्छा नहीं होती, इसलिए वह एक पृथक् आधार पर अवलम्बित होता है, वह 'रागात्मिका-भक्ति' से निम्न होता है किन्तु 'वैधी-भक्ति' से श्रेष्ठ होता है।

[3] प्रेमैव गोप-रामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

—वही, १. २. १४२, १४३।

लक्ष्य अथवा उद्देश्य नहीं होता, इस कारण से उसमें 'भक्त' को एक प्रकार की चेष्टा करनी पड़ती है (चेष्टा-रूप) किन्तु यहां 'भक्ति' के अर्थ में संशोधन करके उसके द्वारा केवल चित्त की ऐसी संवेगात्मक का निर्देश किया जाता है जिसमें तज्जन्य शारीरिक व भौतिक विकास का समावेश होता है, और जो प्रेम के विषय, प्रेम के उद्दीपनों, विभावों, स्थायी भाव को निर्धारित व अभिवृद्ध करने वाले हाव-भावों से युक्त भावनात्मक अवस्थाओं द्वारा उत्पन्न होती है।[1] भगवान के प्रति 'प्रेमन्' की प्रथमावस्था 'भाव' कही जाती है तथा वह अश्रुपात अथवा पुलक आदि स्वल्प शारीरिक प्रभावों से संबंधित होती है।[2] यह भाव अलौकिक स्वरूप का तथा चिदानंद से समाविष्ट भगवान की शक्ति के स्वरूप का होता है, इसलिए वह एक ओर तो 'स्व-प्रकाशक' होता है, दूसरी ओर वह उस भगवान के स्वरूप को प्रकाशित करती है जिसकी वह शक्ति है, और जिसका वह निर्देश करता है। भगवान की एक शक्ति होने के कारण वह भक्त की मनोवृत्तियों में आविर्भूत होता है, उनसे उसका तादात्म्य हो जाता है, तथा उनसे तादात्म्य में अपनी अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार भक्त में आविर्भूत 'भक्ति' करता है। इस प्रकार भक्त में आविर्भूत 'भक्ति' अलौकिक एवं लौकिक का तादात्म्य होती है, तथा भगवद्-स्वरूप के माधुर्यानुभव एवं स्वप्रकाशक मधुर आत्म-स्वरूप के आस्वाद के द्विविध कार्य-व्यापार की अभिव्यक्ति करती है। इसलिए वह अपने विषय के प्रति संविद्स्वरूप होती है तथा उसमें भगवान के मधुर स्वरूप एवं स्वयं 'भक्ति' के मधुर स्वरूप रति का समावेश होता है। वह सर्व 'रति' (अथवा आनंद) का मूल होती है, अतएव उसे 'रति' भी कहते हैं।[3] उसकी न्यून मात्रा प्रायः सब में सामान्य होती है, उसका सतत अभिवृद्ध होने वाला उत्कृष्ट

---

[1] शरीरेन्द्रिय वर्गस्य विकाराणां विधायिकाः
भाव-विभाव-जनिताश्चित्त-वृत्तयः ईरिताः। —'दुर्गम-सङ्गमन,' १. ३. १।

[2] प्रेम्नस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते सात्त्विकाः स्वल्प-मात्राः स्युर्यत्राश्रु पुलकादयः।

—भक्ति-रसामृत-सिन्धु, १. ३. ३।

[3] असौ शुद्ध-सत्त्व-विशेषरूप-रति-मूल-रूपत्वेन मुख्य-वृत्त्या तच्छन्द-वाच्या सा रतिः श्रीकृष्णादि-सर्व-प्रकाशकत्वेन हेतुना स्वयं-प्रकाश-रूपाऽपि प्रपंचिक-तत्-प्रिय जननं मनो वृत्तौ आविर्भूय तत्तादात्म्यं व्रजन्ती तद्-वृत्त्या प्रकाश्यवद् भापमानो व्रह्मवा-तस्याः स्फुरन्ती, तथा स्वसत्कृतेन पूर्वोत्तरावस्थाभ्याम् कारण कार्य्य-रूपेण श्रीभगवदादि-माधुर्य्यानुभवेन स्वांशेन स्वाद-रूपाऽदि यानि कृष्णादिरूपां तेषामास्वा-दस्य हेतुतां संविदंशेन साधकतमतां प्रतिपद्यते ह्लादिन्यंशे तु स्वयं ह्लादयन्ती तिष्ठति।

—'दुर्गम-संगमन,' १. ३. ४।

आविर्भाव विरल होता है और केवल भगवान अथवा उसके भक्तों के अनुग्रह से ही उद्भूत होता है। अतः 'वैधी' एवं 'रागानुग' भक्ति में भी निःसन्देह निम्न प्रकार के 'भाव' का कुछ अंश होता है। भगवान के प्रति जिस उत्कृष्ट प्रकार के अनुराग का उदय 'भक्ति' के साधारण नियत मार्ग (साधन-भक्ति) से गमन किए बिना होता है, वह सामान्यतः भगवत्-कृपा के कारण होता है।

'भाव-भक्ति' की प्रथम अवस्था में भक्त ऐसे स्वभाव की अभिव्यक्ति करता है जो विक्षोभ के कारणों के होते हुए भी पूर्णतः क्षोभ-रहित रहता है, वह नित्य अथवा समय प्रवल भावावेश सहित भगवन्नाम के संकीर्तन में व्यतीत करता है, वह इन्द्रिय-विषयों के प्रति अनासक्त होता है, और महान् होने पर भी वह सदा अतिशय विनम्र रहता है तथा भगवान के चरम साक्षात्कार की प्राप्ति का सदा दृढ़ निश्चय रखता है। वह सदा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अत्यंत चिंतित रहता है तथा सदा भगवन्नाम में सुख का अनुभव करता है।[1] 'रति' के रूप में 'भाव' का अंतरंग लक्षण हृदय की अतिशय कोमलता व द्रवणशीलता होती है, किन्तु जब भी ऐसी अवस्था अन्य कामनाओं से संबंधित होती है, चाहे वह मुक्ति की अवस्था ही क्यों न हो, तब उसे यथार्थ अवस्था का सूचक नहीं मानना चाहिए, और ऐसी अवस्था को 'रत्याभास' मानना चाहिए, क्योंकि वह पूर्ण 'आत्म-सतोष की अवस्था होती है और वह किसी भी प्रकार की अन्य कामना से संबंधित नहीं हो सकती।

जब 'भाव' प्रगाढ़ हो जाता है, तब उसे 'प्रेम' कहते हैं, वह भगवान में स्वामित्व भाव एवं अन्य सभी वस्तुओं से पूर्ण अनासक्ति से संबंधित होता है। वह 'भाव' के प्रत्यक्ष विकास द्वारा अथवा भगवान के अपरोक्ष अनुग्रह के द्वारा उद्भूत हो सकता है, वह भगवान की महानता की संकल्पना से संबंधित हो सकता है, अथवा केवल भगवान के माधुर्यानुभव के रूप में प्रकट हो सकता है। 'भक्ति' का विकास पूर्व शुभ कर्मों के फलस्वरूप वर्तमान जीवन में व्युत्पन्न एक विशेष स्वभाव पर तथा वर्तमान जीवन के प्रयत्नों पर भी निर्भर करता है। भगवान के प्रति विभिन्न प्रकार के आनंदमय संवेगों के विभिन्न लक्षणों और उन विभिन्न प्रकार के संबंधों का विशद वर्णन किया गया है जिनको अंगीकार करने पर उक्त संवेग विकसित हो सकते हैं, परन्तु उनका यहां निरूपण करना सम्भव नहीं है।

रूप गोस्वामी ने 'संक्षेप-भागवतामृत' नामक एक अन्य रचना भी लिखी जो वैष्णव मण्डल में एक सुपरिचित ग्रंथ है। उस पर कम से कम दो टीकाएं हैं, एक जीव गोस्वामी के द्वारा और अन्य, उत्तरकालीन वृन्दावन चन्द्र तर्कालिकार द्वारा, जो

---

[1] भक्ति-रसामृत-सिन्धु, १. ३. ११–१६।

है कि 'सिद्धांत-रत्न' स्वयं बलदेव द्वारा लिखा गया था। इस कथन की पुष्टि में कुछ भी नहीं दिया गया है, जबकि इसके विरोध में स्वाभाविक आपत्ति यह है कि बलदेव के समान एक वैष्णव स्वयं अपनी रचना की भूरि-भूरि स्तुति नहीं कर सकता।[1] बलदेव 'सिद्धांत-रत्न' को 'गोविंद-भाष्य' का सारांश नहीं मानते, अपितु अंशतः एक पूरक रचना एवं अंशतः एक टीका मानते हैं।[2] यह सम्भव है कि 'गोविंद-भाष्य' पर 'सूक्ष्म' नामक टीका का लेखक भी 'सिद्धांत-रत्न' पर लिखी गई टीका का लेखक है, क्योंकि एक प्रस्तावना श्लोक दोनों में सामान्य है।[3] 'सिद्धांत-रत्न' में बहुत कुछ सामग्री ऐसी है जो 'गोविंद-भाष्य' में नहीं मिलती।

आनंद का नित्य स्वामित्व एवं दुःख का नित्य निरोध मानव का चरम लक्ष्य है। यह लक्ष्य आत्म-स्वरूप को जानने वाले व्यक्ति (स्व-ज्ञान-पूर्वकम्) द्वारा भगवान के स्वरूप (स्वरूपतः) एवं गुणों से संबंधित रूप के यथार्थ ज्ञान के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। भगवान का स्वरूप शुद्ध चित्त व आनंद है। इन दोनों को भगवान का शरीर माना जा सकता है (न तु स्वरूपाद्विग्रहस्यातिरेकः)। उसका आत्मन् ज्ञान, ऐश्वर्य व शक्ति से निर्मित होता है।[4] यद्यपि वह अपने स्वरूप में एक है, तथापि वह अनेक स्थानों में व अपने विविध भक्तों के रूपों में आविर्भूत होता है। इसलिए ये आत्म-लीला में उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार मात्र हैं, तथा यह उसकी उन अचिन्त्य शक्तियों के कारण सम्भव होता है जिनका उसके स्वरूप से तादात्म्य है।[5] किन्तु, इस कारण से हमें 'भेदाभेद' सिद्धान्त की, एक और अनेक अथवा भेद और अभेद के युगपत

---

[1] सान्द्रानन्द स्यन्दि गोविन्द भाष्यं
जीयादेततसिन्धु गाम्भीर्य्य–सम्भृत्
यस्मिन् सद्यः संश्रुते मानवानाम्
मोहोच्छेदी जायते तत्व-बोधः। —'सिद्धान्त-रत्न,' पृ० १ पर टीका।

[2] वही।

[3] आलस्याद प्रवृत्तिः स्यात्
पुंसां यद् ग्रन्थ–विस्तरे
गोविन्द-भाष्ये संक्षिप्ते
टिप्पणी क्रियतेऽत्र तत्।
'सूक्ष्म' टीका, पृ० ५ तथा 'सिद्धान्त-रत्न' पृ० १ पर टीका।

[4] 'सिद्धान्त-रत्न,' पृ० १–१३।

[5] एकमेव स्व-रूपमचिन्त्य-शक्त्या युगपत्सर्वत्रावभ्यात्य एकोऽपि सन्, स्थानानि भगवदाविर्भावास्पदानि तद्-विविध-लीला-श्रय-भूतानि विविध भवन्तो भक्ताश्च।
—'गोविन्द-भाष्य,' ३. २. २।

सत्य की शुद्धता को नहीं मान लेना चाहिए।[1] जिस प्रकार एक अभिनेता स्वरूपतः एक रहकर भी स्वयं को विविध रूप में अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार हरि भी कार्य-भेद के अनुसार और विविध भक्त जिस मनः-स्थिति एवं रूपों में उसकी संकल्पना करते हैं उनके अनुसार स्वयं को अभिव्यक्त करता है।[2] उसकी अचिन्त्य शक्तियों के कारण विरोध के नियम उस पर लागू नहीं होते, उसके प्रति हमारी संकल्पना में विरोधी धर्मों व प्रत्ययों का साहचर्य हो सकता है। इसी प्रकार उसकी देह उससे भिन्न नहीं है; अतः वह अपनी देह से एकरूप है। उससे भिन्न उसकी देह का प्रत्यय चिन्तन की प्रक्रिया के सहायक के रूप में केवल भक्तों के मन में ही होता है, किन्तु यद्यपि यह उनकी कल्पना है, तथापि ऐसा रूप मिथ्या नहीं है, अपितु स्वयं भगवान ही है ('देह एव देही' अथवा 'विग्रह एवात्मा आत्मैव विग्रहः')। भगवान के अलौकिक स्वरूप के कारण, उसका यथार्थ रूप शुद्ध चित् व आनंद होते हुए भी वह कृष्ण के रूप में अपना यथार्थ स्वरूप देह-रूप में धारण कर सकता है। यह मूर्ति वस्तुतः उसी प्रकार भक्त के मन के साहचर्य में उत्पन्न होती है, जिस प्रकार एक गंधर्व के प्रशिक्षित श्रवणों के साहचर्य में राग-मूर्तियाँ आविर्भूत होती हैं।[3] इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि बलदेव के अनुसार स्वप्न-सृष्टियाँ भी मिथ्या नहीं होतीं, वरन् सत्य होती हैं, तथा भगवान की इच्छा से उत्पन्न होती हैं और जाग्रतावस्था में भगवान की इच्छा से तिरोहित होती हैं।[4] इसलिए भक्तों के मन में आविर्भूत होने वाली ये मूर्तियाँ यथार्थ मूर्तियाँ होती हैं जो भगवान के द्वारा भगवान की इच्छा से अभिव्यक्त होकर भक्तों के मन के साहचर्य से क्रियान्वित होती है। इस संबंध में यह भी निर्देश किया जा सकता है कि 'जीव' भगवान से भिन्न होते हैं। 'जीव' की ब्रह्मन् के प्रतिबिम्ब के रूप में एवं उससे बाह्य कोई यथार्थ अस्तित्व न रखने के रूप में व्याख्या करने के लिए उग्र अद्वैतवादियों द्वारा कल्पित किया गया 'अविद्या' में ब्रह्मन् का प्रतिबिम्ब भी दोष-पूर्ण है, क्योंकि समानता अथवा प्रतिबिम्ब की संकल्पना में भेद का समावेश होता है। 'जीव' चरमाण्वीय स्वरूप के, 'प्रकृति' के गुणों से संबंधित व भगवान पर पूर्णतः आश्रित होते हैं। यद्यपि ब्रह्मन् सर्वव्यापी है, तथापि वह ज्ञान व भक्ति के द्वारा ज्ञात

---

[1] ३. २. १२ पर 'सूक्ष्म' टीका यह कहती है कि भगवान की 'माया-शक्ति' के तीन व्यापार होते हैं : 'ह्लादिनी,' 'सन्धिनी' और 'संवित्' 'माया-शक्ति' अर्थात् 'माया' के रूप में शक्ति के द्वारा वह स्वयं को विविध रूपों में अभिव्यक्त कर सकता है।

[2] ध्यातृ-भेदात् कार्य्य-भेदाच्च अनेकतया प्रतीतोऽपि हरिः स्वरूपैक्यं स्वस्मिन्न मुंचति।
—'गोविन्द-भाष्य,' ३. २. १३।

[3] तन-मूर्तत्वं खलु भक्ति-विभावितेन हृदा ग्राह्यं गान्धर्वानुशिलितेन श्रोत्रेण राग-मूर्तत्वमिव।
—वही, ३. २. १७।

[4] वही, ३. २. १–५।

किया जा सकता है। उसके स्वरूप की यथार्थ अपरोक्षानुभूति तथा उसका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष भी केवल 'साध्य-भक्ति' के द्वारा सम्भव होता है साधन भक्ति द्वारा नहीं। भगवान के चित व आनंद को या तो भगवान के द्रव्य के रूप में अथवा उसके गुणों के रूप में माना जा सकता है। भगवान के प्रति यह द्विविध उल्लेख 'विशेष' नामक पदार्थ को स्वीकार करने के कारण किया गया है, जिसके द्वारा द्रव्य और गुण में भेद के अभाव में भी पश्चादुक्त का पूर्वोक्त के प्रति इस प्रकार विधान किया जा सकता है मानों उनमें भेद विद्यमान हो। 'विशेष' को भेद का प्रतिनिधि (भेद-प्रतिनिधि) कहा जाता है, अर्थात् जहाँ कोई भेद नहीं होता, वहाँ विशेष हमें भेद का विधान करने में समर्थ बनाता है, फिर भी, यह 'विशेष' कोई 'विकल्प' मात्र अथवा मिथ्या शाब्दिक कथन मात्र नहीं है। 'विशेष' के इस प्रत्यय की सहायता से समुद्र को जल अथवा तरंग कहा जा सकता है। 'विशेष' के प्रत्यय का अर्थ यह है कि, यद्यपि भगवान और उसके गुणों, अथवा उसके स्वरूप और उसकी देह में कोई भेद नहीं होता, तथापि कुछ ऐसी विशेषता होती है जो पूर्वोक्त के प्रति पश्चादुक्त के विधान को सम्भव बनाती है, तथा इस विशेषता के कारण भेदात्मक विधान को सत्य माना जा सकता है, यद्यपि दोनों में वस्तुतः कोई भेद नहीं होता। इसी प्रत्यय के बल पर 'सत्' का अस्तित्व है, 'काल' नित्य है, 'दिक् सर्वत्र' है आदि तर्क-वाक्यों को सत्य माना जा सकता है, वे न मिथ्या हैं और न शाब्दिक मान्यता मात्र हैं। यदि वे मिथ्या होते तो ऐसी मानसिक वृत्तियों को न्यायोचित नहीं कहा जाता। स्पष्टतः 'सत् का अस्तित्व है' और 'सत् का अस्तित्व नहीं है' तर्क-वाक्यों में भेद है, पूर्वोक्त को वैध तथा पश्चादुक्त को असत्य माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि 'सत्' और 'अस्तित्व' में कोई भेद नहीं है तथापि उसमें एक ऐसी विशेषता है कि अस्तित्व के 'सत्' के प्रति विधान वैध है, उसका निषेध असत्य है। यदि यह केवल एक शाब्दिक मान्यता होती तो, पश्चादुक्त निषेध भी समान रूप से सम्भव व न्यायोचित होता। यह विशेषता विषय से एकरूप होती है और उसमें किसी विशेष संबंध में स्थित नहीं रहती। इस कारण से संबंधों की एक अन्य शृंखला की अपेक्षा नहीं होती, तथा अनवस्था दोष की आपत्ति स्वीकृत नहीं की जा सकती। यदि 'विशेष' के प्रत्यय को स्वीकार न किया जाय तो 'विशेष' और 'विशेषण'' की संकल्पना अव्याख्येय रह जाती है।[1] इस अर्थ में 'विशेष' का प्रत्यय सबसे प्रथम मध्व द्वारा प्रस्तावित किया गया, बलदेव ने भगवान और उसकी शक्तियों व गुणों के संबंध की व्याख्या के लिए उक्त प्रत्यय को मध्व से प्राप्त किया। यह व्याख्या बलदेव के पूर्ववर्ती जीव व अन्य विद्वानों के मत से सर्वथा भिन्न है, हम देख ही चुके हैं कि कैसे जीव ने केवल भगवान की शक्तियों के अचिन्त्य स्वरूप के सिद्धांत एवं शक्ति व शक्ति के स्वामी अथवा गुण व द्रव्य के भेद व अभेद के अचिन्त्य स्वरूप के

---

[1] वही, ३. २. ३१।

द्वारा ही परिस्थिति की व्याख्या की थी। 'सूक्ष्म' टीका में यह निश्चित रूप में बता दिया गया है कि 'विशेष' के प्रत्यय की प्रस्तावना के द्वारा बलदेव ने इसे उदाहरण में अधिक स्पष्टतः 'अचिन्त्यत्व' के स्वरूप की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।[1]

स्वरूप और मात्रा दोनों में भगवान का आनंद 'जीवों' के आनंद से भिन्न होता है, तथा उनके ज्ञान का स्वरूप भिन्न होता है। इस प्रकार ब्रह्मन् जगत् व 'जीव' दोनों से स्वरूप में भिन्न है। उपनिषदों के सकल एकत्व पाठों की व्याख्या केवल इस कथन के रूप में की जानी चाहिए कि जगत् व 'जीव' भगवान में स्थित हैं (सर्वत्र तदीयत्व-ज्ञानार्थः)। जगत् का ऐसा दृष्टि-कोण 'भक्ति भाव' को उत्पन्न करेगा। 'रुचि-भक्ति' पथ का अनुसरण करने वालों से 'वैधी-भक्ति' पथ का अनुसरण करने वालों में भगवान के स्वरूप की अभिव्यक्ति भिन्न रूप में होती है, वैधी-भक्ति के उदाहरण में वह अपने पूर्ण ऐश्वर्य से आविर्भूत होता है, और रुचि भक्ति में वह अपने पूर्ण माधुर्य से आविर्भूत होता है। जब भगवान की कृष्ण के सीमित रूप में उपासना की जाती है तब वह भक्त के सम्मुख सीमित रूप में ही अपनी अभिव्यक्ति करता है, तथा भगवान का अचिन्त्य स्वरूप ऐसा होता है कि उक्त रूप में भी वह सर्व-व्यापी बना रहता है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ 'विशेष' की स्वीकृति बलदेव की सहायक नहीं होती तथा उन्हें अपने धार्मिक विश्वासों के अन्य भागों की व्याख्या के लिए भगवान के अचिन्त्य स्वरूप को मानना पड़ता है।

भगवान जगत् का उपादान कारण तथा चरम कर्ता दोनों ही माना जाता है। उसकी 'चरम-शक्ति' 'विष्णु-शक्ति' 'क्षेत्रज्ञ-शक्ति' 'अविद्या-शक्ति' के रूप में तीन मलभूत शक्तियाँ हैं। अपनी प्रथम शक्ति में ब्रह्मन् स्वयं में विकार-रहित बना रहता है, तथा अन्य दो शक्तियाँ 'जीव' तथा 'जगत्' में रूपान्तरित होती हैं। सांख्यवादी तर्क करते हैं कि चूंकि जगत् ब्रह्मन् से भिन्न स्वरूप है इसलिए ब्रह्मन् को उसका उपादान कारण नहीं माना जा सकता। यदि यह आग्रह किया जाय कि जगत् एवं 'जीवों' का उपादान कारण मानी जा सकने वाली दो सूक्ष्म शक्तियाँ होती हैं तो भी उनकी आपत्ति बनी ही रहती है, क्योंकि सूक्ष्म से भिन्न होने वाले स्थूल के विकास की व्याख्या नहीं की जा सकती। इसका उत्तर यह है कि यह आवश्यक नहीं कि कार्य अनिवार्यतः उपादान कारण के समान अथवा सदृश हो। ब्रह्मन् स्वयं को उससे सर्वथा भिन्न जगत् में रूपांतरित करता है। यदि उपादान कारण और कार्य में पूर्ण एकरूपता होती तो एक को कारण व दूसरे को कार्य नहीं कहा जा सकता था, यथा घट में कार्य रूप से होने वाला मृत्तिका का ढेल के समान स्वरूप नहीं देखा जाता, अतः जिन

---

[1] तेनैव तस्य वस्त्वभिन्नत्वं स्व-निर्वाहकत्वं च स्वस्य तादृशे तद्भावोऽनुभवकम् अचिन्त्यत्वं सिद्धयति। —'गोविन्द-भाष्य' ३. २. ३१ पर सूक्ष्म।

उदाहरणों की हम समीक्षा कर सकते हैं उन सब में कार्य उपादान कारण से अनिवार्यतः भिन्न होना चाहिए। उक्त रूपान्तरण किसी भी रूप में ब्रह्मन् के स्वरूप को परिवर्तित नहीं करता। परिवर्तन तो उसकी शक्तियों में होते हैं, तथा वह अपनी शक्तियों के रूपांतरण में अपरिवर्तित रहता है। यदि हम एक साधारण उदाहरण लें तो यह संकेत किया जा सकता है कि 'लाठी वाला मनुष्य' किसी और का नहीं वरन् स्वयं उसी मनुष्य का द्योतक है। यद्यपि उस मनुष्य एवं लाठी में भेद है। इस प्रकार यद्यपि ब्रह्मन् की शक्ति का शक्तियों सहित ब्रह्मन् से तादात्म्य होता है, तथापि ब्रह्मन् और उसकी शक्तियों में भेद के अस्तित्व का निषेध नहीं किया जाता है।[1] इसके अतिरिक्त, उपादान कारण और उसके कार्य में सदा भेद होता है। घट मृत्तिका के ढेले से तथा स्वर्ण से बने अलंकार स्वर्ण से भिन्न होते हैं, तथा वे विभिन्न उद्देश्यों की पूर्त्ति करते हैं और भिन्न-भिन्न कालों में अस्तित्व रखते हैं। यदि कारण की प्रक्रिया से पूर्व ही कार्य का अस्तित्व होता तो कारण की प्रक्रिया का अनुप्रयोग अनावश्यक होता, और कार्य नित्य होता। यदि यह माना जाय कि कार्य एक पूर्व-स्थित सत्ता की अभिव्यक्ति है, तो आगे यह प्रश्न उठता है कि क्या उक्त अभिव्यक्ति, जो स्वयं एक कार्य है, आगे अन्य अभिव्यक्ति की अपेक्षा रखती रहेगी जिसके फलस्वरूप अनंत तक यह प्रक्रिया चलती रहेगी, इस प्रकार अभिव्यक्तियों की एक श्रृंखला की आवश्यकता होगी और अनवस्था-दोष हो जायगा। फिर भी बलदेव 'परिणाम' अथवा 'अभिव्यक्ति' के सिद्धांत को नहीं करते, वे इस सांख्य-मत को अस्वीकार करते रणता की प्रक्रिया से पूर्व भी कार्य का अस्तित्व होता है, अथवा एक 'अभिव्यक्ति' के लिए अभिव्यक्तियों की श्रृंखला की आवश्यकता होगी। वे कार्य की एक स्वतंत्र अभिव्यक्ति के रूप में परिभाषा देते हैं (स्वतन्त्राभिव्यक्तिमत्वं किल कार्यत्वम्) और ऐसे कार्य के कारण का अस्तित्व प्रक्रिया से पूर्व नहीं हो सकता। जगत् की अभिव्यक्ति भगवान की अभिव्यक्ति के माध्यम से होती है, जिस पर वह आश्रित होता है। ऐसी अभिव्यक्ति केवल भगवान में अन्तर्निहित कारण की प्रक्रिया के द्वारा और उसकी इच्छा द्वारा प्रेरित हो सकती है। इस प्रकार जगत् भगवान की शक्ति से अभिव्यक्त होता है तथा एक सीमित अर्थ में जगत् का भगवान से तादात्म्य होता है, किन्तु एक बार कार्य रूप में पृथक् हो जाने पर वह उससे भिन्न हो जाता है। अपने वर्तमान रूप में अभिव्यक्त होने से पूर्व जगत् का किसी भी काल में अस्तित्व नहीं था, यह मान लेना त्रुटिपूर्ण है कि जगत् का किसी भी अवस्था में भगवान से तादात्म्य था, इसलिए यद्यपि भगवान को सदा जगत् का उपादान कारण माना जा सकता है।[2] इन समस्त विवेचनों के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि बलदेव के मत एवं सांख्य मत में कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं है।

---

[1] वही, २. १. १३।

[2] गोविन्द-भाष्य, २. १. १४।

बलदेव भी यह मानते हैं कि अपनी शक्तियों से सम्पन्न भगवान में जगत् एक सूक्ष्म रूप में अस्तित्व रखता है। वह केवल 'कारिका' के इस शाब्दिक प्रकाशन पर आपत्ति उठाते हैं कि कारणता के कारकों की प्रक्रिया से पूर्व कार्य का कारण में अस्तित्व होता है, क्योंकि कार्य कारण में 'कार्य के रूप' में अस्तित्व नहीं रखता वरन् एक सूक्ष्म अवस्था में अस्तित्व रखता है। यह सूक्ष्म अवस्था कारणता के कारकों की प्रक्रिया से कार्य रूप में अभिव्यक्त होने से पूर्व अभिवृद्ध एवं दिक्-कालीन गुणों से सम्पन्न हो जाती है। किन्तु कारण में कार्य के अस्तित्व पर अत्यधिक बल देने में, और कारणता के कारकों द्वारा व्यापार केवल अव्यक्त रूप में पूर्व अस्तित्ववान सत्ता को अभिव्यक्त करने में सांख्य का मतभेद है। किन्तु, बलदेव के अनुसार कारणता के कारक एक यथार्थ परिवर्तन एवं अभिवृद्धि उत्पन्न करते हैं। यह नवीन गुणों एवं व्यापारों की अभिवृद्धि भगवान की कारणता-विषयक इच्छा की प्रक्रिया से उत्पन्न होती है, वह इस अर्थ में एक अचिन्त्य स्वरूप की होती है क्योंकि सूक्ष्म कारणावस्था में अस्तित्व नहीं होने पर भी वे भगवान की इच्छा की प्रक्रिया से उत्पन्न हुए हैं। परन्तु, भगवान के साहचर्य द्वारा जहाँ तक सूक्ष्म कारण भगवान में अस्तित्व रखता है, जगत् अपने वर्तमान रूप में भी भगवान से भिन्न एवं स्वतंत्र नहीं है।[1] 'जीव' भी स्वयं कोई स्वातंत्र्य नहीं रखते, उनकी भगवान ने अपनी इच्छा-मात्र से सृष्टि की है, तथा जगत् व 'जीवों' की सृष्टि करने के पश्चात् वह उनमें प्रविष्ट होकर उनके अन्तर्यामिन के रूप में स्थित रहता है। इसलिए 'जीव' जड़ जगत् के विषयों के समान ही प्राकृतिक अनिवार्यता के अधीन है, और उनमें कर्तृत्व अथवा इच्छा की कोई स्वतन्त्रता नहीं होती।[2] जगत् की प्राकृतिक अनिवार्यता केवल उसके माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली हरि-इच्छा मात्र है। मनुष्य में पाए जाने वाले संकल्प और स्वतः स्फूर्त इच्छा भी मनुष्य के माध्यम से क्रियाशील हरि-इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। इस प्रकार मानव और जगत् दोनों ही नियति के अधीन हैं तथा मानव को कोई स्वतंत्रता नहीं है। जैसे गाय की प्राण-शक्ति से उत्पन्न दूध हमें गाय द्वारा दिया हुआ प्रतीत होता है उसी प्रकार जब एक व्यक्ति एक विशेष कार्य को करता हुआ अथवा एक विशेष ढंग से आचरण करता हुआ अथवा किसी वस्तु का संकल्प करता हुआ दिखाई देता है, तब वह स्वयं कर्ता नहीं होता वरन् माध्यम होता है जिसके द्वारा परमेश्वर कार्य करता है।[3] यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है

---

[1] तस्मादेकमेव जीव-प्रकृति-शक्तिमद् ब्रह्म जगदुपादानं तदात्मकं च इति सिद्धमेवं कार्यावस्थेत्वेऽप्यविचिन्त्यत्व-धर्म-योगादप्रच्युत-पूर्वावस्थं चावतिष्ठते।

—वही, २. १. २०।

[2] चेतनस्यापिजीवस्याश्म-काष्ठ-लोष्ट्रवदस्वातन्त्र्यात् स्वतः कर्तृत्व-रूपानापत्तिः।

—वही, २. १. २३।

[3] वही, २. १. २४।

कि, यदि भगवान सकल मानवी इच्छा एवं क्रिया का एकमात्र कारण है, तो जो भगवान निष्पक्ष है वह हमें इतनी भिन्न इच्छाओं में प्रवृत्त क्यों करता है ? इसका उत्तर यही है कि भगवान हमारे अनादि पूर्व कर्मों के अनुसार हमारी क्रिया एवं इच्छा को निर्धारित करता है। इस पर यह आपत्ति भी की जा सकती है कि, यदि भगवान हमारे पूर्व कर्मों के अनुसार हमारी इच्छा को निर्धारित करता है तो भगवान अपनी निर्धारक क्रिया में हमारे 'कर्मों' पर आश्रित रहता है, परन्तु यह उसकी निर्वाध स्वतंत्रता को एक गम्भीर चुनौती होगी। इसके अतिरिक्त, चूंकि विभिन्न प्रकार की क्रियाएं विभिन्न प्रकार के सुखपूर्ण व दुःखपूर्ण प्रभावों को उत्पन्न करती हैं, इसलिए भगवान को पक्षपातपूर्ण कहा जा सकता है किन्तु इन आपत्तियों का उत्तर यह है कि भगवान 'जीवों' का निर्धारण स्वयं उनके व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार करता है, 'जीव' अपने मौलिक रूप में विभिन्न स्वभाव के होते हैं तथा उनकी मौलिक भिन्नता के अनुसार भगवान उनकी इच्छा व क्रियाओं का भिन्न-भिन्न रूप में निर्धारण करता है। यद्यपि भगवान उनके स्वभाव को परिवर्तित करने की क्षमता रखता है, तथापि वह ऐसा नहीं करता, किन्तु भगवदिच्छा स्वरूपतः ही ऐसी है कि भगवान अपने भक्त के लिए एक अधिमान्य व्यवहार आरक्षित रखता है, अपनी विशेष कृपा प्रदान करता है।[1] स्वयं भगवान की क्रियाएं किसी वस्तुगत उद्देश्य अथवा प्रयोजन से निर्धारित नहीं होती, अपितु स्वयं उसके आनंद-स्वरूप के आनंदानुभव द्वारा स्वेच्छा से प्रवाहित होती हैं। अपने भक्तों के प्रति उसकी विशेष कृपा उसके स्वरूप से ही प्रवाहित होती है तथा भक्तों के प्रति उसका यह विशेष व्यवहार ही उसको उनका प्रिय बनाता है और अन्य व्यक्तियों को उसकी ओर उन्मुख होने के लिए उत्साहित करता है।[2]

'भक्ति' को एक ज्ञान-विशेष भी माना जाता है (भक्तिरपि ज्ञान-विशेषो भवति)।[3] 'भक्ति' के द्वारा एक व्यक्ति किसी वस्तुगत हेतु के बिना ईश्वरोन्मुखी होता है। 'भक्ति' एक ऐसी शक्ति भी मानी जाती है जो भगवान को हमारे वशीभूत कर सकती है,[4] यह शक्ति संवित् से संबंधित भगवान की 'ह्लादिनी-शक्ति' का सार मानी जाती है। उक्त संवित् का 'ह्लाद' से तादात्म्य होता है, तथा उसका सार

---

[1] न च कर्म-सापेक्षत्वेन ईश्यस्यं अस्वातन्त्र्यम्.........अनादि जीव-स्वभावानुसारेण हि कर्म कारयति स्वभावमन्यथा-कर्तुं समर्थोऽपि कस्यापि न करोति।

—वही, २. १. ३५।

[2] वही, २. १. ३६।

[3] 'सिद्धान्त-रत्न' पर टीका, पृ० २६।

[4] भगवद्-वशीकार हेतु-भूता शक्तिः।

—वही, पृ० ३५।

सहज प्रवृत्ति के अनुकूल प्रवाह में निहित होता है।[1] इस प्रकार इसका चित् व आनंद के रूप में भगवान के स्वरूप से तादात्म्य होता है, फिर भी उसे भगवान से एकरूप न मानकर उसकी एक शक्ति माना जाता है।[2] यद्यपि 'भक्ति' का भगवान में उसकी शक्ति के रूप में अस्तित्व होता है, तथापि वह भक्त का विशेषण भी होता है। वह दोनों को आनन्ददायी होता है तथा वे दोनों उसके संघटक तत्त्व होते हैं।[3] स्मरण होगा कि तीन शक्तियों में से 'संवित्' 'संधिनी' से श्रेष्ठ होती है, और 'ह्लादिनी' 'संवित्' से श्रेष्ठ होती है। भगवान न केवल है वरन् वह अपनी सत्ता जन्य सभी वस्तुओं को प्रदान करता रहता है, अतः 'संधिनी' वह शक्ति है जिसके द्वारा भगवान सबको सत् प्रदान करता है। वह स्वयं चित् स्वरूप है। 'संवित्' वह शक्ति है जिसके द्वारा उसकी ज्ञानात्मक क्रिया सम्पन्न होती है और जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों के लिए ज्ञान-प्राप्ति सम्भव बनाता है। यद्यपि यह आनंद-स्वरूप है, वह आह्लाद का अनुभव करता है तथा अन्य व्यक्तियों के लिए आह्लादमय अनुभवों की प्राप्ति सम्भव बनाता है; जिस शक्ति के द्वारा वह ऐसा करता है उसे 'ह्लादिनी' कहते हैं।[4] सच्ची 'भक्ति' का स्वयं से बाह्य कोई हेतु इस कारण नहीं हो सकता कि वह स्वयं परमानंद के रूप में भगवान की अनुभूति होती है। अपने स्वरूप की अनुभूति से सुषुप्ति प्राप्त आनंद द्वारा यह सिद्ध होता है कि इन्द्रिय-सुख से भिन्न एक प्रकार का आनंद होता है। किन्तु, चूंकि हम भगवान की शक्ति के अणु-मात्र हैं, इसलिए यह अनिवार्यतः सिद्ध होता है कि भगवान का स्वरूप परम व अनंत आनंद है, एक बार उस आनंद की अनुभूति होने पर लोग सदा के लिए सांसारिक इन्द्रिय-सुख से विमुख होकर सहज ही भगवान की ओर उन्मुख हो जाएंगे।

सत्य ज्ञान सकल पुण्य एवं पाप को नष्ट कर देता है, अतएव 'जीवन्मुक्ति' में मनुष्य केवल भगवान की इच्छा से अपनी देह को धारण करता है। अनिवार्य कर्मों का प्रभाव नष्ट नहीं होता—स्वर्ग में प्रवेश आदि पुण्य फलों की उत्पत्ति इसके अपवाद हैं—तथा वह सत्य ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होता है, जब सत्य ज्ञान का उदय होता

---

[1] ह्लाद-भिन्ना संविद्, यस्तदानुकूल्यंशः स तस्या सारः। —वही, पृ० ३७।

[2] स्वरूपानतिरेकिण्यपि तद्विशेषतया च भासतेऽन्यथा तस्य शक्तिरिति व्यपदेश-सिद्धेः। —'सिद्धान्त-रत्न,' पृ० ३८।

[3] भगवत्-स्वरूप-विशेष-भूत-ह्लादिन्यादिसारात्मा भक्तिर्भगवद् विशेषणतया भक्ते च पृथग्—विशेषणतया सिद्धा तयोरानन्दातिशययो भवति। —वही, पृ० ३९।

[4] तत्र सदात्माऽपि यया सत्तं धत्ते ददाति च सा सर्व-देश-काल-द्रव्य-व्याप्ति-हेतु, सन्धिनी, संविदात्माऽपि यया संवेत्ति संवेदयति च सा संवित्, ह्लादात्माऽपि यया ह्लादते ह्लादयति च सा ह्लादिनी। —वही, पृ० ३९-४०।

है तब वह आगे स्वयं को प्रकट नहीं करता। कौशीतकी उपनिषद् में भी कहा गया है कि एक ज्ञानी मनुष्य के पुण्य उसके मित्रों में चले जाते हैं और उसके पाप उसके शत्रुओं में, इसलिए जो भक्त भगवान के समागम में प्रविष्ट होने को व्याकुल होते हैं उनके उदाहरण में उनके कर्मों के पुण्य-फल भगवान के प्रिय व्यक्तियों में वितरित हो जाते हैं, तथा उनके पाप-कर्मों के फल उसके शत्रुओं में वितरित हो जाते हैं।[1] इस प्रकार प्रारब्ध 'कर्म' के फल अन्य व्यक्तियों में वितरित हो जाते हैं, अतः इस नियम की पूर्त्ति हो जाती है कि सर्व प्रारब्ध 'कर्म' अनिवार्यतः फलीभूत होने ही चाहिए, तथा भगवान का भक्त उनसे मुक्त हो जाता है। सत्य-विकास का सर्वोत्तम साधन केवल भक्तों का साहचर्य ही हो सकता है। हमारा बंधन यथार्थ है और बंधन का विनाश यथार्थ व नित्य है। चरम मुक्ति की अवस्था में भी 'जीव' भगवान से अपने पृथक् अस्तित्व को बनाए रखते हैं।

'सिद्धांत-रत्न' के छठे और सातवें अध्यायों में बलदेव शंकर के उग्र अद्वैतवादी सिद्धांत को खण्डित करने का प्रयास करते हैं, परन्तु, इन युक्तियों में किसी नवीनता का कठिनता से समावेश होता है, प्रत्युत में रामानुज और मध्व सम्प्रदाय के विचारकों की युक्तियों की पुनरावृत्ति मात्र हैं, इसलिए उनका यहाँ छोड़ देना श्रेयस्कर है। अपनी 'प्रमेय-रत्नावली' में बलदेव गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव-तंत्र के मुख्य विषयों का व्यापक सारांश देते हैं। यदि हम 'भागवत-संदर्भ' में दिए गए वैष्णव दर्शन के विवरण की बलदेव के 'गोविन्द-भाष्य' एवं 'सिद्धांत-रत्न' में दिए नए विवरण से तुलना करें तो हमें पता चलता है कि, यद्यपि आधारभूत सिद्धांत एक ही हैं, तथापि मध्व के प्रभाव के कारण तथा अपने व्यक्तिगत पक्षपातों के फलस्वरूप बलदेव द्वारा गौड़ीय सम्प्रदाय की विचारधारा में अनेक नवीन तत्त्व प्रस्तावित किए गए हैं। ईश्वर, जीव और जगत् में भेद पर दिया गया बल तथा 'विशेष' का प्रत्यय निश्चय ही मध्व के प्रभाव चिह्न हैं। पुनः, यद्यपि बलदेव 'रुचि-भक्ति' की सर्वोत्तम 'भक्ति' के रूप में सराहना करते हैं, तथापि वे उस पर वही बल नहीं देते जो रूप, सनातन और जीव की रचनाओं में पाया जाता है। उनका 'भक्ति' का प्रत्यय भी जीव के प्रत्यय से तनिक भिन्न है, वे पुरातन शब्दावलियों ('अंतरंग' और 'वहिरंग शक्ति') का प्रयोग नहीं करते तथा उस प्रत्यय आधार पर अपने मत की व्याख्या नहीं करते। उनकी 'प्रमेय-रत्न माला' पर एक कृष्णदेव वेदांत वागीश द्वारा रचित 'कांति-माला' नामक पुरानी टीका है। 'प्रमेय-रत्न-माला' में वह आनंद तीर्थ अपना मध्व को अपना प्रणाम अर्पित करते हुए ऐसी नौका वतलाते हैं जो उन्हें संसार-सागर से पार उतारने वाली है। वह उस गुरु-परम्परा की एक सूची भी देते हैं जिनसे उन्होंने अपने विचारों

---

[1] 'गोविन्द-भाष्य,' ४. १. १७।

को प्राप्त किया। वे यह मत भी प्रकट करते हैं कि गुरु-परम्परा पर चिंतन करने से भी व्यक्ति हरि को संतुष्ट करने में सफल हो सकता है। वह आगे कहते हैं कि कलियुग में 'श्री', 'ब्रह्म', 'रुद्र' व 'सनक' नामक चार वैष्णव 'सम्प्रदाय' उड़ीसा (उत्कल) में उत्पन्न होंगे जिनका रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामिन् व निम्बादित्य से समीकरण किया जा सकता है। वे अपने गुरुओं की परम्परा में श्रीकृष्ण, ब्रह्मा, देवर्षि बादरायण, मध्व, पद्मनाभ, नृहरि, माधव, अक्षोभ्य, जयतीर्थ, ज्ञानसिन्धु, विद्यानिधि, राजेन्द्र, जयधर्म, पुरुषोत्तम, ब्राह्मण्य, व्यासतीर्थ, लक्ष्मीपति, माधवेन्द्र, ईश्वर, अद्वैत, नित्यानन्द तथा श्री चैतन्य[1] की भी गणना करते हैं। बलदेव द्वारा जिस विचारतंत्र का प्रतिनिधित्व किया जाता है उसे मध्व-गौढ़ीय मत की संज्ञा दी जा सकती है, बंगाल में हाल ही में वैष्णवों का एक सम्प्रदाय हो चुका है जो स्वयं को मध्व-गौढ़ीय सम्प्रदाय कहता है।

---

[1] कवि कर्णपूर द्वारा अपने काल्पनिक अथवा आख्यानात्मक ग्रन्थ 'गौर-गणोद्देश-दीपिका' में दी गई एक पूर्व सूची देखिए।